परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

✲ जन्मदिवस 19–03–1971 ✲ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ✲ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

पातंजलयोग एवं जैन योग का तुलनात्मक अध्ययन

लेखक
अरुणा आनन्द

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास प्राईवेट लिमिटेड

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

पातञ्जलयोग एवं जैनयोग का तुलनात्मक अध्ययन

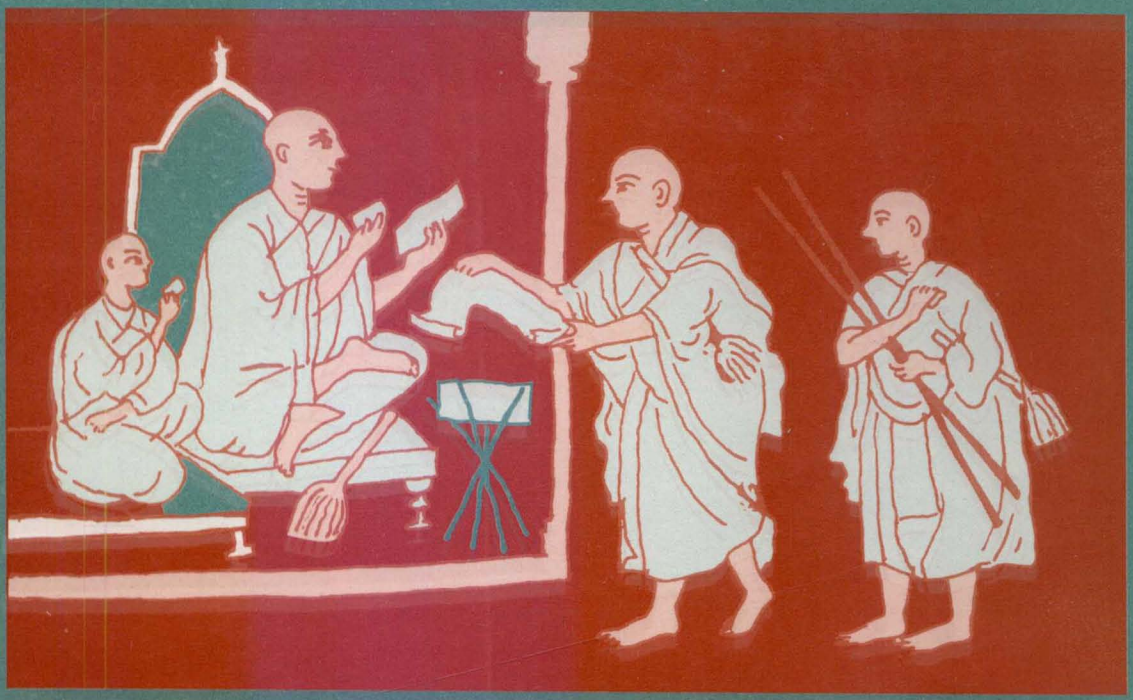

अरुणा आनन्द

''मोक्खेण जोयणाओ जोओ सव्वो वि धम्मवावारो''
मोक्ष से योजित करने वाला अर्थात् मोक्ष की ओर ले जाने वाला समस्त धर्मव्यापार 'योग' है। जैन आचार्य हरिभद्र द्वारा निरूपित 'योग' की यह परिभाषा जहाँ जैन-परम्परागत व्याख्या से भिन्न प्रतीत होती है, वहीं पतञ्जलि के योग लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के समकक्ष भी है। प्राचीन जैन आगमिक परम्परा में कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृत्तियों के अर्थ में प्रचलित 'योग' शब्द कर्म-बन्ध का हेतु है, मोक्ष का हेतु नहीं। मोक्ष के हेतु के रूप में प्रचलित तप और ध्यान जैसी क्रियाओं का विवेचन जैन आगमों में यत्र-तत्र उपलब्ध है। चूंकि योग का आधार आचार है, इसलिए प्राचीन जैन ग्रन्थों में योग-साधना का प्रतिपादन आचारशास्त्र के रूप में ही हुआ है। यही कारण है कि प्राचीन जैनयोग-परम्परा में पातञ्जलयोग के समान कोई व्यवस्थित ग्रन्थ नहीं लिखा गया था। परवर्ती काल में जैनाचार्यों ने जैनयोग का निरूपण करते समय महर्षि पतञ्जलि के द्वारा निरूपित अष्टांगयोग-पद्धति के साथ समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। जैनयोग-साधना का व्यवस्थित एवं सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत करने वाले स्वतंत्र व मौलिक ग्रन्थों की रचना का शुभारम्भ लगभग 8वीं शती के आसपास आचार्य हरिभद्र ने किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती योग विषयक विचारों में प्रचलित आगम-शैली की प्रधानता को तत्कालीन परिस्थितियों एवं लोकरुचि के अनुरूप परिवर्तित कर जैनयोग का एक ऐसा अभिनव, विविधलक्षी एवं समन्वित रूप प्रस्तुत किया, जो पातञ्जलयोग-साधना के समकक्ष तो था ही, साथ जैन परम्परा के सिद्धातों के अनुरूप भी था। पश्चाद्वर्ती जैन आचार्यों ने उनका अनुसरण कर जैनयोग-साहित्य को समृद्ध करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रस्तुत पुस्तक में आ० हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र एवं उपा० यशोविजय के योग-ग्रन्थों के आधार पर पातञ्जलयोग एवं जैनयोग का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए दोनों परम्पराओं में निहित साम्य, वैषम्य एवं वैशिष्ट्य दर्शाने का प्रयास किया गया है।

ISBN: 81-208-1787-7 **Rs. 695**

पातञ्जलयोग एवं जैनयोग

का

तुलनात्मक अध्ययन

B.L. Series No. 15

Pātañjalayoga Evaṁ Jainayoga Kā Tulanātmaka Adhyayana

ARUNA ANAND

MOTILAL BANARSIDASS PUBLISHERS PRIVATE LIMITED • DELHI
&
BHOGILAL LEHARCHAND INSTITUTE OF
INDOLOGY • DELHI

बी० एल० सीरीज़ क्र० १५

पातञ्जलयोग एवं जैनयोग
का
तुलनात्मक अध्ययन

अरुणा आनन्द

मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड • दिल्ली
और
भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान • दिल्ली

प्रथम संस्करण: दिल्ली, २००२

© सर्वाधिकार लेखिकाधीन

ISBN: 81-208-1787-7

वितरक :

मोतीलाल बनारसीदास

८ महालक्ष्मी चैम्बर, २२ भुलाभाई देसाई रोड, मुम्बई ४०० ०२६
४१ यू०ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
२३६ नाइंथ मेन III ब्लाक, जयनगर, बंगलौर ५६० ०११
सनाज प्लाजा, १३०२ बाजीराव रोड, पुणे ४११ ००२
१२० रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, चेन्नई ६०० ००४
८ केमेक स्ट्रीट, कोलकाता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

मूल्य: रु० ६९५

प्रकाशक :

भोगीलाल लेहरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डॉलाजी,
२०वॉ कि.मी., जी.टी. करनाल रोड, अलीपुर, दिल्ली-११००३६

मुद्रक :

जैनेन्द्र प्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५ नारायणा, फेज-१,
नई दिल्ली ११० ०२८

श्रीदलसुखमाल्वणिया विराजते विद्वदग्रणीर्गुणवान्।

ग्रन्थोऽयं सश्रद्धं समर्प्यते तस्मा 'अरुणया'॥

सम्पादकीय

"योग" अध्यात्म साधना की आत्मा है, उसका प्राण है, उसका मार्ग है, और मार्ग पर आरूढ़ होने का साधन भी है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" के अनुसार योग साधन है, कैवल्य उसका साध्य है, और अष्टांग योग है उसका मार्ग। "योगः कर्मसु कौशलम्" – इस रूप में वह अध्यात्मनिष्ठ साधक के जीवन-व्यापार की कुशलता और कसौटी है। "समत्वं योग उच्यते" की दृष्टि से वह योग का बाह्याभ्यंतर लक्षण है। जिसके क्षण-क्षण जीवन व्यापार में भीतर-बाहर, इन्द्रियवृत्तियों, मनोभावनाओं ओर अन्तस्तम आत्मपरिणामों में समता/शुद्धता नहीं, वहाँ "योग" कैसा। इसी भाव को आ० कुन्दकुन्द ने व्यक्त किया है इन शब्दों में –

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिदिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।। – प्रवचनसार १. ७ ।।

चारित्र ही धर्म है। वह धर्म है आत्मा का साम्यभाव। उस साम्यभाव की पहचान है आत्मा का राग-द्वेष रहित, शुद्ध-शान्त, नैष्कर्म्य परिणाम या वर्तन, अर्थात् आत्मा का निरन्तर प्रतिक्षण अपने शान्त/शुद्ध-स्वरूप में बने रहना।

योग के आठवें अंग "समाधि" के ठीक-ठीक समकक्ष है भगवान् बुद्ध के आर्य अष्टांगिक मार्ग का आठवां अंग "समाधि"। साक्षाद्ब्रह्म की अनुभूति से उत्पन्न "अहं ब्रह्मास्मि"/ या "सोऽहम्" के उद्गार संज्ञान हैं इस अवस्था के। सूफी सन्तों का "अनऽलहक्" आत्मानुभूति के इसी उत्कर्ष का उद्घोष है।

ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) के रचनाकार ऋषियों ने ४४ ऋषियों का संक्षिप्तवृत्त देते हुए यह कहकर कि "इन ४४ सन्तों में केवल ४ ऋषि जिन-मार्ग के अनुयायी थे, शेष ४० अपने-अपने पृथक्-पृथक् मार्ग से चलकर आये थे; उन सभी ने अर्हत् (जीवन्मुक्त) पद को प्राप्त किया था, और वही उनका अपना-अपना स्वाधीन योग था" योग मार्ग अथवा मुक्ति-मार्ग के इसी खुलेपन को, इसी स्वाधीनता को, घोषित किया था। "तेरा साइं तुझ में" – स्वानुभूति के जिस अतल-तल से यह "ध्वनि" उपजी है, वह भी "योग" की ही एक अनिर्वचनीय दशा है।

योग का यह मार्ग, यह साधना, ये अनुभूतियाँ किसी एक देश, काल, जाति, धर्म, परम्परा या समुदाय की बपौती नहीं हैं। यह उन सबका है, उन सबके लिए है जो शुद्ध दृष्टि-श्रद्धा-भक्ति-ज्ञान-कर्म-संन्यास या त्याग (= चारित्र-शुद्धि) – इन सबको या इनमें से किसी भी एक को पूर्ण समर्पण भाव से स्वीकार कर, अपना आपा खोकर "कर्मण्येवाधिकारस्ते" के ध्येय मार्ग पर डगर-डगर चल पड़ते हैं। शुद्धता/समता/साम्यभाव/और नैष्कर्म्य की उस भूमिका पर भक्ति, ज्ञान, कर्म, संन्यास और योग पृथक्-पृथक् नहीं रहते। सब मिलकर एकमेक हो जाते हैं। जो भक्ति है, वही ज्ञान हो जाता है; ज्ञान ही कर्म बन जाता है; अथवा कर्म ही ज्ञान रूप हो जाता है; वही संन्यास और वही योग बन जाता है। "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" – इस सूत्र का यही अर्थ मैंने समझा है।

"मोक्खेण जोयणाओ जोओ सव्वो वि धम्मवावारो" – मोक्ष से जोड़ने वाला समस्त धर्म-व्यापार "योग" है, अथवा जो मोक्ष से जोड़े वही धर्म है, और वही योग है। योग और धर्म की इससे अधिक व्यापक, सत्यसमन्वित, अध्यात्म-पोषक तथा योग व धर्म के अविच्छेद्य, अन्योऽन्याश्रित, अन्तः सम्बन्ध की निर्विवाद एवं सर्वमान्य दूसरी कोई परिभाषा कहीं मिलती नहीं। योग एवं धर्म की इसी अवधारणा ने आ० हरिभद्रसूरि की शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय एवं योगदृष्टिसमुच्चय प्रभृति रचनाओं को वह खुलापन, वह सम्प्रदायातीत दृष्टि, और वह मुमुक्षुजनप्रियता प्रदान की है, जो उनमें है।

इच्छा तो यह थी कि डॉ० अरुणा आनन्द की इस रचना के लिए एक ऐसी भूमिका लिखी जाती, जिससे सभी धर्मों, योग-मार्गों, अध्यात्म साधनाओं और लोककल्याण अथवा लोकमुक्ति की अखण्ड साधना के कर्मपथ पर आरूढ़ कर्मयोगियों की दृष्टि से परम सत्य के शोध-बोध के इन सब उपायों/मार्गों में जो तात्विक समन्विति है, जो एकता है, जो आनन्दानुभूति है, उसका यत्किंचित् रसास्वाद सुधी पाठकों को हो सके। इस इच्छा के कारण ही डॉ० अरुणा आनन्द की इस रचना का प्रकाशन, इसकी प्रेस कॉपी तैयार होने के उपरान्त भी लगभग एक वर्ष तक रुका रहा, क्योंकि अपेक्षित तत्त्वगर्भित विस्तृत भूमिका लिखने का अवकाश नहीं मिल पाया। इस अक्षम्य देरी के लिए यह सम्पादक डॉ० अरुणा आनन्द और सुधी पाठकवृन्द का क्षमाप्रार्थी है।

डॉ० अरुणा ने इस रचना को प्रस्तुत करने में जितना समय, श्रम, शक्ति व्यय की है, उन्हें निकट से जानने वाले ही उसका आकलन कर सकेंगे। इस रचना का स्वाध्याय पाठकवृंद की योग-अभिरुचि को तनिक भी जगा पाया, तो लेखिका का श्रम सार्थक होगा।

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान का यह १३ वाँ पुष्प है। संस्थान की योजना है कि भविष्य में एक-एक कर विभिन्न परम्पराओं के ऐसे ग्रन्थ-रत्नों को श्रृंखलाबद्ध रीति से प्रकाशित किया जावे। आशा है इस सत्प्रयोजन की पूर्ति में हमें सम्पूर्ण समाज और सत्यार्थी व जिज्ञासु पाठकों का अपेक्षित सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

दिल्ली, मंगलवार दि. २६ जनवरी १९९९
स्वाधीन भारत का ५०वाँ गणतंत्र दिवस।

विमल प्रकाश जैन

प्राक्कथन

जीवन के सुषुप्त एवं बिखरे हुए कणों को समायोजित कर सुव्यवस्थित एवं आनन्दमय जीवन व्यतीत करने की चिन्तनपरक मानवीय प्रवृत्ति ने विभिन्न विचारधाराओं को जन्म दिया, जो विकास की दृष्टि से दो भागों में विभक्त है – वैदिक और अवैदिक। वैदिक विचारधारा में वेद को आधार मानकर जीवनदर्शन की व्याख्या करने वाले सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा आदि तथा अवैदिक विचारधारा में चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन समाविष्ट हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल योग और जैन विचारधारा का अध्ययन किया गया है।

आत्मविकास हेतु प्रचलित आध्यात्मिक साधना-पद्धतियों में 'योग' महत्वपूर्ण है, जिसे सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। दार्शनिक मत-मतान्तरों में भिन्नता होने पर भी वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि दर्शन योग-साधना पर उतनी ही आस्था रखते रहे हैं जितनी वेद पर श्रद्धा रखने वाले दर्शन। इस दृष्टि से भारतीय दर्शनशास्त्र के षड्दर्शनों में 'योगदर्शन' को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। प्राचीन ऋषियों एवं मुनियों द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार हेतु स्वानुभव के आधार पर अन्वेषित योग की परम्परा साधना के रूप में प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही है। योगविषयक अनेक महत्वपूर्ण प्रसंग वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं। परन्तु योगसाधना को 'दर्शन' के रूप में मान्यता दिलाने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है, क्योंकि उन्होंने योग की विभिन्न प्रणालियों का समन्वय करके उन्हें सैद्धान्तिक रूप से सूत्रशैली में निबद्ध कर शास्त्र रूप प्रदान किया। उनका यह योगशास्त्र ही आज 'योगदर्शन' के नाम से प्रतिष्ठित है। वर्तमान में योगदर्शन का प्रारम्भ भी पतञ्जलि के योगसूत्रों से ही माना जाता है। अतः योगदर्शन का प्रतिपादक ग्रन्थ 'पातञ्जलयोगसूत्र' ही है।

आज पातञ्जलयोग जितना प्रसिद्ध है, उतना जैनयोग नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन-परम्परा में भी वैदिक-परम्परा के समान ही विपुल योगसाहित्य की रचना हुई थी, परन्तु वह आज सर्वांशतः उपलब्ध नहीं है। जैनयोग के बीज अवश्य जैनागमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए दिखाई देते हैं परन्तु उससे जैनयोग का व्यवस्थित रूप प्रकट नहीं होता। वस्तुतः जैनयोग-साधना का व्यवस्थित व सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ लिखने की परम्परा ८वीं शती में प्रारम्भ हुई और इसका श्रेय आचार्य हरिभद्रसूरि को है। उन्होंने जैनागमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए योग सम्बन्धी तथ्यों को संकलित कर पातञ्जलयोग-साधना के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। परवर्ती जैनाचार्यों ने सहर्ष उनका अनुकरण किया। उन आचार्यों में आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्रसूरि एवं उपाध्याय यशोविजय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परवर्ती काल में भी अध्यात्म-साधना से सम्बन्धित साहित्य की रचना हुई, किन्तु उससे जैनयोग-साधना का स्वरूप पूर्णतः परिलक्षित नहीं होता। २०वीं शती में 'जैनयोग' नाम से पाश्चात्य विद्वानों ने कुछ लिखने का प्रयास किया, परन्तु उसमें जैनयोग विषयक सामग्री नाममात्र भी नहीं है। अपितु उसमें श्रावक के १२ व्रतों का ही विश्लेषण किया गया है। वर्तमानकाल में भी कुछ भारतीय विद्वानों एवं जैन मुनियों ने जैनयोग-साधना का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है जो प्रशंसनीय तो है, परन्तु उससे न तो जैनयोग का व्यवस्थित एवं सर्वांगीण स्वरूप प्रकट होता है और न ही हरिभद्रादि प्रमुख जैनाचार्यों द्वारा प्रवाहित विचारसरणि की स्पष्ट व विस्तृत जानकारी मिलती है। इन जैनाचार्यों की यह विशेषता है कि इन्होंने जैनयोग-साधना को विविध परिप्रेक्ष्यों एवं विविध रूपों में निरूपित करते हुए पातञ्जलयोग-परम्परा के साथ समन्वयात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का अद्वितीय प्रयास किया, जो सराहनीय है। वस्तुतः उक्त चारों आचार्य जैनयोग-साधना के आधारस्तम्भ हैं।

यद्यपि पातञ्जल एवं जैन – दोनों परम्पराओं में योग का महत्त्व निकष पर है तथापि इस क्षेत्र में रचनात्मक कार्यों का अभाव परिलक्षित होता है। इन दर्शनों की तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा आदि पर तो ढेर सारे कार्य होते रहे हैं किन्तु सर्वथा वैज्ञानिक तत्त्व 'योग' का विवेचन अस्पृष्ट प्रायः ही है। वैसे भी पातञ्जलयोग एवं जैनयोग के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करने का प्रयास बहुत कम हो पाया है, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता अनुभव की जा रही है। जैनयोग का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए आ० हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र तथा उपा० यशोविजय के योग-ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा जैनयोगविषयक ज्ञान एकांगी होगा। इस महत्त्व को अंगीकार करते हुए ही मैंने दोनों दर्शनों के तुलनात्मक विवेचन को आधार बनाया और आचार्य हरिभद्रादि चार प्रमुख जैनाचार्यों द्वारा रचित योगग्रन्थों के आधार पर जैनयोग का पातञ्जलयोग के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप दोनों योग-परम्पराओं की परस्पर अनेक समानताएँ, विषमताएँ एवं विशिष्टताएँ प्रकाश में आईं, जो इस ग्रन्थ में प्रस्तुत हैं।

प्रस्तुत कृति का शीर्षक है **"पातञ्जलयोग एवं जैनयोग का तुलनात्मक अध्ययन"**। इसमें सात अध्याय हैं। **"पातञ्जलयोग एवं जैनयोग-साधना तथा सम्बन्धित साहित्य"** नामक प्रथम अध्याय में पातञ्जलयोगसाधना एवं जैनसाधना-पद्धति का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करते हुए दोनों-पद्धतियों का तुलनात्मक सर्वेक्षण तथा दोनों परम्पराओं से सम्बन्धित साहित्य का संक्षिप्त विवरण है। साथ ही इस ग्रन्थ में विवेचित जैनाचार्यों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उनके योग-ग्रन्थों का परिचय भी प्रस्तुत किया गया है।

"योग का स्वरूप एवं भेद" नामक द्वितीय अध्याय में योग के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, स्वरूप (लक्षण) एवं भेदों का पातञ्जल एवं जैनयोग-परम्परा के आधार पर तुलनात्मक विवेचन है।

"योग के अधिकारी, प्राथमिक योग्यता एवं आवश्यक निर्देश" नामक तृतीय अध्याय में पातञ्जलयोग एवं जैनयोग, दोनों परम्पराओं में मान्य योग के अधिकारियों, विभिन्न प्रकार के योगियों, योगाधिकारी की प्राथमिक योग्यता, उसके लिए निर्दिष्ट आवश्यक अनुष्ठान, आहार तथा गुरु की आवश्यकता आदि विषयों की चर्चा है।

"योग और आचार" नामक चतुर्थ अध्याय में विचार और आचार का सम्बन्ध बताते हुए पातञ्जलयोग एवं जैनयोग-परम्परानुसार आचार की उपयोगिता प्रस्तुत है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समष्टि के रूप में जैन आचार के संक्षिप्त परिचयपूर्वक श्रावक और श्रमण के लिए निर्धारित आचार-नियमों का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन है। इसके अतिरिक्त जैनयोग के आधार के रूप में कर्म-सिद्धान्त तथा भाग्य और पुरुषार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन है।

"आध्यात्मिक विकासक्रम" नामक पंचम अध्याय में पातञ्जल एवं जैन, दोनों योग-परम्पराओं में स्वीकृत आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख है। जैन-परम्परा में चौदह गुणस्थान, त्रिविध आत्मा, त्रिविध उपयोग, विभिन्न दृष्टियों तथा मनःस्थितियों के माध्यम से आध्यात्मिक विकासक्रम की चर्चा है। इनके स्वरूप पर विचार करते हुए योगज आठ दृष्टियों की पतञ्जलि के आठ योगांगों से क्रमशः तुलना तथा संदर्भानुसार सप्तम योगांग में 'ध्यान' की चर्चा करते हुए जैनयोग के अनुसार ध्यान की व्याख्या की गई है। मन की विभिन्न अवस्थाओं का चित्र भी यहाँ उपस्थित है।

"सिद्धि-विमर्श" नामक छठे अध्याय में पातञ्जल एवं जैन, दोनों योग-परम्पराओं में वर्णित सिद्धियों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत है।

जैनयोग का सर्वांगीण विवेचन करने के पश्चात् उपसंहार के रूप में **"पातञ्जलयोग एवं जैनयोग में परस्पर साम्य, वैषम्य एवं वैशिष्ट्य"** नामक सप्तम अध्याय लिखा गया है। इस अध्याय में ऐतिहासिक

परिप्रेक्ष्य में योग के आद्य उपदेष्टा तथा प्रवर्तक के विषय में विचार करते हुए काल-प्रवाह से योग के क्रमिक विकास की जानकारी दी गई है तथा पातञ्जलयोग एवं जैनयोग के परस्पर साम्य, वैषम्य एवं वैशिष्ट्य को स्पष्ट किया गया है। पृथक्-पृथक् समय में प्रमुख जैनाचार्यों ने समान, असमान एवं विशिष्ट मान्यताओं के आधार पर योग का जो वर्णन किया है, वह जैन तथा जैनेतर योग के विकास में अद्भुत है, और वर्तमान में इसको व्यवहार में लाने की महती आवश्यकता है।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि डॉ० (श्रीमती) टी.एस. रुक्मिणी, पूर्व प्राचार्या, मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय ने अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी पातञ्जलयोग एवं जैनयोग का तुलनात्मक अध्ययन करने में मेरा सम्यक् मार्गदर्शन किया। उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ। डॉ० दामोदर शास्त्री, भूतपूर्व अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली ने अपने सत्परामर्शों द्वारा जैनदर्शन के मर्म को समझाने में अपना अनन्य सहयोग प्रदान किया। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन उनके महत्व को कम करना होगा। मैं मुनि श्री यशोविजयजी, पन्यास श्री पद्मविजयजी, मुनि श्री नगराजजी, मुनि श्री महेन्द्र कुमारजी, श्री पुष्करमुनिजी, श्री देवेन्द्रमुनिजी आदि की अत्यन्त ऋणी हूँ जिनके ज्ञान तथा स्नेहमय आशीर्वचनों से मैं सदा प्रोत्साहित होती रही। इसके अतिरिक्त परम आदरणीय डॉ० नथमल टाटिया, डॉ० सागरमल जैन, डॉ ब्रह्ममित्र अवस्थी, डॉ० छगनलाल शास्त्री तथा पं० राधेश्याम शास्त्री आदि विद्वानों की भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपना अप्रत्याशित सहयोग प्रदान किया।

भारतीय विद्याओं के मनीषी, पद्मविभूषण, विद्वद्वर्य परमपूज्य पंडित दलसुख मालवणिया जी की मैं विशेष ऋणी हूँ, जिन्होंने मेरे प्रबन्ध का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण कर कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। उनका वरदहस्त सदा मेरा मार्ग प्रशस्त करेगा। साथ ही मैं जैनविद्या के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० विमल प्रकाश जैन की भी अत्यन्त आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने इस ग्रन्थ का संशोधन करने में मेरा यथेष्ट मार्गदर्शन किया है।

प्रस्तुत कृति मेरे पूज्यपिता श्री देसराज आनन्द की सतत प्रेरणा एवं माता श्रीमती कृष्णा आनन्द के शुभाशीर्वाद एवं त्याग तथा अनुज अजय के विशिष्ट सहयोग का ही परिणाम है। अतः उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरे लघुत्व का ही सूचक होगा।

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली के भूतपूर्व निदेशक डॉ० नीलरत्न बेनर्जी; उपाध्यक्ष, श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, डॉ० जितेन्द्र बाबूलाल शाह; प्रबन्ध समिति के सदस्य श्री राजकुमार जैन तथा शैक्षणिक सलाहकार डॉ० धनेश जैन व प्रो० प्रेम सिंह की भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इसे संस्था की प्रकाशन-माला के पुष्प के रूप में स्वीकार करके मुझे तथा मेरी कृति को गौरवान्वित किया है। मैं संस्था के उपनिदेशक, डॉ० कमलेश जैन की भी आभारी हूँ क्योंकि उन्होंने प्रूफ रीडिंग करके टंकण की गलतियों को सुधारने में मेरी मदद की है।

अन्त में मैं उन सब विद्वानों एवं सहयोगियों का हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने इस कृति के प्रणयन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अपना सद्भाव एवं सहयोग प्रदान किया तथा मुझे सदा प्रोत्साहित किया।

अरुणा आनन्द

२६६, रामाकृष्णा विहार
२६, इन्द्रप्रस्थ विस्तार
दिल्ली – ११००६२

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ
सम्पादकीय	vii
प्राक्कथन	ix

प्रथम अध्याय : पातञ्जल एवं जैन-योग-साधना पद्धति तथा सम्बन्धित साहित्य १ - ४६

१. पातञ्जलयोग-पद्धति
२. जैन-साधना-पद्धति
३. पातञ्जलयोग-पद्धति और जैन-साधना-पद्धति : एक तुलनात्मक सर्वेक्षण
४. पातञ्जलयोग-साहित्य
५. जैनयोग-साहित्य
६. प्रमुख जैनाचार्यों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व
   अ. हरिभद्रसूरि
   आ. आचार्य शुभचन्द्र
   इ. हेमचन्द्रसूरि
   ई. उपाध्याय यशोविजय

द्वितीय अध्याय : योग का स्वरूप एवं भेद ५० - ६०

१. **योग : व्युत्पत्ति एवं अर्थ**
२. **योग का स्वरूप**
   अ. पातञ्जलयोग-मत
   आ. जैनयोग-मत
३. **योग के भेद**
   अ. पातञ्जलयोग-मत :– सम्प्रज्ञातयोग, सम्प्रज्ञातयोग के भेद – वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातयोग, विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग, आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग, अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातयोग; असम्प्रज्ञातयोग, असम्प्रज्ञातयोग के भेद – भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय।
   आ. जैनयोग-मत :– सर्वधर्म-व्यापारयोग; प्रणिधानादि पांच आशय – प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि, विनियोग; निश्चय-व्यवहारयोग; इच्छादि त्रिविध योग – इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग; अध्यात्मादि पंचविध योग – अध्यात्मयोग, (जप, आत्म-संप्रेक्षण, देववन्दन, प्रतिक्रमण, भावनानुचिन्तन), भावनायोग, ध्यानयोग, समतायोग, वृत्तिसंक्षययोग; तात्त्विकादि षड्विध योग – तात्त्विक और अतात्त्विकयोग, सानुबन्ध और निरनुबन्धयोग, सास्रव और अनास्रवयोग; स्थानादि पंचविध योग – स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन, अनालम्बन; स्थानादि पंचविध योग के भेद एवं उपभेद; कर्मयोग और ज्ञानयोग।

तृतीय अध्याय : योग के अधिकारी, प्राथमिक योग्यता एवं आवश्यक निर्देश ६१-१२०

१. **योग के अधिकारी**

अ पातञ्जलयोग-मत

आ जैनयोग-मत :– योग का अधिकारी – सम्यक्त्वी, त्रिविध कोटि के योगाधिकारी – अपुनर्बन्धक, भिन्न-ग्रन्थि या सम्यग्दृष्टि, चारित्री (व्रती/संयमी)।

२. **अधिकारी-भेद से योगी के विविध प्रकार**

अ पातञ्जलयोग-मत :– प्रथमकल्पिकयोगी, मधुभूमिकयोगी, प्रज्ञाज्योतियोगी, अतिक्रान्तभावनीययोगी

आ जैनयोग-मत :– कुलयोगी, गोत्रयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी (योगावञ्चक, क्रियावञ्चक, फलावञ्चक), निष्पन्नयोगी

३. **योग-साधना प्रारम्भ करने से पूर्व आवश्यक तैयारी**

अ पातञ्जलयोग-मत

आ जैनयोग-मत :– पूर्वसेवा (देवगुरुपूजन, दान, सदाचार, तप, मोक्ष-अद्वेष), मार्गानुसारी के गुण, साधक के लिए निर्दिष्ट अनुष्ठान (विषानुष्ठान, गरानुष्ठान, अननुष्ठान, तद्धेतु अनुष्ठान, अमृतानुष्ठान), गृहस्थ व मुनि के लिए पृथक्-पृथक् धर्मानुष्ठान, आहार-निर्देश, गुरु की आवश्यकता।

चतुर्थ अध्याय : योग और आचार १२१-१८७

अ. पातञ्जलयोग और आचार

आ. जैनयोग और आचार :– सम्यग्दर्शन – अर्थ, अंग, लक्षण, भेद, प्रतिपक्षी भाव मिथ्यात्व, मिथ्यात्व के प्रकार, सम्यग्दर्शन के दोष, प्राप्तिक्रम। सम्यग्ज्ञान – अर्थ, ज्ञान के प्रकार, ज्ञेय वस्तु, अनेकान्तवाद, वस्तु का स्वरूप, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, स्याद्वाद का अर्थ, स्याद्वाद की कथन शैली – सप्तभंगी, ज्ञेयविषय – जीव, अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल), पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। सम्यक्चारित्र – अर्थ, चारित्र के भेद – निश्चय और व्यवहार-चारित्र, सराग और वीतराग-चारित्र, सकल और विकल-चारित्र, सामायिकादि पंचविध चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय एवं यथाख्यात)। **श्रावकाचार** – अणुव्रत (स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसंतोष या परदारविरमण, इच्छा-परिमाण या परिग्रह-परिमाण अणुव्रत), शीलव्रत – गुणव्रत (दिग्व्रत, भोगोपभोग-परिमाणव्रत, अनर्थदण्डव्रत), शिक्षाव्रत (सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास या पौषधव्रत, अतिथि संविभागव्रत), गृहस्थ योगी की विशिष्ट साधना : प्रतिमा (दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, कायोत्सर्ग, ब्रह्मचर्य, सचित्तवर्जन, आरम्भवर्जन, प्रेष्यवर्जन, उद्दिष्टभक्तवर्जन, श्रमणभूत), श्रावक के छह कर्म, सल्लेखना। **श्रमणाचार**– महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), समिति-गुप्ति – गुप्ति, समिति (ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेप समिति, उत्सर्ग या व्युत्सर्गसमिति), द्वादशानुप्रेक्षा (अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक, बोधि-दुर्लभ), षडावश्यक (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण,

कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान), दशविध धर्म, परीषहजय।

इ. जैनयोग और आचार का आधार : कर्मसिद्धान्त :– कर्म का अर्थ, जीव और कर्म, कर्मों के भेद, कर्म-विपाक, कर्म-विपाक के प्रकार, कर्मों की अवस्थाएँ (बन्ध, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, सत्ता, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति, निकाचना)।

ई भाग्य, पुरुषार्थ और कर्म।

पंचम अध्याय : आध्यात्मिक विकासक्रम १८८-२४६

अ. पातञ्जलयोग-मत :– क्षिप्तचित्त, मूढ़चित्त, विक्षिप्तचित्त, एकाग्रचित्त, निरुद्धचित्त।

आ. जैनयोग-मत :– गुणस्थान – अर्थ व स्वरूप, गुणस्थान-परम्परा, गुणस्थान क्रमारोहण का मुख्य आधार, मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, देशविरति गुणस्थान, सर्वविरति गुणस्थान, अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, अपूर्वकरण गुणस्थान, अनिवृत्ति-सम्पराय गुणस्थान, सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, उपशान्तमोह गुणस्थान, क्षीणमोह गुणस्थान, सयोगिकेवली गुणस्थान, अयोगिकेवली गुणस्थान; आत्मा की तीन अवस्थाएँ – बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा; त्रिविध उपयोग; दृष्टि-विभाजन – ओघदृष्टि, योगदृष्टि; योगदृष्टियाँ और योगांग – मित्रादृष्टि और यम, तारादृष्टि और नियम, बलादृष्टि और आसन, दीप्रादृष्टि और प्राणायाम, स्थिरादृष्टि और प्रत्याहार, कान्तादृष्टि और धारणा, प्रभादृष्टि और ध्यान, जैनयोग में ध्यान, ध्यान के भेद-प्रभेद – आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, धर्मध्यान के भेद – आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय (पिण्डस्थध्यान, पदस्थ ध्यान, रूपस्थध्यान, रूपातीतध्यान); धर्मध्यान की मर्यादाएँ – भावना, देश, काल, आसन, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग एवं फल; शुक्लध्यान, शुक्लध्यान के भेद – पृथक्त्ववितर्क-सविचार, एकत्ववितर्क-अविचार, सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती, समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति, परादृष्टि और समाधि; मन की अवस्थाएँ।

षष्ठ अध्याय : सिद्धि-विमर्श २४७-२६३

अ. पातञ्जलयोग-मत :– यमों से प्राप्त सिद्धियाँ, नियमों से प्राप्त सिद्धियाँ, आसन से प्राप्त सिद्धि, प्राणायाम से प्राप्त सिद्धि, प्रत्याहार से प्राप्त सिद्धि, धारणा, ध्यान और समाधि रूप संयम से प्राप्त सिद्धियाँ, जन्म से प्राप्त सिद्धियाँ, औषधिजन्य सिद्धियाँ, मंत्र से उत्पन्न सिद्धियाँ, तप से उत्पन्न सिद्धियाँ, समाधिजन्य सिद्धियाँ।

आ. जैनयोग-मत :– बुद्धिऋद्धि, विक्रियाऋद्धि या वैक्रियऋद्धि, क्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, क्षेत्रऋद्धि।

सप्तम अध्याय : पातञ्जलयोग एवं जैनयोग में परस्पर साम्य-वैषम्य एवम् वैशिष्ट्य २६४-२७६

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची २८०-२६७

विशिष्टव्यक्तिनामानुक्रमणिका २६८-३००

ग्रन्थानुक्रमणिका ३०१-३०५

शब्दानुक्रमणिका ३०६-३२६

प्रथम अध्याय

पातञ्जल एवं जैन-योग-साधना पद्धति तथा सम्बन्धित साहित्य

परिदृश्यमान संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहे जीवों के सर्वविध संतापों की निवृत्ति कर शाश्वत व चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति कराने वाले साधनों में 'योग' प्रमुख है। आत्म-विकास हेतु आध्यात्मिक-साधना के रूप में प्रागैतिहासिक काल में भी 'योग' का प्रचलन था। सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त ध्यानस्थ योगी का चित्र उक्त तथ्य को पुष्ट करता है।[1] प्राचीन ऋषियों ने चिरन्तन सत्यों का साक्षात्कार कर योग-साधना-मार्ग को एक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया जो 'योगदर्शन' के रूप में विख्यात हुआ।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति में तीन धाराएँ प्रमुख रही हैं— वैदिक, जैन और बौद्ध। अवान्तररूप से अन्य भी अनेक परम्पराएँ थीं। उन सबकी चिन्तन-पद्धति एवं मौलिक विचारधारा में भिन्नता होने से उनकी साधना-पद्धति भी पृथक्-पृथक् थी।

वस्तुतः योग एक विशिष्ट साधना-पद्धति है, जिसका सम्बन्ध आत्मदर्शन से है। इसलिए वैदिकयोग, बौद्धयोग और जैनयोग आदि नामों से आन्तरिक उन-उन धर्मों/सम्प्रदायों की विशिष्ट साधना-पद्धति को प्रकट किया जाता है। इन सभी योग-साधना-पद्धतियों का उद्देश्य शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति कराना है। इस दृष्टि से सभी योग-साधनाओं में परस्पर समानता/एकता है। इन सबमें प्रत्येक साधना-मार्ग का पृथक्-पृथक् वैशिष्ट्य है।

योग-साधना के मार्ग अनन्त हैं। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग, ध्यानयोग, जपयोग, मन्त्रयोग, तपयोग, लययोग आदि योग की अनेक शाखाएँ हैं। वस्तुतः ये सभी शाखाएँ एक दूसरे की पूरक हैं और प्रत्येक की स्थिति-भेद के कारण ही इन साधना-मार्गों में अन्तर दिखाई पड़ता है।

१. पातञ्जलयोग-पद्धति

पातञ्जलयोगसूत्र में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। अन्तःकरण की वृत्तियाँ योगक्रिया द्वारा क्रमशः शान्त होते-होते जब पूर्णतः शान्त हो जाती हैं उस अवस्था का नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्था में द्रष्टा अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट होता है। साधकों में दृश्यमान विभेद के कारण योगसूत्र में चित्तवृत्तिनिरोध के उद्देश्य से तीन प्रकार के साधनों का निर्देश हुआ है। ये तीन साधन हैं — १. अभ्यास एवं वैराग्य[2], २. क्रियायोग[3] और ३. अष्टांगयोग।[4] इनमें से "अभ्यास एवं वैराग्य" उत्तम अधिकारियों के लिए, "क्रियायोग" मध्यम अधिकारियों के लिए तथा "अष्टांगयोग" अधम अधिकारियों के

---

१. Sir J. Marashall, Mohan Jodaro and the Indus Civilization, (Vol. I), p.53
२. पातञ्जलयोगसूत्र, १/१२
३. वही, २/१
४. वही, २/३२

लिए है। क्रियायोग के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान – इन तीन साधनों का विधान है। अष्टांगयोग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि – इन आठ योगांगों की चर्चा है। ये आठ अंग योग की आठ सीढ़ियाँ हैं जिन पर योगशास्त्र का सम्पूर्ण भवन खड़ा है। इनमें से कुछ तो योग-सिद्धि के साधन हैं और कुछ परम्परया योग-सिद्धि में सहायक होते हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु को रखने से पूर्व बर्तन को साफ करना पड़ता है, उसी प्रकार यम-नियम के पालन से अन्तःकरण के जन्म-जन्मान्तरों से दूषित संस्कारों को दूर कर उसे निर्मल बनाना होता है। इससे योग-साधना में रुचि बढ़ती है। परन्तु इन्हें योग का बहिरंग साधन कहा गया है। प्राणायाम आदि योग-सिद्धि के साक्षात् साधन हैं। अतः इन्हें अन्तरंग साधन माना गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार यम से लेकर प्रत्याहार तक योग के बहिरंग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरंग। परन्तु सर्वसम्मति है कि ये आठ अंग ही योग के आधार हैं।

२. जैन-साधना-पद्धति

जैनधर्म की साधना-पद्धति का नाम 'मुक्ति मार्ग' था,[१] जो मूलतः 'रत्नत्रययोग' पर आधारित है। रत्नत्रय के अन्तर्गत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों का समावेश है।[२] इन तीन रत्नों में सम्यक्चारित्र प्रमुख है[३], क्योंकि वही मुक्ति का अव्यवहित और अनिवार्य कारण है। चारित्र के साथ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की सहयुक्तता होने पर ही सम्यक्चारित्र की स्थिति सम्पन्न मानी जाती है।[४] इसलिए सामान्यतः सम्यक्चारित्र ही मुक्तिमार्ग और मोक्ष का साक्षात् कारण है।[५] सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत साधना की द्विविध प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। वह है – संवर और निर्जरा।[६] कर्मों के आगमन को रोकना 'संवर' है[७] और संगृहीत कर्मों का क्षय (निजीर्णता) 'निर्जरा' है।[८] संवर के साधनभूत आचरणों में गुप्ति, समिति, दशधर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय व चारित्र परिगणित किये गये हैं।[९] इनमें दशविध धर्मों में तप का स्थान अत्यन्त विशिष्ट है क्योंकि वह संवर का तो साधन है ही, निर्जरा का भी प्रमुख साधन है।[१०]

जैनपरम्परा के अनुसार विषय-कषायों का निग्रह करके ध्यान व स्वाध्याय में निरत रहते हुए आत्मचिन्तन करना 'तप' है।[११] जन साधारण में तप प्रायः इच्छानिरोध, अनशन आदि का सूचक माना जाता है किन्तु जैन शास्त्रों में 'तप' का क्षेत्र व्यापक है। 'तप' को चारित्र का ही अवान्तर भेद माना गया है।[१२] 'चारित्र' से आने वाले कर्मों का निरोध होता है[१३] और 'तप' से पूर्व-संचित कर्मों की निर्जरा भी होती है।[१४] संक्षेप में कर्मों को निजीर्ण करने की साधना का नाम तप है। समस्त (नए एवं पूर्वबद्ध) कर्मों के क्षय से

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १/१; योग प्रदीप, ११३
२. तत्त्वार्थसूत्र, १/१; सर्वार्थसिद्धि, १/१/७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/१/४६
३. प्रवचनसार, १/६
४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/१/६६–७०
५. चारित्रप्राभृत, (अष्टपाहुड), ८–९; सर्वार्थसिद्धि, ९/१८/८५४
६. सर्वार्थसिद्धि, १/४/१६
७. आस्रवनिरोधः संवरः। – तत्त्वार्थसूत्र, ९/१.
८. सर्वार्थसिद्धि, ८/२३/७७८
९. स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः। – तत्त्वार्थसूत्र, ९/२.
१०. तत्त्वार्थसूत्र, ९/३, ६
११. द्वादशानुप्रेक्षा, ७७
१२. सर्वार्थसिद्धि, ९/१८
१३. तत्त्वार्थसूत्र, ९/२, ६
१४. तपसा निर्जरा च। – तत्त्वार्थसूत्र, ९/३.

ही मोक्ष प्राप्त होता है।[1] यही कारण है कि उत्तराध्ययन में रत्नत्रय के साथ-साथ तप, जो चारित्र का ही अंग है, को भी मोक्ष (आत्मस्वरूपोपलब्धि) का अनिवार्य साधन माना गया है।[2] जैन श्रमणों के लिए भी आगम-ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के विशेषण[3] प्रयुक्त हुए हैं, जो उन्हें 'तपःशूर'[4] अथवा तपोयोग के उत्कृष्ट साधक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। जैनागमों[5] में तपोयोग का व्यापक एवं विस्तृत विवेचन मिलता है। भगवान् महावीर स्वयं एक महान् योगी थे। उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान एवं आत्मचिन्तन द्वारा योग-साधना का ही जीवन बिताया था। आचारांग में भगवान् महावीर की तपश्चर्या का विस्तृत वर्णन है।[6] भगवान् महावीर ने उग्र तप के साथ पहले से ही ध्यान जैसे अन्तस्तप पर पूरा जोर दिया और कहा कि बाह्यतप चाहे कितना भी कठोर हो, परन्तु उसकी सार्थकता अन्तस्तप पर अवलम्बित है। इसलिए उन्होंने अपने तपोमार्ग में बाह्यतप को अन्तस्तप के एक साधन के रूप में ही स्थान दिया।

जैनागमों में तप के मूलतः दो भेद किये गये हैं – बाह्य और आभ्यन्तर।[7] बाह्यतप का अधिक संबंध शरीर से है और आभ्यन्तरतप का आन्तरिक जीवन से। दोनों के छः-छः भेद हैं।[8] बाह्यतप के भेद हैं[9] :–

१. **अनशन** (आहार-परित्याग करना)
२. **ऊनोदरी** (भूख से कम खाना)
३. **भिक्षाचरी** (भिक्षा द्वारा भोजन ग्रहण करना)
४. **रस-परित्याग** (रसनेन्द्रिय का निग्रह करना)
५. **कायक्लेश** (शरीर-साधना – गर्मी-सर्दी आदि को सहना तथा पद्मासन, वीरासन आदि का अभ्यास करना)
६. **प्रतिसंलीनता** (इन्द्रियों को विषयों से हटाना)।

आभ्यन्तरतप के भेद हैं[10] :–

१. **प्रायश्चित्त** (अपराध-पाप की शुद्धि)
२. **विनय** (अभिमान का परित्याग कर गुरुजनों एवं अपने से बड़ों के प्रति आदर व बहुमान प्रदर्शित करना)
३. **वैयावृत्त्य** (निष्काम भाव से गुरुजनों, वृद्धजनों और दीक्षित, तपस्वी आदि साधकों की सेवा करना)
४. **स्वाध्याय** (शास्त्रों का पठन-पाठन करना)
५. **ध्यान** (एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करना)
६. **व्युत्सर्ग** (ममत्व का विसर्जन अर्थात् त्याग करना)।

---

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। – तत्त्वार्थसूत्र, १०/२, ३
२. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/२
३. उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले धीरे घोरगुणे घोरतवस्सी। – भगवतीसूत्र, २७/१/१
४. तवसूरा अणगारा .....। – स्थानांगसूत्र, ४/३/३१७
५. आचारांगसूत्र (प्र० श्रुत०), अध्ययन ६; औपपातिकसूत्र, अधिकार ३; उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३०
६. आचारांगसूत्र, ६/ ४७, ६६, १०७, १०८
७. उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/७
८. उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/८, ३०; तत्त्वार्थसूत्र, ६/१६, २०; भगवतीसूत्र, २५/७/१०३
९. उत्तराध्ययनसूत्र, २०/८–२८; औपपातिकसूत्र, ३०; स्थानांगसूत्र, ६/५११; भगवतीसूत्र, २५/७/१०४,१२३; तत्त्वार्थसूत्र,६/१६६
१०. तत्त्वार्थसूत्र, ६,/१६; उत्तराध्ययनसूत्र, २०/२६–३६; औपपातिकसूत्र, ३०; स्थानांगसूत्र, ६/५११; तत्त्वार्थसूत्र, ६/२

'तप' योग की पृष्ठभूमि के रूप में

बाह्यतप आभ्यन्तरतप में सहायक होता है। तप के उक्त भेदों में योग की दृष्टि से प्रतिसंलीनता, ध्यान और (व्युत्सर्ग) कायोत्सर्ग[1] का बहुत महत्व है। वस्तुतः इन तीनों प्रकार के तप पर ही योग-साधना आश्रित है। इनमें भी विशेषतः ध्यान प्रमुख है। ध्यान के कई सोपान हैं, जिनकी अन्तिम परिणति निर्विकल्पक समाधि की चरमावस्था है, जहाँ शुद्ध चैतन्य मात्र की अखण्ड एवं अद्वैत अनुभूति शेष रह जाती है।[2]

उपर्युक्त संवर व निर्जरा की साधक क्रियाओं के अतिरिक्त जैन-साधना-पद्धति में व्रत को भी स्थान दिया गया है।[3] व्रतों का कार्य संवर की क्रियाओं में सहायता पहुँचाना और अशुभ क्रियाओं से ऊपर उठकर सदाचार में प्रवृत्त कराना होता है।[4] इन व्रतों का स्वरूप साधना के स्तर के अनुरूप भिन्न-भिन्न है। जैसे निम्न कोटी के साधक (गृहस्थ) के लिए अणुव्रतों का और उच्च कोटी के साधक (मुनि) के लिए महाव्रतों का विधान है।[5] इनमें साधक द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आंशिक पालन अणुव्रत है। उनका पूर्णतः पालन महाव्रत है।[6] संवर और निर्जरा की साधक उपर्युक्त क्रियाओं पर ही संक्षेप में जैनयोग-साधना आधृत है।

३. पातञ्जलयोग-पद्धति और जैन-साधना-पद्धति : एक तुलनात्मक सर्वेक्षण

पातञ्जल व जैन दोनों साधना-पद्धतियाँ पृथक् व स्वतन्त्र हैं। दोनों में प्रत्येक की साधना-पद्धति का प्रासाद अपने स्वतन्त्र ढांचे को लिए हुए है। पातञ्जलयोग-पद्धति में यम, नियम, आसन आदि अष्टांगों को प्रमुखता दी गई है, तो जैनयोग-साधना में बाह्य एवं आभ्यन्तर तप के रूप में द्वादशांगों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि साधना की रीति अलग होने पर भी दोनों का लक्ष्य समान है और वह है – शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति। उक्त दोनों योग-साधनाएँ भारतीय दर्शन और संस्कृति के अनुशीलन में रुचि रखने वालों के लिए समान रूप से आदरणीय हैं। खेद है कि साम्प्रदायिक संकीर्णताओं के कारण इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन बहुत कम हो पाया है। सुदीर्घ ऐतिहासिक परम्परा में वैदिक और श्रमण-संस्कृतियों में परस्पर आदान-प्रदान हुआ हो, इसकी प्रबल सम्भावना है। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में उपर्युक्त दोनों साधना-पद्धतियों की परस्पर तुलना करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम एक तथ्य यहाँ ध्यान देने योग्य है, वह यह कि यद्यपि जैन-साधना-पद्धति पतञ्जलि के अष्टांगयोग से पृथक् स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई थी, किन्तु कालान्तर में समन्वय की भावना से, जैन-साधना-पद्धति को भी अष्टांगयोग-मार्ग के अनुरूप बनाने का प्रयास किया गया।

जैन-साधना-पद्धति में, प्रारम्भ में पतञ्जलि के अष्टांगयोग के सभी अंगों की कोई व्यवस्था नहीं थी। तप के अंतर्गत 'ध्यान' ही एक ऐसा तत्त्व है जो दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य है। किन्तु जैन-साधना-पद्धति का 'ध्यान' पातञ्जलयोग-साधना-पद्धति के 'ध्यान' से अधिक व्यापक है, क्योंकि जैन-परम्परा-सम्मत ध्यान में पातञ्जलयोग-सम्मत प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि – चारों समाविष्ट हैं।[7]

---

१. 'कायोत्सर्ग' व्युत्सर्ग का ही एक प्रकार है। आगमों में कहीं-कहीं कायोत्सर्ग 'व्युत्सर्गतप' के रूप में निरूपित हुआ है।
२. वीतरागस्तोत्र, १४/८; समयसारकलश, ८५
३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७/१/१३, १४
४. सागारधर्मामृत, २/८०
५. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२
६. चारित्रप्राभृत, २४; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५२, ७२; पंचाध्यायी, ७२, ७३
७. आदिपुराण, २०/१२; पद्मनन्दिपंचविंशति, ४/६

पातञ्जलयोग का प्रथम अंग 'यम' है, जिसका अर्थ है – बाह्याभिमुखी चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी करना। सर्वप्रथम, ईसा की पहली-दूसरी शती में स्वामी समन्तभद्र ने व्रतों को यम, नियम की संज्ञा से अभिहित किया।[1] सम्भवतः यह पातञ्जलयोग-परम्परा के साथ जैन-साधना-पद्धति को समन्वित करने का सर्वप्रथम प्रयास था। जैनागमों में अनेकत्र आसनों के अभ्यास का भी संकेत प्राप्त होता है।[2] ई० ८वीं-९वीं शती के ग्रन्थ आदिपुराण में यह कहा गया है कि ध्यान के लिए आसन की कोई नियत स्थिति निर्धारित करना आवश्यक नहीं है। शरीर की जो-जो अवस्था (आसन) ध्यान का विरोध न करने वाली हो, उसी-उसी अवस्था में स्थित होकर मुनियों को ध्यान करना चाहिये। चाहें तो वे बैठकर, खड़े होकर अथवा लेटकर ध्यान कर सकते हैं। वहाँ यह भी कहा गया है कि ध्यान के समय मुनियों को सुखासन लगाना ही श्रेष्ठ है। चूँकि पर्यङ्क आसन या कायोत्सर्ग आसन सुखासन हैं शेष सब विषम हैं (दुःख देने वाले हैं) इसलिए ध्यान के समय पर्यङ्क आसन या सुखासन ही लगाना चाहिए।[3] इससे यह प्रतीत होता है कि आसन के सम्बन्ध में प्रारम्भ में जैनाचार्यों का कोई आग्रह नहीं था। केवल शरीर की सुविधा पर बल दिया जाता था। आसनों की विविधता और साधना-पद्धति में अपेक्षा-दृष्टि से परवर्ती साहित्य में अधिक विस्तृत सामग्री है।

प्राचीन जैनागमों में प्राणायाम-साधना का भी स्वतन्त्र निरूपण प्राप्त नहीं होता, जबकि उत्तरवर्ती जैनसाहित्य में इसकी विस्तृत चर्चा उपलब्ध है। जैनसाहित्य के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट होती है कि जैनयोग-साधना में प्राणायाम को योग का अनिवार्य अंग नहीं माना गया है। कुछ स्थलों में प्राणायाम की शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगिता प्रतिपादित की गई है।[4] किन्तु कुछ आचार्यों ने चित्त की स्थिरता एवं अनाकुलता की दृष्टि से इसे अनुपयोगी भी बताया है।[5]

८वीं, ९वीं शती के बाद लिखे गये ग्रन्थों में धर्मध्यान के अन्तर्गत पार्थिवी आदि धारणाओं का भी निरूपण है।[6] इसी प्रकार ध्यान की कुछ उच्चतर अवस्थाओं को 'समाधि' नाम से अभिहित करने की प्रवृत्ति भी जैन-ग्रन्थों में देखने को मिलती है।[7]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन-साधना-पद्धति का निर्माण यद्यपि स्वतन्त्र रूप से किया गया था, किन्तु परवर्ती काल में जैनाचार्यों का यह प्रयास रहा कि जैन-साधना-पद्धति का निरूपण करते समय, पातञ्जलयोग-सम्मत अष्टांगयोग-पद्धति के साथ समन्वय स्थापित किया जाए।

४. पातञ्जलयोग-साहित्य

पातञ्जलयोगसूत्र

महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र योगविषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका प्रारम्भ 'अथ योगानुशासनम्' सूत्र से होता है। यह सूत्र इस बात का प्रतीक है कि महर्षि पतञ्जलि योग के आदि प्रणेता नहीं थे। उन्होंने

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४/२१
२. स्थानांगसूत्र, ५/१/४२, ४३, ५०; कल्पसूत्र, १२१, २८०; भगवतीसूत्र, २/१; पृ० २४१; आचारांगसूत्र (प्र० श्रुत०) ९/४/४; (द्वि० श्रुत०) ७/२/१६१; प्रवचनसारोद्धार, १५६७; उत्तराध्ययनसूत्र, १/२२
३. आदिपुराण, २२/७५–८६
४. यशस्तिलकचम्पू, ३६/६०३, ७१५, ७१६; योगशास्त्र, ५/१०–१२
५. आदिपुराण, २१/६५, ६६; योगशास्त्र ६/५
६. योगशास्त्र ७/६–२५ ; ज्ञानार्णव, ३४/२–३१
७. शास्त्रवार्तासमुच्चय और स्याद्वादकल्पलता, स्तबक १, पृ० ७६

तो अपने से पूर्व प्रचलित समस्त साधना-पद्धतियों को समन्वित करके उनकी दार्शनिक समीक्षा की है तथा यत्र-तत्र बिखरे हुए योग-सम्बन्धी विचारों, सिद्धान्तों तथा पद्धतियों को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने संक्षेप से योग के महत्व को प्रकट करते हुए उसकी सांगोपांग प्ररूपणा की है।

योगसूत्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सुख-दुःख रूप कर्मबन्धन और उसके परिणामस्वरूप जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा दिलाकर आत्म-कल्याण का सीधा, सच्चा और क्रियात्मक मार्गदर्शन कराना है।

१६५ सूत्रों में निबद्ध यह ग्रन्थ समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य नामक पाद-चतुष्टय में विभक्त है। प्रथम समाधिपाद में योग का लक्षण, लक्षणस्थ पदों का विवेचन, योग का उद्देश्य, चित्तवृत्तियों का निरूपण, योग की प्राप्ति के उपायों तथा समाधि के भेदों आदि का वर्णन है। साधनपाद नामक द्वितीय अध्याय में क्रियायोग, क्लेश, कर्म, कर्मों के भेद, कारण, स्वरूप, कर्मविपाक, दुःख, दुःख-हेतु, हान और हानोपाय का विवेचन है। उपादेय की कारणभूत विवेकख्याति के सोपान स्वरूप यम, नियमादि अष्टांगयोग का भी इसमें प्रतिपादन है। विभूतिपाद नामक तृतीय अध्याय में धारणा, ध्यान और समाधि – इन तीन अंतरंग योगांगों के स्वरूप का एक-एक सूत्र में निर्देश दिया गया है। तदनन्तर संयम-जन्य विभूतियों, त्रिविधं परिणाम, तथा विवेकज ज्ञान की विस्तृत चर्चा की गई है। कैवल्यपाद नामक चतुर्थ अध्याय में पूर्व वर्णित सिद्धियों को जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि – इन पाँच निमित्तों से उत्पन्न होने वाली बताया गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ विज्ञानवाद के निराकरणपूर्वक, निर्माण-चित्त, धर्ममेघसमाधि एवं कैवल्य-प्राप्ति की प्रक्रिया तथा कैवल्य के स्वरूप का वर्णन है।

पातञ्जलयोगसूत्र का अक्षरशः अनुकरण करके जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में अभ्यास और वैराग्य के स्तम्भ खड़े किये गये हैं। योग के यमनियमादि आठ अंग प्रायः सभी दर्शनों में मान्य हैं। इस ग्रन्थ के सर्वप्रिय होने में एक विशेषता यह भी है कि यह राजयोग के अन्तर्गत आता है। इसमें हठयोग के समान हठपूर्वक प्राण-निग्रह न करक सीधे मन का निरोध किया जाता है। राजयोग के बिना हठयोग व्यर्थ समझा जाता है। राजयोग का यह सिद्धान्त है कि हठयोग राजयोग की प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं, वरन् किञ्चित् बाधक है।

पातञ्जलयोगसूत्र से सम्बन्धित साहित्य

महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्र से सम्बन्धित साहित्य में उन सभी भाष्यों, टीकाओं, उपटीकाओं और वृत्तियों का समावेश होता है जो योगदर्शन के निगूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए समय-समय पर लिखे गये। योगसूत्र पर तीन भाष्य उपलब्ध होते हैं –

(१) व्यासभाष्य
(२) ज्ञानानन्दभाष्य
(३) स्वामिनारायणभाष्य।

इनमें से सबसे प्रामाणिक भाष्य व्यासमुनि का है जिसमें सूत्रों के अर्थों को अत्यन्त सारगर्भित शैली में समझाया गया है। पातञ्जलयोगसूत्रों के रहस्यों को समझने के लिए व्यासभाष्य प्रवेशद्वार के तुल्य है।

व्यासभाष्य के गहन तत्वों के स्पष्टीकरण हेतु वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्ववैशारदी, विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक तथा हरिहरानन्द आरण्यक ने भास्वती नामक टीकाएँ लिखी हैं। योगसूत्र के मर्म को समझने के लिए ये टीकाएँ अत्यन्त उपयोगी हैं। तत्त्ववैशारदी के कठिन शब्दों एवं वाक्यों को सुबोध बनाने के लिए राघवानन्द सरस्वती ने 'पातञ्जलरहस्य' नामक उपटीका की रचना की है। सूत्रों के भावार्थ को समझने के लिए भाष्यकारों एवं टीकाकारों के साथ-साथ अनेक वृत्तिकारों ने भी अपना-अपना योगदान दिया है, जिनमें

से कुछ वृत्तियाँ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित। उदाहरणतः भोजदेव कृत राजमार्तण्ड, नारायणतीर्थ कृत सूत्रार्थबोधिनी, अनन्तदेव पण्डितकृत पदचन्द्रिका, नागेशभट्टकृत योगसूत्र-लघ्वीवृत्ति, नागेशभट्ट कृत योगसूत्र-बृहतीवृत्ति, भावागणेशकृत योगसूत्रवृत्ति (योगदीपिका), नारायणतीर्थकृत योगसिद्धान्तचन्द्रिका, सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत योगसुधाकर, यशोविजयकृत योगसूत्रवृत्ति, उदयंकरकृत योगसूत्रवृत्ति (अप्रकाशित), रामानन्द सरस्वतीकृत मणिप्रभा, क्षेमानन्द दीक्षितकृत नवयोगकल्लोलवृत्ति अप्रकाशित, ज्ञानानन्दकृत योगसूत्रवृत्ति, भवदेवकृत अभिनव भाष्य (अप्रकाशित), भवदेवकृत योगसूत्रटिप्पण, महादेवकृत योगसूत्रवृत्ति, रामानुजकृत योगसूत्रभाष्य, वृन्दावन शुक्लकृत योगसूत्रवृत्ति (अप्रकाशित), शिवशंकरकृत योगसूत्रवृत्ति, शंकर भगवत्पादकृत पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य-विवरणम्, राधानन्दकृत पातञ्जलरहस्यप्रकाश, उमापति मिश्र प्रणीत योगसूत्रवृत्ति (अप्रकाशित), स्वामी हरिप्रसादकृत योगसूत्र-वैदिकवृत्ति, बलदेव मिश्रकृत योगप्रदीपिका, गोपाल मिश्रकृत योगसूत्रवृत्ति, उदयवीर शास्त्रीकृत विद्योदय भाष्य, स्वामी दर्शनानंद कृत योगसूत्रभाष्य, स्वामी तुलसीरामकृत योगसूत्रभाष्य, तथा वृन्दानन्द शुक्लकृत वृत्ति आदि।

हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रचलित राजभाषाओं में योगसूत्र का अनुवाद तथा विवेचन हुआ है। अंगेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि विदेशी भाषाओं में भी योगसूत्र का अनुवाद किया गया है। इनमें वुडस्कृत भाष्य एवं टीका सहित मूल योगसूत्र का अनुवाद विशिष्ट है।

उपर्युक्त विवेचन से पातञ्जलयोग-साहित्य की समृद्धि का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

५. जैनयोग-साहित्य

जैनयोग की परम्परा एवं विकासक्रम को जानने के लिए जैनयोग संबधी प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना उचित होगा। आगमयुग से लेकर वर्तमानयुग तक के संपूर्ण काल को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है –

१.	आगमयुग	–	ई० पू० छठी शती से ७वीं शती ई०
२.	मध्ययुग	–	ई० ८वीं शती से १४वीं शती
३.	अर्वाचीनयुग	–	१५वीं शती से वर्तमान काल तक

उक्त तीन कालों में रचित साहित्य रचना का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

आगम-युग (प्राचीन काल) - (ई० पू० छठी शती से सातवीं शती ई०)

आगम-युग में मुख्यतः तप और ध्यान पर ही आध्यात्मिक साधना अवलम्बित थी। अतः उस युग में हुई योग संबंधी साहित्य की रचना पर आगम-शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उक्त काल में पातञ्जलयोगसूत्र-सम्मत अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ था। प्रमुखतः सामान्य व्यापार (कायिक, वाचिक और मानसिक) के अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग होता था।[1] यद्यपि जैनागमों में 'योग' शब्द यत्र-तत्र ध्यान, समाधि आदि यौगिक साधनों के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वह सामान्य साधनापरक है। इस युग में हुई रचनाओं का वर्णन इस प्रकार है –

जैनागम साहित्य में आत्मोन्मुखी साधना की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है, जिसे 'जैनयोग' का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। जैनागमों में 'योग-साधना' के अर्थ में 'ध्यान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कुछ आगम-

---

१. कायवाङ्मनःकर्मयोगः। – तत्त्वार्थसूत्र,६/१

ग्रन्थों में ध्यान के लक्षण, भेद-प्रभेद, आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन है।[१] स्थानांग[२], सूत्रकृतांग[३] और भगवतीसूत्र[४] आदि अंग-आगम ग्रन्थों में संयम, समाधि व ध्यान के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययन में भी जैन-साधना-पद्धति का अतिसूक्ष्म व मार्मिक प्रतिपादन है। इसमें 'योग' शब्द संयम[५] एवं समाधि[६] दोनों अर्थों में व्यवहृत हुआ है।

आगमों के उपरान्त निर्युक्ति, चूर्णि एवं भाष्यों में भी आगम सम्मत योग-साधना का विस्तृत वर्णन है। निर्युक्तियों में विशेषतः 'आवश्यकनिर्युक्ति' के 'कायोत्सर्ग अध्ययन'[७] में ध्यान के लक्षण व भेद-प्रभेदों का वर्णन है। विशेषावश्यकभाष्य एवं आवश्यकसूत्रवृत्ति में भी ध्यान के स्वरूप, उसके भेद एवं साधना का विस्तृत विवेचन है।

ईसा की प्रथम शती में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि अध्यात्म-ग्रन्थों की रचना कर जैनपरम्परा के लिए साधना का नया क्षेत्र खोला। परन्तु पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित ध्यान का योग नाम से उल्लेख मोक्षप्राभृत में ही मिलता है। कुन्दकुन्द के अनुसार यह ग्रन्थ परमयोगियों के उस परमात्म रूप परमपद का व्याख्यान करता है, जिसको जानकर तथा निरन्तर अपनी साधना में योजित करके योगी अव्याबाध, अनन्त और अनुपम निर्वाण को प्राप्त करता है।[८] इसमें पतञ्जलि के अष्टांगयोग में से प्राणायाम को छोड़कर शेष अंगों का जैन परम्परानुसार स्फुट वर्णन भी उपलब्ध है।

ईसा की प्रथम-दूसरी शती से जैनपरम्परा में संस्कृत भाषा में ग्रन्थरचना की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई तथा संस्कृत में स्वतन्त्र सूत्रग्रन्थों की रचना भी की गयी। इस शती के उल्लेखनीय सर्वप्रथम आचार्य उमास्वामि (ति) हैं, जिन्होंने सरल संस्कृत में 'तत्त्वार्थसूत्र'[९] नामक ग्रन्थ की रचना की। इस लघु ग्रन्थ में जैन-मोक्ष-मार्ग और उससे संबंधित दर्शन एवं तत्त्वचिन्तन का गंभीर परिचय प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का हेतु बताने वाले इस मोक्ष-मार्ग-प्रतिपादक ग्रन्थ में ज्ञान-क्रिया, ज्ञेय तथा चारित्र का विवेचन है। योग-निरूपण में भी प्रायः चारित्र का ही वर्णन हुआ है, क्योंकि चारित्र के पालन से ही आध्यात्मिक विकास सम्भव होता है।

ईसा की पांचवी-छठी शती में पूज्यपाद देवनन्दि ने आध्यात्मिक अनुभूतियों के अजस्र स्रोत समाधितन्त्र[१०] और इष्टोपदेश[११] नामक दो ग्रन्थों की रचना की। इष्टोपदेश में ग्रन्थकार ने योग के निरूपण के साथ-साथ साधक की उन भावनाओं का भी उल्लेख किया है, जिनके चिंतन से वह अपन चंचल वृत्तियों को छोड़कर अध्यात्म-मार्ग में लीन होता है तथा बाह्य व्यवहारों का निरोध करके आत्मानुष्ठान में स्थिर होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है।[१२]

---

१. आचारांगसूत्र, ६/१/५, ७, ६/२/४, १२, ६/४/३, १४, १५; समवायांगसूत्र, ४/४; स्थानांगसूत्र, ४/१/२४७; भगवतीसूत्र, २५/७; औपपातिकसूत्र, अध्ययन ३०
२. स्थानांगसूत्र, १०/३३, ३/८८ एवं अभयदेववृत्ति
३. सूत्रकृतांगसूत्र, १/२/१/११
४. भगवतीसूत्र, १८/१०/६
५. उत्तराध्ययनसूत्र, २७/२, ११/१४ एवं बृहद् वृत्ति
६. उत्तराध्ययनसूत्र, १८/४
७. आवश्यकनिर्युक्ति, (निर्युक्तिसंग्रह), १४७६–१५०६
८. मोक्षप्राभृत (अष्टपाहुड) ३
९. (क) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलाल, भारत जैन महामण्डल (वर्धा) सन् १९१२
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् १९७६
१०. समाधितन्त्र, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, सरसावा, सन् १९३९
११. इष्टोपदेश, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९५४
१२. इष्टोपदेश, ४७–४९

समाधितन्त्र' अपर नाम 'समाधिशतक' में ध्यान तथा समाधि द्वारा आत्म-तत्त्व को पहचानने के उपायों का सुन्दर विवेचन है। इस पर प्रभाचन्द्र, पर्वतधर्म तथा दशचन्द्र की टीकाएँ और मेघचन्द्र की एक वृत्ति भी मिलती है।

ई० ६०६ में जिनभद्रगणि ने आगम शैली में जैनयोग विषयक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की, जो 'ध्यानशतक'[१] नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें ध्यान, आसन, प्राणायाम एवं अनुप्रेक्षाओं का सुन्दर विवेचन है। इस पर हरिभद्रसूरिकृत टीका भी मिलती है।

ईसा की छठी-सातवीं शती में योगीन्दु देव ने परमात्मप्रकाश एवं योगसार[२] नामक दो ग्रन्थों की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्दकृत मोक्षप्राभृत के अनुरूप आत्मा के त्रिविध स्वरूपों की विस्तृत चर्चापूर्वक जीव को संसार के विषयों से हटाकर, आत्मोन्मुख बनाने के उपायों का समुचित विवेचन है।

मध्ययुग (ई. ८वीं से १४वीं शती)

मध्ययुग में देश में अनेक साधना पद्धतियाँ प्रचलित थीं, परन्तु हठयोग एवं तंत्रयोग का प्रभाव अधिक था। जैनाचार्यों में मध्यकाल से तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। वैदिक एवं बौद्धयोग के साथ समन्वय स्थापित करना तथा उन्हें दृष्टि में रखते हुए अपने वैशिष्ट्य का उपस्थापन करना मध्यकाल के जैनाचार्यों की विशेषता है। इतना ही नहीं, उनके पारिभाषिक अथवा उनके समानान्तर शब्दों का प्रयोग भी उक्त युग में किया गया। उस काल में रचित जैनयोग-साहित्य का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

ई० ८ वीं शती में एक ऐसे महान् रत्न का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में वर्णित योगपद्धतियों एवं परिभाषाओं का जैनपद्धतियों से समन्वय स्थापित कर जैनयोग-परम्परा को एक नई दिशा प्रदान की। इस महान् विभूति का नाम है – हरिभद्रसूरि। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं – योगबिन्दु,[३] योगदृष्टिसमुच्चय,[४] योगविंशिका,[५] योगशतक[६] एवं षोडशक।[७] इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

ई० ८-९वीं शती में आचार्य गुणभद्र द्वारा आत्मानुशासन[८] नामक कृति योगाभ्यास की पूर्वपीठिका के रूप में प्रस्तुत की गई। इसमें मन को बाह्य विषयों से हटाकर शुद्ध आत्मस्वरूप की ओर प्रवृत्त करने की प्रेरणा दी गई है।

ई० १०वीं शती में अमितगति ने सुभाषितरत्नसंदोह[९] तथा योगसारप्राभृत[१०] नामक दो रचनाएँ लिखीं, जिनमें नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश के साथ मुनि एवं श्रावकों के व्रत, ध्यान, चारित्र आदि की चर्चा है।

ई० १०२९ (वि० स० १०८६) का मुनि पद्मनन्दिकृत 'ज्ञानसार'[११] भी योगपरक एक महत्वपूर्ण प्राकृत-ग्रन्थ है, जिसका वर्ण्य विषय शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव के अनुसार ही है।

---

१. ध्यानशतक, विनयसुन्दरचरण ग्रन्थमाला, जामनगर, वि० सं० १९४७
२. परमात्मप्रकाश और योगसार, रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, ई० सन् १९१५
३. योगबिन्दु, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९२१
४. योगदृष्टिसमुच्चय, विजयकमल केशरग्रन्थमाला, खम्भात, वि० सं० १९९२
५. योगविंशिका, ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेतांबर संस्था, रतलाम, १९२७
६. योगशतक, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५९.
७. षोडशक, ऋषभदेव जी केसरीमल जी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वीरनिर्वाण सं० २४६२
८. आत्मानुशासन, जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, वि० सं० २०१८
९. (क) सुभाषितरत्नसंदोह, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, ई० सन् १९०३
(ख) सुभाषितरत्नसंदोह, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, ई० सन् १९७७
१०. योगसारप्राभृत, (संपा०) जुगलकिशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् १९६९
११. ज्ञानसार, दिगम्बर जैन पुस्तकालय कापडिया भवन, सूरत, वी० नि० सं० २४७०

रामसेनाचार्य कृत 'ध्यानशास्त्र' अथवा 'तत्त्वानुशासन'[१] का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः ध्यान है। इसमें मन की एकाग्रता के लिए ध्यान को महत्व देते हुए ध्यान के भेदों व नैमित्तिक एवं सहायक तत्त्वों के साथ-साथ मन्त्र, जप, आसन आदि का भी विवेचन है।

मुनि रामसिंह (११००ई० से पूर्व) द्वारा रचित 'पाहुडदोहा'[२] अपभ्रंश की अतिशय उल्लेखनीय आध्यात्मिक रचना है, जिसका योगीन्दुदेव कृत 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' से बहुत अधिक साम्य है। इसमें झूठे योगियों को खूब फटकारा गया है।

ई० ११वीं शती में शुभचन्द्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव'[३] नामक योग विषयक ग्रन्थ की रचना की। इसमें अष्टांगयोग, हठयोग व तन्त्रयोग के महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है। प्राणायाम, भेद-प्रभेद सहित ध्यान, मन्त्र, जप, शकुन, नाड़ी और पवनजय आदि विषयों का विस्तृत एवं स्पष्ट चित्रण इस ग्रन्थ की विशेषता है। इस पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं –

१. तत्त्वत्रय प्रकाशिनी – (दिगम्बर आचार्य श्रुतसागर)
२. नयविलास कृत टीका
३. अज्ञातकर्तृक टीका

ई० १२वीं शताब्दी में हेमचन्द्रसूरि ने सहस्रश्लोकी 'योगशास्त्र'[४] की रचना की। इसका प्रणयन सत्शास्त्र, सद्गुरुवचन तथा स्वानुभव के आधार पर किया गया है। हेमचन्द्र ने इसमें योग की पारम्परिक पद्धतियों का निरूपण कर मन के चार प्रकार बताये हैं। इसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान का भी विस्तृत वर्णन है। मुमुक्षुओं के लिए यह कृति बालकवच के समान है।[५] इस पर उनकी स्वोपज्ञ टीका[६] तथा निम्नलिखित अन्य टीकाएँ[७] भी हैं –

१. अमरकीर्ति के शिष्य इन्द्रनन्दी कृत योगिरमा टीका,
२. अमरप्रभसूरि कृत वृत्ति,
३. अज्ञातकर्तृक टीका-टिप्पण,
४. अवचूरि (अज्ञातकर्तृक),
५. सोमसुंदरसूरि कृत बालावबोध,
६. इन्द्रसौभाग्यगणि कृत वार्त्तिक आदि।

१३वीं शताब्दी में पं० आशाधर की कृति 'अध्यात्मरहस्य'[८] अपर नाम 'योगोद्दीपन' प्राप्त होती है। इसमें आध्यात्मिक रहस्यों का सुन्दर प्रतिपादन है। इसके अतिरिक्त, 'योगसार'[९] एवं 'योगप्रदीप'[१०] नामक दो

---

१. तत्त्वानुशासन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, १९६३.
२. पाहुडदोहा, (संपा०) हीरालाल जैन, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, वि० सं० १९९०
३. (क) ज्ञानार्णव, (संपा०) बालचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९२७
   (ख) ज्ञानार्णव, परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वि० सं० २०३७
४. (क) योगशास्त्र, ऋषभचन्द्र जोहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली सन् १९६३
   (ख) योगशास्त्र, (संपा०) गो० जी० पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद १९३८.
   (ग) योगशास्त्र : एक परिशीलन, अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, सन् १९६३.
५. द्रष्टव्य : मोहराजपराजय, (संपा.) चतुर्विजय, अंक १
६. योगशास्त्रविवरण, जैन धर्म प्रसारक सभा, भाव नगर, ई० १९२६
७. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास (भा०४), पृ० २४५
८. अध्यात्मरहस्य, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, सन् १९५७
९. योगसार, (अज्ञातकर्तृक), जैन साहित्य विकास मण्डल, बंबई, सन् १९६८
१०. योगप्रदीप, (अज्ञातकर्तृक), जैन साहित्य विकास मण्डल, बंबई, ई० सन् १९६०

रचनाएँ अज्ञातकर्तृक प्राप्त होती हैं, जिनमें आत्मा और परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने के उपाय वर्णित हैं। १३वीं शताब्दी में ही रविचन्द्र मुनीन्द्र कृत 'आराधनासारसमुच्चय', १३-१६ वीं शती के श्री गुरुदास कृत 'योगसारसंग्रह' नामक संस्कृत-पद्यात्मक योग विषयक ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है।[१]

अर्वाचीनयुग (ई० १५वीं शती से वर्तमानकाल तक)

अर्वाचीनयुग में आगमकाल व मध्यकाल में प्रचलित परम्परा को ध्यान में रखते हुए योग के विषय को अधिक स्पष्ट करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। जैनों द्वारा वैदिक ग्रन्थों पर टीका लिखने का कार्य भी इसी युग में आरम्भ हुआ था। इस काल के जैनयोग-साहित्य का विवरण इस प्रकार है –

१५ वीं शताब्दी की एक कृति मुनि सुन्दरसूरि की है। उसका नाम 'अध्यात्मकल्पद्रुम'[२] है। इसमें उपदेशात्मक शैली में योग का निरूपण है। यह कृति मुमुक्षुओं को ममता के परित्याग, कषायादि के निवारण व मनोविजय से वैराग्य-पथ के अनुरागी बनने तथा समता एवं साम्य का सेवन करने का उपदेश देती है।

भास्करनन्दि[३] (१६वीं शती) ने संस्कृत भाषा में 'ध्यानस्तव'[४] नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें १०० पद्य हैं। इस कृति को उन्होंने अपने चित्त की एकाग्रता के लिए लिखा है।

ई० १५६६ (वि०सं० १६२१) में 'ध्यानदीपिका'[५] नाम से सकलचन्द्र ने संस्कृत-पद्यात्मक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें ध्यान के स्वरूप व भेदों आदि पर विचार किया गया है।

कवि राजमल्ल, वि०सं० १६०३-६२ (१६वीं शती) कृत 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड'[६] नामक २०० श्लोक-परिमाण संस्कृत-पद्यात्मक कृति चार परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में मोक्ष व मोक्षमार्ग, द्वितीय में द्रव्य सामान्य का लक्षण, तृतीय में द्रव्यविशेष, तथा चतुर्थ में जीवादि सात तत्त्वों एवं नौ पदार्थों का निरूपण हुआ है।

वि०सं० १६६६ (ई० १६६६) में भावविजय ने 'ध्यानस्वरूप'[७] नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें मुख्यतः ध्यान का ही वर्णन है।

ई० १६वीं-१७वीं शती में यशोविजय नामक एक अन्य आचार्य का पदार्पण हुआ, जिन्होंने योग विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना कर योग की अजस्र धारा प्रवाहित की। यथा – अध्यात्मसार,[८] अध्यात्मोपनिषद्,[९] द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका[१०] (योगावतार बत्तीसी), पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति, योगविंशिका टीका[११] तथा ज्ञानसार (अष्टक)।[१२] इनका परिचय अग्रिम पृष्ठों में दिया गया है।

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० २५५
२. अध्यात्मकल्पद्रुम, निर्णयसागर मुद्रणालय, बंबई, सन् १६६६
३. कुछ लोग इन्हें १२वीं शती का मानते हैं।
४. ध्यानस्तव, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् १६७६
५. ध्यानदीपिका, सोमचन्द्र शाह, अहमदाबाद, १६१६
६. अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड, माणिकचन्द्र दिगम्बरजैन ग्रन्थमाला, वि० सं० १६६३
७. उल्लिखित, जिनरत्नकोश, भा० १, पृ० १६६
८. अध्यात्मसार, जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर, वि०सं० १६६५
९. अध्यात्मोपनिषद्, केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर, वि०सं० १६४४
१०. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, यशोविजय, (संपा०) पं० सुखलाल, जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर, सन् १६६६
११. पातंजलयोगदर्शन एवं हारिभद्रीया योगविंशिका टीका, (संपा०) पं० सुखलाल, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १६२२
१२. (क) ज्ञानसार, आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १६७१
(ख) ज्ञानसार, ओमप्रकाश जैन, प्रताप मार्किट, दिल्ली,१६६८

वि०सं० १७६६ (ई० १८वीं शती) में देवेन्द्रनन्दि ने 'ध्यानदीपिका'[1] नामक गुजराती ग्रन्थ की रचना की। इसमें १२ भावना, रत्नत्रय, महाव्रत, ध्यान, मन्त्र तथा स्याद्वाद का निरूपण है। कहा जाता है कि जो शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का लाभ नहीं ले सकते, उनके लिए यह साररूप में लिखी गई है। १८वीं शताब्दी में विनयविजयगणि ने 'शान्तसुधारस'[2] की रचना की, जो भावनायोग की सुन्दर कृति है।

२०वीं शती में 'जैनयोग'[3] के नाम से पाश्चात्य विद्वान् आर. विलियम्स ने एक पुस्तक लिखी, परन्तु इस पुस्तक में जैनयोग से सम्बन्धित कोई सामग्री नहीं है, अपितु इसमें योग के आधारभूत श्रावकाचार (श्रावक के बारह व्रत) का ही विश्लेषण किया गया है।

वि०सं० २०१८ (२०वी-२१वीं शती) में आ० श्रीतुलसी ने 'मनोनुशासनम्'[4] नामक एक ग्रन्थ की रचना की, जो पातञ्जलयोगसूत्र की भाँति सूत्रात्मक शैली में निबद्ध है। इसी युग में मुनि नथमल ने 'जैनयोग'[5] नामक पुस्तक लिखी। इसमें जैनयोग का एक नई शैली से प्रतिपादन हुआ है।

२०वीं शती में ही आत्माराम जी महाराज द्वारा 'जैनागमों में अष्टांगयोग'[6] नामक एक लघु कृति की रचना की गई। बाद में लगभग ५० वर्ष बाद १९८३ में इसी कृति को आधार बनाकर उन्होंने 'जैनयोग सिद्धान्त और साधना'[7] नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की, जिसमें बड़ी सुन्दर शैली में भारतीय योगविद्या का तुलनात्मक चिन्तन प्रस्तुत करते हुए जैनयोग की विशेषताओं को उजागर किया गया है।

जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास[8] में योग विषयक कुछ अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया गया है, जिनमें अज्ञातकर्तृक ध्यानविचार, धनराजकृत वैराग्यशतक, मुनि न्यायविजयकृत अध्यात्मतत्त्वालोक, विजयसिंहसूरिकृत साम्यशतक, अज्ञातकर्तृक योगसार एवं योगप्रदीप, अज्ञातकर्तृक ध्यानचतुष्ट्य, यशःकीर्तिकृत ध्यानसार, नेमिदासकृत ध्यानमाला, अज्ञातकर्तृक समाधिद्वात्रिंशिका आदि हैं।

जिनरत्नकोश[9] में 'योग' शब्द से प्रारम्भ होने वाली कुछ ऐसी कृतियाँ निर्दिष्ट हैं, जिनके रचयिताओं के नाम नहीं दिये गये। उनके नाम इस प्रकार हैं—योगदृष्टिस्वाध्यायसूत्र, योगभक्ति, योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका, योगरत्नसमुच्चय, योगरत्नावली, योगविवेकद्वात्रिंशिका, योगसंकथा, योगसंग्रह, योगसंग्रहसार, योगानुशासन और योगावतारद्वात्रिंशिका। ये कृतियाँ प्रायः अनुपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी योग विषयक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिनके लेखकों का नाम निर्देश किया गया है[10] —

योगतरंगिणी	पं० जिनदत्तसूरि
योगदीपिका	पं० आशाधर
योगदीपिका	यशोविजय
योगप्रदीप	देवानन्द
योगभेदद्वात्रिंशिका	परमानन्द

---

१. ध्यानदीपिका, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, सन् १९२६.
२. शान्तसुधारस, (अनु०) मनसुख भाई पी० मेहता भगवानदास म० मेहता, भावनगर, वि० सं० २४६२
३. **Jain Yoga, R. Williams, Oxford University Press,London, 1963**
४. मनोनुशासनम्, जैनश्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, गोरखपुर, संवत् २०२१.
५. जैनयोग, आदर्श साहित्य संघ, चूरु, १९७८
६. जैनागमों में अष्टांगयोग, आत्माराम जैन प्रकाशनालय, लुधियाना, १९३३
७. जैनयोग : सिद्धान्त और साधना, (संपा०) श्री अमरमुनि, आत्मज्ञानपीठ, मानसा मंडी, पंजाब, १९८३
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० २८८.
९. जिनरत्नकोश (भाग १), भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना, १९४४.
१०. जिनरत्नकोश, भाग १, पृ० ३२१–३२५; जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० २५६

योगरत्नमाला	नागार्जुन
योगमार्ग	सोमदेव
योगरत्नाकर	जयकीर्ति
योगलक्षणद्वात्रिंशिका	परमानन्द
योगविवरण	यादवसूरि
योगसंग्रहसार	जिनचन्द्र
योगसंग्रहसारप्रक्रिया अथवा अध्यात्मपद्धति	नन्दीगुरु
योगसार	गुरुदास
योगांग	शान्तरस
योगामृत	वीरसेन देव

जिनरत्नकोश[1] में 'अध्यात्म' शीर्षक वाली विविध कृतियों का उल्लेख है, जिनमें से किसी के भी कर्ता का नाम वहाँ नहीं दिया गया। अतः ये सब अज्ञातकर्तृक कही जा सकती हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं– अध्यात्मभेद, अध्यात्मकलिका, अध्यात्मपरीक्षा, अध्यात्मप्रबोध, अध्यात्मबिन्दु, द्वात्रिंशिका, अध्यात्मलिंग और अध्यात्मसारोद्धार।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा में योगविषयक विपुल साहित्य की रचना हुई है। परन्तु खेद का विषय है कि उक्त सब सामग्री आज उपलब्ध नहीं है। अधिकांश नामशेष ही रह गयी है। आगमयुग से लेकर वर्तमानयुग तक प्राचीन, मध्य एवं अर्वाचीन–तीनों कालों में जैनयोग-साहित्य पर हुई ग्रन्थ रचनाओं में हरिभद्रसूरि, शुभचन्द्राचार्य, हेमचन्द्रसूरि एवं उपा० यशोविजय कृत योगग्रन्थ जैन समाज में ही नहीं, जैनेतर समाज में भी प्रसिद्ध हैं। उनकी प्रसिद्धि, उनमें पाई जाने वाली अभिनव विचारधारा तथा अन्य विशेषताओं के कारण ही प्रस्तुत प्रबन्ध में इन्हें अध्ययन का विषय बनाया गया है।

उक्त चार जैनाचार्यों को प्रस्तुत प्रबन्ध का आधार बनाने का एक अन्य कारण यह भी था कि वे अपने-अपने युग के विशिष्ट प्रतिनिधि थे। जहाँ तक हरिभद्र का सम्बन्ध है वे एक ऐसे महान् जैनाचार्य हुए हैं जिन्हें ब्राह्मण (वैदिक) और जैनपरम्परा में समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रमुखता देने का गौरव प्राप्त हुआ है। वे स्वयं भी ब्राह्मणपरम्परा के एक दिग्गज विद्वान् थे, किन्तु बाद में उन्होंने स्वेच्छा से जैन धर्म अंगीकार कर लिया था। जैनयोग-साधना को विविध परिप्रेक्ष्यों में और विविध रूपों में निरूपित करने एवं पातञ्जलयोग-परम्परा के साथ समन्वयात्मक दृष्टि से उपस्थापित करने में वे पूर्णतः सफल रहे हैं। इसी तरह उपा० यशोविजयकृत ग्रन्थों को जैनदर्शन व न्याय के विकास की पराकाष्ठा कहा जाए तो अनुचित न होगा। जहाँ उन्होंने वैदिकपरम्परा के नव्य न्याय की शैली को अंगीकार कर, जैनदर्शन का सुदृढ़ तर्क-प्रासाद खड़ा किया, वहाँ हरिभद्रसूरि द्वारा प्रवर्तित चिन्तन-परम्परा को आगे बढ़ाते हुए जैनयोग-साधना का व्यापक व विस्तृत निरूपण भी किया, जो मौलिक और आगमिक परम्परा से सम्बद्ध होने के साथ-साथ तुलनात्मक और समन्वयात्मक दृष्टिकोण की दृष्टि से सर्वथा नवीन एवं उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है।

---

१. जिनरत्नकोश, भाग १, पृ० ५–६; जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४ पृ० २६४

उक्त दोनों आचार्यों के मध्य में हेमचन्द्रसूरि जहाँ श्वेताम्बरपरम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहाँ आ०शुभचन्द्र दिगम्बरपरम्परा के हैं। इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किये बिना जैनयोग-साधना का निरूपण एकांगी रहेगा। समग्र रूप से विचार किया जाये तो हरिभद्रसूरि, शुभचन्द्राचार्य, हेमचन्द्रसूरि एवं उपा० यशोविजय – ये चार आचार्य जैनयोग-साधना रूपी भवन के आधारस्तम्भ हैं। अन्य आचार्य इन्हीं चारों का किसी न किसी अंश में अनुगमन करते प्रतीत होते हैं। अनेक आचार्य इन्हीं चार आचार्यों द्वारा उपस्थापित विचारधारा के ऋणी हैं। जैनयोग-साधना के संबंध में जो भी मौलिक व स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गये हैं, वे जैनयोग-साधना के सब पक्षों को आंशिक रूप से ही स्पर्श करते हैं। जितने व्यापक व सर्वांगीण दृष्टिकोण से उक्त चार आचार्यों ने निरूपण किया है, वैसा अन्य किसी आचार्य ने नहीं। संक्षेप में, उक्त चार आचार्यों ने जो कुछ भी कहा है उससे कोई नवीन बात अन्य आचार्य ने नहीं कही। इन सब दृष्टियों से प्रस्तुत प्रबन्ध के लिए उक्त आचार्यों का चयन उचित व संगत है। इन चार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित योग-साधना के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व यह उचित होगा कि इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाये।

६. प्रमुख जैनाचार्यों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अ. हरिभद्रसूरि

हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर जैन-सम्प्रदाय के लब्धकीर्ति पुरुष हैं। सम्प्रदाय में इस नाम के अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है।[1] परन्तु योग-विषयक ग्रंथों के रचयिता के रूप में इन्हीं का नाम सर्वश्रुत है। हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रंथों में अपने समय व जीवनवृत्त का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया है। उनके ग्रंथों में प्राप्त कुछ संकेतों[2] तथा उनके समकालीन[3] व परवर्ती लेखकों[4] के आधार पर उनके समय एवं जीवनवृत्त विषयक जानकारी मिलती है।

उनके अपने ग्रन्थों में दिये गये संकेतों के आधार पर, उनकी पूर्वावधि व उत्तरावधि का निर्णय करना यहाँ संगत होगा। हरिभद्रसूरि के समय-संबंधी विवादास्पद प्रश्न पर मुनि जिनविजय, मुनि कल्याणविजय, प्रो० हर्मन जैकोबी और प्रो० के० वी० अभ्यंकर ने अपने लेखों द्वारा विविध मत व्यक्त किये हैं। हरिभद्रसूरि के समय से संबंधित निम्नलिखित मान्यताएँ प्रचलित हैं –

१.	छठी शती वि० सं०	(परम्परागत मान्यता)
२.	६-१० वीं शती वि० सं०	(प्रो० अभ्यंकर तथा हर्मन जैकोबी)
३.	८-६ वी शती ई०	(पं० महेन्द्रकुमार तथा डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री)
४.	ई० ८ वीं शती	(मुनि जिनविजय)

---

१. जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ८८२

२. द्रष्टव्य : हरिभद्रसूरि कृत ग्रंथों के अन्तिम प्रशस्ति पद्य

३. (क) कहावली, भद्रेश्वर, (अमुद्रित) वि० सं० १४६७ में लिखित, संघवी पाड़ा पाटन में प्राप्त ताडपत्रीय पोथी, खण्ड २, पत्र सं० ३००
(ख) कुवलयमाला, उद्योतनसूरि, सिंघी जैन शास्त्र विद्यापीठ, बम्बई, १६५६

४. (क) उपदेशपद, हरिभद्रसूरि, टीका, मुनिचन्द्र वि० सं० ११७४, की प्रशस्ति।
(ख) गणधरसार्धशतक, जिनदत्त, वि० सं० ११६६-१२११
(ग) प्रभावकचरित्र, चन्द्रप्रभसूरि, श्रृंग ६
(घ) प्रबन्धकोष या चतुर्विंशतिप्रबंध, राजशेखर, श्री फार्बस गुजराती सभा, बम्बई, १६३२, पृ० ४६–५४
(ङ) गणधरसार्धशतक बृहद् टीका, सुमतिगणिन्, वि० स० १६६५
(च) पुरातनप्रबंधसंग्रह, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १६३६, पृ० ४२–४३

वि० सं० छठी शती

वि० सं० ५८५ में हरिभद्रसूरि के स्वर्गस्थ होने की मान्यता को अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं का समर्थन प्राप्त है। इस का समर्थन अन्य अनेक विद्वानों के साथ मुनि जयसुन्दरविजय ने भी किया है।[1] अपने समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये हैं –

मेरुतुंगाचार्य ने 'विचारश्रेणि' नामक ग्रंथ में 'उक्तं च' कहकर एक प्राचीन प्राकृत गाथा उद्धृत की है, जिसके अनुसार वि० सं० ५८५ में हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास हुआ था।[2] मेरुतुंगाचार्य की उक्त गाथा को प्रद्युम्नसूरि ने अपने 'विचारसारप्रकरण'[3] में और समयसुन्दरगणि ने स्वसंगृहीत 'गाथासहस्री'[4] नामक प्रबन्ध में उद्धृत किया है। इस आशय का समर्थन कुलमंडनसूरि ने 'विचारामृतसंग्रह'[5] में और धर्मसुन्दर ने 'तपागच्छगुर्वावली'[6] में किया है। मुनि सुन्दरसूरि ने संवत् १४६६ में स्वरचित तपागच्छगुर्वावली मेंहरिभद्रसूरि को मानदेवसूरि का मित्र बताया है।[7] मानदेव का समय पट्टावलियों की गणना और मान्यता के अनुसार वि० की छठी शती माना जाता है।[8]

हरिभद्रसूरि ने लघुक्षेत्रसमासवृत्ति के अन्तिम श्लोकों में[9] वि० सं० ५८० में इसके समाप्त होने का निरूपण किया है। मुनिजयसुन्दरविजय जी ने उक्त चर्चा को महत्व देते हुए इनका समय विक्रम की छठी शती स्वीकार किया है। इस प्रकार उपरोक्त सभी ग्रन्थकारों के अनुसार हरिभद्रसूरि का सत्ता-समय विक्रम की छठी शताब्दी और स्वर्गवास का समय सं० ५८५ (ई०सं० ५२९) है। इसे मानने में कई आपत्तियाँ हैं, जिनमें मुख्य इस प्रकार हैं – हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में धर्मकीर्ति (६००–६५०ई०), भर्तृहरि (६००–६५० ई०), धर्मपाल (६३५ई०), कुमारिल (६२०–६८०), शुभगुप्त (६४०–७००ई०) और शान्तरक्षित (७०५–७३२ई०) आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। वि० सं० ५८५ में हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास मानने पर इन आचार्यों के उल्लेख की संगति नहीं बैठ पाती। अतः हरिभद्रसूरि का समय ई० सन् ७०० के बाद होना चाहिए।

---

१. शास्त्रवार्तासमुच्चय एवं स्याद्वादकल्पलता, स्तबक १, भूमिका, पृ० ८-९

२. श्रीवीरमोक्षाद् दशभिः शतैः पंचपंचाशदधिकैः(१०५५) श्रीहरिभद्रसूरेः स्वर्गः। उक्तं च –
पंचसए पणसीए विक्कमकालाउ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्दसूरिसूरो भवियाणं दिसउ कल्लाणं ।। – विचारश्रेणि (उद्धृत : जैनसाहित्य संशोधक, अंक १ भा० १)

३. विचारसारप्रकरण, गा० ५३२

४. गाथासहस्री, (उद्धृत : जैनसाहित्य संशोधक, अंक १ भा० १)

५. श्री वीरनिर्वाणात् सहस्रवर्षे पूर्वश्रुतव्यवच्छिन्नम् ।
श्री हरिभद्रसूरयस्तदनु पंचपंचाशतावर्षेदिवं प्राप्ताः ।। – विचारामृत संग्रह (उद्धृत : जैनसाहित्य संशोधक, अंक १ भा० १)

६. श्री वीरात् पंचपंचाशदधिकसहस्रवर्षे विक्रमात् पंचाशीत्यधिकपंचशतवर्षे याकिनीसूनुः श्रीहरिभद्रसूरिः स्वर्गभाक्।
– धर्मसागर, तपागच्छगुर्वावली

७. (क) अभूद् गुरुः श्री हरिभद्रमित्रं, श्रीमानदेवः पुनरेव सूरिः ।
यो मान्द्यतो विस्मृतसूरिमन्त्रं, लेभेऽम्बिकाऽऽस्यात्तपसोज्जयंते ।। – गुर्वावली, श्रीयशोविजय जैनग्रन्थमाला, पृ० ४
(ख) विद्यासमुद्रहरिभद्रमुनीन्द्रमित्रं सूरिर्बभूव पुनरेव हि मानदेवः ।
मान्द्यात् प्रयातमपि योऽनघसूरिमन्त्रं लेभेऽम्बिकामुखगिरा तपसोज्जयन्ते ।।
– अञ्चलपौर्णमिकगच्छपट्टावली (उद्धृत : धर्मसंग्रहणी, जैन पुस्तकोद्धार संस्था, प्रस्तावना,पत्र २८)

८. दिन्नो हरिभद्देण वि, विज्जाहरवायणाए तया।
चिरमित्तपीइतोसा, दिन्नो हरिभद्दसूरिणा विइओ ।
विज्जाहरसाहिवो, मंतो सिरिमाणदेवस्स।। – बृहद्गच्छीयसूरिविद्याप्रशस्ति, पृ० ४४३-४४

९. लघुक्षेत्रसमासस्य वृत्तिरेषा समासतः।
रचिताऽबुधबोधार्थं श्रीहरिभद्रसूरिभिः ।।
पंचाशीतिकवर्षे विक्रमतो व्रजति शुक्लपञ्चम्याम्।
शुक्ल(क्र)स्य शुक्रवारे पुष्ये शस्ये च नक्षत्रे।। – लघुक्षेत्रसमासवृत्ति, १-२

६—१०वीं० शती वि० सं०

द्वितीय मत के समर्थक प्रो० हर्मन जैकोबी तथा प्रो० के० वी० अभ्यंकर हैं। इनके मत में हरिभद्रसूरि की स्थिति नवीं-दसवीं शती है। प्रो० जैकोबी द्वारा लिखी गई समराइच्चकहा की प्रस्तावना के आधार पर हरिभद्रसूरि सिद्धर्षि के साक्षात् गुरु थे।[१] इसके प्रमाणस्वरूप उन्होने उपमितिभवप्रपंचकथा के प्रशस्ति पद्य प्रस्तुत किये हैं जिनमें सिद्धर्षि ने हरिभद्रसूरि को अपना गुरु स्वीकार किया है।[२] इसके आधार पर जैकोबी ने हरिभद्रसूरि का समय वि० की १०वीं शताब्दी सिद्ध करने का प्रयास किया है।[३]

प्रो० अभ्यंकर ने हरिभद्रसूरि पर शंकराचार्य का प्रभाव बताते हुए उन्हें शंकराचार्य का पश्चात्वर्ती माना है। सामान्यतः सभी विद्वान् शंकराचार्य का समय ७८८ई० से ८२० ई. मानते हैं। प्रो० अभ्यंकर भी हरिभद्रसूरि को सिद्धर्षि का साक्षात् गुरु मानने के पक्ष में हैं। वे हरिभद्रसूरि का समय शंकराचार्य और सिद्धर्षि के मध्यवर्ती अर्थात् वि० सं० ८०० से ६५० सिद्ध करते हैं।[४]

ई० ८—६ वीं शती

पं० महेन्द्रकुमार के मत में हरिभद्रसूरि का समय ई० ७२० से ८१० है,[५] जबकि डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री उनका समय ई० ७३० से ८३० मानते हैं।[६] इसप्रकार दोनों विद्वान् परस्पर मतभेद रखते हुए भी इस बात पर सहमत हैं कि आ० हरिभद्र ८वीं—६वीं शती में हुए।

पं० महेन्द्रकुमार ने कुछ अन्य तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि हरिभद्रसूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय'[७] में कुछ ऐसे श्लोक मिलते हैं जो जयन्तभट्ट की न्यायमंजरी में बिल्कुल वैसे ही दिये गये हैं।[८] जयन्त की न्यायमंजरी का रचनाकाल ई० सन् ८०० के लगभग माना जाता है। इस समय में हरिभद्रसूरि अवश्य रहे होंगे। इसके अतिरिक्त अकंलकदेव का प्रभाव भी हरिभद्रसूरि के ग्रंथों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बहुत सम्भव है कि अकलंकदेव व हरिभद्रसूरि दोनों समकालीन रहे हों। अकलंक देव का समय ई० ७२०—७८० है। न्यायमंजरी के उपरोक्त श्लोक को जयन्तभट्ट की न्यायमंजरी का मानने पर हरिभद्रसूरि के समय की उत्तरसीमा को ई० सन् ८१० तक बढ़ाना पड़ेगा। तभी वे जयन्तभट्ट की न्यायमंजरी को देख सके होंगे।

---

१. समराइच्चकहा, (संपा०) जैकोबी, प्रस्तावना, पृ० १-३

२. आचार्यहरिभद्रो मे, धर्मबोधकरो गुरुः ।
प्रस्तावे भावतो हन्त, स एवाद्ये निवेदितः ।।
विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये।।
अनागतं परिज्ञाय, चैत्यवंदनसंश्रया।
मदर्थैव कृता येन, वृत्तिर्ललितविस्तरा।। — उपमितिभवप्रपंचकथा, प्रशस्तिपद्य, १५-१७

३. यद्यपि प्रशस्तिपद्य में संवत् का नामोल्लेख नहीं हुआ है, तथापि ज्योतिषगणना के आधार पर उक्त तिथि वि० सं० पहली मई ६०६ सिद्ध होती है।

४. विंशतिविंशिका, (प्रस्तावना) के० वी० अभ्यंकर, पृ० ७

५. द्रष्टव्य : सिद्धिविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र तथा अकलंकग्रंथत्रय की प्रस्तावना ।

६. हरिभद्र के प्राकृत कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४६

७. रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवं प्रायाः पयोमुचः ।। — षड्दर्शनसमुच्चय, गा० २०

८. गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।।
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशंगोत्तुङ्गविग्रहाः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैव प्रायाः पयोमुचः ।। — न्यायमंजरी, पृ० ११७

हरिभद्रसूरि का जीवन लगभग ६० वर्षों का था। अतः उनका जीवनकाल ई० सन् ७२० से ई० ८१० के मध्य होना चाहिये।[1]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमालाकहा' में हरिभद्रसूरि को अपना सिद्धान्त-गुरु माना है[2] और उनकी प्रख्यात प्राकृत कृति 'समराइच्चकहा' का बड़े गौरव के साथ स्मरण किया है।[3] इससे प्रतीत होता है कि हरिभद्रसूरि उद्योतनसूरि के समकालीन हैं। उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमालाकहा' की समाप्ति का समय एक दिन न्यून शक् सवंत् ७०० अर्थात् शक् संवत् ७०० की चैत्र कृष्ण चतुर्दशी लिखा है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि हरिभद्रसूरि शक् संवत् ७०० अर्थात् ई० ७७८ (वि० सं० ८३५) तक विद्यमान थे।

डॉ० शास्त्री ने जयन्त की 'न्यायमंजरी' तथा हरिभद्रसूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रन्थ में प्राप्त श्लोकों के आधार पर दोनों को समकालीन बताया है[5] जो तर्कसंगत नहीं है। वस्तुतः जयन्तभट्ट तथा हरिभद्रसूरि दोनों ने ही उक्त श्लोक किसी तृतीय ग्रन्थकार त्रिलोचन (वाचस्पति मिश्र के गुरु) के ग्रन्थ से लिए हैं। डा० शास्त्री ने कुछ अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों पर ध्यान आकृष्ट किया है। हरिभद्रसूरि ने अनेकान्तजयपताका की टीका में सटीक नयचक्र के रचयिता मल्लवादी का निर्देश किया है।[6] डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार हरिभद्रसूरि मल्लवादी के समसामयिक विद्वान् थे। मल्लवादी का समय पहले भ्रान्तिवश वीर निर्वाण संवत् ८८४ अर्थात् वि० सं० ४१४ माना जाता रहा। बाद में वीर निर्वाण संवत् के स्थान पर वीर विक्रम संवत्सर पाठ को मान्य किया गया और मल्लवादी का समय वि० सं० ८८४ अर्थात् ८२७ ई० माना जाने लगा।[7]

उपर्युक्त चर्चा के प्रकाश में कहा जा सकता है कि हरिभद्रसूरि ७०० ई० से लेकर ८२७ ई० के कुछ समय पश्चात् तक जीवित रहे। मल्लवादी की तिथि को ध्यान में रखते हुए हरिभद्रसूरि का समय ७३० ई० से लेकर ८३० ई० के लगभग माना जा सकता है। इससे उद्योतनसूरि के साथ उनके गुरु-शिष्य सम्बन्ध का भी निर्वाह हो जाता है।

मुनि जिनविजय (ई० ८वीं शती०)

मुनि जिनविजय के मतानुसार हरिभद्रसूरि के समय की पूर्वसीमा उनके ग्रन्थों में उल्लिखित अन्य ग्रन्थकारों के समय से भी निर्धारित की जा सकती है। उन्होंने हरिभद्रसूरि के समय की पूर्वसीमा निर्धारित करने के लिए उन्हीं के द्वारा उल्लिखित ३२ ग्रन्थकारों और २ ग्रन्थों (वासवदत्ता और प्रियदर्शना) की नामावली तैयार की है। इसमें समय की दृष्टि से प्रमुख आचार्य हैं – धर्मकीर्ति[8] (६००–६५०ई०), भर्तृहरि[9]

---

१. सिद्धिविनिश्चय टीका, प्रस्तावना, पृ० ५१–५२

२. सो सिद्धंतेण गुरू जुत्ती-सत्थेहि जस्स हरिभद्दो ।
बहु-सत्थ-गंथ-वित्थर-पत्थारिय-पयड-सव्वत्थो ।। – कुवलयमालाकहा, पृ० २८२, अनुच्छेद ४३०

३. जो इच्छइ भवविरहं भवविरहं को ण वंदए सुयणो ।
समय-सय-सत्थ-गुरुणो समरमियंकाकहा जस्स ।। – वही, पृ० ४ अनुच्छेद ६

४. सग-काले वोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं ।
एग-दिणेणूणेहिं रइया अवरण्ह-वेलाए ।। – वही, पृ० २८३, अनृच्छेद ४३०

५. हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४६

६. (क) उक्तं च वादिमुख्येन–मल्लवादिना सम्मतौ–स्वपरेत्यादि । – अनेकान्तजयपताका, स्वो० वृ० पृ० ५८
(ख) उक्तं च वादिमुख्येन मल्लवादिना सम्मतौ किमित्याह – न विषयग्रहण .... । – वही पृ० ६६

७. हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४६

८. पूर्वाचार्यैः धर्मपाल-धर्मकीर्त्यादिभिः ..... । – अनेकान्तजयपताका, पृ० ५७

९. शब्दार्थतत्त्वविदः भर्तृहरिः ..... । – वही, पृ० ३६६

(६००–६५०ई०), धर्मपाल (६३५ ई०), कुमारिल[1] (ई० ६२० से६८० तक), शुभगुप्त (६४०–७००ई०) और शान्तिरक्षित (७०५–७३२ ई०)। अतः स्पष्ट है कि हरिभद्रसूरि की पूर्वसीमा ७०० ई० है। चूँकि उद्योतनसूरि (७७८ ई०) ने हरिभद्रसूरि को गुरु रूप में स्मरण किया है, अतः ७७८ ई० को उनकी उत्तरावधि मानना चाहिये। इसप्रकार हरिभद्रसूरि का स्थितिकाल ई० ७०० से ७७० के मध्य मानना संगत होगा।

मुनि जिनविजय ने प्रो० अभ्यंकर के मत के विपरीत हरिभद्र को शंकराचार्य का पूर्ववर्ती माना है। उनका कथन है कि यदि शंकराचार्य हरिभद्र से पहले विद्यमान होते तो उनका उल्लेख हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में अवश्य किया होता क्योंकि हरिभद्र ने अपने पूर्ववर्ती प्रायः सभी दार्शनिकों का उल्लेख किया है। शंकराचार्य ने जैनदर्शन के स्याद्वादसिद्धांत व सप्तभंगीन्याय का खण्डन किया है। यदि शंकराचार्य हरिभद्र से पूर्व हुए होते तो हरिभद्र उनका नामोल्लेख अथवा उनके खंडन के तर्कों का प्रत्युत्तर अवश्य देते। इससे स्पष्ट है कि हरिभद्रसूरि शंकराचार्य से पहले हुए हैं और शंकराचार्य हरिभद्रसूरि के स्वर्गगमन के पश्चात् प्रादुर्भूत हुए।[2]

आ० हरिभद्र को सिद्धर्षि का गुरु मानकर उन्हें ९वीं-१०वीं शती तक ले जाने की मान्यता की आलोचना करते हुए मुनि जिनविजय जी लिखते हैं कि वास्तव में आ० हरिभद्र सिद्धर्षि के साक्षात् गुरु नहीं थे, परम्परा-गुरु थे। मुनि जिनविजय ने 'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय'[3] नामक लेख में कुवलयमालाकहा के प्रशस्ति पद्य के 'अनागत' शब्द के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि हरिभद्रकृत 'ललितविस्तरावृत्ति' के अध्ययन से सिद्धर्षि का कुवासना विष दूर हुआ था। सिद्धर्षि के विचार से हरिभद्र का ललितविस्तरा की रचना का कार्य भविष्यकालीन उपकार की दृष्टि से है। इसी कारण सिद्धर्षि ने उस वृत्ति के रचयिता को अपना धर्मबोधकगुरु मान लिया।

उक्त मतों की समीक्षा

आ० हरिभद्र का समय वि० सं० ५८५ होने की परम्परागत मान्यता कथमपि स्वीकार्य नहीं की जा सकती, क्योंकि इसे मानने में ७वीं शती के धर्मकीर्ति, भर्तृहरि, धर्मपाल, कुमारिल आदि आचार्यों का आ० हरिभद्र द्वारा उल्लेख किया जाना आपत्तिजनक प्रतीत होता है।

इसी प्रकार आ० हरिभद्र को अभ्यंकर द्वारा शंकराचार्य का पश्चात्वर्ती मानना भी अनेक युक्तियों के आलोक में स्वतः खण्डित हो जाता है। यदि आ० हरिभद्र शंकराचार्य के पश्चात्वर्ती होते तो वे निश्चय ही उनके सिद्धान्तों की समीक्षा अपने ग्रन्थों में करते।

आ० हरिभद्र, सिद्धर्षि और उद्योतनसूरि इन दोनों में से किसी एक के ही साक्षात् गुरु हो सकते हैं, दोनों के कदापि नहीं। मुनि जिनविजयजी ने अनेक युक्तियों के आधार पर आ० हरिभद्र को उद्योतनसूरि का साक्षात् गुरु और सिद्धर्षि का परम्परागुरु सिद्ध किया है, यह उचित भी प्रतीत होता है। सिद्धर्षि ने आ० हरिभद्र को धर्मबोधक गुरु माना है, क्योंकि हरिभद्र की ललितविस्तरा को पढ़ कर सिद्धर्षि की कुवासना दूर हुई थी। इसप्रकार प्रो० अभ्यंकर और हर्मन जैकोबी द्वारा आ० हरिभद्र को सिद्धर्षि का साक्षात् गुरु मानने की मान्यता निरस्त हो जाती है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा आ० हरिभद्र को मल्लवादी (ई० ८२६) का परवर्ती बताया जाना भी परीक्षणीय है। वस्तुतः मल्लवादी नाम के दो विद्वान् हुए हैं। आ० हरिभद्र ने 'अनेकान्तजयपताका' में द्वादशारनयचक्र' के प्रणेता जिस मल्लवादी का स्मरण किया है, वह ई० चौथी शती में हुए थे। दूसरे

---

१. आह च कुमारिलादि .....। – शास्त्रवार्तासमुच्चय, श्लोकांक, २६६, स्वो० टी०
२. आचार्यहरिभद्रस्य समयनिर्णयः, जैनसाहित्यसंशोधक ग्रन्थमाला, अंक १, पृ० ६, १०
३. वही

मल्लवादी आचार्य, जिन्होंने धर्मोत्तरकृत 'न्यायबिन्दुटीका' पर टिप्पणी लिखी, हरिभद्र के बाद ई० ६वीं शती में हुए हैं। इन दोनों मल्लवादी नामक आचार्यों को एक समझकर नेमिचन्द्र शास्त्री ने आ० हरिभद्र का समय ६वीं शती ई० सिद्ध करने का जो प्रयास किया है[१] वह निर्भ्रान्त नहीं है। मुनि जिनविजय का उक्त मत सब भ्रान्तियों को निरस्त कर देता है, इसलिए वही तर्कसंगत प्रतीत होता है। किन्तु इस मत को मानने में जो मुख्य आपत्ति है, वह विक्रम संवत् ५८५ में हरिभद्र के स्वर्गवास का उल्लेख किया जाना है। कुछ विद्वानों ने यह सुझाव दिया है कि 'विचारसारप्रकरण' आदि में हरिभद्र के स्वर्गवास की जो तिथि ५८५ संवत् बताई गई है, उसे विक्रम संवत् की अपेक्षा गुप्त संवत् समझना चाहिए। गुप्त संवत् का प्रारम्भ ई० १८५–१८६ के आसपास हुआ था। इस प्रकार हरिभद्र का समय गुप्त संवत् ५८५ अर्थात् ई० ७७० के आसपास सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त, आ० हरिभद्र के ग्रन्थों में जो सांस्कृतिक सामग्री प्राप्त होती है, वह भी आठवीं शती में आ० हरिभद्र के अस्तित्व को पुष्ट करती है। अतः मुनि जिनविजय जी द्वारा प्रतिपादित मत की सत्यता स्थापित हो जाती है। इस मत को प्रायः सभी विद्वानों ने मान्य घोषित किया है। संक्षेप में, आ० हरिभद्र का समय ८ वीं शती मानना ही उचित है।

जीवन परिचय

आ० हरिभद्र के जीवनवृत्त के विषय में जानकारी देने वाले ग्रन्थों में सबसे अधिक प्राचीन समझी जानेवाली भद्रेश्वर कृत 'कहावली'[२] नामक प्राकृत कृति है। 'कहावली' के अनुसार इनका जन्मस्थान 'पिवुंगई बंभपुणी'[३] है जबकि अन्य ग्रन्थों में इनका जन्मस्थान चित्तौड़ – चित्रकूट माना गया है।[४] यद्यपि ये दोनों स्थान-निर्देश भिन्न हैं तथापि इनमें विशेष विसंगति नहीं होनी चाहिए क्योंकि संभवतः बंभपुणी (जिसका संकेत ब्रह्मपुरी से मिलता है) का संबंध चित्तौड़ से अथवा उसके समीपस्थ किसी ब्राह्मण बस्ती से रहा होगा। इनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पिता का नाम शंकरभट्ट और माता का नाम गंगा था।[५]

हरिभद्र ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा कहाँ और किससे प्राप्त की, इसका कहीं कोई निर्देश नहीं मिलता। परन्तु यह तो स्वाभाविक ही है कि जन्मतः ब्राह्मण होने के कारण उनका प्रारम्भिक विद्याभ्यास ब्राह्मण परम्परानुकूल ही हुआ होगा। उन्होंने किसी अच्छे ब्राह्मण विद्यागुरु अथवा विद्यागुरुओं के पास व्याकरण, साहित्य, दर्शन और धर्मशास्त्र आदि संस्कृत-प्रधान विद्याओं का गहरा और पक्का परिशीलन किया, और चौदह प्रकार की विद्याओं पर आधिपत्य प्राप्त किया।[६]

---

१. आचार्यहरिभद्रस्य समयनिर्णयः, जैनसाहित्यसंशोधक ग्रन्थमाला अंक १, पृ० ६, १०

२. यह कृति अमुद्रित है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के जैन भण्डार में उपलब्ध है। इसका रचना समय निश्चित नहीं है, परन्तु इतिहासज्ञ इसे विक्रम की १२वीं शती के आसपास का मानते हैं ।

३. द्रष्टव्य : संघवी पाडा पाटन के जैन भण्डार की वि० सं० १४६७ में उल्लिखित ताडपत्रीय पोथी, खण्ड २, पत्र ३००वां

४. (क) हरिभद्रसूरिकृत उपदेशपद पर चंद्रप्रभसूरिकृत टीका
(ख) गणधरसार्धशतक पर सुमतिगणिकृत वृत्ति
(ग) चन्द्रप्रभसूरिकृत प्रभावकचरित्र, नवम् श्रृंग, श्लो० ५
(घ) राजशेखरसूरिकृत प्रबंधकोश, वि.सं. १४०५, पृ० ६०

५. संकरो नाम भटो तस्स गंगा नाम भट्टिणी।
तीसे हरिभद्दो नाम पंडिओ पुत्तो। – द्रष्टव्य : कहावली ,पत्र सं० ३००

६. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १०

हरिभद्र अद्भुत प्रतिभाशाली सम्पन्न विद्वान् थे, इसलिए उन्हें चित्तौड़ राज्य के जितारि नामक राजा का पुरोहित बनने का अवसर मिला।[१] राजदरबार में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। राजपुरोहित के सम्मान में जय-जय के नारों से वातावरण गुंजायमान हो जाता था। उनकी कीर्ति दिगन्त तक फैली हुई थी।

हरिभद्र पण्डितों में अग्रणी थे। उन्हें षड्दर्शनों का तलस्पर्शी पाण्डित्य और वेदविद्याओं में परम-निष्णातता प्राप्त थी। इसी कारण उन्हें 'वादीन्द्र' और 'विद्वत्-शिरोमणि' कहा जाता था। अपनी असाधारण प्रतिभा पर उन्हें बहुत गर्व था। उनका यह विश्वास था कि संसार में ऐसी कोई भी विद्या नहीं है जिसे वे न जानते हों अथवा जिसे समझने में उन्हें कोई कठिनाई होती हो। कहा जाता है कि समस्त जम्बूद्वीप में उनके जैसा विद्वान् कोई नहीं है, इसे घोषित करने के लिए वे हाथ में जम्बू वृक्ष की शाखा रखा करते थे।[२] उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि यदि कभी किसी शास्त्र या वचन का अर्थ समझने में वे असफल रहेंगे, तो उसे समझने के लिए उन्हें किसी का भी शिष्यत्व ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं होगा। संयोगवश एक दिन ऐसा ही हुआ। एक छोटी सी घटना ने उनके सारे जीवन को परिवर्तित कर दिया।[३] एक बार वे एक जैन उपाश्रय के पास से गुजर रहे थे। उस समय उपाश्रय में याकिनी महत्तरा नामक एक जैन साध्वी आगमों का पाठ कर रही थी। उसके मुख से उच्चरित एक प्राकृत गाथा[४] का अर्थ हरिभद्र की समझ में नहीं आया। वे उपाश्रय में गए और महत्तरा जी से उक्त गाथा का अर्थ पूछा, तथा प्रतिज्ञानुसार शिष्यत्व प्रदान करने की प्रार्थना की। साध्वी ने उन्हें अपने गुरु आ० जिनदत्तसूरि, जो विद्याधर कुल के आ० जिनभट्ट के गुरुभाई थे, के पास जाने के लिए कहा। प्रातःकाल होते ही हरिभद्र जिनदत्तसूरि के पास पहुँचे। उनके मार्ग में वह जैन मन्दिर भी आया जहाँ एक बार एक उन्मत्त हाथी से बचने के लिए उन्होंने आश्रय लिया था, और "वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टमिष्टान्नभोजनम्"[५] कहकर जिनप्रतिमा का उपहास किया था। आज उस वाक्य को स्मरण कर उनका हृदय तप रहा था। हृदय के भाव निर्मल हो जाने से पुनः प्रस्फुटित होने वाली उस कविता का रूप अब सर्वथा भिन्न हो गया था।[६] गुरुचरणों के समीप पहुँचकर जब हरिभद्र ने याकिनी महत्तरा द्वारा गायी जाने वाली गाथा का अर्थ पूछा तो उन्होंने जैनधर्म स्वीकार किए बिना उसका अर्थ बताने से इन्कार कर दिया। अन्ततः हरिभद्र ने जिनदत्तसूरि के पास जैन दीक्षा अंगीकार की और साथ ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए याकिनी महत्तरा को अपनी धर्ममाता के रूप में स्वीकार किया। हरिभद्र ने अपनी कृतियों के अन्त में अपने आपको "धर्मतो याकिनीमहत्तरासुनूः" कहकर महत्तरा जी के प्रति अपना बहुमान प्रदर्शित किया है।[७]

आ० हरिभद्र वैदिकदर्शन के पारगामी विद्वान् तो पहले ही थे। जैन दीक्षा अंगीकार कर लेने के पश्चात् उन्होंने जैनपरम्परा के अनेकविध शास्त्रों का भी पारगामी अवगाहन किया और अब वे संस्कृत वाङ्मय

---

१. प्रभावकचरित, ६/७

२. परिभवनमतिर्महावलेपात् क्षितिसलिलाम्बरवासिनां बुधानाम् ।
अवदारणजालकाधिरोहण्यपि स दधौ त्रितयं जयाभिलाषी ।।
स्फुटति जठरमत्र शास्त्रपूरादिति स दधावुदरे सुवर्णपट्टम् ।
मम सममतिरस्ति नैव जम्बूक्षितिवलये वहते लतां च जम्ब्वाः।। – प्रभावकचरित, ६/६,१०

३. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० १५७

४. चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसी य चक्की य।। – आवश्यकनिर्युक्ति, ४२१; प्रभावकचरित, ६/२१

५. प्रभावकचरित, ६/१७

६. वपुरेव तवाचष्टे भगवन् ! वीतरागताम् ।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वलः । – प्रभावकचरित, ६/२६

७. द्रष्टव्य : हरिभद्रसूरिकृत आवश्यकसूत्रवृत्ति तथा उपदेशपद की प्रशस्ति ।

के अतिरिक्त प्राकृत आदि इतर भाषा वाङ्मय में भी निष्णात हो गए। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, विद्वत्ता एवं योग्यता से प्रभावित होकर गुरु ने उन्हें अपना पट्टधर शिष्य बना लिया और आचार्य पद पर नियुक्त किया।[१]

जैसे-जैसे हरिभद्र को जैन दर्शन के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान मिलता गया, वैसे-वैसे उनकी आत्मा में वैराग्य एवं संवेग की तीव्र भावना प्रबल होती गयी। उन्होंने परिश्रम, निष्ठा और गुरुभक्ति के साथ अध्ययन करते हुए अल्प समय में ही जिनागम के सूक्ष्म सिद्धांतों का तलस्पर्शी ज्ञान अर्जित कर लिया।

आ० हरिभद्र के अनेक शिष्य थे, जिनमें हंस और परमहंस नामक दो शिष्यों की कथा 'प्रभावकचरित',[२] 'प्रबन्धकोश'[३] आदि ग्रन्थों में मिलती है। कहा जाता है कि वे दोनों शिष्य बौद्ध सिद्धान्तों का अध्ययन करने की इच्छा से किसी बौद्धमठ में गुप्त रूप से गए। वहाँ जैन साधु होने की शंका होने पर बौद्ध गुरु ने उनकी परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने परीक्षा के लिए वाटिका के द्वार पर जिनप्रतिमा की स्थापना कर सब शिष्यों को उस पर चरण रखकर चलने का आदेश दिया। हंस और परमहंस ने प्रतिमा पर खड़िया मिट्टी से तीन रेखाएँ खींचकर जिनप्रतिमा को बुद्ध प्रतिमा में परिवर्तित कर दिया और उसको लांघकर आगे बढ़ गए। बौद्धों ने उनकी चालाकी जान ली और उनकी हत्या करनी चाही। बौद्धों के उक्त षड्यंत्र का ज्ञान होते ही उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया। बौद्ध राजा के सैन्य ने उनका पीछा किया। लड़ते-लड़ते हंस की तो मृत्यु हो गई, परन्त दूसरे भाई परमहंस को बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के लिए बाध्य होना पड़ा। बौद्ध पराजित हो गए और उन्होंने परमहंस की भी हत्या करने का प्रयास किया। परमहंस भागने में सफल हो गया और गुरु (हरिभद्र) के समीप पहुँचकर सब वृत्तांत सुनाया। पश्चात् अपने भाई की मृत्यु के शोक के कारण वह भी मृत्यु को प्राप्त हो गया।

बौद्धों द्वारा अपने शिष्यों की हत्या किये जाने का समाचार सुनकर आ० हरिभद्र बहुत क्षुब्ध हुए और उन्होंने बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित कर मृत्युदण्ड देने का निश्चय किया। पराजित दल को गर्म तेल के कुण्ड में जलना पड़ेगा – इस निर्णय के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। हरिभद्र विजयी हुए। बौद्धाचार्य हारने पर, खोलते हुए कड़ाहे में डाल दिए गये। आ० हरिभद्र के गुरु जिनदत्त को जब उक्त घटना की सूचना मिली तो उन्होंने हरिभद्र के कोप के शमन हेतु तीन गाथाएँ लिखकर भेजीं। आ०जिनदत्त द्वारा प्रेषित इन श्लोकों को पढ़ते ही हरिभद्र का कोप शान्त हो गया और वे इस महाहत्या से विरत हुए।[४] कहा जाता है कि उक्त तीन गाथाओं के आधार पर ही आ० हरिभद्र ने 'समरादित्यकथा' (समराइच्चकहा) की रचना की।[५] ऐसा भी माना जाता है कि उन्होंने १४४० बौद्धों का संहार करने का संकल्प किया था, अतः उसके प्रायश्चित के तौर पर उन्होंने उतने ग्रन्थों की रचना की।[६] जैकोबी[७] लिखते हैं कि कोई भी सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति उक्त कथा को हरिभद्र के जीवन के तथ्यात्मक वृत्त के रूप में स्वीकार नहीं करेगा।

प्रो० जैकोबी की उक्त मान्यता को नकारा नहीं जा सकता। यह सत्य है कि मध्यकाल में कुछ अंशों में पारस्परिक सांप्रदायिक द्वेष रहा, किन्तु उक्त कथा को यथावत् स्वीकार करने में सबसे प्रमुख आपत्ति यह है कि हरिभद्र से सम्बद्ध उक्त कथा से बहुत कुछ मिलती जुलती कथा अकलंकदेव के विषय में भी

---

१. समराइच्चकहा, (संपा०) जैकोबी, प्रस्तावना, पृ० ३६५
२. प्रभावकचरित्र, पृ० ६५–६८
३. प्रबन्धकोश, पृ० ५०–५१; न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना, पृ० ३२–३५
४. प्रभावकचरित, ६/१८२–१८७
५. पुरातनप्रबंधसंग्रह, पृ० १०५
६. प्रबंधकोश, पृ० ५२
७. जैकोबी, समराइच्चकहा, प्रस्तावना, पृ० १७

प्राप्त होती है।[1] दूसरी आपत्ति यह है कि एक अहिंसा व्रतधारी जैनमुनि के लिए साम्प्रदायिक विद्वेष की उक्त चरम सीमा तक पहुँचना कथमपि संभव नहीं है।

गुरु के उपदेश से आ० हरिभद्र ने अपने चिन्तन को मोड़ा और शिष्यसंतति के स्थान पर ज्ञानसंतति के विकास में रत हुए। उनकी वृत्तियों का शोधन हुआ, पर शिष्यों की विरहवेदना उनके हृदय में कम नहीं हुई। अतः उन्होंने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में, किसी न किसी तरह अर्थसम्बन्ध घटाकर 'भवविरह' अथवा 'विरह' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है।[2] आज भी उनके ग्रन्थों की पहचान अन्त में प्रयुक्त 'विरह' शब्द से की जाती है। इसलिए हरिभद्र 'विरहांक कवि' भी कहे जाते हैं।[3]

आ० हरिभद्र सरल एवं सौम्य प्रकृति पुरुष थे। जैनधर्म के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा थी। उनका हृदय निष्पक्षतापूर्ण था। वे उदारचेता साधु एवं सत्य के उपासक थे। धर्म और तत्त्व के विचारों का ऊहापोह करते समय उन्होंने मध्यस्थता एवं गुणानुरागता की किञ्चित् भी उपेक्षा नहीं की। आ० हरिभद्र का बहुश्रुत व्यक्तित्व वैदिक, जैन और बौद्धपरम्परा के गम्भीर अध्ययन से ओतप्रोत था। उनकी यह महान् विशेषता थी कि उन्होंने जितनी सफलता के साथ जैनदर्शन पर लिखा, उतनी ही गंभीरता के साथ बौद्ध और वैदिक विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई। खण्डन-मण्डन के समय में भी वे मधुर भाषा का प्रयोग करते थे। उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने जिस प्रकरणात्मक पद्धति का प्रचलन किया था, उन प्रकरण रचनाओं को आ० हरिभद्र ने व्यवस्थित रूप दिया। उनके समस्त साहित्य में सभी भारतीय चिन्तन-परम्पराओं के पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलते हैं। इतना ही नहीं, व्यावहारिक एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने जैनधर्म की जिन-जिन विशिष्टताओं को अनुभव किया, उनको तटस्थ भाव से अपने ग्रन्थों में प्रकट भी किया।

समाधि-मरण

जैन-साधना की चरितार्थता मृत्यु के समय देखी जाती है। चाहे श्रावक हो या मुनि, सभी के लिए सल्लेखना के द्वारा मृत्यु को वरण करना अपेक्षित होता है। आ० हरिभद्र ने भी अपने जीवन के अन्तिम काल में अनशन अंगीकार किया और शान्तचित्त से प्राण त्यागकर स्वर्गस्थ हुए।[4]

कृतित्व

आ० हरिभद्रसूरि ने समस्त संसारी जीवों को पाप, अज्ञान, एवं दुःखमय जीवन से मुक्ति दिलाने की भावना से आचार, न्याय, तर्क, अनेकान्त, योग, कथा, स्तुति एवं ज्योतिष आदि अनेकविध विषयों पर मौलिक ग्रन्थों की रचना की। जैनागम ग्रन्थों पर संस्कृत में वृत्ति लिखने का कार्य भी सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रारम्भ किया। सत्य के अधिकाधिक निकट पहुँचा जा सके, इस दृष्टि से उन्होंने जैनेतर दर्शनों के विचारों को भी अपने हृदय में गहनता से उतारने का प्रयास किया। वे अनेकान्तवाद के विशेष पोषक थे। उन्होंने अनेकान्तवाद को दार्शनिक परम्परा में एक व्यावहारिक रूप देने का भी प्रयत्न किया। उनका मत है कि युक्ति की कसौटी पर जो भी तत्त्व परीक्षण में खरा उतरता हो, उसे निःसंकोच, तटस्थभाव से जीवन

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० ३०–३२

२. अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेहः।
निजकृतिमिह संव्यधात् समस्तां विरहपदेन युतां सतां स मुख्यः ।। – प्रभावकचरित, ६/२०६

३. विरहशब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्वं प्रकरणस्यावेदितम्, विरहांकत्वाद् हरिभद्रसूरेरिति। – अष्टकप्रकरण (टीका), पृ० १०४

४. प्रभावकचरित, ६/२२१; प्रबन्धकोश, पृ० २६

में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए।[1] हरिभद्रसूरि ने विभिन्न परम्पराओं में फैले मतभेदों से साधक को दिग्भ्रमित होने से बचाने के लिए साम्प्रदायिक बंधनों से ऊपर उठाने का प्रयास किया। अपने व दूसरे मतों में साम्य दर्शाने के लिए उन्होंने जो तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाया, वह उनकी व्यापक एवं उदार दृष्टि का परिचायक है।

प्रत्येक लेखक की अपनी विशिष्ट शैली होती है। आ० हरिभद्र की भी अपनी निजी शैली है जो प्रतिभा के चमत्कार और भाषासौष्ठव से परिपूर्ण है। आ० हरिभद्र का संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। इसलिए उन्होंने दोनों भाषाओं में गद्य एवं पद्यबद्ध ग्रन्थों की रचना की।

विस्तार, विविधता और गुणवत्ता – इन तीनों दृष्टियों से हरिभद्र की रचनाएँ जैन साहित्य में महत्वपूर्ण हैं। अनुश्रुति के अनुसार, इनकी रचनाओं की संख्या १४४४ कही गई है। इसमें अतिशयोक्ति हो सकती है, परन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि हरिभद्रसूरि ने अपने जीवन में जैनसाहित्य को जितना समृद्ध किया है, उतना अन्य किसी ने नहीं।[2] गुणरत्न,[3] मणिभद्र[4] और विद्यातिलक[5] – तीनों व्याख्याकारों ने बड़े आदर के साथ हरिभद्र का नाम लिया है तथा एक स्वर से स्वीकार किया है कि हरिभद्र ने १४०० ग्रन्थों की रचना की थी। संभव है, शेष ४४ ग्रन्थ हरिभद्र नाम के अन्य आचार्यों द्वारा लिखे गये हों, जिन्हें भ्रमवश इनके साथ सम्बद्ध कर दिया गया हो। उनके द्वारा रचित ग्रन्थसंख्या में कुछ विद्वानों ने मतभेद प्रकट किया है। वर्तमान में उपलब्ध होने वाले उनके ग्रन्थों में से विशेष प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं –

आगमिक प्रकरण

१.	अनुयोगद्वारविवृत्ति	मुद्रित
२.	आवश्यकबृहत्टीका	अनुपलब्ध
३.	आवश्यकसूत्रविवृत्ति	मुद्रित
४.	चैत्यवंदनसूत्रवृत्ति अथवा ललितविस्तरा	मुद्रित
५.	जीवाभिगमसूत्रलघुवृत्ति	मुद्रित
६.	नन्द्यध्ययनटीका	मुद्रित
७.	दशवैकालिकटीका (शिष्यबोधिनी)	मुद्रित
८.	पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति	अनुपलब्ध
९.	प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या	मुद्रित

आचार, उपदेश सम्बन्धी ग्रन्थ

१.	अष्टकप्रकरण	मुद्रित
२.	उपदेशपद (प्राकृत)	मुद्रित
३.	धर्मबिन्दु	मुद्रित
४.	पंचवस्तुक (प्राकृत) स्वोपज्ञ संस्कृतटीका सहित	मुद्रित

---

१. पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।। – लोकतत्त्वनिर्णय, १/३८

२. जैनसाहित्यसंशोधक, भाग १, अंक–१, पृ० २३

३. चतुर्दशशतसंख्यशास्त्रविरचनाजनितजगज्जन्तूपकारः ..... श्रीहरिभद्रसूरिः। – षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नसूरिकृत टीका, पृ० १

४. चतुर्दशशतप्रकरणोपकृतजिनधर्मो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः । – षड्दर्शनसमुच्चय, मणिभद्रकृत टीका, उपोद्घात

५. षड्दर्शनसमुच्चय, सोमतिलक(विद्यातिलक)कृत लघुवृत्ति, उपोद्घात

५.	पंचसूत्रव्याख्या	मुद्रित
६.	पंचाशक (प्राकृत)	मुद्रित
७.	भावनासिद्धि	अनुपलब्ध
८.	लघुक्षेत्रसमास या जंबूद्वीपक्षेत्रसमासवृत्ति	मुद्रित
९.	वर्गकेवलीसूत्रवृत्ति	मुद्रित
१०.	बीस विंशिकाएँ (विंशतिविंशिका) (प्राकृत)	मुद्रित
११.	श्रावकधर्मविधिप्रकरण (प्राकृत)	मुद्रित
१२.	श्रावकप्रज्ञप्ति (वृत्ति सहित)	मुद्रित
१३.	सम्बोधप्रकरण (प्राकृत)	मुद्रित
१४.	हिंसाष्टक (स्वोपज्ञ अवचूरि सहित)	मुद्रित

दार्शनिक ग्रन्थ

१.	अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञटीका युक्त)	मुद्रित
२.	अनेकान्तवादप्रवेश	मुद्रित
३.	अनेकान्तसिद्धि	अनुपलब्ध
४.	आत्मसिद्धि	अनुपलब्ध
५.	तत्त्वार्थसूत्र-लघुवृत्ति	मुद्रित
६.	द्विजवदनचपेटा	मुद्रित
७.	धर्मसंग्रहणी (प्राकृत)	मुद्रित
८.	न्यायप्रवेशटीका	मुद्रित
९.	न्यायावतारवृत्ति	मुद्रित
१०.	लोकतत्त्वनिर्णय	मुद्रित
११.	शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्वोपज्ञटीका युक्त)	मुद्रित
१२.	षड्दर्शनसमुच्चय	मुद्रित
१३.	सर्वज्ञसिद्धि (स्वोपज्ञटीका सहित)	मुद्रित
१४.	स्याद्वादकुचोद्यपरिहार	अनुपलब्ध

योग विषयक ग्रन्थ

१.	योगदृष्टिसमुच्चय (स्वोपज्ञटीका युक्त)	मुद्रित
२.	योगबिन्दु	मुद्रित
३.	योगविंशिका (प्राकृत), (बीसविंशिका के अंतर्गत)	मुद्रित
४.	योगशतक	मुद्रित
५.	षोडशकप्रकरण	मुद्रित

कथा-सम्बन्धी ग्रन्थ

१.	धूर्ताख्यान (प्राकृत)	मुद्रित
२.	समराइच्चकहा (प्राकृत)	मुद्रित

ज्योतिष-सम्बन्धी ग्रन्थ

१. लग्नशुद्धिलग्नकुण्डलिया (प्राकृत) मुद्रित

स्तुति विषयक ग्रन्थ

१. वीरस्तव मुद्रित
२. संसारदावानलस्तुति (संस्कृत–प्राकृत भाषाद्वयात्मक) मुद्रित

पाश्चात्य विद्वान् विलियम्स के मत में उपर्युक्त सभी ग्रन्थ एक ही हरिभद्र द्वारा रचित नहीं हैं। भाषा एवं वर्ण्यविषय के आधार पर उन्होंने उपर्युक्त ग्रन्थों को दो भिन्न-भिन्न 'हरिभद्र' नामक आचार्यों द्वारा रचित बताया है। उनके मतानुसार पंचाशक आदि ग्रंथ तो 'विरहांक' हरिभद्र द्वारा रचे गये हैं, जबकि धर्मबिन्दु, श्रावकप्रज्ञप्ति, ललितविस्तरा तथा आवश्यकसूत्रवृत्ति आदि ग्रंथ 'याकिनीमहत्तरासुनू' हरिभद्रं द्वारा रचित हैं। अन्य विद्वानों के मत में दोनों विशेषण एक ही हरिभद्र के हैं।

आ० हरिभद्र प्रणीत (माने जाने वाल) अन्य ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त अधोलिखित ग्रन्थ आ० हरिभद्र द्वारा रचित माने जाते हैं, परन्तु इसकी असंदिग्ध स्वीकृति के लिए अधिक प्रमाणों की अपेक्षा है :–

१. अनेकान्तप्रघट्ट
२. अर्हच्चूड़ामणि
३. कथाकोष
४. कर्मस्तववृत्ति
५. चैत्यवन्दनभाष्य
६. ज्ञानपंचकविवरण
७. दर्शनसप्ततिका
८. धर्मलाभसिद्धि
९. धर्मसार
१०. नाणायत्तक
११. नानाचित्तप्रकरण
१२. न्यायविनिश्चय
१३. परलोकसिद्धि
१४. पंचनियंठी
१५. पंचलिंगी
१६. प्रतिष्ठाकल्प
१७. बृहन्मिथ्यात्वमंथन
१८. बोटिकप्रतिषेध
१९. यतिदिनकृत्य
२०. यशोधरचरित्र
२१. वीरांगदकथा
२२. वेदबाह्यतानिराकरण

२३. संग्रहणीवृत्ति
२४. सपंचासित्तरी/सम्बोधसित्तरी
२५. संस्कृत आत्मानुशासन
२६. व्यवहारकल्प[1]

वैसे तो आ० हरिभद्र के सभी ग्रन्थ बहुत महत्वपूर्ण हैं और उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं, तथापि उनके योगविषयक ग्रन्थों में जो अद्भुत प्रतिभा, स्वानुभव एवं नवीनता पाई जाती है, वह अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देती। अतः उनके वैशिष्ट्य को जानने के लिए उनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

हरिभद्र के योग-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

योगबिन्दु (संस्कृत)

इस ग्रन्थ में ५२७ श्लोकों में जैनयोग के विविध विषयों की विस्तृत व्याख्या है। इसमें सर्वप्रथम योग के अधिकारी व अनधिकारी की चर्चा करते हुए उन्हें क्रमशः शुक्लपक्षी तथा भवाभिनन्दी नाम से अभिहित किया गया है। इन दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् समझाने के अनन्तर योग के अधिकारी मनुष्य को साधना-स्तर की दृष्टि से भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित किया गया है। यथा – अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि (भिन्नग्रन्थि) और चारित्री – देशविरति, सर्वविरति आदि। देशविरति की साधना-भूमिका से प्रारम्भ होने वाले अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय – इन पांच योग अनुष्ठानों का भी यहाँ निरूपण हुआ है। यौगिक अनुष्ठानों को उनकी प्रशस्तता, अप्रशस्तता के आधार पर पांच वर्गों में विभाजित किया गया है। यथा – विष, गरल, अननुष्ठान, तद्धेतु और अमृतानुष्ठान। अनेक स्थानों पर पातञ्जलयोग एवं बौद्धयोग के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनमें परस्पर समन्वय स्थापित किया गया है। इस रचना में योग-निरूपण के साथ-साथ अन्य अनेक दार्शनिक तत्त्वों की भी समीक्षा की गई है।

योगदृष्टिसमुच्चय(संस्कृत)

इस ग्रंथ में २२७ श्लोक हैं जिनमें कहीं-कहीं तो योगबिन्दु में वर्णित विषयों की ही पुनरावृत्ति हुई है और कहीं-कहीं बिल्कुल नवीन विषयों की चर्चा है। मुमुक्षु जीव के आध्यात्मिक विकासक्रम का निरूपण नवीन दृष्टिकोण से करते हुए अचरमावर्तकालीन अविकसित अवस्था को 'ओघदृष्टि' तथा चरमावर्तकालीन विकासावस्था को योगदृष्टियों के माध्यम से समझाया गया है। ओघदृष्टि में प्रवृत्ति करने वाले भवाभिनन्दी जीव का निरूपण योगबिन्दु के अनुरूप ही है। योगबिन्दु में वर्णित 'पूर्वसेवा' का ही विस्तृत निरूपण 'योगबीज' के रूप में किया गया है। इसके अतिरिक्त योग्यताभेद के आधार पर योग को इच्छायोग, शास्त्रयोग एवं सामर्थ्ययोग – इन त्रिविध योगों में विभाजित कर उनका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से योग की प्रारम्भिक भूमिका से लेकर चरमपरिणति तक की भूमिकाओं को कर्मफल के तारतम्य के अनुसार आठ योगदृष्टियों में विभाजित किया गया है। मित्रादि आठ दृष्टियाँ पातञ्जलयोगसूत्र के अष्टांगयोग तथा बौद्धपरम्परा के खेदादि आठ दोषों के परिहार तथा अद्वेषादि आठगुणों के प्रकटीकरण पर आधारित हैं। प्रारम्भिक साधक के लिए विभिन्न आचार-व्यवहारों का निरूपण भी किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और निष्पन्नयोगी – इन

---

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, परिशिष्ट, २

चार प्रकार के योगियों के लक्षण बताये गए हैं। केवल कुलयोगी एवं प्रवृत्तचक्रयोगी को ही योगाधिकारी कहकर अवंचकयोग के तीन प्रकारों का विस्तृत चित्रण किया गया है। योगबिन्दु की भाँति इस ग्रन्थ में भी अनेक दार्शनिक तत्त्वों की समीक्षा की गई है।

योगशतक (प्राकृत)

इस ग्रन्थ में १०० गाथाएँ हैं। इसमें प्रारम्भ में निश्चय एवं व्यवहार दोनों दृष्टियों से योग के लक्षण समझाए गए हैं। योग के अधिकारी व अनधिकारी की चर्चा भी योगबिन्दु के अनुरूप ही हुई है। प्रारम्भिक साधक के लिए प्राथमिक योग्यता का योगबिन्दु एवं योगदृष्टिसमुच्चय में वर्णित 'पूर्वसेवा' अथवा 'योगबीज' के समान ही 'लौकिकधर्म' के रूप में चित्रण हुआ है। साधकों के लिए उनकी योग्यतानुसार आचरणीय धर्म का उपदेश देने को कहा गया है। गृहस्थ एवं साधु दोनों के लिए पृथक्-पृथक् चारित्र का निर्देश देते हुए प्राप्त भूमिका से ऊपर की भूमिका पर चढ़ने के लिए कुछ आवश्यक, साधारण नियमों की भी प्ररूपणा की गई है जैसे – अपने स्वभाव की आलोचना, राग-द्वेषादि दोषों का चिंतन, अरतिनिवारण के उपाय, अकुशलकर्मों के निवारणार्थ गुरु, जप, तप जैसे बाह्य साधनों का आश्रय, सूत्रपाठ, तीर्थ-सेवन तथा शास्त्र-श्रवण आदि। इस ग्रन्थ की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें योग-साधना में प्रवृत्त साधक को अपने सद्विचार के अनुरूप उचित आहार लेने का भी निर्देश है। इसके लिए ग्रन्थकार ने सर्वसम्पत्करी भिक्षा के स्वरूप की भी चर्चा की है। इसके अतिरिक्त यौगिक लब्धियों का स्वरूप, दोषक्षय की द्विविधता, मोक्षप्राप्ति में सामायिक की महत्ता तथा मृत्युकालज्ञान के विविध उपाय आदि अनेक गूढ़ विषयों का भी वर्णन है। ग्रन्थ में बीच-बीच में प्रसंगानुकूल अनेक दार्शनिक विषयों का भी निरूपण है। विषयप्रतिपादन की दृष्टि से उक्त ग्रंथ का योगबिन्दु एवं योगदृष्टिसमुच्चय से साम्य दृष्टिगोचर होता है। इस ग्रन्थ में भी दर्शनान्तरों में वर्णित योगविषयक सिद्धान्तों और परिभाषाओं का जैनसिद्धान्तों एवं परिभाषाओं के साथ तुलनापूर्वक समन्वय दर्शाने का प्रयास है।

योगविंशिका (प्राकृत)

आचार्य वसुबन्धु ने विज्ञानवाद का निरूपण करने के लिए विंशिका, त्रिंशिका जैसे ग्रन्थों की रचना की। आ० हरिभद्र ने ऐसी रचनाओं का अनुकरण कर प्राकृत में विंशिकाओं का प्रणयन किया। 'विंशतिविंशिका' नामक प्रकरण के अन्तर्गत 'योगविंशिका' योगविषयक एक ऐसा लघु प्रकरण है जिसमें २० प्राकृत गाथाओं के माध्यम से योग की विकसित अवस्थाओं का निरूपण है। योग के मुख्य अधिकारी के रूप में चारित्री का निर्देश करते हुए उसके सभी धर्मव्यापारों को योग कहकर आचार्य हरिभद्र ने अपनी व्यापक एवं उदार दृष्टि का परिचय दिया है। ग्रन्थ में योग की पांच भूमिकाएँ बताई गई हैं – १. स्थान २. ऊर्ण ३. अर्थ, ४. आलम्बन और ५. अनालम्बन, जिनमें से केवल आलम्बन एवं अनालम्बन की व्याख्या प्रस्तुत की है, जबकि उक्त ग्रन्थ के टीकाकार उपा० यशोविजय ने उक्त ग्रन्थ की टीका में पांचों की व्याख्या की है। ग्रन्थकार ने प्रथम दो को 'कर्मयोग' और अन्तिम तीन भेदों को 'ज्ञानयोग' कहा है। इसके अतिरिक्त स्थानादि पांच भेदों के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि – चार-चार भेद करके उनके स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। साथ ही सदनुष्ठान के प्रीति, भक्ति, वचन और असंग – इन चार भेदों का निरूपण भी इस लघुकृति में विद्यमान है।

षोडशक

प्रस्तुत ग्रन्थ १६ प्रकरणों में विभाजित है, जिनमें कुल २५६ श्लोक हैं। ग्रन्थ के १६ प्रकरणों में कुछ ही प्रकरण योगविषयक हैं। ग्रन्थ के १४वें प्रकरण में योग-साधना के बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति,

अन्यमुद्, रुग् और आसंग – इन आठ चित्तगत दोषों का वर्णन किया गया है। १६वें प्रकरण में उक्त आठ दोषों के प्रतिपक्षी – अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति – इन आठ चित्तगत गुणों का निरूपण तथा योग-साधना द्वारा स्वानुभूति रूप परमानन्द की प्राप्ति के उपायों का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ में योगविषयक कोई नवीन चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

आ. आचार्य शुभचन्द्र

ज्ञानार्णव के रचयिता शुभचन्द्र किस संघ या गच्छ के थे और उनकी गुरु-परम्परा क्या थी, इसके सम्बन्ध में स्वयं लेखक ने कोई जानकारी नहीं दी है। यदि उक्त ग्रन्थ के प्रत्येक सर्ग के अन्त में उनका नाम नहीं मिलता, तो यह जानना कठिन होता कि ज्ञानार्णव के रचयिता कौन हैं।[१] शुभचन्द्र का अपने विषय में कुछ न कहना उनकी निरभिमानता का द्योतक है, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा भी है।[२]

शुभचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं। एक शुभचन्द्र की चर्चा श्रवणबेलगोल के ४३वें संख्यक अभिलेख में मिलती है। वहाँ उन्हें गण्डविमुक्त मलधारिदेव का शिष्य बताते हुए उनका स्वर्गवास शक् सं० ११८० ई० में बताया गया है। द्वितीय शुभचन्द्र का निर्देश श्रवणबेलगोल के ३६वें अभिलेख में हुआ है जो देवकीर्ति के शिष्य थे और जिनका स्वर्गवास वि० सं० १२२० में हुआ था।[३] तीसरे शुभचन्द्र सागबाडां के पट्ट पर वि० सं० १६०० (ई० सन् १५४४) में हुए हैं। वे षट्भाषा कवि-चक्रवर्ती की उपाधि से अलंकृत थे। पाण्डवपुराण, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका इत्यादि लगभग ४०–५० ग्रन्थों के वे रचयिता माने जाते हैं, परन्तु ज्ञानार्णव के रचयिता शुभचन्द्र से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।[४]

समय

'ज्ञानार्णव' में ग्रन्थ का रचनाकाल नहीं दिया गया। अतः रचनाकाल के सम्बन्ध में अन्य बाह्य व अन्तः प्रमाणों से विचार करना होगा।

पाटण के खेतरवासी नामक श्वेताम्बर जैन भण्डार (नं० १३) में 'ज्ञानार्णव' की एक प्रति विद्यमान है जो वैशाखसुदी १० शुक्रवार सं० १२८४ को लिखी हुई है। ग्रन्थ के अन्त में लिखी गई प्रशस्ति में यह उल्लिखित है कि आर्यिका जाहिणी ने कर्मों के क्षय के लिए (कर्मक्षयार्थ) ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ शुभचन्द्र योगी के लिए लिखकर दिया। यहाँ योगी शुभचन्द्र को ध्यानाध्ययनरत, तप और शास्त्र के निधान, तत्त्वों के ज्ञाता और रागादि रिपुओं को पराजित करने वाले मल्ल आदि विशेषणों से अलंकृत करते हुए यह निर्देश भी दिया गया है कि इसे केशरिसुत वीसल ने सहस्रकीर्ति के लिए संवत् १२८४ में लिखा।[५] अतः शुभचन्द्र की उत्तरवर्ती सीमा तेरहवीं शती प्रतीत होती है।

श्री विश्वभूषणाचार्य कृत 'भक्तामरचरित' नामक संस्कृत ग्रन्थ में शुभचन्द्र के जीवन के संबंध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। उक्त ग्रन्थ की उत्थानिका में वर्णित कथा से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि, भोज, शुभचन्द्र और मुञ्ज समकालीन थे।[६] इसके अतिरिक्त 'भक्तामरस्तोत्र' की रचना से संबंधित कथा में

---

१. ज्ञानार्णव, श्री परमश्रुतप्रभावकमंडल, प्रस्तावना, पृ० १८.

२. न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया ।
कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम्।। – ज्ञानार्णव, १/१६

३. तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (भाग ३) पृ० १४८

४. ज्ञानार्णव, प्रस्तावना, पृ० २६

५. द्रष्टव्य : ज्ञानार्णव, ग्रन्थ प्रशस्ति

६. द्रष्टव्य : 'आचार्य शुभचन्द्र का समय निर्णय', ज्ञानार्णव, श्री परमश्रुतप्रभावकमण्डल, पृ० १३

मानतुंग, कालिदास, वररुचि और धनंजय को भी शुभचन्द्र के समसामायिक बताया गया है।[१] उक्त व्यक्तियों में से एक का भी समय ज्ञात होने पर शुभचन्द्र का समय जाना जा सकता है।

आ० अमितगति कृत 'सुभाषितरत्नसंदोह' की प्रशस्ति[२] के अनुसार मुञ्ज का समय संवत् १०५० से १०७८ तक रहा। इसके पश्चात् भोज राज्यपद पर आसीन हुए। भोज के राज्यासीन होने का समय ही शुभचन्द्राचार्य का समय माना जाना उचित है। पंचसंग्रह के अनुसार वि० सं० १०७३ में भोज मुञ्ज के राज्यपट्ट पर आसीन हुए।[३] अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी राजा भोज को ईसा की ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का मानते हैं।[४] राजा भोज का दिया हुआ एक दानपत्र,[५] जो वि० सं० १०७८ (ई० सन् १०२२) में लिखा गया था, उक्त मत की पुष्टि करता है। परन्तु उस मत की परीक्षा हेतु ज्ञानार्णव में उद्धृत पूर्ववर्ती आचार्यों के समय पर भी दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आ० शुभचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। उन आचार्यों में समन्तभद्र,[६] देवनंदि,[७] भट्ट अकलंक[८] के अतिरिक्त आ० जिनसेन[९] का भी निर्देश है। आ० जिनसेन ने अपने ग्रन्थ 'जयधवला' को ८३७ ई० में समाप्त किया था।[१०] उनकी इस रचना की प्रसिद्धि में कम से कम दस वर्ष अवश्य लगे होंगे। इस आधार पर शुभचन्द्र की पूर्वसीमा ८४७ ई० मानना उपयुक्त होगा। ज्ञानार्णव पर आचार्य पूज्यपाद (ई० ५वीं–६वीं शती.) विरचित समाधितन्त्र व इष्टोपदेश, भट्टाकलंकदेव (८वीं शती) विरचित तत्त्वार्थवार्तिक, आ० जिनसेन (९वीं शती) कृत आदिपुराण (२१वां पर्व) के अतिरिक्त जिन अन्य ग्रन्थों का प्रभाव है, उनमें आ० अमृतचन्द्रसूरि (१०वीं शती) के पुरुषार्थसिद्धयुपाय, रामसेनाचार्य (१०वीं शती) के तत्त्वानुशासन, सोमदेवसूरि (११वीं शती) के उपासकाध्ययन तथा आ० अमितगति प्रथम (१०–११वीं शती) के 'योगसारप्राभृत' आदि ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं। उक्त ग्रन्थों के अनेक पद्य ज्यों के त्यों या परिवर्तित रूप में 'ज्ञानार्णव' में उपलब्ध होते हैं। आ० शुभचन्द्र ने 'उक्तं च' कहकर उनको अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ सोमदेवसूरि कृत यशस्तिलकचम्पू के छठे आश्वास के 'हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं' आदि पद्य को ज्ञानार्णव में 'उक्तं च' कहकर उद्धृत किया है।[११]

---

१. आदिनाथस्तोत्र, भूमिका, जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बंबई ।

२. समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे । सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।
समाप्ते पंचम्यामवति धरणीं मुंञ्जनृपतौ। सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्।। – सुभाषितरत्नसंदोह, पद्य ६२२

३. त्रिसप्तत्याधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः।
मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ।। – पंचसंग्रह (संस्कृत), अन्तिमप्रशस्ति पद्य ६

४. **A History of Indian Literature, Pt. II, p. 528, fn. 1**

५. **See : Epigraphica Indica, pt. III, p. 48-50**

६. समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ।। – ज्ञानार्णव, १/१४

७. अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम् ।
कलंकमगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ।। – वही, १/१५

८. श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यथा।। – वही १/१७

९. जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः
योगिभिर्यः समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये। – वही, १/१६

१०. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य, पृ० २६१.

११. हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ।। – यशस्तिलकचम्पू ६/२६; ज्ञानार्णव, ४/२६ (३); तत्त्वार्थवार्त्तिक, १/१/४६

अमितगति द्वितीय ने अपना 'सुभाषितरत्नसन्दोह'[1] वि० सं० १०५० और 'पंचसंग्रह(प्राकृत)' १०७३ में समाप्त किया।[2] इनसे दो पीढ़ी पूर्व अमितगति (प्रथम) हुए हैं, जिनका समय ११वीं शती का प्रथम चरण माना जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानार्णव के कर्त्ता शुभचन्द्र आ० सोमदेव व अमितगति से पूर्व अर्थात् ११वीं शती के पूर्व नहीं हुए हैं।

परवर्ती ग्रन्थों पर प्रभाव

आ० शुभचन्द्र के समय को सिद्ध करने के लिए उनके ग्रन्थ का अन्य किन ग्रन्थों पर प्रभाव रहा है, यह जानना भी उपयोगी है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' की भट्टारक शुभचन्द्र (१६वीं शती) विरचित टीका[3] में 'तथा ज्ञानार्णवे' एवं भट्टारक शुभचन्द्र (१६वीं) के पूर्ववर्ती पंडित आशाधर (१३वीं शती) कृत 'भगवतीआराधना' की टीका[4] में 'उक्तं च ज्ञानार्णवे विस्तरेण' कहकर ज्ञानार्णव के कुछ श्लोक[5] उद्धृत हैं। पं० आशाधर ने जिनयज्ञकल्प (प्रतिष्ठासारोद्धार) की प्रशस्ति में उक्त टीका के रचे जाने की सूचना स्वयं दी है।[6] जिनयज्ञकल्प वि० सं० १२८५ (ई० १२२८) में समाप्त किया गया था। पं० आशाधर को मूलाराधना की रचना में और ज्ञानार्णव का परिशीलन करने में कुछ समय लगा होगा। अतः ज्ञानार्णव उससे कम से कम ४०–५० वर्ष पूर्व लिखा जाना चाहिए। उक्त निरूपण के आधार पर यह सम्भावित है कि आ० शुभचन्द्र वि० सं० १२८५ से पूर्व हुए होंगे।

उक्त काल को कुछ और संकुचित करने के लिए आ० हेमचन्द्रसूरि विरचित योगशास्त्र पर दृष्टिपात करना उचित है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र (वि० सं० ११४५–१२२६, ई० १०८८–११७२) कृत योगशास्त्र और शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव में बहुत अधिक समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों में से किसी एक ने दूसरे के ग्रन्थ से प्रेरणा एवं आंशिक रूप से आधार सामग्री ली है। योगशास्त्र[7] का प्राणायाम और ध्यान का प्रसंग ज्ञानार्णव[8] के वर्णन और विषय से पूर्ण साम्य रखता है। केवल छन्दोगत परिवर्तन होने से कुछ शब्दभेद दृष्टिगत होता है। 'ज्ञानार्णव' में जहाँ विवेचन अत्यन्त विस्तृत, क्रमविहीन व कुछ अप्रासंगिक चर्चा से युक्त है, वहाँ 'योगशास्त्र' का विवेचन संक्षिप्त एवं क्रमबद्ध होने के साथ साथ अप्रासंगिक चर्चा से रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने ज्ञानार्णव के ही प्रसंगों को अपने बुद्धिचातुर्य से व्यवस्थित एवं संक्षिप्त रूप प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि आ० हेमचन्द्र ने शुभचन्द्राचार्य द्वारा ज्ञानार्णव में उद्धृत की गई अनेक दिगम्बराचार्यों की गाथाओं को अपने योगशास्त्र में उद्धृत नहीं किया।

उक्त मान्यताओं के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि आ० हेमचन्द्र के समक्ष शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव अवश्य रहा होगा, जिसका परिशीलन कर उन्होंने अनिवार्य परिवर्तन एवं संशोधन के साथ उसे नया रूप देकर योगशास्त्र की रचना की होगी।

---

१. सुभाषितरत्नसन्दोह, ६२२
२. पंचसंग्रह (प्राकृत), अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ६
३. द्रष्टव्य : स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४८७ पर भट्टारक शुभचन्द्रकृत टीका।
४. मूलाराधना, गाथा १८८७
५. ज्ञानार्णव, ३६/३८, ३६, ४१–४६
६. द्रष्टव्य : जिनयज्ञकल्प के प्रशस्ति पद्य
७. योगशास्त्र, ५ वें प्रकाश से ११वें प्रकाश तक
८. ज्ञानार्णव, २६ से ३६ सर्ग तक।

निष्कर्ष रूप में आ० शुभचन्द्र का समय वि० की ११वीं शती संगत है। इसे मान लेने पर भोज और मुञ्ज की समकालीनता भी घटित हो जाती है।

जीवन-चरित्र

विश्वभूषणभट्टारक कृत भक्तामरचरित्र नामक संस्कृत ग्रन्थ की उत्थानिका में शुभचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध में एक लम्बी कथा दी गई है। इस कथा के अनुसार शुभचन्द्र और भर्तृहरि उज्जयिनी के नरेश सिंधुल के पुत्र थे। सिन्धुल के पिता सिंह के काफी दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। एक दिन राजा सिंह अपनी रानी व मन्त्रियों के साथ वन-क्रीड़ा के लिए गये। वहाँ मुञ्ज के खेत में उन्हें एक बालक पड़ा मिला। राजा व रानी ने उस बालक को घर लाकर उसका पालन-पोषण किया और उसका नाम 'मुञ्ज' रखा। मुञ्ज के वयस्क होने पर राजा ने उसका विवाह कर दिया। कुछ समय के पश्चात् महाराज सिंह की रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम 'सिंहल' रखा गया। सिंहल की रानी मृगावती ने दो पुत्र रत्नों को जन्म दिया, जिसमें से ज्येष्ठ का नाम 'शुभचन्द्र' और कनिष्ठ का नाम 'भर्तृहरि' रखा गया। बचपन से ही दोनों बालकों की विशेष रुचि तत्त्वज्ञान की ओर थी। अतएव वयस्क होने तक दोनों तत्त्वज्ञान में निपुण हो गये।

एक दिन मेघों के पटल को परिवतर्तित होते हुए देख सिंह को वैराग्य हो गया और उसने मुञ्ज एवं सिंहल को राजनीति सम्बन्धी शिक्षा देकर स्वयं जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। राजा मुञ्ज अपने भाई के साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

सिंहल के दोनों बेटे शुभचन्द्र व भर्तृहरि अत्यन्त पराक्रमी और बलशाली थे। एक दिन राजा मुञ्ज को उनकी वीरता देखने का अवसर प्राप्त हुआ। बालकों के अपूर्व बल को देखकर राजा मुञ्ज आश्चर्य चकित हो गये और उनके हृदय में भय उत्पन्न हो उठा। वे सोचने लगे कि बड़े होने पर ये दोनों बालक किसी भी क्षण उन्हें राज्य सिंहासन से च्युत कर देंगे। इस आशंका से उन्होंने दोनों बालकों का वध कराने का आदेश दिया। बालकों को जब इस आदेश का पता लगा तब वे दोनों अपने पिता सिंहल के पास गये। सिंहल ने इस षड्यन्त्र के पूरा करने से पहले ही मुञ्ज को यमलोक पहुँचाने का सुझाव दिया। दोनों कुमारों ने इस विषय पर बहुत विचार-विमर्श किया। परन्तु उनके विशाल हृदय ने उन्हें पितृवद् पूज्य मुञ्ज की हत्या के कलंक से बचा लिया। तत्त्वविशारद, उदार हृदय बालकों को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने तुरन्त गृहत्याग कर अन्यत्र जाने का विचार किया। उनके इस कृत्य पर उनके पिता स्नेहार्द नेत्रों से उन्हें देखते रहे, परन्तु कुछ बोल नहीं पाये।

शुभचन्द्र ने किसी वन में जाकर एक मुनिराज के निकट जैनधर्म की दीक्षा अंगीकार की और तपश्चरण में निमग्न हो गये। उन्होंने १३ प्रकार के चारित्र[1] का पालन करते हुए घोर तप किया।

भर्तृहरि ने एक कौल तपस्वी (तांत्रिक) के निकट जाकर उनकी सेवा की और उनसे तांत्रिक दीक्षा लेकर वे तन्त्रसाधना में लीन हो गये। १२ वर्ष तक भर्तृहरि ने अनेक विद्याओं की साधना की और योग-बल से अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कीं। उन्हें एक योगी ने एक ऐसी विद्या और ऐसा अद्भुत रस प्रदान किया, जिसके प्रयोग व स्पर्श से तांबा सुवर्ण बन सकता था।

एक दिन भर्तृहरि को चिन्ता हुई कि उसका भाई शुभचन्द्र न जाने किस स्थिति में है। उन्होंने अपने एक शिष्य को शुभचन्द्र का समाचार लाने के लिए भेजा। शिष्य जंगलों में घूमता हुआ उस स्थल पर पहुँचा जहाँ दिगम्बर मुनि शुभचन्द्र निर्वस्त्र हो तपस्या कर रहे थे। शिष्य ने वापिस आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त भर्तृहरि

---

१. शास्त्रों में चारित्र के १३ प्रकार बताये गए हैं – ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति। – द्रव्यसंग्रह, ४५

को बताया, जिससे भर्तृहरि के हृदय में अत्यन्त करुणा जागृत हुई। उन्होंने अपनी तुम्बी से आधा रस दूसरी तुंबी में डालकर शिष्य के हाथ शुभचन्द्र के पास भेजा, ताकि वह उसके द्वारा सोना बनाकर अपनी दरिद्रता को दूर कर सके। शुभचन्द्र ने उस रस को पत्थर की शिला पर डलवा दिया।

शिष्य ने भर्तृहरि को जब यह घटना सुनायी तो वे स्वयं ममतावश शुभचन्द्र के पास पहुँचे। शुभचन्द्र निस्पृही साधु थे। उन्होंने शेष रस को भी साधारण जल की तरह पाषाण-शिला पर फेंकवा दिया। भर्तृहरि को इससे बहुत दुःख हुआ। शुभचन्द्र ने भर्तृहरि को समझाते हुए कहा – "भाई ! यदि सोना बनाना ही अभीष्ट था, तो घर क्यों छोड़ा ? घर में क्या सोना-चांदी-माणिक्य की कमी थी ? सांसारिक दुःखों की निवृत्ति तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र अथवा रस से नहीं हो सकती। तप में ही वह शक्ति है।" इतना कहकर शुभचन्द्र ने अपने पैरों के नीचे की थोड़ी सी धूल उठाकर पास में पड़ी हुई उसी शिला पर डाल दी। डालते ही वह विशाल शिला सुवर्णमय हो गई। यह देखकर भर्तृहरि अवाक् हो गये। चरणों में गिरकर बोले, "भगवन् ! क्षमा कीजिए। अपनी मूर्खता से आपका माहात्म्य न जानकर मैंने यह अपराध किया है। सचमुच मैंने इन मन्त्र-विद्याओं में फँसकर अपना इतना समय व्यर्थ ही खो दिया और पापोपार्जन किया। अब कृपा करके मुझे यह लोकोत्तर दीक्षा देकर अपने समान बना लीजिए, जिससे इस दुःखमय संसार से हमेशा के लिए मुक्त होने का प्रयत्न कर सकूँ।

भर्तृहरि को इस प्रकार प्रायश्चित्त करते देख श्री शुभचन्द्र मुनि ने उसे धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर भर्तृहरि को यथार्थ ज्ञान हुआ। उन्होंने तत्काल ही शुभचन्द्र से दीक्षा ली और दिगम्बर मुनि बन गये। तत्पश्चात् शुभचन्द्र ने भर्तृहरि को मुनिमार्ग में दृढ़ता लाने तथा योग का ज्ञान कराने हेतु एक विस्तृत ग्रन्थ की रचना की, जिसका नाम रखा 'ज्ञानार्णव'। सचमुच यह ग्रन्थ अपने नाम के अनुरूप है। यह ग्रन्थ ज्ञान का अर्णव या समुद्र और योगमार्ग को प्रदीप्त करने वाला उत्कृष्ट दीपक है, जिसे पाकर भर्तृहरि को महान् ज्ञान की उपलब्धि हुई और वे कर्मयोगी बन गये।

कृतित्व

आ० शुभचन्द्र दिगम्बर जैन-परम्परा के समस्त ग्रन्थों के अध्येता, जैन सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, बहुश्रुत विद्वान् एवं प्रतिभासम्पन्न कवि थे। वे स्वयं बहुत बड़े योगी थे। उन्होंने जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त योगविषयक जैनेतर ग्रन्थों का भी अध्ययन किया था। उन्होंने स्वानुभव, त्याग और साधना के बल पर ही जैनयोग-साहित्य को एक विशाल ग्रन्थ (ज्ञानार्णव) के रूप में अनुपम सामग्री प्रदान की।

ज्ञानार्णव की भाषा सरल व सुबोध है। कविता मधुर व आकर्षक है। इसमें अनेक विषयों के साथ इतर सम्प्रदायों की भी चर्चा व समीक्षा की गई है, जिससे उनकी बहुश्रुतता का ज्ञान होता है। उन्होंने अपने समय में प्रचलित योगविषयक साहित्य का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था, जिसका उन्होंने ज्ञानार्णव में समुचित उपयोग किया है।

ज्ञानार्णव - एक परिचय

'ज्ञानार्णव' जैनयोग-परम्परा में अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। दिगम्बर-परम्परा में तत्त्वानुशासन के पश्चात् 'ध्यान' पर उपलब्ध एकमात्र ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' ही है, जो विद्वज्जनों में अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है। इस विशद ग्रन्थ में ध्यान के अंगभूत ऐसे विषयों की भी चर्चा है, जिनका वर्णन उससे पूर्व जैन साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

ज्ञानार्णव में ३९ अध्याय और २२३० श्लोक हैं। इसमें ध्यान की साधनभूत १२ भावनाओं के स्वरूप, संसारबंध के कारण, कषाय, मन के विषय, आत्मा एवं बाह्य पदार्थों के संबंध तथा मोक्ष के मार्गभूत रत्नत्रय

का निरूपण है। सम्यक् चारित्र का विवेचन करते हुए अहिंसादि पांच महाव्रतों तथा पातञ्जलयोगसूत्र में निरूपित अष्टांगयोग की विस्तार से प्ररूपणा की गई है। ध्यान एवं ध्यान के भेदों का विस्तृत विश्लेषण इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम ज्ञानार्णव में ही पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का वर्णन विस्तार से मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा के साहित्य में उक्त चार ध्यानों के नामों का उल्लेख नहीं है। केवल आ० हेमचन्द्र ऐसे प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने योगशास्त्र में इनका वर्णन किया है। ज्ञानार्णव में वर्णित सभी विषय ध्यान से संबंधित हैं। तीसरे सर्ग में ध्यान-साधक के लिए गृहस्थाश्रम के त्याग का स्पष्ट विधान है। नाड़ीशुद्धि के रूप में वर्णित पवनजय-साधना का वर्णन हठयोग के 'शिवस्वरोदय' से प्रभावित प्रतीत होता है। हठयोग में ही वर्णित धारणाओं की जैन परम्परानुकूल कल्पना 'ज्ञानार्णव' में सर्वप्रथम आ० शुभचन्द्र ने की है। जैनग्रन्थों में इससे पूर्व धारणाओं का वर्णन कहीं नहीं किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि आ० शुभचन्द्र ने स्वयं नया कुछ नहीं लिखा, तथा अपने पूर्ववर्ती दिगम्बर जैनाचार्यों की कृतियों को उद्धृत कर जैन सिद्धान्तों का संकलन मात्र कर दिया तथापि उनकी यह विशेषता है कि उन्होंने पातञ्जलयोग एवं हठयोग के अनुरूप जैनयोग का प्रतिपादन किया। ग्रन्थ में तन्त्र एवं मन्त्रयोग का भी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

संक्षेप में 'ज्ञानार्णव' पातञ्जलयोग के अष्टांगयोग, हठयोग, तन्त्रयोग, एवं मन्त्रयोग सभी का जैनसिद्धान्त से समन्वित रूप प्रस्तुत करता है।

इ. हेमचन्द्रसूरि

भारतभूमि में उत्पन्न बहुश्रुत पण्डितरत्नों में जैनाचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का स्थान अग्रगण्य है। संस्कृत साहित्य और विक्रमादित्य के इतिहास में जो स्थान कालिदास को और श्रीहर्ष के दरबार में बाणभट्ट को प्राप्त था, प्रायः वही स्थान (वि० सं० ११५०–११६६) १२वीं शताब्दी के चौलुक्यवंशी सुप्रसिद्ध गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह की राजसभा में आ० हेमचन्द्र का रहा है।

सौभाग्य से इस महान् आचार्य, सन्त, साहित्यप्रणेता व धर्मोपदेशक की जीवन-विषयक सामग्री अनेक समकालीन व परवर्ती ग्रन्थों में सुलभ है। इन ग्रन्थों में सोमप्रभसूरि रचित 'कुमारपालप्रतिबोध'[१] (संवत् १२४१), प्रभाचन्द्रसूरिकृत 'प्रभावकचरित'[२] (सं० १२७८), मेरुतुंगाचार्यकृत 'प्रबंधचिंतामणि'[३] (सं० १३६२), राजशेखरकृत 'प्रबन्धकोश'[४] (सं० १४६५), यशपाल रचित 'मोहराजपराजय'[५] नाटक (१३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) एवं 'पुरातनप्रबंधसंग्रह'[६] आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्वयं हेमचन्द्र कृत द्वयाश्रयकाव्य, सिद्धहेमप्रशस्ति तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में अन्तर्भूत 'महावीरचरित' आदि भी उनके जीवन पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ब्यूलर ने उक्त स्रोतों का उपयोग करते हुए हेमचन्द्र के जीवन व कृतित्व पर एक विस्तृत निबन्ध लिखा है।[७]

प्रभावकचरित में वर्णित कथा के अनुसार[८] आ० हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ को कार्त्तिक शुक्ल १५ तदनुसार सन् १०८८ या १०८९ के नवम्बर-दिसम्बर मास में हुआ था। इनका जन्मस्थान गुजरात प्रदेश

---

१. कुमारपालप्रतिबोध, पृ० २१–२२
२. प्रभावकचरित, पृ० १८३–२१२
३. प्रबन्धचिन्तामणि, भाग १, पृ० ८३, ८४
४. प्रबन्धकोश, दसवाँ प्रबन्ध
५. मोहराजपराजय, प्रथम अंक
६. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ३७
७. The life of Hemachandracharya, Singhi Jain Granthamala, 1936
८. प्रभावकचरित, २२/८५०

में अहमदाबाद से साठ मील दूर स्थित 'धुन्धका'[१] नामक गांव माना जाता है। इनके पिता चामुण्डा गोत्रीय शैवधर्मानुयायी मोढ़वंशीय वणिक् (वैश्य) थे। इनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणी अथवा चाहिणी देवी था।[२] हेमचन्द्र का बचपन का नाम चंगदेव या चांगदेव था।[३] सोमप्रभसूरि[४] के अनुसार जिस समय बालक चांगदेव माता के गर्भ में था, उस समय माता ने कई आश्चर्यजनक स्वप्न देखे थे। चांगदेव के माता-पिता दोनों ही जैनधर्म में श्रद्धा रखते थे। माता पाहिणी तो धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा रखती थी। चांगदेव का मन भी धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में नहीं लगता था। वह अपनी माता के साथ प्रतिदिन मन्दिर जाया करता था एवं प्रवचन सुनता था। एक बार पूर्णतलगच्छ के देवचन्द्रसूरि ने अपने ज्ञानबल से 'इसके द्वारा जैनधर्म का महान् उदय होने वाला है' ऐसा जानकर दीक्षा के लिए उसकी माँग की।[५] माता पाहिणी की जैनधर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी, इसलिए उसने अपने पुत्र को बाल्यावस्था में ही मुनि देवचन्द्र को सौंप दिया। यह देवचन्द्र ही हेमचन्द्र के गुरु थे।[६] प्रभावकचरित के अनुसार[७] जब चांगदेव पांच वर्ष के ही थे, तब वि० सं० ११५० में माघ शुक्ल चतुर्दशी के दिन 'खम्बात' प्रदेश में इनका दीक्षा संस्कार हुआ।

प्रबन्धचिन्तामणि,[८] पुरातनप्रबन्धसंग्रह[९] और प्रबन्धकोश[१०] के अनुसार ८ वर्ष की आयु में चांगदेव को छोटी दीक्षा दी गई थी। इसलिए श्री क्लॉट ने चांगदेव की दीक्षा का समय वि० सं० ११५४ उपयुक्त माना है।[११] दीक्षा के बाद चांगदेव का नाम बदलकर सोमचन्द्र रख दिया गया।[१२] दीक्षा के पश्चात् बालक सोमचन्द्र अपने गुरु के सान्निध्य में रहने लगा। परिणामस्वरूप पूर्वजन्म के संस्कार, तीव्रस्मरणशक्ति, सहजात असाधारण प्रतिभा और सर्वतोमुखी बुद्धि के द्वारा एवं गुरु की कृपा से अल्प परिश्रम से ही शास्त्रज्ञान प्राप्त किया।[१३] इसप्रकार, अल्पकाल में ही सोमचन्द्र ने न्याय, तर्क, व्याकरण एवं काव्य आदि समस्त शास्त्रों में पारंगत होकर अपार ज्ञानराशि का संचय किया। उनकी असाधारण विद्वत्ता एवम् अनुपम प्रतिभा से आकर्षितहोकर देवचन्द्रसूरि ने वि० सं० ११६६ को वैशाख शुक्ल तृतीया के दिन मध्याह्न काल में खंभात नगर में चतुर्विध संघ के समक्ष उन्हें सहर्ष 'सूरिपद' की उपाधि प्रदान की।[१४] विद्वानों का मत है कि इस महोत्सव पर होने वाला समस्त व्यय नागपुर के एक धनद नामक व्यापारी ने वहन किया था।[१५]

---

१. यह गांव वर्तमान में भाधर नदी के दाहिने तट पर अहमदाबाद से उत्तर पश्चिम में ६२ मील की दूरी पर स्थित है।
२. प्रभावकचरित, २२/२६; प्रबन्धचिन्तामणि, भाग १, पृ० ८३; **Indian Antiquary, V XII, p. 254, no. 852**
३. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० १२३ ; प्रबन्धकोश, पृ० ६७; कुमारपालचरित्रसंग्रह, पृ० १८; प्रबन्धचिन्तामणि, भाग १, पृ० ८३; प्रभावकचरित, २२/२७
४. कुमारपालप्रतिबोध, सोमप्रभसूरि, (कुमारपालचरित्रसंग्रह) पृ० ११७
५. वही, पृ० २१–२२
६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रशस्ति पद्य, १२–१६
७. प्रभावकचरित, पृ० ३४७
८. प्रबन्धचिन्तामणि, भाग–१, पृ० ८३
९. पुरातनप्रबंधसंग्रह, पृ० ३७
१०. प्रबन्धकोश, पृ० ६७
११. **Indian Antiquary, V XII, p. 254, n. 852**
१२. हेमचन्द्राचार्य जीवनचरित, पृ० १०; प्रमाणमीमांसा, प्रस्तावना, पृ० ३६; काव्यानुशासन, प्रस्तावना, पृ० २६७–२६८; वि० भा० मुसलगांवकर, आचार्य हेमचन्द्र, पृ० १६
१३. आचार्यो हेमचन्द्रोऽभूत्तत्पादाम्भोजषट्पदः।
तत्प्रसादादधिगत-ज्ञानसंपन्महोदयः।। – त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रशस्ति पद्य १५
१४. प्रबंधचिन्तामणि, भा० १, पृ० ८४
१५. आ० हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन, पृ० १७ ; प्रमाणमीमांसा, प्रस्तावना, पृ० ३७; **Indian Antiquary, V XII, p. 254, n. 852**

आचार्य' पद के बाद सोमचन्द्र का नाम बदलकर 'हेमचंद्र' रख दिया गया।[१] 'कुमारपालप्रतिबोध' के अनुसार[२] 'हेम' जैसी देह की कांति और चन्द्र की तरह आनन्ददायक होने के कारण वह 'हेमचन्द्र' के नाम से विख्यात हुए। प्रो० कृष्णमाचारियर के कथनानुसार एक बार सोमचन्द्र ने शक्तिप्रदर्शन के लिए अपने बाहु को अग्नि में रख दिया, लेकिन आश्चर्य की बात है कि सोमचन्द्र का जलता हुआ हाथ सोने का बन गया। इस घटना के उपरान्त ही सोमचन्द्र 'हेमचन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध हो गए।[३]

समग्र लोक के उपकारार्थ हेमचन्द्र विविध देशों में विहार करते थे। एक बार गुरु की आज्ञा से उनका विहार गुर्जरदेश में ही मर्यादित हुआ।[४] तदनुसार वे राज्य के अणहिल्लपुर पाटण नगर में प्रविष्ट हुए। हेमचन्द्र की विद्वत्ता की ख्याति शनैः-शनैः सम्पूर्ण नगर में, यहाँ तक कि वहाँ के राज्य दरबार में भी फैलने लगी।[५] उनके पाण्डित्य से महापराक्रमी गुर्जरनरेश जयसिंह सिद्धराज भी बहुत प्रभावित हुए। कहा जाता है कि हेमचन्द्र के प्रथम आश्रयदाता चौलुक्यराजा सिद्धराज जयसिंह (सं०१०५०–११६६) ही थे।[६]

'प्रभावकचरित' के अनुसार राजा जयसिंह और हेमचन्द्र का प्रथम साक्षात्कार अणहिल्लपुर के किसी संकरे मार्ग पर हुआ था, जहाँ से जयसिंह के हाथी को निकलने में कठिनाई हो रही थी। इस प्रसंग में हेमचन्द्र ने जयसिंह को निःशंक होकर अपने गजराज को ले जाने के लिए कहा और श्लेष संस्तुति की।[७] राजा जयसिंह ने उन्हें दरबार में आने का निमन्त्रण दिया, जिसे हेमचन्द्र ने सहर्ष स्वीकार किया।[८] 'कुमारपालचरित' में भी यह वृत्तान्त कुछ परिवर्तित रूप में मिलता है।[९] तदनुसार जब राजा जयसिंह ने मालवा पर अंतिम विजय (वि० सं० ११६१–११६२ में) प्राप्त की तब भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि उनका अभिनन्दन करने के लिए आये। उस समय जैन सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में हेमचन्द्र ने उनका स्वागत किया था। चौलुक्यराजा सिद्धराज जयसिंह उनकी विद्वत्ता और असाधारण पाण्डित्य से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनके भक्त बन गये।[१०] डॉ० ब्यूलर के अनुसार हेमचन्द्र मालवा की विजय के पूर्व ही जयसिंह के दरबार में प्रवेश कर चुके थे।[११] अनुमान किया जाता है कि उक्त घटना वि० सं० ११६१ –६२ (ई० सं० ११३६ के प्रारम्भ) में घटित हुई होगी और उस समय हेमचन्द्र की आयु ४६–४७ वर्ष की होगी।[१२]

अपने पाण्डित्य, दूरदर्शिता और सर्वधर्म-स्नेह के कारण हेमचन्द्र का प्रभाव राज्यसभा में उत्तरोत्तर बढ़ता गया। विन्टरनिट्ज़ के अनुसार[१३] राजा जयसिंह की साहित्य और विज्ञान में अत्यधिक रुचि थी

---

१. प्रबंधचिन्तामणि, भा० १, पृ० ८४
२. कुमारपालप्रतिबोध, पृ० २२
३. **"To demonstrate his powers he set his arms in a blazing fire and his father found to his surprise the flashing arms turned into gold." — M. Krishanamachariar, History of Classical Sanskrit Literature, p. 174.**
४. प्रमाणमीमांसा, प्रस्तावना, पृ० ३६–३७
५. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २६१
६. वही, पृ० २४१
७. कारय प्रसरं सिद्ध ! हस्तिराजमशंकितम् ।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यतः।। – प्रभावकचरित, २२/६७
८. वही, पृ० ३००
९. कुमारपालचरित, (कुमारपालचरित्रसंग्रह) पृ० २०
१०. **V. Raghvan, Cultural Leaders of India, p.88**
११. **Hemchandra was introduced to the court of Jayasingh before the conquest of Mālvā. — Bühler, The life of Hemchandracharya, p. 14.**
१२. प्रमाणमीमांसा, प्रस्तावना, पृ० ४०
१३. **A History of Indian Literature, pt. II, p. 463;** प्रबन्धचिन्तामणि, भा० १, पृ० ६०

और वे परम शिवभक्त थे। दर्शन के प्रति उनकी अनुरक्ति इतनी अधिक थी कि उन्होंने आ० हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य विभिन्न मतावलम्बी विद्वानों को भी अपनी पण्डित-सभा में स्थान दे रखा था। आ० हेमचन्द्र ने अपने पाण्डित्य से राजा को प्रभावित ही नहीं किया, अपितु जैनधर्म के प्रति उन्हें विशेष श्रद्धालु बनाने में भी सफलता प्राप्त की।

हेमचन्द्र की शिक्षा और उपदेश के प्रभाव से सिद्धराज जयसिंह जैनधर्म के प्रति अधिक आकृष्ट होते गये और उन्होंने एक जैन मंदिर भी बनवाया। हेमचन्द्र के प्रति राजा का ऐसा भाव हो गया था कि जब तक वे उनके अमृत-समान उपदेश को न सुन लें, उन्हें संतोष नहीं होता था।[१]

गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह के आग्रह से हेमचन्द्र ने संस्कृत-प्राकृत भाषा के एक आदर्श और सरल, किन्तु सर्वांग-परिपूर्ण व्याकरण की रचना की और राजा के प्रति सम्मान भाव प्रदर्शित करने हेतु ग्रन्थ को 'सिद्धहैम' नाम दिया,[२] जिसका अर्थ है 'हेमचन्द विरचित' एवं 'सिद्धराज को समर्पित'। उस समय से जैनपरम्परा में अन्य व्याकरण उपेक्षित हो गए और 'सिद्धहैमचन्द्र' का ही सर्वत्र अध्ययन किया जाने लगा।[३] हेमचन्द्र का यह व्याकरण 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' के नाम से विख्यात है। राजा जयसिंह की प्रेरणा से ही हेमचन्द्र को व्याकरण के साथ-साथ कोश, छन्द तथा अलंकारशास्त्र की रचना करने का निमित्त प्राप्त हुआ और उनमें अपने नवीन व्याकरण के नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने तथा चालुक्य राजाओं के गौरवगान के निमित्त गुजरात के लोकजीवन को प्रतिबिम्बित करने वाले 'द्वयाश्रय' नामक महाकाव्य की रचना करने का भाव उत्पन्न हुआ।[४]

साहित्य रचना के साथ हेमचन्द्राचार्य ने गुजरात की राजनीति को भी एक नया मोड़ दिया। वे गुजरात के तत्कालीन राजा सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल को बनाना चाहते थे। इसके पीछे कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि कुमारपाल आचार्य श्री से अत्यन्त उपकृत था। दूसरा, वे गुजरात में अहिंसा के कई कार्य करवाना चाहते थे। तीसरा, गुजरात में जैनधर्म के सिद्धान्तों का जनता में प्रचार-प्रसार करना था। कुमारपाल के राजा बनने के पश्चात् उन्हें उक्त सब कार्यों में सफलता मिली। इन सब कारणों के अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण कारण कुछ और था। 'प्रभावकचरित' में उपलब्ध विवरण के अनुसार कुमारपाल ने जीवनरक्षा के लिए हेमचन्द्र का आश्रय प्राप्त किया था, क्योंकि राजा जयसिंह उसे अपने जीवनकाल में ही मार डालना चाहते थे।[५] हेमचन्द्र ने कुमारपाल के अंगों पर विशेष राजचिह्न देखकर भविष्यवाणी की थी कि कुमारपाल ही इस समस्त प्रदेश का भावी शासक होगा। कुमारपाल के सन्देह व्यक्त करने पर हेमचन्द्र ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि कुमारपाल को राज्य की प्राप्ति न हुई तो वे भविष्यवाणी करना छोड़ देंगे[६] यह देखकर कुमारपाल ने स्वीकार किया कि यदि भविष्यवाणी सत्य में परिणत हुई तो वे उनकी आज्ञा का पालन करेंगे। हेमचन्द्र ने उसी समय कुमारपाल से प्रतिज्ञा करवा ली कि यदि वह राजा बन गया तो जैनधर्म स्वीकार कर लेगा।[७] हेमचन्द्र की भविष्यवाणी सत्य हुई और

---

१. कुमारपालप्रतिबोध, पृ० २२१

२. (क) यशो मम तव ख्यातिः पुण्यं च मुनिनायक !।
विश्वलोकोपकाराय, कुरु व्याकरणं नवम् ।। – प्रभावकचरितम्, २२/८४
(ख) इमां पुराणवार्त्तामपहायास्माकमेव सन्निहितं कमपि व्याकरणकर्त्तारं ब्रूते....। – प्रबन्धचिन्तामणि, भा० १ पृ० ६०

३. प्रबन्धचिन्तामणि, भा० १, पृ० ६०

४. प्रमाणमीमांसा, प्रस्तावना, पृ० ४०

५. प्रभावकचरित, पृ० १८५

६. "सं० ११६६ वर्षे कार्त्तिकवदि २ रवौ हस्तनक्षत्रे यदि भवतः पट्टाभिषेको न भवति तदाऽतःपरं निमित्तावलोकनसंन्यासः इति पत्रकमालिख्यैकं मन्त्रिणेऽपरं तस्मै समर्पयत्। – प्रबन्धचिन्तामणि, भा० १ पृ० ७८

७. चौलुक्य कुमारपाल, पृ० ७६; प्रबंधचिन्तामणि, भा० १, पृ० ७८

कुमारपाल को राज्य पद प्राप्त हो गया। प्रतिज्ञानुसार कुमारपाल जो कि शैव था, हेमचन्द्राचार्य द्वारा जैन बना दिया गया। इस परिवर्तन के पश्चात् (११५६ ई० में) कुमारपाल ने गुजरात को आदर्श राज्य बनाने का प्रयत्न किया।[१]

हेमचन्द्र की अधिकांश साहित्यरचना जो सिद्धराज के राज्यकाल में ही हो चुकी थी, कुमारपाल के समय में प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई। कुमारपाल के शासन में उन्होंने जो रचनाएँ कीं, वे अधिकतर धार्मिक थीं। योगशास्त्र, वीतरागस्तुति तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि ग्रन्थों की रचना उन्होंने कुमारपाल के आग्रह से ही की थी।[२]

ऐसा माना जाता है कि आ० हेमचन्द्र ने समय-समय पर राजा कुमारपाल को धर्मप्ररेणा दी और धर्म-विरुद्ध मार्ग पर जाने से बचाया। आचार्य के विपुल साहित्य-सर्जन से प्रभावित होकर राजा कुमारपाल और तत्कालीन अन्य विद्वानों ने उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि से विभूषित किया।[३] पीटर्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने तो हेमचन्द्र को 'OCEAN OF KNOWLEDGE' (ज्ञान का महासागर) की उपाधि से अलंकृत किया, जो यथार्थ एवं सत्य है।[४] कहा जाता है कि हेमचन्द्र ने अपने जीवनकाल में लगभग डेढ़ लाख लोगों अर्थात् तैंतीस हजार कुटुम्बों को जैन-धर्मावलम्बी बनाया।[५]

देहावसान

अन्त में, चौरासी वर्ष की आयु में सतत् साहित्य सृजन में लीन रहकर अखण्ड ब्रह्मचार्य का पालन करते हुए वि० सं० ११२६ में असाधारण तपोधनी हेमचन्द्र का स्वर्गवास हो गया।[६] प्रभावकचरित के अनुसार, राजा कुमारपाल भी हेमचन्द्र के असह्य वियोग से छः मास पश्चात् स्वर्ग सिधार गये।[७]

कृतित्व

हेमचन्द्राचार्य ने अनेक नवीन कृतियों का सृजन किया। आ० हेमचन्द्र एक जैनाचार्य थे। अतः जैन सिद्धान्तों के प्रति उनकी रुचि स्वाभाविक थी। तथापि जीवनोत्थान की प्रेरणा देने वाला ऐसा कोई विषय नहीं, जिस पर उन्होंने अपनी लेखनी न चलाई हो। उन्होंने व्याकरण, काव्य, न्याय, कोश, साहित्य, चारित्र, योग और छन्द किसी भी विषय की उपेक्षा नहीं की। कहा जाता है कि उन्होंने साढ़े तीन करोड़ श्लोकों की रचना की। उनके अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं और बहुत से अप्रकाशित हैं। उनकी कृतियों की नामावली इस प्रकार है –

व्याकरण

१. सिद्धहेमलघुवृत्ति
२. सिद्धहेम बृहद्वृत्ति (तत्त्वप्रकाशिका)
३. सिद्धहेमबृहन्न्यास (शब्द महार्णवन्यास) (अपूर्ण)

---

१. **Winternitz, A History of Indian Literature, pt. II, p. 463**
२. चौलुक्य कुमारपाल, पृ० २४०
३. रतनलाल संघवी, प्राकृत व्याकरण, प्रस्तावना, पृ० १५; **Winternitz, A History of Indian Literature, pt. II p. 463**
४. द्रष्टव्य : पीटर्सन की चौथी रिपोर्ट; रतनलाल संघवी, प्राकृत व्याकरण, प्रस्तावना, पृ० १५
५. वही, पृ० १५
६. हेमचन्द्राचार्य जीवनचरित्र, पृ० ८६–६०; चौलुक्य कुमारपाल, पृ० २६६–२६७
७. (क) नन्दद्वय-रवो वर्षे(२२६)ऽवसानमभवत् प्रभोः। – प्रभावकचरित, २२/८५१
(ख) **Indian Antiquary, VXII, p. 254, n. 853**
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० ५, पृ० २८

४ सिद्धहेम-प्राकृतवृत्ति
५ लिंगानुशासन सटीक
६ उणादिगण-विवरण
७. धातुपरायण

कोश

८. अभिधानचिन्तामणि, स्वोपज्ञ टीका सहित
९. अभिधानचिन्तामणि, परिशिष्ट
१०. अनेकार्थकोश
११. निघण्टुशेष (वनस्पति विषयक)
१२. देशीनाममाला (स्वोपज्ञ टीका सहित)

साहित्य - अलंकार

१३. काव्यानुशासन (स्वोपज्ञ अलंकारचूड़ामणि ओर विवेकवृत्ति सहित)
१४. छन्दोऽनुशासन (छन्दश्चूड़ामणि टीका सहित)

दर्शन

१५. प्रमाणमीमांसा, स्वोपज्ञवृत्ति सहित (अपूर्ण)
१६. वेदांकुश-द्विजवदनचपेटा

इतिहास काव्य - व्याकरण सहित

१७. संस्कृतद्वयाश्रयमहाकाव्य
१८. प्राकृतद्वयाश्रयमहाकाव्य

इतिहास, काव्य और उपदेश

१९. त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित (महाकाव्य-दशपर्व)
२०. परिशिष्टपर्व

योग

२१. योगशास्त्र, स्वोपज्ञटीका सहित

स्तुति -स्तोत्र

२२. वीतरागस्तोत्र
२३. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका(पद्य)
२४. अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका (पद्य)
२५. महादेवस्तोत्र (पद्य)

आ० हेमचन्द्र के जीवनचरित्र व श्रेष्ठ रचनाओं से उनकी सर्वांगीण प्रतिभा ओर अभ्यास का परिचय मिलता है। इस महान् कवि में एक साथ ही वैयाकरण, आलंकारिक, दार्शनिक, छन्दोनुशासक, धर्मोपदेशक, साहित्यकार, इतिहासकार, पुराणकार और कोशकार का अनुपम समन्वय दृष्टिगोचर होता

है।[1] उनका साहित्य अतिशय रोचक, मर्मस्पर्शी और सजीव है। उनकी प्रत्येक रचना में नया दृष्टिकोण, नयी शैली और नया चिन्तन और वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित की प्रशस्ति में लिखा है कि उन्होंने व्याकरण की रचना तो सिद्धराज जयसिंह के अनुरोध से ही की थी, किन्तु द्वयाश्रयकाव्य, छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन, योगशास्त्र और त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि का प्रणयन लोकार्थ अर्थात् सर्वसाधारण के लिए किया था।[2]

आ० हेमचन्द्र गुजरात में धार्मिक प्रभाव की वृद्धि करने हेतु सर्वधर्म-समभावी, सत्योपासक, जैनधर्म के प्रचारक तथा देशोद्धारक के रूप में प्रकट हुए। उनकी बहुश्रुतता, सर्वशास्त्र-समन्वयशक्ति, सर्वशास्त्रज्ञता, जिनशासन-सेवा आदि विशेषताओं को देखते हुए उनकी "कलिकालसर्वज्ञ" की उपाधि नितांत संगत है।

योगशास्त्र : एक परिचय

"योगशास्त्र" हेमचंद्र की योगविषयक अनूठी कृति है। विद्वानों की दृष्टि में साधक की रक्षा के लिए यह वज्र कवच के समान उपयोगी है।[3] योगशास्त्र में कहीं भी हरिभद्रसूरि के योगविषयक ग्रन्थों का प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता, जबकि शुभचन्द्र के "ज्ञानार्णव" का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हेमचन्द्र के "योगशास्त्र" को पढ़ते ही आचार्य शुभचन्द्र के "ज्ञानार्णव" की स्मृति सहज हो उठती है।

योगशास्त्र में १२ प्रकाश तथा १०१२ श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में हेमचन्द्र ने योग की पारम्परिक पद्धतियों का निरूपण कर गुरु के उपदेश एवं, स्वानुभव के आधार पर योग के विभिन्न साधनों का विवेचन किया है। उन्होंने पातञ्जलयोगदर्शन के "चित्तवृत्तिनिरोध" से लेकर सर्वभूमिकाओं के लिए समान रूप से यम, नियमादि ८ अंगों का वर्णन किया है। इस दृष्टि से हेमचन्द्र के "योगशास्त्र" की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने पातञ्जलयोगसूत्र की शैली का अनुकरण करते हुए भी वर्णन-क्रम में मौलिकता दर्शायी है और मार्गानुसारी से लेकर गृहस्थधर्म, साधुधर्म आदि उच्च आध्यात्मिक भूमिकाओं तक पहुँचने के लिए ज्ञान-दर्शन और चरित्रात्मक योग-साधना का सुन्दर क्रम उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त, इसमें आत्मा को परमात्मस्वरूप बनाने के लिए धर्मध्यान, शुक्लध्यान, इन्द्रियकषाय, मनोविजय, समता, द्वादश अनुप्रेक्षा, चार भावना आदि विषयों का विशद विवेचन भी है। आसन, प्राणायाम आदि का विस्तृत वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणवायु द्वारा इष्ट-अनिष्ट, जीवन-मृत्यु आदि का ज्ञान, यंत्र, मंत्र, विद्या, लग्न, छाया, उपश्रुति आदि द्वारा काल-ज्ञान, नाड़ी-शुद्धि एवं परकाय प्रवेश विषयों की जानकारी भी प्रदान की है। इससे योगशास्त्र पर हठयोग एवं तन्त्रयोग का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। आ० हेमचन्द्र ने हठयोग की जटिल व भौतिक प्रक्रियाओं को आत्मचिन्तन की ओर मोड़कर जीवन को योग की प्रक्रियाओं से जोड़ दिया है।

इस योगशास्त्र का आ० शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव से बहुत साम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ० हेमचन्द्र ने आ० शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से प्रभावित होकर ज्ञानार्णव का ही संक्षिप्त, सरल व क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत कर दिया है। यह ग्रन्थ जिज्ञासु साधक के लिए अध्यात्म-ज्ञान का विश्वकोष और उच्चकोटि के साधक के लिए आत्म-साक्षात्कार का मार्गदर्शक है।

---

१. कलृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्वयाश्रयालंकारो प्रथितौ नयौ प्रकटितं श्रीयोगशास्त्रं नवम् ।
तर्कः सज्जनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः ।।
-- सोमप्रभसूरिकृत शतार्थकाव्य की टीका श्लो० ६३

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रशस्ति पद्य १६--१७

३. द्रष्टव्य : मोहराजपराजय, अंक ५

ई. उपाध्याय यशोविजय

जन्मकाल : दुर्भाग्य का विषय है कि अनेक संस्कृत कवियों की भाँति केवल यशः शरीर से अमर रहने वाले मूर्धन्य विद्वान् उपा० यशोविजय के सम्बन्ध में हमारी जानकारी नगण्य है। केवल उनकी कृतियों के अध्ययन, ऐतिहासिक वस्त्रपट, तथा प्रशस्तियों आदि के आधार पर उनके समय एवं जीवन के संबंध में अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ प्रमुख विद्वानों ने उनके समय के संबंध में मतभेद प्रकट किया है। उनके अनुसार यशोविजय का समय निम्नलिखित है –

१.	ई. १६०८–१६६८	एस. सी. विद्याभूषण[१]
२.	ई. १६२३–१६८८	डॉ. दयानन्द भार्गव[२]
३.	ई. १६२४–१६८८	आर. विलियम्स[३]
४.	ई. १६३८–१६८८	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश[४]
५.	१७ वीं शती का उत्तरार्ध या १८वीं का पूर्वार्ध	पं० सुखलाल संघवी[५]
६.	१८वीं शती	डा. हरिप्रसाद गजानन शुक्ल[६]

उपर्युक्त विवरण से उपा० यशोविजय के समय की उत्तरसीमा के संबंध में विद्वानों में मतैक्य दृष्टिकोण होता है। केवल पूर्वसीमा के सम्बन्ध में विद्वानों के पृथक्-पृथक् विचार मिलते हैं।

उपा० यशोविजय के समकालिक कान्तिविजय द्वारा रचित सुजसवेलीभास के अनुसार डभोई नामक गांव में वि० सं० १७४३ (ई० १६८६) में उनका स्वर्गवास हुआ था।[७] वहीं वि० सं० १७४५ (१६८८ई०) में प्रतिष्ठित की गई उनकी पादुका विद्यमान है। एक अन्य स्रोत के अनुसार उनका स्वर्गवास वि० सं० १७४५ (ई० १६८८) में हुआ, ऐसा ज्ञात होता है।[८] इसलिए उनके समय की उत्तरसीमा १७वीं शती का अन्तिम चरण ही सिद्ध होती है।

वि० सं० १६६३ (ई० १६०६) में यशोविजय जी के गुरु श्रीनयविजय जी द्वारा वस्त्रपट्ट का चित्र बनाया गया था जो आज तक संभाल कर रखा गया है। उसकी पुष्पिका के अन्त में लिखा है कि "नयविजय जी ने विजयदेवसूरी के समय में कर्णसागर नामक गाँव में रहकर सं० १६६३ (ई० १६०६) में अपने शिष्य जयविजय जी के लिए यह पट्ट लिखने का प्रयास किया है। पुष्पिका में श्रीनयविजय जी ने स्वयं को गणी एवं पंन्यास लिखा है। गणी व पंन्यास जैन श्रमण संघ में विशिष्ट पद माने जाते हैं। उक्त दोनों पद उन्होंने यशोविजय जी को दे दिये थे, ऐसा उल्लेख भी प्राप्त होता है।[९]

वस्त्रपट्ट से प्रमाणित होता है कि वि० सं० १६६३ (१६०६ ई०) में उपा० यशोविजय को "गणी" पद प्राप्त था। यह सामान्य नियम है कि दीक्षा के १० वर्ष पश्चात् गणी पद की प्राप्ति होती है।[१०] तदनुसार उनकी दीक्षा वि० सं० १६५३ (ई० १५६६) में हुई होगी। दीक्षा के समय उनकी आयु कम से कम आठ वर्ष की

---

१. S.C. Vidyabhushan , A History of India Logic, p. 217.
२. D. N. Bhargava, Jain Tarkabhasa, Introduction, p. 18
३. R. Williams, Jaina Yoga, p.16
४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० ३, पृ० ३७८
५. सुखलाल संघवी, जैनतर्कभाषा, प्रस्तावना, पृ० १
६. हरिप्राद गजानन शुक्ल, गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी साहित्य को देन
७. द्रष्टव्य : सुजसवेली भास, ढाल ४ पृ० ५
८. जैनस्तोत्रसन्दोह, प्रथम भाग, प्रस्तावना
९. जम्बूस्वामीरास, प्रस्तावना, पृ० ३
१०. वही

रही होगी, क्योंकि आठ वर्ष से कम आयु वाले को दीक्षा देने का नियम नहीं है। अतः उनके काल की पूर्वसीमा (ई० १५८८) सिद्ध होती है।

उपा० यशोविजिय के ग्रन्थों में उनके पूर्ववर्ती आ० हेमचन्द्र[1] (१२ वीं श०), धर्मभूषण[2] (१५ वीं श०), तथा दधीतिकार[3] (१६वीं श०) का उल्लेख मिलता है, इससे भी उनके उक्त काल में होने की पुष्टि होती है। इस प्रकार उपा० यशोविजय जी का जीवन काल सामान्यतः ई० १५९८ और ई० १६८८ के मध्य निर्धारित किया जा सकता है। इस संदर्भ में कुछ अन्य प्रमाण भी हैं –

१. जैन साहित्य में यशोविजय के समकालिक "आनन्दघन" नामक जैन कवि का उल्लेख हुआ है। कहा जाता है कि आनन्दघन के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर यशोविजय ने उनकी प्रशंसा में "आनन्दघन-अष्टपदी" नामक हिन्दी ग्रन्थ की रचना की। आनन्दघन का समय वि० सं० १६७० से १६८० तक (ई० १६१३–१६२३) माना जाता है।[4]

२. जैन ग्रन्थों में यशोविजय के समकालिक एक अन्य विद्वान् विनयविजय गणि का वर्णन भी मिलता है। दोनों में परस्पर घनिष्ट मित्रता थी। कहा जाता है कि दोनों विद्वानों ने काशी में विद्याभ्यास साथ-साथ किया था और वहीं रहते हुए उन्होंने एक ही रात में १२०० श्लोक प्रमाण का ग्रन्थ कण्ठस्थ किया था।[5] सं १७३८ (१६८१ ई०) में विनयविजय के द्वारा रांदेर गांव में चातुर्मास किए जाने की सूचना मिलती है।[6] कहा जाता है कि इस चातुर्मास में उन्होंने "श्रीपालराजनो रास" नामक ग्रन्थ की रचना का कार्य प्रारम्भ किया था, जिसे वे पूरा न कर सके, क्योंकि ग्रन्थ पूर्ण होने से पूर्व ही उनका देहावसान हो गया था। इससे पूर्व जब उनका स्वास्थ्य खराब रहने लगा तो उन्होंने यशोविजय को बुलाकर उक्त ग्रन्थ को पूरा करने का वचन ले लिया और यशोविजय ने इस वचन को निभाने के लिए ग्रन्थ के शेष भाग को शीघ्र ही पूरा कर दिया।[7] विनयविजय के उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध वर्णनशैली की भिन्नता से भी इस बात की पुष्टि होती है कि यह किसी एक ग्रन्थकार की रचना न होकर दो ग्रन्थकारों द्वारा रचित कृति है।

३. एक अन्य विवरण के अनुसार यशोविजय द्वारा मानविजयकृत "धर्मसंग्रह" ग्रंथ के परिवर्धन हेतु उस पर टिप्पण लिखे जाने की सूचना भी मिलती है।[8] कहा जाता है कि उपा० यशोविजय ने मानविजय के उक्त पद्यबद्ध ग्रंथ को गद्यबद्ध कर पाठकों के लिए सरल बनाया है। मानविजय ने उसकी रचना १६८१ ई० में की थी।[9] अतः स्पष्ट है कि उपा० यशोविजय जी १६८० ई० में विद्यमान थे।

---

१. इत्थं च चाज्ञाननिवर्तकत्वेन तर्कस्य प्रामाण्यं धर्मभूषणोक्तं सत्यमेव। – जैनतर्कभाषा, प्रमाण परिच्छेद, पृ० ११

२. यत्तुपृथक्त्वमन्योन्याभाव एव इत्यामिदधे दीधितिकृता तन्न। – स्याद्वादरहस्य, पृ० ४

३. वाचा श्रीहेमसूरोर्विवृत्तिमतिरसोल्लासभाजां तनोमि । – वही, पृ० ४

४. जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पाद टिप्पण, ५२७

५. (क) जैनस्तोत्रसन्दोह, प्रथम भाग, प्रस्तावना पृ० ६१
(ख) श्रीशांतसुधारस, विनयविजय गणि, प्रस्तावना, भावनगर वी० नि० सं० २४६२, पृ० ३२

६. संवत सतर अडत्रीसा वरषे, रही रांदेर चोमासें जी। – श्रीपालराजनोरास, सरलपुर, अहमदावाद, खंड ४, पद्य ६

७. शांतसुधारस, प्रस्तावना, पृ० ३२.

८. प्रणम्य विश्वेश्वरवीरदेवं, विश्वातिशायिप्रथितप्रभावम् ।
शास्त्रानुसृत्या किल धर्मसंग्रहं, सुखावबुद्ध्यै विवृणोमि लेशतः ।। – धर्मसंग्रह, पूर्व भाग, मानविजय, यशोविजयकृत टिप्पण, श्लो० १

९. (क) जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पाद टिप्पण ५२७
(ख) **In A.D. 1681 Mānavijaya wrote a Dharma Saṁgraha in Sanskrit verses apparently designed to serve us a vehicle for the comprehensive prose commentry of Yaśovijaya.**
— R. Williams, Jaina yoga, p. 18.

४. कहा जाता है कि वि० सं० १७१८ (१६६१ ई०) में यशोविजय ने अहमदाबाद में औरंगजेब के महाबतखाँ नामक गुजरात के सूबेदार के समक्ष १८ अवधान किये थे।[१] औरंगजेब का समय १६५८ ई० से १७०७ ई० के बीच माना जाता है।[२] अतः यशोविजय को भी इस समय होना चाहिये।

५. उपा० यशोविजय के कुछ ग्रन्थों की प्रशस्ति में अकबर (१५२६–१५०७ ई०) के समकालीन हीरविजयसूरि का उल्लेख मिलता है।[३] कहा जाता है कि अकबर ने वि०सं० १६४१ (ई० १५८४) में हीरविजयसूरि को जगद्गुरु की उपाधि से अलंकृत किया था।[४] जगद्गुरु आ० श्रीहीरविजयसूरि के पट्ट प्रभावक आ० श्री विजयसेनसूरि थे।[५] उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् आ० श्री विजयदेवसूरि उनके पट्ट पर आसीन हुए।[६] हीरविजय के जीवन, उनके धार्मिक कार्यों तथा अकबर बादशाह से उनका सम्पर्क आदि बातों का विस्तृत विवरण तपागच्छीय सिंह विमलगणि के शिष्य देवगणिकृत "हीरसौभाग्यम्" महाकाव्य में उपलब्ध होता है।[७] इस काव्य की रचना हीरविजयसूरि के समय में ही हो गई थी, परन्तु इसकी समाप्ति विजयदेवसूरि के पट्टासीन काल में ही हो सकी। इसलिए इस काव्य की रचना सं० १६७२ से १६८५ (ई० १६१५–१६२८) के बीच सम्पन्न हुई मानी जाती है।[८]

यशोविजयजी के गुरु नयविजयजी हीरविजयसूरि से तृतीय थे।[९] तदनुसार नयविजयजी अवश्य ही १६वें शती के उत्तरार्ध में हुए होंगे।[१०] यशोविजयजी का समय नयविजय जी से कुछ समय पश्चात् माना जा सकता है। उनकी दीक्षा विजयदेवसूरि द्वारा वि० सं० १६८८ (ई० १६३१) में सम्पन्न हुई थी। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उपा० यशोविजय १६वीं शती से पहले नहीं हुए, और १८वीं के प्रारम्भ में वे निश्चय से जीवित थे। इस प्रकार उनका जीवनकाल वि० सं० १६४५ से १७४५ (ई० १५९८–१६८८) तक माना जा सकता है।

जीवन परिचय

गुजरात प्रदेश में "कलोल" के निकट "कनोडु" नामक गांव में "नारायण" नामक एक जैन व्यापारी थे, जिनकी पत्नी सौभागदे ने दो पुत्ररत्नों को जन्म दिया, जिनमें से एक का नाम जसवन्त कुमार और दूसरे का पद्मसिंह था। जसवन्त की माता बड़े धार्मिक विचारों वाली थी और प्रतिदिन देवदर्शन के लिए मन्दिर जाया करती थी, तथा जसवन्त को भी साथ ले जाती थी। माता के संस्कारों के प्रभाव से छोटी आयु में ही बालक जसवन्त की धर्म के प्रति प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न हो गई। पूर्वकालीन संस्कारों के कारण उसकी बुद्धि तथा प्रतिभा कुछ अद्भुत थी।

---

१. इन्द्रचन्द्र शास्त्री, जैनतर्कभाषा, प्रस्तावना, पृ० २; सुजसवेलीभास, ढाल ३, पद्य ६.
२. **E. Lethbridge History of India, p. 129**
३. श्रीमदकब्बर सुरत्राणप्रदत्त जगद्गुरुविरुदधारकभट्टारक श्री हीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्य.....महोपाध्याय श्रीयशोविजयगणिना संदृब्धमिदम्। – अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणम्, ग्रन्थप्रशस्ति ।
४. गुणश्रेणीमणीसिन्धोः श्रीहीरविजयप्रभोः ।
जगद्गुरुरिदं तेन विरुदं प्रददे तदा ।। – हीरसौभाग्यम्, १४/२०५
५. श्रीसूरिहीरविजये भजति द्युलोकमभ्युद्गते विजयसेनगणावनीन्द्रे ।
प्रीतिं जना दधति शीतरुचौ प्रयाते, क्षेत्रान्तरं समुदितेऽंशुमतीव कोकाः ।। – वही, १७/२०८
६. तत्पट्टोदयभूधरभास्वान्श्रीविजयदेवसूरीन्द्रः।
भजते तपगणराज्यश्रियमुर्वीसार्वभौम इव ।। – वही, १७/२०६
७. ग्रन्थनिर्माणसमयस्तु वर्णनीयस्य हीरविजयगणेर्मरणस्य १६५२ विक्रमसंवत्सरे (१५९५ ई०) भाद्रपदशुक्लैकादश्यां वर्णितत्वेन षोडशशतकादुपरितन एव संभाव्यते। – वही, भूमिका, पं० शिवदत्तकाशीनाथ
८. श्रीमद्यशोविजयस्मृतिग्रन्थ, पृ० २१
९. जम्बूस्वामीरास, प्रस्तावना, पृ० २
१०. अकबर और जैनधर्म, पृ० ८–११

एक बार पं० नयविजयजी घूमते हुए पाटण के निकट कंणगेर नामक गांव में पहुँचे। वहाँ (उपाश्रय में) नयविजयजी जसवन्त कुमार के मुख पर तेजस्विता, विनय एवं विवेकपूर्ण व्यवहार, बुद्धिमत्ता, चातुर्य और धर्मानुराग को देखकर बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने जसवन्त में भविष्य के एक महान् रत्न का दर्शन किया।

गुरुजी ने संघ की उपस्थिति में जसवन्त को जैन शासन के चरणों में समर्पित करने की मांग की। पुत्र की योग्यता से प्रभावित होकर माता ने देश व धर्म के उज्ज्वल भविष्य की कामना से गुरुजी की आज्ञा को स्वीकार किया और अपने अति प्रिय बेटे को उत्साहपूर्वक शुभ मुहूर्त में गुरु नयविजयजी को समर्पित कर दिया। इस प्रकार जैनशासन के भावी नवरत्न का बीजारोपण हुआ।

छोटे से गांव में ऐसे योग्य बालक को दीक्षा देना कम महत्वपूर्ण न था। अतः जसवन्त कुमार की भागवती दीक्षा शुभमुहूर्त में "अणहिलपुर पाटन" नामक प्रसिद्ध शहर में बड़ी धूमधाम से हुई।

जैन श्रमण-परम्परा के नियमानुसार गृहस्थाश्रम का नाम बदल कर जसविजय (जो बाद में यशोविजय बन गया) और इनके भाई पद्मसिंह का नाम पद्मविजय रखा गया। इन दोनों का समस्त जनता ने उत्साहपूर्वक अभिनन्दन किया।

जैन मुनिचर्या के नियमानुसार साधक को पहले छोटी दीक्षा दी जाती है, बाद में बड़ी। अतः छोटी दीक्षा के पश्चात् इनकी पूर्व योग्यता की जाँच कर गुरु द्वारा उन्हें बड़ी दीक्षा दी गई। तदन्तर गुरु नयविजयजी और यशोविजयजी अहमदाबाद पहुँचे। वहाँ वि०सं० १६६६ में संघ के समक्ष जसविजय जी ने आठ अवधान किये। उनकी विलक्षण बुद्धि से प्रभावित होकर वहाँ के धनजी सुरा नामक प्रसिद्ध व्यापारी ने इन्हें उच्चशिक्षा प्राप्त करवाकर दूसरा हेमचन्द्र बनाने की इच्छा व्यक्त की। पं. नयविजय की आज्ञा से यशोविजय को अध्ययन के लिए काशी भेज दिया गया।[१] कहा जाता है कि उस व्यापारी ने इस कार्य के लिए दो हजार चांदी के दीनार दान में दिये थे।

गुरु नयविजयजी अपने शिष्य यशोविजय को लेकर सरस्वती धाम काशी आये।[२] वहाँ यशोविजय ने एक प्रसिद्ध विद्वान् श्री भट्टाचार्य (नाम अज्ञात) से तीन वर्ष तक न्यायशास्त्रों का अध्ययन किया। तीव्रस्मृति, अपूर्वग्रहणशक्ति व कण्ठस्थशक्ति के कारण व्याकरण, तर्क व न्याय आदि शास्त्रों की विविध शाखाओं में पारंगत हो गये और दर्शनशास्त्रों के गहन अध्ययन से उनकी प्रसिद्धि षड्दर्शनवेत्ता के रूप में हो गई। नव्यन्याय के तो वे बेजोड़ विद्वान बने ही, साथ ही शास्त्रार्थ तथा वादविवाद करने में भी उनकी प्रतिभा के समकक्ष कोई अन्य नहीं था।

कहा जाता है कि काशी में गंगातट पर रहकर यशोविजयजी ने "ऐंकार मन्त्र" द्वारा सरस्वती का जप किया।[३] परिणामस्वरूप माता शारदा ने प्रसन्न होकर ऐसा वरदान दिया, जिसके प्रभाव से यशोविजयजी काव्य और भाषा के क्षेत्र में कल्पवृक्ष के समान सफल सार्थक यशस्वी बन गये।[४] यशोविजय के ग्रन्थ की पहचान प्रारम्भ में प्रयुक्त "ऐं" पद से होती है।

एक बार काशी के राजदरबार में अनेक विद्वानों की उपस्थिति में एक अजैन विद्वान् के साथ किए गये शास्त्रार्थ में यशोविजयजी विजयी हुए। इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर काशी

---

१. द्रष्टव्य : श्रीमानविजयकृत धर्मसंग्रह, प्रशस्तिपद्य; द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका, प्रशस्तिपद्य

२. सर्त्तकर्कशधियाऽखिलदर्शनेषु मूर्धन्यतामधिगतास्तपागच्छधुर्याः ।
काश्यां विजित्य परयूथिकपर्षदोऽग्र्या, विस्तारितप्रवरजैनमतप्रभावाः ।। – धर्मसंग्रह, प्रशस्तिपद्य, १०

३. सारद सार दया करो, आपो वचन सुरंग।
तू तूठी मुज उपरिं, जाप करत उपगंग।। – जम्बूस्वामीरास, प्रथम अधिकार, पद्य ।

४. ऐंकारजापवरमाप्य कवित्ववित्तववांछासुरद्रुमपगंगमभंगरंगम् । – न्यायखण्डनखण्डखाद्य, पद्य १

के विद्वानों ने उन्हें "न्यायविशारद" की पदवी प्रदान की।[1] विद्या का पवित्र धाम काशी उस समय दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध था। काशी में उपा० यशोविजय का आना और फिर उस समय तक विकसित न्यायशास्त्र का विशेषकर नव्यन्याय का गहन अध्ययन करना, जैन परम्परा के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

काशी के पश्चात् उन्होंने आगरा में ४ वर्ष रहकर न्यायशास्त्र का विशेष अभ्यास एवं चिन्तन किया। आगरा से विहार करके वे गुजरात के अहमदाबाद नगर में पधारे। वहाँ श्रीसंघ ने इस दिग्गज विद्वान् का भव्य स्वागत किया। अहमदाबाद में ही वि०सं० १७१८ में औरंगजेब के महाबतखाँ नामक गुजरात के सूबेदार के समक्ष उन्होंने १८ अवधान किये। सूबेदार उनकी स्मृतिशक्ति पर मुग्ध हो गया। उनका भव्य स्वागत हुआ और सर्वत्र जैन शास्त्र का अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित हो गया। उनकी विद्वत्ता और कुशलता से प्रभावित होकर वि०सं० १७१८ में ही श्रीसंघ ने तत्कालीन तपागच्छीय श्रमणसंघ के अग्रणी श्री देवसूरि से यशोविजय को "उपाध्याय" पद प्रदान करने की प्रार्थना की। तब विजयदेवसूरि के शिष्य श्री विजयप्रभसूरि ने उन्हें वाचक "उपाध्याय" पद से विभूषित किया।[2] उनकी प्रखर प्रतिभा ने श्री हरिभद्रसूरि के ग्रन्थ रूपी समुद्र में अवगाहन करके जो ज्ञानामृत जिज्ञासुओं को प्रदान किया है, उसके कारण वे जैन मुनिवर्ग में "लघु हरिभद्र" के उपनाम से जाने जाते हैं। सौ ग्रन्थों की रचना करने पर उन्हें "न्यायाचार्य" की पदवी प्रदान की गई।[3]

इसके अतिरिक्त विद्वानों ने इनको कवि, कूर्चालीशारद तथा तार्किक आदि गौरवपूर्ण विरुदों से भी अलंकृत किया। शिष्य-परम्परा की दृष्टि से श्री उपाध्याय जी के ६ शिष्य थे। उपाध्याय जी ने अनेक स्थानों का विचरण किया, किन्तु प्रमुख रूप से वे गुजरात और राजस्थान में रहे, ऐसा उनके ग्रन्थों एवं स्तुतियों से ज्ञात होता है।

उपा० यशोविजय की यह विशेषता थी कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी[4] उन्होंने दिगम्बर ग्रन्थों का अध्ययन किया और उन पर टीकाएँ लिखीं। यही नहीं, उन्होंने जैनेतर ग्रन्थों पर भी विवरण लिखे। यह उनका अगाध पाण्डित्य ही है कि उन्होंने श्रुति, स्मृति, उपनिषदों आदि का अध्ययन करके अपने ग्रन्थों में अनेक श्रुतिगत वाक्य उद्धृत किये।[5] अपनी इस असाधारण प्रतिभा का श्रेय वे गुरुभक्ति का प्रभाव समझते हैं।[6] उपा० यशोविजय के संबंध में यह कहा जाता है कि उन्होंने अन्य जैन साधुओं के समान मन्दिरनिर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, संघनिर्माण आदि बहिर्मुखी धर्मकार्यों में अपना मनोयोग न लगाकर सारा जीवन मात्र शास्त्रचिन्तन तथा नव्यन्याय शैली के ग्रन्थों के निर्माण में लगाया।[7]

कृतित्व

संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी भाषा पर उनका समान अधिकार था। अतः उन्होंने

---

१. (क) पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः । – जैनतर्कभाषा, प्रशस्ति पद्य, सं० ४
(ख) यस्य न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः । – महावीर स्तुति, १०८
(ग) असौ जैनः काशीविबुधविजयप्राप्तविरुदो – न्यायखण्डनखण्डखाद्य, १०८

२. ओको तप आराधयुं विधि थकी तस फल करतलि कीध ।
वाचक पदवी सतर अढारमांजी श्रीविजयप्रभसूरि दीध ।। – सुजसवेलीभास, ढाल ३,पृ० १२

३. न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् । – जैनतर्कभाषा, प्रशस्ति पद्य सं० ४

४. सिताम्बर-शिरोमणिर्विदित-चारुचिन्तामणिर्विधाय हृदि रुच्यतामिह समानतन्त्रे नये । – अष्टसहस्त्रीतात्पर्यविवरण, पृ० १

५. (क) श्रुतिः श्रुतार्थापत्तिश्च एतदर्थे प्रमाणतामवगाहेते एव। – ज्ञानबिन्दुप्रकरण, पृ० २६
(ख) श्रुतिस्मृतिशतेभ्योऽज्ञानमेव च मोक्षव्यवधायकत्वेनावगतम्, – वही, पृ० ३०

६. अम्हारिसा वि मुक्खा, पंतीए पंडिआण पविसंति।
अण्णं गुरुभतीए किं विलसिअमब्भुअं इत्तो।। – गुरुतत्त्वविनिश्चय, १/६

७. सुखलाल, संघवी, जैनतर्कभाषा, प्रस्तावना, पृ० ३

इन सब भाषाओं में ग्रन्थ रचना की। कहा जाता है कि उन्होंने छोटे-बड़े लगभग ५०० ग्रन्थ लिखे। यद्यपि उनकी सभी कृतियाँ तो उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी जो उपलब्ध हैं, उनकी संख्या १०८ मानी जाती है।

उपा० यशोविजय भी हरिभद्र के समान विभिन्न भारतीय धर्म, दर्शन एवं योग-साधना की परम्पराओं के प्रबल पोषक थे। उनका अध्ययन व्यापक एवं वस्तुस्पर्शी था। इसलिए उनकी रचना-शक्ति भी अद्भुत एवं वेगवती थी। साहित्य की अनेक विधाओं पर उन्होंने अपनी लेखनी चलाई। उन्होंने लोककल्याण व आत्मकल्याण के लिए अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचना कर ज्ञान के क्षेत्र का विकास किया और अपने पाण्डित्य का अद्भुत परिचय दिया। १२वीं शती के गंगेश उपाध्याय द्वारा प्रवर्तित नव्यन्याय की शैली के अनुरूप अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। तार्किक, कवि व नैयायिक होने के साथ-साथ वे महान् योगी भी थे। उन्होंने जहाँ प्रमाण, प्रमेय, नय, तर्क, आचार, मुक्ति, योग, भक्ति आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ-रचना की, वहाँ काव्य, व्याकरण आदि को भी अछूता नहीं छोड़ा। उनकी रचनाएँ गद्य व पद्य दोनों में समान रूप से मिलती हैं। शैली की दृष्टि से उनके ग्रन्थ व्याख्या एवं वर्णनपरक अधिक मिलते हैं। इनकी कृतियों में खंडन-मंडन और समन्वय, तीनों का समावेश है। उनकी भाषा अलंकृत और प्रभावपूर्ण है। महाकाव्य दार्शनिक व नैयायिक चिंतन से भरपूर हैं तथा उनमें ज्योतिषशास्त्र,[१] शकुनशास्त्र[२], व आयुर्वेद[३] के कुछ प्रसंग भी हैं।

पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

उपाध्याय यशोविजय जी पर पूर्ववर्ती कवियों का पर्याप्त प्रभाव है। उनके ग्रन्थों में प्राचीन कवियों, नैयायिकों तथा दार्शनिकों आदि के मतों का उल्लेख इसका द्योतक है। महाकवि कालिदास, हर्ष और पण्डितराज जगन्नाथ के पदों की छाया भी इनके महाकाव्यों में मिलती है। धर्मभूषण की "न्यायदीपिका" के स्थलों का आनुपूर्वी के साथ प्रयोग भी "जैनतर्कभाषा" में हुआ है। उनके अध्यात्मविषयक ग्रन्थों में अपने मत की पुष्टि हेतु जैन आगमों, हरिभद्रसूरि कृत योगग्रन्थों, वैदिकग्रन्थों, विशेषकर गीता एवं पातञ्जलयोगसूत्र तथा बौद्धग्रन्थों के बहुशः उदाहरण प्राप्त होते हैं।

संक्षेप में उपा० यशोविजयजी अत्यन्त प्रतिष्ठित, तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति थे। इनकी विद्वत्ता एवम् पाण्डित्य को देखते हुए किसी विद्वान् ने इन्हें वर्तमान काल के "महावीर" के रूप में स्मरण किया है। आज भी श्रीसंघ में किसी भी बात पर विवाद उत्पन्न होने पर उपाध्याय जी द्वारा रचित शास्त्र अथवा टीका के वाक्य को अन्तिम प्रमाण माना जाता है।[४] इसीलिए समकालीन मुनिवरों ने इनको "श्रुतकेवली" इस विशेषण से संबोधित किया है।[५] जैन ग्रन्थावली के अनुसार उपा० यशोविजय द्वारा रचित ग्रन्थों की नामावली[६] इस प्रकार है –

१. अध्यात्मोपनिषद्
२. अध्यात्ममतदलन

---

१. लघुः पुराष्टाव(?) तिश्चरित्रं, स्थातुं च दत्तेऽनुजमप्यमुं यत् ।
सम्पश्यति भ्रातृगृहं न वक्र-क्रूरग्रहः किं मम चक्रदम्भात् ।। – आर्षभीयचरित्र महाकाव्यम्, ३/८५

२. वही, ४/१–१७

३. वही, ३/१६; स्याद्वादरहस्य, पृ० १६

४. यशोदोहन, पृ० ६–१२.

५. तर्कप्रमाणनयमुख्यविवेचनेन प्रोद्बोधितादिममुनिश्रुतकेवलित्वाः ।
चक्रुर्यशोविजयवाचकराजिमुख्या ग्रन्थेऽत्रमय्युपकृतिं परिशोधनाद्यैः ।। – धर्मसंग्रह, प्रशस्ति पद्य ११

६. जैनग्रन्थावली, पृ० १०३–१०८

३. अध्यात्मसार
४. अध्यात्ममतपरीक्षा (प्राकृत) एवं वृत्ति (स्वोपज्ञ)
५. उपदेशरहस्य (प्राकृत) एवं विवृति (स्वोपज्ञ)
६. कर्मप्रकृतिटीका
७. गुरुतत्त्वविनिश्चय (प्राकृत) एवं वृत्ति (स्वोपज्ञ)
८. ज्ञानबिन्दु (प्रकरण)
९. ज्ञानसार (अष्टक)
१०. जैनतर्कभाषा
११. देवधर्मपरीक्षा
१२. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)
१३. धर्मपरीक्षा (प्राकृत), (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)
१४. नयरहस्य
१५. नयोपदेश (स्वोपज्ञटीका सहित)
१६. न्यायालोक
१७. न्यायखण्डनखण्डखाद्यटीका
१८. प्रतिमाशतक (स्वोपज्ञटीका सहित)
१९. प्रतिमास्थापनन्याय
२०. भाषारहस्य (प्राकृत), (स्वोपज्ञटीका सहित)
२१. मार्गपरिशुद्धि
२२. यतिलक्षणसमुच्चय (प्राकृत)
२३. वैराग्यकल्पलता
२४. षोडशकवृत्ति
२५. सामाचारीप्रकरण (प्राकृत) (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)
२६. स्याद्वाद्कल्पलता (हरिभद्रकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय पर वृत्ति)
२७. स्तोत्रत्रय (शंखेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्र, गोडीपार्श्वनाथस्तोत्र, शमीनाभिधपार्श्वनाथस्तोत्र)
२८. स्तोत्रावलि

उपा० यशोविजय कृत कुछ अनुपलब्ध ग्रन्थ :

१. छन्दश्चूडामणिटीका
२. ज्ञानार्णव (स्वोपज्ञ टीका सहित)
३. त्रिसूत्र्यालोकविवरण
४. पातञ्जल-कैवल्यपाद वृत्ति
५. मंगलवाद
६. मार्गपरिशुद्धि (पूर्वार्ध)
७. प्रमारहस्य
८. विधिवाद
९. सिद्धान्त-तर्कपरिष्कार
१०. वादरहस्य

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ भी उपा० यशोविजयजी द्वारा रचित माने जाते हैं –

१. तत्त्वविवेक
२. स्याद्वादमंजूषा,
३. कूपदृष्टांतविशदीकरण (प्राकृत) (स्वोपज्ञ टीका सहित)

अध्यात्मसार (संस्कृत)

सात प्रबन्धों (प्रकरणों) एवं ३१ अधिकारों में विभक्त उक्त ग्रंथ में कुल ६४६ श्लोक हैं। विविध धर्मशास्त्रों में यत्र-तत्र बिखरे हुए अध्यात्म के सभी विषय इस कृति में उपलब्ध हैं।

प्रथम प्रबन्ध में अध्यात्म की प्रशंसा, अध्यात्म का स्वरूप, दंभत्याग एवं भवस्वरूप इन चार विषयों का सविस्तार वर्णन किया गया है। दूसरे में वैराग्य संभव, वैराग्य के भेद और वैराग्य सम्बन्धी आवश्यक विषयों का स्पष्ट रीति से वर्णन किया है। तीसरे में ममता का त्याग, ममता, सदनुष्ठान और मनःशुद्धि का स्वरूप बताया गया है। चौथे में सम्यक्त्व, मिथ्यात्वत्याग और कदाग्रहत्याग आदि विषयों का विवेचन है। पाचवें में योग, ध्यान और ध्यान-स्तुति वर्णित है। छठे में आत्मविनिश्चय का वर्णन है। सातवें प्रबन्ध में जिनमत-स्तुति तथा अनुभवी सज्जन-स्तुति की चर्चा है। जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस द्वारा प्रकाशित जैन ग्रन्थावली में मूलग्रन्थ का प्रमाण १३०० श्लोक बताया गया है।

अध्यात्मोपनिषद् (संस्कृत)

२३१ श्लोकों का यह ग्रन्थ चार अधिकारों में विभक्त हैं। इस में वैदिक, नैयायिक, सांख्य, मीमांसा, बौद्ध और जैनमत के समन्वयपूर्वक योगवाशिष्ठ तथा हरिभद्र के ग्रन्थों से उद्धरण लेकर स्वमत की पुष्टि की गई है।

शास्त्रयोगशुद्धि नामक प्रथम अधिकार में अध्यात्म का स्वरूप, अध्यात्म के अधिकारी, मिथ्याग्रही (तुच्छग्रही) जीवों की दशा, शास्त्र की सामर्थ्य, शास्त्र-परीक्षा की विधि, त्रिविध शुद्धि, एकान्तवादियों के मत का स्याद्वाद दृष्टिकोण से विवेचन, नयशुद्धि, श्रुतज्ञान, चिंताज्ञान और भावनाज्ञान का स्वरूप, धर्मवाद के अधिकारी आदि विषयों का स्पष्टीकरण, तथा बीच-बीच में अन्य आवश्यक प्रसंग भी सरस नीति से चर्चित हैं।

ज्ञानयोगशुद्धि नामक द्वितीय अधिकार में प्रातिभज्ञान, आत्मज्ञानी मुनि, सच्चा ज्ञानी, ज्ञानी पुरुष की निर्लेपता, चित्तशुद्धि के साधन, ज्ञानयोग का व्यावहारिक व नैयायिक दृष्टि से स्वरूप, इन छः विषयों की व्याख्या है।

तीसरे, क्रियायोगशुद्धि अधिकार में क्रिया की उपयोगिता जानने के प्रसंग में किस क्रिया से भावशुद्धि हो सकती है, इसका विवेचन है तथा यह भी बताया गया है कि ज्ञानी पुरुष भी कर्म का नाश करने के लिए क्रिया की साधना अवश्य करता है।

चतुर्थ साम्ययोगशुद्धि अधिकार में समता, गुणयुक्त जीव की स्थिति, समता के बिना सामायिक की असंभाव्यता, परमात्म-स्वरूप को जानने में समता का सहायक होना तथा समता से होने वाले लाभ की विस्तृत चर्चा है। इन विषयों की चर्चा में भरत, दमयंतऋषि, नमिराजऋषि, स्कन्दसूरि के शिष्य, मेतार्य, गजसुकुमाल, अर्णिकापुत्र, दृढ़प्रहारी, श्रीमरुदेव आदि के उदाहरण भी दिये गये हैं।

ज्ञानसार (संस्कृत)

यह एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है। उक्त ग्रन्थ ३२ अष्टकों में विभक्त है। इसमें कुल २५६

श्लोक हैं। आठ श्लोकों द्वारा रचित प्रत्येक अष्टक में आत्मा के पृथक्-पृथक् गुणों के वर्णनपूर्वक प्रत्येक श्लोक में ज्ञान, वैराग्य और अध्यात्म की एक अद्वितीय अमृतरसधारा बहती दिखाई देती है। ज्ञानसार में मुख्यतया षड्द्रव्यों में से जीव द्रव्य का विवेचन है। विभावदशा में फँसी हुई आत्मा किस प्रकार कष्ट का अनुभव करती है और स्वभावदशा में अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर किस प्रकार आनन्द का अनुभव करती है, इसका अतिसुन्दर वर्णन इसमें उपलब्ध होता है। यहाँ स्वानुभव एवं शास्त्राध्ययन के आधार पर योग और अध्यात्म दोनों ही दृष्टिकोणों से विषय का प्रतिपादन है।

यह ग्रन्थ उपाध्यायजी के ज्ञान-समुद्र के एक बिन्दु के समान है। लघुकाय होते हुए भी यह सिन्धु के समान ज्ञाननिधि का आगार है। ग्रंथ प्रशस्ति के अनुसार यह ग्रंथ न तो बालबोध के कारण अपनी ही लार को दूध समझकर चाटने जैसा सरल है और न ही नीरस। अपितु यह तो न्यायमाला रूपी अमृत का वह प्रवाह है जिसके आस्वादन से मोह की ज्वाला शांत होती है तथा बुद्धि विशाल बनती है। बुद्धि और ज्ञान दोनों को मुख्यता प्रदान करते हुए कहा गया है कि बुद्धि द्वारा वाद-प्रतिवाद तो किए जा सकते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान का अंत नहीं पाया जा सकता। अतः तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ग्रन्थकार ने ज्ञानसार के बार-बार वाचन, मनन और चिन्तनपूर्वक स्वाध्याय करने की आवश्यकता पर जोर दिया है। मन्तव्य मतान्तर होने पर भी श्रीमद्भगवद्गीता के समान इसे जैन व जैनेतर दोनों परम्पराओं में आदर प्राप्त है। इसमें जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों के समावेशपूर्वक वेदान्त, गीता और योगवाशिष्ठ में प्रयुक्त सच्चिदानन्द, पूर्णानन्द, चिन्मात्रविश्रान्ति, परब्रह्म धर्मसंन्यास, योगसंन्यास, निर्विकल्पत्याग, निर्गुणब्रह्म, असंगक्रिया आदि विषयों की सैद्धान्तिक चर्चा की गई है। संक्षेप में यह एक सार्वपार्षद ग्रन्थ है। इसे अक्षय सुख का दाता और भव-बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला भी कहा गया है।

द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (संस्कृत)

इस रचना में ग्रन्थकार ने दान, देशना, मार्ग, जिनमहत्व, भक्ति, साधु सामग्र्य, धर्मव्यवस्था, वाद, कथा, योग-लक्षण, पातञ्जल-योगलक्षणविचार, पूर्वसेवा, मुक्त्यद्वेषप्राधान्य, अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, ईशानुग्रहविचार, दैवपुरुषकार, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, मित्रा, तारादित्रय, कुतर्कग्रहनिवृत्ति, सद्दृष्टि, क्लेशहानोपाय, योगमाहात्म्य, भिक्षु, दीक्षा, विनय, केवलिभुक्तिव्यवस्थापन, मुक्ति, तथा सज्जनस्तुति आदि बत्तीस विषयों का यथार्थ स्वरूप बताकर उन्हें बत्तीस श्लोकों के विभागों में बांटा है। इसी कारण इसे "द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका" कहा गया है। इस कृति में मुख्य रूप से पातञ्जलयोगसूत्र एवं हरिभद्रसूरिकृत योगग्रन्थों की सरल व्याख्या होने से यह विशेष उपयोगी है।

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

सांख्य दर्शन पर आधृत एवं योगप्रक्रिया का सांगोपांग निरूपण करने वाले पातञ्जलयोगसूत्र पर सबसे प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण कृति व्यासभाष्य है। इसके आधार पर उपा० यशोविजय ने टिप्पण रूप लघु सूत्रवृत्ति की रचना की है। यह योगसूत्रवृत्ति पातञ्जलयोगसूत्र के समस्त सूत्रों पर न होकर केवल चुने हुए २७ सूत्रों पर ही जैन सिद्धान्तों के अनुसार उनमें परस्पर साम्य-वैषम्य दर्शाते हुए रची गई है। अपने मत की पुष्टि के लिए वृत्तिकार ने आचारांगसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, सिद्धसेन दिवाकरकृत द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका तथा हरिभद्रकृत योगबिन्दु एवं योगविंशिका के वाक्यों को भी उद्धृत किया है।

इस वृत्ति का विषय आचार न होकर तत्त्वज्ञान है। इसकी भाषा साधारण संस्कृत न होकर विशिष्ट संस्कृत अर्थात् नव्यन्याय एवं दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली है। इसमें राजयोग, कर्माशय, आत्मा तथा

मोक्ष विषयक सिद्धान्तों की भी विशद चर्चा है। आस्तिक दर्शनों के विपरीत इसमें अनुबन्ध चतुष्टय का प्रतिपादन नहीं है।

वृत्तिकार ने उक्त वृत्ति के प्रथम पाद में योग-लक्षण, चित्तवृत्तियों के भेद, योग के उपायभूत अपर और परवैराग्य, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग, भवप्रत्यय, ईश्वर का स्वरूप, मैत्री आदि चार भावनाओं, समापत्ति के चार भेदों, ऋतम्भरा प्रज्ञा का स्वरूप; द्वितीय पाद में तप, ईश्वर-प्रणिधान, अविद्यादि पांच क्लेशों, उनकी प्रसुप्त आदि चार अवस्थाओं, कर्म, कर्मविपाक तथा विपाक सम्बन्धी नियमों, सृष्टिसंहारक्रम, अंहिसादि पांच यमों, शौच, इन्द्रियों की परमावश्यता आदि का जैनमान्यतानुसार स्वरूप वर्णन किया है। तृतीय पाद में कैवल्य, विवेकख्याति और सर्वज्ञ सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तों का, तथा चतुर्थ पाद में वस्तु के प्रत्येक धर्म की भावि, भूत और वर्तमान अवस्थाओं की जैन परम्परानुकूल व्याख्या की है।

जैन दर्शन की भित्ति "स्याद्वाद" होने से सर्वत्र स्याद्वाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने का प्रयास दिखाई देता है। उपा० यशोविजय के उक्त ग्रथों में जो मध्यस्थता, गुणग्राहकता, सूक्ष्मसमन्वयशक्ति और स्पष्टवादिता दिखाई देती है, वह अन्य आचार्यों में अपेक्षाकृत कम मिलती है।

द्वितीय अध्याय

योग का स्वरूप एवं भेद

१. योग : व्युत्पत्ति एवं अर्थ

'योग' शब्द का सामान्य अर्थ है जोड़ना या एकत्र करना। संस्कृत में 'योग' की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से मानी गई है। पाणिनी के गणपाठ में युज् धातु तीन बार प्रयुक्त हुई है। तदनुसार रुधादिगण में पठित 'युज्' धातु का अर्थ है संयोग,[१] दिवादिगण में, उल्लिखित युज् धातु का अर्थ है समाधि,[२] और चुरादिगण में पठित 'युज्' धातु का अर्थ है संयमन[३]। इन तीनों अर्थों में वर्णित 'युज्' धातु में घञ् प्रत्यय जोड़ने से 'योग' शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

२. योग का स्वरूप

अ. पातञ्जलयोग-मत

पातञ्जलयोगसूत्र में योग की व्युत्पत्ति 'युज् समाधौ' से स्वीकृत है। भाष्यकार व्यास के अनुसार योग और समाधि पर्यायवाची हैं।[४] सूत्रकार पतञ्जलि ने भी सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार के योग के लिए 'समाधि' पद का प्रयोग किया है।[५] अन्य व्याख्याकारों ने भी पातञ्जलयोग में उल्लिखित 'योग' को समाध्यर्थक मानते हुए उक्त मत की पुष्टि की है।[६] तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पतिमिश्र[७] एवं हरिहरानन्द आरण्य[८] ने तो स्पष्ट शब्दों में 'योग' के संयोग अर्थ का निषेध किया है।

महर्षि पतञ्जलि को 'योग' शब्द से 'परमसमाधि' अर्थ अभिप्रेत है। परमसमाधि रूप योग की स्थिति चित्तवृत्तियों के पूर्णतः निरुद्ध होने के अनन्तर ही संभव होती है, इसलिए अन्य शब्दों में, 'चित्तवृत्तिनिरोध' को योग कहा गया है।[९] इस परिभाषा के अनुसार पूर्ण निरोध तभी संभव होता है, जब वृत्तियों के साथ-साथ उनके संस्कारों का भी निरोध हो जाए। इस दृष्टि से एकाग्रावस्था में होने वाले योग को 'सम्प्रज्ञात' तथा निरुद्धावस्था में होने वाले योग को 'असम्प्रज्ञात' कहकर 'योग' के दो भेद कर

---

१. 'युजिर् योगे', सिद्धान्त कौमुदी, धातुक्रमसंख्या, १४४४
२. 'युज् समाधौ', वही, धातुक्रमसंख्या, ११७७
३. 'युज् संयमने', वही, धातुक्रमसंख्या १८०७
४. योगः समाधिः .....। – व्यासभाष्य (पातञ्जलयोगदर्शन), पृ० २
५. (क) ताः एव सबीजः समाधिः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/३६
   (ख) तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। – वही, १/५१
६. (क) 'युज् समाधौ', अनुशिष्यते व्याख्यायते। – भोजवृत्ति(योगसूत्रम्), पृ० १
   (ख) युज् समाधावित्यनुशासनतः प्रसिद्धो योगः समाधिः। – योगवार्तिक(पातञ्जलयोगदर्शनम्), पृ० ६
   (ग) 'युज् समाधौ', इति धातोर्योगः समाधिः । – योगसुधाकर(योगसूत्रम्), पृ० ३
७. 'युज् समाधौ' इत्यस्माद् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो न तु 'युजिर् योगे'–इत्यस्मात्संयोगार्थ इत्यर्थः। – तत्त्ववैशारदी(पातञ्जलयोगदर्शनम्), पृ० ३
८. न च संयोगाद्यर्थकोऽयं योगः, 'युज् समाधौ' इतिशाब्दिकाः। – भास्वती (पातञ्जलयोगदर्शनम्), पृ० ६
९. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/२

दिये गये हैं।[1] भोजदेव ने उस अवस्था को सम्प्रज्ञातसमाधि कहा है, जिसमें संशय और विपर्यय से रहित ध्येय वस्तु का सम्यक् ज्ञान होता है।[2] किन्तु यह अवस्था असम्प्रज्ञात की अपेक्षा इसलिए निम्न मानी गई है, क्योंकि इसमें प्रकृति और पुरुष विषयक भेद की अनुभूति होती हैं और द्वैत बुद्धि बनी रहती है, जबकि असम्प्रज्ञातसमाधि में उसका भी निरोध हो जाता है। वहाँ किसी भी वस्तु का आलम्बन नहीं रहता और ध्याता, ध्यान व ध्येय तीनों एकाकार हो जाते हैं, सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है।[3] महर्षि पतञ्जलि ने 'चित्तवृत्तिनिरोध' इस लक्षण में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार की समाधियों का अन्तर्भाव किया है, जो लक्षण मात्र से स्पष्ट नहीं होता। वाचस्पतिमिश्र ने "क्लेशादिविरोधीचित्तवृत्तिनिरोध" कहकर उक्त योग-लक्षण में महत्त्वपूर्ण परिष्कार सूचित किया है।[4]

आ. जैनयोग-मत

जैन-परम्परानुसार 'योग' एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है – मन, वचन व काय की प्रवृत्ति।[5] इस प्रवृत्ति के पुरोवर्ती आत्मपरिणामों को भी 'योग' कहा जाता है।[6] उक्त द्विविध 'योग' के कारण ही कर्मों का आस्रव होता है[7] और यदि कषाय भी हों तो वह आस्रव 'बन्ध' रूप में परिणत होकर दृढ़ हो जाता है।[8] योग दो प्रकार का होता है – शुभयोग एवं अशुभयोग। शुभयोग से पुण्य, एवं अशुभ योग से पाप का 'आस्रव' होता है। यह दोनों प्रकार का योग कर्मबन्ध का कारण है।[9] यहाँ संयोगार्थक 'युजिर्' धातु का सांसारिक बन्धकारक अर्थ अभिप्रेत है। अतः मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग का निरोध (संवर) और पूर्वबद्धकर्मों का क्षय करना पड़ता है।[10]

जैनेतर परम्पराओं तथा प्राचीन भारतीय साहित्य में 'योग' पद अध्यात्म-साधना के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है, और वह प्रमुखतः समाधि तथा उसकी सिद्धि में सहायक विविध (यम, नियम) साधनाओं का सूचक है।

प्राचीन जैनागमों में प्रमुखतया 'योग' शब्द आस्रव के हेतुभूत मन-वचन-काय की प्रवृत्ति आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु साथ ही ध्यान, समाधि आदि विविध यौगिक साधनों के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है। सम्भवतः जैनेतर परम्पराओं के प्रभाव से ऐसा हुआ हो। जैन चूंकि समन्वयवादी थे, इसलिए उन्होंने अपने पारिभाषिक अर्थ के अतिरिक्त इतर परम्पराओं में प्रचलित अर्थ में भी 'योग' शब्द का प्रयोग किया है। अथवा योग-परम्परा में प्रचलित यम, नियम, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि भी एक

---

१. (क) योगो हि द्विविधः – सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। – भावागणेशवृत्ति,(योगसूत्रम्),पृ० ४
   (ख) द्विविधो योगः सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। – नागोजीभट्टवृत्ति,(योगसूत्रम्), पृ० ४
   (ग) तत्र योगो द्विविधः सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्चेति। – मणिप्रभावृत्ति,(योगसूत्रम्), पृ० २
   (घ) युज् समाधौ इति धातोर्योगः समाधिः; .... तत्र समाधिर्द्विविधः सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्चेति। – योगसुधाकर, पृ० ३
२. सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं सः सम्प्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः। – भोजवृत्ति, पृ० २०
३. सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः। – व्यासभाष्य, पृ० ३
४. क्लेशकर्माशयपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगत्वम्। – तत्त्ववैशारदी, पृ० १०
५. (क) तिविहे जोए पण्णत्ते तंजहा – मणजोए वइजोए, कायजोए। – स्थानांगसूत्र, ३/१/१२४
   (ख) कायवाङ्मनःकर्म योगः। – तत्त्वार्थसूत्र, ६/१
६. ध्यानशतक, हरिभद्रवृत्ति, गा० ३, पृ० ३; स्थानांगसूत्र,(स्थानांगसूत्रं समवायांगसूत्रं च), अभयदेववृत्ति, ३/१/१२४, पृ० ७१; प्राकृत पंचसंग्रह, १/५५
७. तत्त्वार्थसूत्र, ६/२
८. वही, ६/५
९. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः। – वही, ८/१
१०. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्, कृत्स्नकर्मक्षयमोक्षः । – वही, १०/२, ३

प्रकार से 'योग' (कायादि प्रवृत्तियाँ) ही हैं, इसलिए संभव है कि 'ध्यान' व 'समाधि' आदि को भी 'योग' के रूप में स्वीकृत कर लिया गया हो। उत्तराध्ययन में वर्णित 'जोग' (योग) शब्द संयम[1] तथा समाधि[2] अर्थ का सूचक है। सूत्रकृतांग में प्रयुक्त 'जोगवं' (योगवान्) के 'योग' पद का 'संयम' अर्थ है।[3] 'अज्झप्पयोग' (अध्यात्मयोग) शब्द धर्मध्यान के अर्थ में प्रयुक्त है।[4] स्थानांग में 'जोगवाहिता' (योगवाहिता) शब्द का उल्लेख हुआ है जिसका अर्थ टीकाकार अभयदेवसूरि के अनुसार 'समाधि की निरन्तरता' है।[5] आगमपरवर्ती जैनसाहित्य में भी ध्यान[6] एवं समाधि[7] अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग प्रचुरता से दृष्टिगोचर होता है। योग, समाधि, शुद्धोपयोग, सम्यक्प्रणिधान, ध्यान, चित्तैकाग्रता, चित्तनिरोध, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्तःसंलीनता– ये सभी शब्द एकार्थवाचक माने गये हैं,[8] जिससे यह ध्वनित होता है कि जैन-परम्परा में प्रयुक्त 'योग' शब्द समष्टि योग-साधना को व्यक्त करता था, जिसमें प्रत्याहार से समाधि तक के अंग समाहित थे क्योंकि ये योगसिद्धि (मोक्ष) के साक्षात् साधन हैं। यम, नियम, आसन, और प्राणायाम योगसिद्धि के साक्षात् साधन न होने के कारण बहिरंग साधन माने जाते हैं। परवर्ती जैन ग्रन्थों में योग शब्द संयोग (जुड़ने और जोड़ने) अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[9]

---

१. वहणे वहमाणस्स कंतारं अइवत्तई ।
जोगे वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई ।। – उत्तराध्ययनसूत्र, २७/२

२. (क) इह जीवियं अणियमेत्ता पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा अववज्जन्ति आसुरे काए ।। – वही, ८/१४
(ख) योगः समाधिः सोऽस्यास्ति इति योगवान् । – उत्तराध्ययनसूत्र, बृहद्वृत्ति, शान्त्याचार्य, पृ० ३४३

३. (क) जययं विहराहि जोगवं अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेइयं।। – सूत्रकृतांगसूत्र, (प्रथमश्रुतस्कन्ध) २/१/११
(ख) (जोगवं) योगवान् इति संयमयोगवान् गुप्तिसमितिगुप्तः इत्यर्थः .....। – सूत्रकृतांगसूत्र, शीलांक० टीका, (आचारांगसूत्रं सूत्रकृतांगसूत्रं च) २/१/११, पृ० ३८
(ग) योगो नाम संयम एव, योगो यस्यास्तीति स भवति योगवान्। – सूत्रकृतांगचूर्णि, २/१/११ पृ० ५४.

४. एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए विणीए णामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परिसहोवसग्गे अज्झप्पयोगसुद्धादाणे, उवट्ठिते ठितप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खुत्ति वुच्चे। – सूत्रकृतांगसूत्र, १६/३

५. (क) स्थानांगसूत्र, १०/३३, ३/८८ .
(ख) श्रुतोपधानकारित्वं समाधिस्थायिता वा तयेति। – स्थानांगसूत्र, अभयदेववृत्ति, १२०, पृ० ८०
(ग) श्रुतोपधानकारितया योगेन वा समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वलक्षणेन वहतीत्येवंशीलो योगवाही। – वही, ५१४, पृ० ३४३.

६. (क) योगो ध्यानम् । – आदिपुराण, ३८/१७६
(ख) शुभाशुभचिन्तानिरोधलक्षणपरमध्यानशब्दवाच्यं योगस्य। – समयसार, गा० ४/२७६, २७७ तात्पर्यवृत्ति।
(ग) साम्यमेव परं ध्यानम् .....। – ज्ञानार्णव, २२/१३

७. आदिपुराण, ३८/१८६; सर्वार्थसिद्धि, ६/१२/६३२, पृ० २४८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ६/१/१२, पृ० ५०५, ६/१२/८, पृ०५२२; तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ६/१२; समाधितन्त्रटीका, गा. १७; प्रवचनसार, गा० २/१०८ तात्पर्यवृत्ति ।

८. (क) योगो ध्यानं समाधिश्च, धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः।। – आदिपुराण, २१/१२
(ख) योगः समाधिः सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः। – सर्वार्थसिद्धि, ६/१२/६३२,पृ० २४८
(ग) साम्यं स्वास्थ्यं, समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ।। – पद्मनन्दि पंचविंशिका, ४/६
(घ) योगः चित्तैकाग्रनिरोधनम् ..... । – तत्त्वानुशासन, गा० ६१

९. (क) तपसा योजनं योगः। – जैनलक्षणावली, (भा.३), पृ० ६४६
(ख) युज्यते इति योगः । – आवश्यक चूर्णि, पृ० ६६३.
(ग) योजनं योगः सम्बन्धः इति यावत् । – तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७/१३/४, पृ० ५४०.
(घ) जोगो सम्बन्धो। – दशवैकालिकसूत्र ८/३ पर अगस्त्यसिंहकृत चूर्णि
(ङ) जोगं च समणधम्मम्मि, जुंजे अणलसो धुवं । – दशवैकालिक सूत्र, ८/४२
(च) विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्ह–कहिए तच्चेसु ।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ।। – नियमसार, १३६.

आ० हरिभद्र के अनुसार 'योग' शब्द उन समस्त व्यापारों का वाचक है, जिनसे आत्मा का परमात्मा से या मुक्ति से सम्बन्ध संभव होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनको 'योजयति इति योगः' अर्थात् जो सम्बन्ध कराने वाला होता है, वह योग है, यह व्युत्पत्ति स्वीकार्य थी।

हरिभद्र के योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका एवं योगशतक नामक योगविषयक ग्रन्थों में योग को मोक्ष से योजन (संयोग) कराने वाला कहा गया है।[१] उनके मत में योग वही है जो मोक्ष से जोड़ता है और इसप्रकार मोक्ष का हेतु है।[२] मोक्ष की प्राप्ति हेतु जिन-जन साधनों का अभ्यास किया जाता है, वे सब योग की श्रेणी में परिगणनीय हैं। मोक्ष का प्रमुख कारण जैन आगमोक्त रत्नत्रय की साधना है। रत्नत्रय में तीन आवश्यक बातें समाविष्ट हैं – १. सम्यग्दर्शन (समीचीन श्रद्धा) २. सम्यग्ज्ञान और ३. सम्यक्चारित्र।[३] इस रत्नत्रय की सहायक अनेक अवान्तर क्रियायें हैं। अतः रत्नत्रय और उनकी सहायक सभी धार्मिक क्रियाओं की 'योग' संज्ञा हो जाती है। यही कारण है कि आ० हरिभद्र ने उन सभी धर्म-व्यापारों को 'योग' कहा है, जो आत्मा को मोक्ष से जोड़ते हैं अर्थात् मोक्ष की ओर ले जाते हैं।[४] मोक्ष की विपरीत दिशा में ले जाने वाला या दूसरे शब्दों में कर्मबंधन से जोड़ने वाला, कोई भी व्यापार 'योग' नहीं हो सकता।[५]

आ० शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' में मोक्षप्राप्ति के साधन रूप में ध्यान को अधिक प्रमुखता प्रदान करते हुए 'योग' का ध्यान के रूप में आकलन किया है।[६] उन्होंने रत्नत्रय को साक्षात् मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार करते हुए,[७] परमात्मस्वरूप को प्रकाशित करने वाली अध्यात्म-प्रवृत्ति को योग बतलाया है।[८] इस प्रकार वे आ० हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित सत्कर्मों की महत्ता का तो समर्थन करते हैं, परन्तु उन्होंने ध्यान को अपेक्षाकृत अधिक महत्ता प्रदान की है।

---

१. (क) मोक्षेण योजनात् योगः । – योगबिन्दु, ३३
(ख) योजनाद् योगः इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः । – वही, २०१.
(ग) मुक्खेण जोयणाओ जोगो । – योगविंशिका, १
(घ) मोक्षयोजनभावेन.....। – योगदृष्टिसमुच्चय, ११
(ङ) मोक्खेण जोयणाओ णिद्दिट्ठो जोगिनाहेहिं। – योगशतक, २
(च) एवं च तत्त्वसंसिद्धेर्योग एव निबन्धनम्। – योगबिन्दु, ६४
(छ) एतच्च योगहेतुत्वाद् योगः इत्युचितं वचः। – वही, २०६

२. योगबिन्दु, ३, ४

३. (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । – तत्त्वार्थसूत्र, १/१
(ख) नाणं व दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।। – उत्तराध्ययनसूत्र, २८/२
(ग) उत्तराध्ययनसूत्र, २८/३५

४. मुक्खेण जोयणाओ जोगो, सव्वोवि धम्मवावारो ।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं ।। – योगविंशिका, १

५. नियमसार, १३७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ६/१२ पृ० ५०५; तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धसेनवृत्ति, ६/१३; मूलाचार, वसुनन्दि टीका, ७/१७; उत्तराध्ययनसूत्र बृहद्वृत्ति, ११/१४

६. मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानजःस्मृतः ।
ध्यानबीजं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः।। – ज्ञानार्णव, ३/१३

७. जन्मज्वरसमुद्भूतमहामूर्च्छार्तचक्षुषा ।
रत्नत्रयमयः साक्षान्मोक्षमार्गो न वीक्षितः ।। – वही, २८/६

८. (क) बाह्यात्मानमपास्यैवान्तरात्मानं ततस्त्यजेत् ।
प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः ।। – वही, २६/२४
(ख) एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ।। – समाधितन्त्र, १७
(ग) तुलना – ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। – गीता, १३/२४

आ० हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' में मोक्ष को मुख्य पुरुषार्थ मानते हुए उसे योग का कारण बताया है और उसकी प्राप्ति के साधन को 'रत्नत्रय' के नाम से अभिहित किया है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप है[१] और मोक्ष का प्रमुख साधन है। रत्नत्रय वास्तव में स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र – ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप हैं, स्वाभाविक गुण हैं।[२] इस दृष्टि से आत्मा का आत्मा से योग (सम्बन्ध) ही 'योग' है।[३] इसीलिए यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि मोह का क्षय कर योगी को जो आत्मदर्शन, आत्मज्ञान तथा शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव होता है, वही उसका सम्यक् चारित्र है, वही उसका सम्यक् ज्ञान है, और वही उसका सम्यक् दर्शन है।[४] इस प्रकार आ० हेमचन्द्र ने भी योग के संयोगार्थक 'योग' शब्द को ही स्वीकार किया है।

उपा० यशोविजय ने अपने ज्ञानसार अष्टक, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति आदि योगपरक ग्रन्थों में हरिभद्रसूरि का ही अनुकरण किया है। उनके मत में भी 'योग' नाम की सार्थकता उसकी मोक्षयोजकता में ही निहित है। उन्होंने भी मोक्ष के हेतुभूत समस्त आचार-व्यवहार को 'योग' की संज्ञा दी है।[५]

उपर्युक्त योग-लक्षण को अधिक व्यापक रूप में प्रयुक्त करते हुए समिति, गुप्ति आदि आचारों को भी 'योग' की श्रेणी में अन्तर्भूत किया है।[६] जैन-परम्परा में जिन आचार-व्यवहारों के पालन पर अधिक जोर दिया गया है, उनमें लीन साधक के चारित्रिक विकास व संयम की सिद्धि हेतु पांच समितियों का तथा अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति के लिए तीन गुप्तियों का विधान किया गया है।[७] समिति में शुभ प्रवृत्ति प्रधान है, गुप्ति में मन की एकाग्रता और निरोध मुख्य है। इसप्रकार समिति और गुप्ति संयम की वृद्धि और चेतना की शुद्धि कराने वाले व्यापार हैं और योग भी आत्मा को उसकी शुद्ध स्वरूपावस्था को प्राप्त कराने वाला मार्ग है। अतः समिति-गुप्ति रूप योग से आत्मा को सिद्धावस्था प्राप्त होती है। यही नहीं, उपा० यशोविजय ने पतञ्जलि के योग-लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' में 'क्लिष्ट'[८] पद का अध्याहार करके योग-लक्षण का

---

१. चतुवर्गेऽग्रणीर्मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ।। – योगशास्त्र, १/१५

२. (क) आत्मैव दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यथवा यतेः । – वही, ४/१.
(ख) दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।। – समयसार, १/१६

३. (क) मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विरह णिच्चं मा विरहरसु अण्णदव्वेसु ।। – वही, १०/४१२
(ख) योजयत्यात्मनात्मानं स्वयं जन्मापवर्गयोः । – ज्ञानार्णव, २६/८१

४. (क) आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद्य आत्मनि ।
तदेव तस्य चारित्रं तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ।। – योगशास्त्र, ४/२
(ख) आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुनेः ।। – ज्ञानसार, १३/२
(ग) जानाति यः स्वयं स्वस्मिन् स्वरूपरूपं गतभ्रमः ।
तदेव तस्य विज्ञानं तद्वृत्तं तच्च दर्शनम् ।। – ज्ञानार्णव, १८/२७

५. (क) मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १०/१
(ख) मोक्षेण योजनाद् योगः सर्वेऽप्याचार इष्यते ।। – ज्ञानसार, २७/१

६. (क) यतः समितिगुप्तीणां प्रपंचो योग उत्तमः । – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/३०
(ख) समितिगुप्तिसाधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम् । – पातञ्जलयोगसूत्र १/२ पर यशोविजयवृत्ति

७. इनका विस्तृत वर्णन 'योग और आचार' नामक अध्याय में देखें।

८. सर्वशब्दाग्रहणेऽप्यर्थात्तल्लाभादव्याप्तिः संप्रज्ञात इति "क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधः योगः" इति लक्षणं सम्यग्.....।
–पातञ्जलयोगसूत्र १/२ पर यशोविजयवृत्ति

परिष्कार भी किया है। उनका यह योग-लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोषों से रहित है और वाचस्पति मिश्र के योग-लक्षण[1] से साम्य रखता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आ० हरिभद्रादि जैनाचार्यों तथा योगसूत्रकार पतञ्जलि दोनों को 'योग' अध्यात्म अर्थ में अभीष्ट है। महर्षि पतञ्जलि ने कहीं भी स्पष्टः न तो संयोगार्थक योग का निषेध किया है और न ही समाध्यर्थक योग को ग्रहण किया है। परन्तु उनके योगलक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' से व्यास आदि सभी व्याख्याकारों ने समाध्यर्थक योग को ही स्वीकार किया है। जैनाचार्यों ने 'युजिर् योगे' से योग की व्युत्पत्ति मानकर संयोगार्थक योग शब्द को स्वीकार किया है, जबकि पातञ्जलयोगसूत्रकार एवं उसके व्याख्याकारों ने 'युजिर् योगे' की अपेक्षा 'युज् समाधौ' से योग की निष्पन्नता मानी है। अतः सामान्यतः आलोचकों की दृष्टि में जैनाचार्यों और पातञ्जलयोगसूत्र के व्याख्याताओं की दृष्टि में अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'समाध्यर्थक योग' साध्य का और 'संयोगार्थक योग' साधन का द्योतक है। जबकि योगसूत्र का समग्रतः अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि पतञ्जलि को 'योग' शब्द से साधन एवं साध्य दोनों ग्राह्य थे। यम, नियम आदि आठ योगांगों में समाधि (चरम अवस्था) जहाँ साध्य है, वहाँ समाधि के पूर्ववर्ती यम, नियम आदि तथा तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग साधन हैं। इस विवेचन के द्वारा पतञ्जलि यह संकेतित करना चाहते हैं कि अष्टांगयोग एवं क्रियायोग योग (साध्य) भी हैं और योग के साधन भी। इस प्रकार योगसूत्रकार 'योग' शब्द को साधन एवं साध्य दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं।

जैनाचार्यों की व्यापक/समन्वितदृष्टि

आ० हरिभद्र आदि जैनाचार्यों ने संयोगार्थक युज् धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द को ही प्रयुक्त किया है और परमात्मतत्त्व की प्राप्ति में जो भी साधन हैं, उन सबका ग्रहण उन्हें 'योग' शब्द से अभिप्रेत है। अतः उनके द्वारा व्यवहृत 'योग' शब्द में समाधि अर्थ भी स्वतः ही समाहित हो जाता है। आ० हरिभद्र द्वारा वर्णित उक्त 'योग-लक्षण' ही अन्य परवर्ती जैनाचार्यों के लिए स्वीकार्य है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि आ० हरिभद्र के समय में योग की कई साधन प्रणालियाँ प्रचलित थीं, इसलिए आ० हरिभद्र को योग के साधन पक्ष पर अधिक जोर देना अभीष्ट था। इसके अतिरिक्त योग-याज्ञवल्क्य,[2] योगशिखोपनिषद्[3] तथा हठयोग के प्रतिपादक अन्य ग्रन्थों में भी योग के संयोग को स्वीकार करके उसके साधन पक्ष को सूचित किया गया है। अतः यह भी संभव है कि हरिभद्रसूरि पर उनका भी प्रभाव पड़ा हो और उन्होंने 'हठयोग' के संयोग अर्थ (साधन-पक्ष) तथा पतञ्जलि के समाधि अर्थ (साध्य-पक्ष) दोनों को अपने 'मोक्ष-प्रापक-धर्मव्यापार' में समन्वित करने की दृष्टि से योग का व्यापक लक्षण प्रस्तुत किया हो।

आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र हठयोग एवं तन्त्रयोग से विशेष रूप से प्रभावित थे। उन्होंने भी साधन-पक्ष पर जोर देकर योग के संयोग-अर्थ को ही स्वीकार किया है। परन्तु जैनाचार्य होने के कारण उन्होंने जैनधर्म में प्रतिपादित रत्नत्रय एवं ध्यान-साधना पर अधिक बल दिया है।

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्था चित्तवृत्तिनिरोधः। –तत्त्ववैशारदी पृ० १०

२. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्म-परमात्मनोः। – योगयाज्ञवल्कय, २/४४

३. योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजो रेतसोस्तथा ।
सूर्याचन्द्रसमोर्योगो जीवात्म-परमात्मनोः ।।
एवन्तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते ।। – योगशिखोपनिषद् (उपनिषत्संग्रह), १/६८

योग के व्यापक लक्षण को प्रस्तुत करने में आ० हरिभद्र की समन्वय व उदार दृष्टि की प्रमुख भूमिका रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।[१] उपा० यशोविजय ने भी आ० हरिभद्र का अनुसरण करते हुए अपनी माध्यस्थ्य वृत्ति का परिचय दिया है।[२]

जैनधर्म निवृत्ति प्रधान है, इसलिए जैनागमों में आध्यात्मिक साधना के सन्दर्भ में 'योग' की अपेक्षा 'संवर' शब्द प्रयुक्त है। जैन परिभाषानुसार मन, वचन काय की प्रवृत्ति रूप 'योग' जिसे आस्रव कहा जाता है,[३] का निरोध 'संवर' है।[४] यह 'संवर' पतञ्जलि के 'चित्तवृत्तिनिरोध' रूप योग के समकक्ष है। आ० हरिभद्र ने जैनागमों की निवृत्तिमार्गी परम्परा को ध्यान में रखते हुए मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योग के अभाव अर्थात् 'अयोग' को सब योगों में श्रेष्ठ तथा मोक्ष-योजक बताया है। उनके अनुसार सर्वसंन्यास (मन, वचन, काय की समस्त वृत्तियों का त्याग) इसका लक्षण है।[५] आ० हरिभद्र ने पातञ्जलयोग में प्रतिपादित चित्तवृत्तिनिरोध तथा जैन-परम्परा द्वारा समर्थित 'अयोग' व 'सर्वसंन्यास' रूप योग दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग में 'सम्प्रज्ञातयोग' और 'असम्प्रज्ञातयोग' दोनों समाहित हैं। असम्प्रज्ञातयोग में सर्ववृत्तिनिरोध हो जाता है। हरिभद्र के 'सर्वसंन्यासयोग' से भी यही अर्थ अभिप्रेत है। 'योग', श्रेय की सिद्धि का दीर्घतम धर्मव्यापार है। इसके दो अंश हैं – निषेधात्मक और विधेयात्मक। क्लेशों का निवारण, निषेधात्मक अंश को सूचित करता है और इससे प्रकट होने वाली शुद्धि के कारण चित्त का कुशल मार्ग में ही प्रवृत्ति करना विधेयात्मक अंश को द्योतित करता है। पातञ्जलयोगसूत्र में चित्तवृत्तियों के निरोध[६] को योग कहकर निषेधात्मक अंश की ओर निर्देश किया गया है। जबकि बौद्ध-परम्परा में 'कुशलचित्त की एकाग्रता या उपसंपदा'[७] जैसे शब्दों के द्वारा कुशलप्रवृत्ति को योग मानकर विधेयात्मक अंश पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः दोनों पहलू एक ही साध्य की सिद्धि के उपाय हैं। सम्भवतः यही भाव सूचित करने के लिए हरिभद्र ने पातञ्जल और बौद्ध-परम्परा द्वारा मान्य दोनों लक्षणों का उल्लेख किया है, और अन्त में दोनों पहलुओं को अपने में समेटने की दृष्टि से सभी धर्म-व्यापारों को योग कहकर[८] जनसम्मत लक्षण में उपरोक्त दोनों लक्षणों को समाविष्ट किया है।[९]

आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने भी आ० हरिभद्र के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए जैन-परम्परा सम्मत रत्नत्रय को धर्म-व्यापार के रूप में स्वीकार किया है। रत्नत्रय में सभी धार्मिक व्यापार समाविष्ट होते हैं।

---

१. (क) आगमेन च युक्त्या च योऽर्थः समभिगम्यते ।
परीक्ष्य हेमवद् ग्राह्यः पक्षपाताग्रहेण किम् ।। – लोकतत्त्वनिर्णय, १८
(ख) पक्षपातो न मे वीरो न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।। – वही, ३८

२. स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम् ।
न श्रेयामस्त्यजामो वा, किन्तु माध्यस्थयादृशा ।। – ज्ञानसार, १६/७

३. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१,२

४. वही, ६/१

५. अतस्त्वयोगो योगानां योगः पर उदाहृतः ।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ११

६. पातञ्जलयोगसूत्र, १/२

७. सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा ।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ।। – धम्मपद, १४/५

८. योगविंशिका, १; योगदृष्टिसमुच्चय, ११; योगबिन्दु, ३१; योगशतक, २, ४

९. तल्लक्षणजोगाओ चित्तवित्तीनिरोहओ चेव ।
तह कुसलपवित्तीए मोक्खम्मि य जोअणाओ त्ति ।। – योगशतक, २२.

उपा० यशोविजय एक महान् तार्किक विद्वान् थे। अतः उन्होंने स्वसिद्धान्त-सम्मत योग-लक्षण का तो समर्थन किया ही, साथ ही पातञ्जलयोगसूत्र के योग-लक्षण पर भी अपनी तार्किक दृष्टि डाली तथा उस पर समुचित उहापोह किया। अपने 'द्वात्रिंशिद्द्वात्रिंशिका' नामक ग्रन्थ में उन्होंने पतञ्जलि के योग-लक्षण पर विचार करते हुए उसमें कई दोष दिखलाये हैं। योगदर्शन सांख्यमतानुरूप पुरुष को कूटस्थ नित्य मानता है, कूटस्थ नित्य पुरुष में निरोध रूप परिणमन कैसे सम्भव हो सकता है ? उपा० यशोविजय ने इस पर ध्यान आकृष्ट किया है।[१]

संक्षेप में जैनाचार्यों द्वारा मान्य योग-लक्षण जैनेतर परम्पराओं के योग-लक्षणों से भिन्न प्रतीत होते हुए भी सूक्ष्मदृष्टि से ऐक्य के परिलक्षक हैं। हरिभद्रसूरि ने तो अपने सभी ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह निर्देश किया हैं कि सभी शास्त्रों में भिन्न अर्थों में ग्रथित लक्षण तत्त्वतः एक ही लक्ष्य का प्रतिपादन करते हैं।[२]

३. योग के भेद

अ. पातञ्जलयोग-मत

योग, समाधि का पर्यायवाची शब्द है। योग (समाधि) सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से दो प्रकार का होता है।[३] सम्प्रज्ञातसमाधि में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता जबकि असम्प्रज्ञातसमाधि में समस्त चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। परिणामस्वरूप योगी को आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। ध्यातव्य है कि आत्म-साक्षात्कार का महत्वपूर्ण कार्य सम्प्रज्ञातसमाधि में ही प्रारम्भ हो जाता है और इस समाधि का कार्य निष्पन्न होने के पश्चात्, उसमें भी वैराग्य होने से साधक असंप्रज्ञातसमाधि को प्राप्त कर लेते हैं। संप्रज्ञात को सबीजसमाधि और असंप्रज्ञात को निर्बीजसमाधि भी कहते हैं। इसप्रकार पतञ्जलि के मत में दोनों प्रकार की समाधि 'योग' हैं।

(क) सम्प्रज्ञातयोग

सम्प्रज्ञातयोग (समाधि) चित्त की वह अवस्था है जिसमें राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से सात्त्विक वृत्ति का प्राधान्य रहता है। सत्त्वगुणप्रधान चित्त किसी विषय विशेष के साथ एकाकार वृत्ति धारण कर लेता है।[४] परिणामस्वरूप चित्त स्वच्छ एवम् निर्मल हो जाता है। निर्मल एवं स्वच्छ चित्त से साधक को ध्येय विषय का संशय एवं विपर्यय से रहित यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। जिस भावना विशेष से इस यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे ही सम्प्रज्ञातसमाधि (योग) कहते हैं।[५] यहाँ सम्प्रज्ञात शब्द ही यह संकेत करता है कि इसमें ध्येय पदार्थ का साक्षात्कार सम्यक्रूप से होता है।[६] इस अवस्था में

---

१. द्रष्टव्य : द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, ११वां अध्ययन

२. (क) अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपण समुद्धृतः ।
दृष्टिभेदेन योगोऽयमात्मानुस्मृतये परः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २०७.
(ख) सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ।। – योगबिन्दु, २

३. भावागणेशवृत्ति, पृ० ४; मणिप्रभावृत्ति, पृ० २; नागेशभट्टवृत्ति पृ० ४; योगसुधाकर, पृ० ३

४. एकाग्रे तु सत्त्वप्रधाने एकविषयस्थिते चित्ते रजस्तमोवृत्तिनिरोधः सात्विकवृत्तिविशेषसम्प्रज्ञातयोगो भवति।
– मणिप्रभावृत्ति, पृ० २

५. सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं सः संप्रज्ञातः समाधिभावना विशेषः।–भोजवृत्ति, पृ० १०

६. (क) सम्यक्प्रज्ञावत्त्वेन योगः सम्प्रज्ञातनामा भवति । – योगवार्त्तिक, पृ० ५५
(ख) सम्यक्संशयविपर्ययराहित्येन प्रज्ञाते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्वरूपं येन स सम्प्रज्ञातसमाधिः भावनाविशेषः।
– नागेशभट्टवृत्ति, पृ० २१
(ग) सम्यक्प्रज्ञायते येन भाव्यं वस्तु स सम्प्रज्ञातः समाधि – भावनाविशेषः। – योगसुधाकर, पृ० २३

इस अवस्था में होने वाले ज्ञान को ऋतंभराप्रज्ञा भी कहते हैं[1] क्योंकि इस अवस्था में साधक को सत्य का ज्ञान होता है।[2] इसमें विषय के साक्षात्कार का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है। स्थूलादि तत्त्वों के साक्षात्कार का क्रम निश्चित होने से संप्रज्ञातयोग कई अवस्थाओं में विभक्त हो जाता है।

सम्प्रज्ञातयोग के भेद

सम्प्रज्ञातयोग की चार अवस्थाएँ हैं – वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता। तदनुसार सम्प्रज्ञातयोग (समाधि) के चार भेद स्वीकार किये गये हैं – वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातयोग (समाधि), विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग (समाधि), आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग (समाधि) तथा अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातयोग (समाधि)।[3]

१. वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातयोग

स्थूल आलम्बन में चित्त को केन्द्रित करना वितर्कानुगतयोग है। वितकार्नुगतयोग में स्थूल पदार्थ विषयक प्रज्ञा (समापत्ति) उत्पन्न होती है, जो विकल्प से अनुविद्ध एवं अननुविद्ध होने के कारण दो प्रकार की होती है – सवितर्क एवं निर्वितर्क।

(क) सवितर्कसम्प्रज्ञातयोग

सम्प्रज्ञातयोग की सवितर्क अवस्था का प्रारम्भ शब्दमय चिन्तन से होता है। इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान रूप भिन्न-भिन्न पदार्थों की अनुविद्ध संकीर्ण अर्थात् अभेद रूप से प्रतीति होती है।[4] समाधि के विषयभूत ग्राह्य स्थूल पदार्थों में शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से अनुविद्ध (संयुक्त) समापत्ति को सवितर्कसम्प्रज्ञातयोग कहते हैं।[5]

(ख) निर्वितर्कसम्प्रज्ञातयोग

सवितर्कसम्प्रज्ञातयोग का निरन्तर अभ्यास करने से निर्वितर्कसम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है। जब शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों का अभाव हो जाता है, तब उस अवस्था को निर्वितर्कसम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में, 'स्मृति के परिशुद्ध हो जाने पर जब साधक को अपने स्वरूप के ज्ञान का अभाव सा होकर केवल अर्थ मात्र की ही प्रतीत होती है, तब उसे निर्वितर्कसम्प्रज्ञातयोग कहा जाता है।'[6]

२. विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग (समाधि)

विचार का अर्थ है –'सूक्ष्म'।[7] अतः विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग सूक्ष्मपदार्थ विषयक होता है। अर्थात् इस योग में सूक्ष्म पदार्थों का अपरोक्ष रूप में ज्ञान होता है। जिसप्रकार स्थूल ध्येय विषयक योग के दो भेद हैं, उसीप्रकार सूक्ष्म ध्येय विषयक (विचारानुगतसम्प्रज्ञात) योग भी देशकाल तथा निमित्त से अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न ज्ञान होने के कारण सविचार और निर्विचार भेद से दो प्रकार का कहा गया है।[8] सूक्ष्म पदार्थों

---

१. पातञ्जलयोगसूत्र, १/४८
२. व्यासभाष्य, पृ० १५०
३. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१७
४. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। – वही, १/४२
५. तत्र शब्दज्ञानाभ्यासभेदेन विकल्पिते स्थूले गवाद्यर्थे समाहितचित्तस्य योगिनः समाधिजन्यसाक्षात्कारो यथा कल्पितार्थमेव गृह्णाति तथा सा समाधिप्रज्ञा शब्दार्थज्ञानानां विकल्पैः संकीर्णाः ..... सवितर्का समापत्तिः।
– मणिप्रभावृत्ति, पृ० ४६
६. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्यमेवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/४३.
७. सूक्ष्मो विचारः। – व्यासभाष्य, पृ० ५६.
८. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता । – पातञ्जलयोगसूत्र, १/४४

की मर्यादा सूक्ष्म प्रकृति पर्यन्त बताई गई है।[1] अतः प्रकृति पर्यन्त किसी भी सूक्ष्म ध्येय विषयक योग (समाधि) को सविचार और निर्विचार के अन्तर्गत समझना चाहिये।

(क) सविचारसम्प्रज्ञातयोग

सविचारसम्प्रज्ञातयोग में सूक्ष्मभूत पार्थिवादि परमाणुओं का तथा शब्दादि तन्मात्राओं का संकीर्ण रूप से साक्षात्कार होता है।[2] उक्त योग कार्यकारणभाव के विचार से युक्त होता है। भोजदेव के अनुसार देश, काल एवं निमित्त के ज्ञान से युक्त सूक्ष्म पदार्थविषयक उपर्युक्त साक्षात्कार सविकल्पसमाधि (सवितर्क) के समान ही शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के विकल्प से युक्त होता है।[3]

(ख) निर्विचारसम्प्रज्ञातयोग

निर्विचारसम्प्रज्ञातयोग में सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार असंकीर्ण रूप से होता है। अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से शून्य हो जाने पर जब साधक को सूक्ष्म पदार्थों का देश, काल, और निमित्त (कार्यकारणभाव) के विचार से रहित अपरोक्ष ज्ञान होता है, उसे निर्विचारसम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। संक्षेप में इस योग में सूक्ष्म पदार्थ का सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सर्वधर्मयुक्त ज्ञान होता है।[4]

३. आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग

विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग का निरन्तर अभ्यास करते रहने से साधक की एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि वह समस्त विषयों सहित अहंकार का संशय, विपर्ययरहित ज्ञान प्राप्त कर लेता है। साधक की यह अवस्था विशेष आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग कहलाती है। अहंकार एकादश इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं तक समस्त सूक्ष्म विषयों का उपादान कारण है। इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। सत्त्वगुण सुख रूप होने के कारण, इस अहंकार को साक्षात्कार कराने वाली अवस्था है।[5] विज्ञानभिक्षु[6] के अनुसार, विचारानुगत ध्यानभूमि तक के समस्त विषयों का साक्षात्कार कर लेने के उपरान्त, राजस एवं तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण सत्त्वगुण का उद्रेक होने से जो सुख विशेष उत्पन्न होता है, वही इस समाधि का आलम्बन अथवा विषय है। इस अवस्था में साधक को ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि उसे अन्य किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं रहती।

४. अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातयोग

सम्प्रज्ञातयोग की अन्तिम अवस्था है – अस्मिता। अस्मिता अहंकार का कारण है और उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म भी है। इसलिए यह त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति का पुरुष के प्रकाश से प्रकाशित होने वाल प्रथम विषयपरिणाम है। इस अवस्था तक साधक का अस्मिता में आत्माध्यास बना रहता है और इसमें अहंकार रहित केवल 'अस्मि' वृत्ति रहती है। सूत्रकार ने द्रष्टा एवं दृश्य के तादात्म्य को अस्मिता कहा है।[7]

---

१. सूक्ष्मविषयत्वं चाऽऽलिंगपर्यवसानम् । – पातञ्जलयोगसूत्र, १/४५

२. तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सविचारेत्युच्यते। – व्यासभाष्य, पृ० १४१

३. शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा। – भोजवृत्ति, पृ० ५१

४. या पुनः सर्वथा–सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापतिः सा निर्विचारेत्युच्यते। – व्यासभाष्य, पृ० १४१

५. योगमनोविज्ञान, पृ० २४७–२४८

६. अत्रैवालम्बने यश्चित्तस्य विचारानुगतभूम्यारोहात्सत्त्वप्रकर्षेण जायमाने आह्लादाख्यसुखविशेष आभोगः साक्षात्कारो भवति स आनन्दविषयकत्वादानन्द इत्यर्थः। तेनानुगतो युक्तो निरोध आनन्दानुगतनामायोग इति भावः। – योगवार्तिक, पृ० ५६

७. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/६

भाष्यकार व्यास ने अस्मिता का अर्थ स्पष्ट करते हुए अस्मिता को एकात्मिका संविद्[१] कहा है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार, व्यासभाष्य में उल्लिखित 'एक' शब्द 'केवल' अर्थ का वाचक है।[२] इसप्रकार, अस्मिता अथवा एकात्मिका का अर्थ होगा, वह संवित् जिसमें एक आत्मा ही विषय के रूप में विद्यमान हो।[३] चित्त की वह अवस्था जिसमें चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जाये कि अस्मिता में धारण करने से उसका यथार्थ रूप साक्षात् होने लगे, उसे 'अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' कहते हैं। इस अवस्था में चित्त में आत्मा विषयक 'मैं हूँ' (अस्मि) इससे भिन्न कोई अन्य ज्ञान नहीं रह जाता है। अर्थात् 'अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातयोग' में भी चित्त समस्त स्थूल सूक्ष्म विषयों से निरुद्ध होकर केवल आत्म मात्र का साक्षात्कार करता है। 'अस्मि' वृत्ति की सूक्ष्मता में पुरुष और चित्त में भिन्नता उत्पन्न करने वाली विवेकख्याति रूपी वृत्ति का उदय होता है। जिस व्यक्ति में विवेकख्याति रूप वृत्ति का उदय होता है, वह सर्व पदार्थों का अधिष्ठाता तथा सर्व पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञाता हो जाता है।[४]

उक्त चारों प्रकार के सम्प्रज्ञातयोग में एक क्रमिक तारतम्य है, अर्थात् इनका क्रमशः अभ्यास किया जाता है।[५] पूर्व-पूर्व अवस्था में उत्तरोत्तर अवस्था के विषय का स्पष्ट चिन्तन रहता है, जबकि उत्तरवर्ती अवस्था में पूर्व-पूर्व अवस्था के विषय का चिन्तन छूटता जाता है।[६] यथा प्रथम वितर्कानुगतयोग वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों आलम्बनों से युक्त होता है। द्वितीय विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग में वितर्क का आलम्बन छूट जाता है और विचार, आनन्द व अस्मिता – ये तीन आलम्बन शेष रह जाते हैं। इसी प्रकार तृतीय आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग में वितर्क और विचार दोनों आलम्बन समाप्त हो जाने से आनन्द और अस्मिता ही शेष रह जाते हैं। चतुर्थ एवं अन्तिम अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातयोग में आनन्द का भी त्याग कर दिया जाता है। केवल अस्मिता का ही आलम्बन शेष रहता है।[७] ये चारों प्रकार के सम्प्रज्ञातयोग सालम्बन[८] तथा सबीज[९] हैं क्योंकि इन चारों में किसी न किसी ध्येय रूप बीज का आलम्बन विद्यमान रहता है।

सम्प्रज्ञातयोग की प्रत्येक अवस्था में अभ्यास की वृद्धि के साथ-साथ जैसे-जैसे योगी कैवल्य-मार्ग पर बढ़ता जाता हैं, वैसे-वैसे उस विशिष्टयोग में भी उत्तरोत्तर प्रकाशवृद्धि युक्त प्रज्ञाएँ उत्पन्न होती चली जाती हैं, जिनके प्रकाश में योगी योग की निम्नतर अवस्था से उच्चतर अवस्था की ओर निरन्तर अग्रसर रहता है। सम्प्रज्ञातयोग की उच्चतम अवस्था में चित्त से प्रतिबिम्बित पुरुष का साक्षात्कार होता है, और ऐकान्तिक सत्य स्वरूप ऋतम्भराप्रज्ञा का बोध होता है।[१०] इसके द्वारा पदार्थ के विशेष स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है इसलिए इसे आगम एवं अनुमान प्रमाण से श्रेष्ठ माना गया है।[११]

---

१. एकात्मिका संविदास्मिता। – व्यासभाष्य, पृ० ५६
२. एक शब्दोऽत्र केवलवाची। – योगवार्तिक, ५६
३. सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित्। – तत्त्ववैशारदी, पृ० ५५
४. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/४६
५. उच्चारोहे क्रमिकसोपानपरम्परावत् । – नागेशभट्टवृत्ति, पृ० २१
६. (क) तत्रैकैकस्यास्त्याग उत्तरोत्तरा इति चतुरवस्थोऽयं सम्प्रज्ञातः समाधिः। – भोजवृत्ति, पृ० २१
(ख) पूर्वपूर्वभूमिकासूत्तरोत्तरभूमिविषयस्य ..... परित्यागं विदधाति। – योगवार्तिक, पृ० ५७
७. तत्र प्रथमश्चतुष्ट्यानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्रः इति। – व्यासभाष्य, पृ० ५६–६०
८. सर्व एते सालम्बनाः समाधयः। – वही, पृ० ६०
९. ता एव सबीजः समाधिः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/४६
१०. पातञ्जलयोगसूत्र, १/४८
११. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। – वही , १/४९

ऋतम्भराप्रज्ञा जन्य संस्कारों से अन्य सभी प्रकार के असमाधिकालिक अर्थात् लौकिक दशा वाले व्युत्थान संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं।[१] परिणामस्वरूप उक्त प्रज्ञा के निर्मल प्रकाश में विवेकख्याति का उदय होता है। विवेकख्याति चित्त की वह सात्त्विक वृत्ति है, जिसमें साधक को प्रकृति और पुरुष के भेद-ज्ञान का साक्षात्कार होने लगता है। व्यासभाष्य के अनुसार 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति 'के साथ ही साधक को सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है,[२] जो ऋतम्भराप्रज्ञा से अभिन्न है।

विवेकख्याति का ही उत्कृष्टतम रूप 'धर्ममेघसमाधि' है। विवेकख्याति में भी, विवेकख्याति से प्राप्त सर्वज्ञत्व एवं सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि सिद्धियों के प्रति विरक्त योगी को निरन्तर विवेकख्याति का उदय होने से 'धर्ममेघसमाधि' होती है।[३] 'धर्ममेघसमाधि' द्वारा समस्त क्लेशों तथा कर्मों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।[४] मलावरण के हट जानें से प्राप्त असीमित ज्ञान के प्रकाश में कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता।[५] 'धर्ममेघसमाधि' के उदित होने पर कृतार्थ हुए (चित्त रूप से अवस्थित) सत्त्वादि गुणों के परिणाम का क्रम समाप्त हो जाता है।[६] यह 'धर्ममेघसमाधि' सम्प्रज्ञातयोग की चरमावस्था है।

(ख) असम्प्रज्ञातयोग

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सम्प्रज्ञातयोग में चित्त की एकाग्रावस्था में सात्त्विक अक्लिष्टात्मक ध्येयाकार वृत्ति अवशिष्ट रहती है। चित्त की निरुद्धावस्था में उसका भी निरोध हो जाता है। इस अवस्था में किसी भी वस्तु का आलम्बन नहीं रहता। अतः इसे निर्बीज या असम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात-समाधि में चित्त को भ्रमित करने वाली असंख्य वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है, फिर भी विवेकख्याति रूप ज्ञानवृत्ति बनी रहती है। विवेकख्याति से भी वैराग्य हो जाने पर इस ज्ञान-स्वरूपा वृत्ति का भी निरोध हो जाता है।[७] पातञ्जलयोगसूत्र में इसे ही निर्बीजसमाधि कहा गया है।[८]

असम्प्रज्ञातयोग के भेद

योगसूत्र में असम्प्रज्ञातयोग के भी दो भेद स्वीकार किए गए हैं – १. भवप्रत्यय और २. उपायप्रत्यय।[९]

१. भवप्रत्यय

इस अवस्था में योगियों का चित्त पूर्वजन्म की योगसिद्धि के प्रभाव से जन्म से ही योग में प्रवृत्त होता है इसलिए इसे 'भवप्रत्यय' नाम दिया गया है। भव का अर्थ है – जन्म, संसार और प्रत्यय का अर्थ है – कारण। व्याख्याकारों द्वारा 'भव' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण किए गये हैं। वाचस्पति मिश्र ने 'भव' शब्द का अर्थ अविद्या किया है। उनके अनुसार अविद्यामूलक होने से जिस सर्ववृत्तिनिरोध रूप योग का कारण जन्म हो, वह 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग' है।[१०] विज्ञानभिक्षु ने 'भव' शब्द का अर्थ जन्म करते हुए

---

१. समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयम् बाधते। – व्यासभाष्य, पृ० १५५
२. वही, पृ० १५५
३. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघःसमाधिः। – पातञ्जलयोगसूत्र, ४/२६
४. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। – वही, ४/३०
५. तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् । – वही, ४/३१.
६. ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्। – वही, ४/३२
७. सर्ववृत्तिनिरोधेत्वसम्प्रज्ञातः समाधिः। – व्यासभाष्य, पृ० ३
८. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/५१
९. स खल्वयं द्विविधः उपायप्रत्ययो भवप्रत्यश्च। – व्यासभाष्य, पृ० ६५
१०. भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तवो इति भवोऽविद्या ..... स खल्वयं भवः प्रत्ययः कारणं यस्य निरोधसमाधेः स भवप्रत्ययः। – तत्त्ववैशारदी, पृ० ५६

जिस चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग का कारण जन्म हो, उसे भवप्रत्यय कहा है।[१] भोजदेव ने 'भव' पद का संसार अर्थ करते हुए भव अर्थात् संसार है कारण जिसका उसे 'भवप्रत्यय' कहा है।[२]

भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग की प्राप्ति विदेह और प्रकृतिलय-भूमि को प्राप्त सिद्ध योगियों को होती है।[३] जो साधक आत्म-स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का अभाव होने से केवल भूत या इन्द्रियों में से किसी एक को आत्मा समझकर उसी की उपासना करते हैं और मरणोपरान्त अपने-अपने उपास्य में ही लीन हो जाते हैं, ऐसे साधक विदेह अर्थात् स्थूल देह से रहित होने के कारण संस्कारमात्र-शेष चित्त के द्वारा ही कैवल्य पद का अनुभव करते हैं इसलिए उन्हें विदेह कहा जाता है।[४] और जो प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा रूप अनात्म पदार्थों में से किसी एक को आत्मा मानकर उसी का चिन्तन करते रहते हैं, ऐसे प्रकृतिलीन साधक अपने संस्कार-शेष तथा साधिकार चित्त के साथ शरीरपात के अनन्तर अव्यक्तादि में से अपने-अपने उपास्य में लीन रहते हैं। इसलिए उन्हें प्रकृतिलय कहा जाता है।[५]

विदेह एवं प्रकृतिलय भूमिका में अवस्थित, इन दोनों प्रकार के भवप्रत्ययसाधक योग का अभ्यास पूर्व जन्म में कर चुके होते हैं, उन्हें वर्तमानजन्म में पुनः अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं होती। पूर्व जन्म के अभ्यास के संस्कार-बल से उनमें परवैराग्य का उदय होकर, 'विरामप्रत्यय' अर्थात् चित्तवृत्तियों के अभाव के अभ्यास से 'असम्प्रज्ञातयोग' सिद्ध हो जाता है।[६]

२. उपायप्रत्यय

विदेह और प्रकृतिलय भूमिका में स्थित योगियों से भिन्न साधकों को जन्ममात्र से योग में रुचि नहीं होती। ऐसे साधकों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि उपायों का अभ्यास करने से सम्प्रज्ञातयोग (समाधि) की प्राप्ति होती है।[७] योग की प्राप्ति के लिए उसमें अभिरुचि को उत्पन्न करने वाले विश्वास का नाम 'श्रद्धा' है। योग-साधना में तत्परता उत्पन्न करने वाले उत्साह का नाम 'वीर्य' है। अनुभूत विषय को न भूलना 'स्मृति' है। चित्त की एकाग्रता 'समाधि' है। ज्ञेय वस्तु के ज्ञान का नाम 'प्रज्ञा' है। इन श्रद्धादि उपायों का क्रमशः अभ्यास करते रहने से दृश्य का अत्यन्ताभाव होकर, तद्हेतुकबुद्धि-वृत्ति का भी स्वयमेव अभाव हो जाता है। तदुपरान्त निर्बीजसमाधि सिद्ध हो जाती है।

यद्यपि दोनों प्रकार के असम्प्रज्ञातयोग से सर्ववृत्तिनिरोध हो जाता है, तथापि व्याख्याकारों ने मुमुक्षु के लिए 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग' को अनुपादेय (हेय) तथा 'उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग' को ग्राह्य (उपादेय) कहा है।[८] क्योंकि भवप्रत्यय में चित्त कुछ समय तक निरुद्ध तो रहता है, कालान्तर में उसका

---

१. (क) भवो जन्म तदेव प्रत्ययः कारणं यस्येति विग्रहः.....। – योगवार्तिक, पृ० ६१
(ख) भवो जन्मैव प्रत्ययः कारणं यस्येति व्युत्पत्तेरित्यर्थः। – भावागणेशवृत्ति, पृ० २५

२. (क) भवः संसारः स एव प्रत्ययः कारणं यस्य सः भवप्रत्ययः। – भोजवृत्ति, पृ० २४
(ख) भवप्रत्ययः संसारः एव कारणं यस्य। – चन्द्रिका टीका, पृ० २६

३. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् । – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१९

४. भूतेन्द्रियाणामन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीररहिता विदेहाः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः प्राप्नुवन्तो विदेहाः। – तत्त्ववैशारदी, पृ० ५९–६०

५. तथा प्रकृतिलयाश्चाव्यक्तमहदहंकार पञ्चतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादीनामन्यतमे लीनाः। – तत्त्ववैशारदी, पृ० ६०

६. (क) विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१८
(ख) तुलना : गीता ६/४३–४४

७. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/२०

८. (क) उपायप्रत्ययो योगिनां भवति । – व्यासभाष्य पृ० ६९
(ख) तत्र तयोर्मध्ये, उपायप्रत्ययो योगिनां मोक्षमाणानां भवति। ..... मुमुक्षुसम्बन्धं निषेधति। – तत्त्ववैशारदी, पृ० ५९

व्युत्थान अवश्य होता है। परन्तु उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग में उपाय यानि प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान के उत्पन्न होने पर संस्कार क्रमशः दग्ध हो जाते हैं। अतः उसमें व्युत्थान की कोई आशंका नहीं रहती। वास्तव में इसी को कैवल्य का पूर्वास्वाद कहा जा सकता है।[1] कैवल्य की प्राप्ति ही योग का अन्तिम लक्ष्य है।

आ. जैनयोग-मत

जैन आचार्यों ने 'योग' का एक व्यापक स्वरूप प्रतिपादित करते हुए साधना की भिन्न-भिन्न कोटियों को दृष्टि में रखकर, उनके भेद भी प्रतिपादित किये हैं, जो इसप्रकार हैं –

(क) सर्वधर्म-व्यापारयोग

योग मोक्ष का हेतु है। अतः मोक्ष की प्राप्ति हेतु जिन-जिन साधनों को आत्मसात् किया जाता है, वे सब योग की श्रेणी में परिगणित किये गये हैं। वे सभी विशुद्ध धर्म-व्यापार योग कहे गये हैं, जो आत्मा का मोक्ष से योजन कराते हैं, मोक्ष की ओर प्रवृत्त कराते हैं।[2] सम्यग्दृष्टि साधक के सभी योग (कायादि व्यापार) जो संवर व निर्जरा के हेतु होते हुए मोक्ष साधक हैं, इस दृष्टि से वे भी 'योग' के रूप में प्रतिपादित हैं।[3] इसप्रकार समस्त आत्मिक शक्तियों को पूर्णतः विकसित कराने वाली क्रिया – आत्मोन्मुखी चेष्टा 'योग' कही जा सकती है।

(ख) प्रणिधानादि पांच आशय (प्रकार)

रागादि मल से पूर्ण विरति ही मुक्ति है। उक्त सर्वधर्म-व्यापार का लक्ष्य होता है – शुद्ध आत्मस्थिति (मुक्ति, कैवल्य) की प्राप्ति, जो पापक्षय एवं पुण्यवृद्धि करते हुए क्रमशः चित्तशुद्धि के माध्यम से प्राप्त होती है।[4] क्रमिक चित्तशुद्धि के विभिन्न सोपान शास्त्रों में वर्णित हैं। उक्त सोपानों को 'योग के प्रकार' भी कहा जा सकता है। आ० हरिभद्र के अनुसार उक्त सोपान पांच हैं – प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि, और विनियोग।[5] उक्त पांच आशय क्रमशः उत्तरोत्तर प्राप्त होते हैं[6] क्योंकि वे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकर्षशाली चित्तोपयोग अर्थात् मानस परिणामस्वरूप हैं।[7] इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

१. प्रणिधान[8] (धार्मिक क्रियाओं के प्रति सावधानी)

सावधानीपूर्वक अपने से नीचे की कोटि वाले जीवों के प्रति द्वेष की अपेक्षा कृपाभाव रखना,

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० ३८७, ३८८
२. योगविंशिका, गा० १
३. भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः।
तस्य तत्सर्व एवेह, योगो योगो हि भावतः ।। – योगबिन्दु, २०३
४. पुष्टिः पुण्योपचयः शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता।
अनुबंधिनि द्वयेऽस्मिन् क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ।। – षोडशक, ३/४
५. (क) प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः।
धर्म्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पंचधाऽत्र विधौ ।। – वही, ३/६
(ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १०/१०
६. प्रणिधान-प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगानामुत्तरोत्तरभावात्। – ललितविस्तरा, पृ० ४१८
७. वही, पृ० ४२०
८. (क) प्रणिधानं तत्समये स्थितिमत्तदद्यः कृपानुगं चैव ।
निरवद्यवस्तुविषयं परार्थनिष्पत्तिसारं च ।। – षोडशक, ३/७
(ख) प्रणिधान क्रियानिष्ठमधोवृत्तिकृपानुगम् ।
परोपकारसारं च चित्तं पापविवर्जितम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १०/११

परोपकार को ही सार मानना,. तथा अपनी वर्तमान धार्मिक भूमिका के कर्त्तव्य में पाप का वर्जन करना 'प्रणिधान' है।

२. प्रवृत्ति[1] (चंचलतारहित तीव्रप्रयत्न)

वर्तमान धार्मिक भूमिका के उद्देश्य से निर्दिष्ट योग-साधना में चंचलतारहित तीव्रप्रयत्न को 'प्रवृत्ति' कहा गया है।

३. विघ्नजय[2] (परिषहों एवं मनोविभ्रम में स्थिरता)

धार्मिक प्रवृत्ति में बाधक भूख-प्यास आदि परिषह, शारीरिक रोग एवं मनोविभ्रम, तीनों पर विजय प्राप्त करना 'विघ्नजय' है।

४. सिद्धि[3] (सद्गुणी स्वभाव, गुरुजनों के प्रति विनय, अपने से निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति दया, अनुकम्पा आदि)

ऐसी तात्त्विक धार्मिक भूमिका को प्राप्त करना, जिसमें गुरुजनों के प्रति आदर भाव हो, समान श्रेणी वालों के प्रति उपकार की भावना हो, तथा निम्न श्रेणी वालों के प्रति दया, दान तथा अनुकम्पा की भावना हो, वह 'सिद्धि' है।

५. विनियोग[4] (स्वपरकल्याण की प्रवृत्ति का निरवच्छिन्न प्रवर्तन)

'विनियोग' साधना की आत्मसंस्कारपूर्ण ऐसी स्थिति है, जहाँ सर्वोत्कृष्ट धर्मस्थान – मुक्ति की प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

उक्त आशय रूप पांच मनोभावों के अभाव में बाह्य-चेष्टा निर्जीव क्रिया तुल्य हो जाती है,[5] इसलिए कोई भी धार्मिक क्रिया प्रारम्भ करने से पूर्व प्रणिधानादि पांच आशयों से चित्तशुद्धि करना आवश्यक है। इन पांच आशयों से विशुद्ध धर्मव्यापार को ही मोक्ष का हेतु होने से 'योग' कहा जाता है।

(ग) निश्चय-व्यवहारयोग

जैन आध्यात्मिक क्षेत्र में किसी पदार्थ का निरूपण दो दृष्टियों से किया जाता है। वे दो दृष्टियाँ

---

१. (क) तत्रैव तु प्रवृत्तिः शुभसारोपायसङ्गतात्यन्तम् ।
अधिकृतयत्नातिशयादौत्सुक्यविवर्जिता चैव ।। – षोडशक, ३/८
(ख) प्रवृत्तिः प्रकृतस्थाने यत्नातिशयसंभवा ।
अन्याभिलाषरहिता चेतः परिणतिः स्थिरा ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १०/१२

२. (क). विघ्नजयस्त्रिविधः खलु विज्ञेयो हीनमध्यमोत्कृष्टः ।
मार्ग इह कण्टकज्वरमोहजयसमः प्रवृत्तिफलः ।। – षोडशक ३/६
(ख) बाह्यान्तर्व्याधिमिथ्यात्वजयव्यंग्याशयात्मकः ।
कंटकज्वरमोहानां जयैर्विघ्नजयः समः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १०/१३

३. (क) सिद्धिस्तत्तद्धर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया ।
अधिके विनयादियुता हीने च दयादिगुणसारा ।। – षोडशक, ३/१०
(ख) सिद्धिस्तात्त्विकधर्माप्तिः साक्षादनुभवात्मिका ।
कृपोपकारविनयान्विता हीनादिषु क्रमात् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १०/१४

४. (क) सिद्धेश्चोत्तरकार्यं विनियोगोऽवन्ध्यमेतदेतस्मिन् ।
सत्यद्वयसंपत्त्या सुन्दरमिति तत्परं यावत् ।। – षोडशक, ३/११
(ख) अन्यस्य योजनं धर्मे विनियोगस्तदुत्तरम् ।
कार्यमन्वयसंपत्त्या तदवन्ध्यफलं मतम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १०/१५

५. एतैः प्रणिधानादिभिः आशययोगैस्तु बिना धर्माय न क्रिया बाह्यकायव्यापाररूपा। – वही, १०/१६ पर स्वो० वृ०

हैं – निश्चय और व्यवहार। तीर्थंकर की देशना (उपदेश) उभय नयों पर आधारित होती है। इसी सिद्धान्त का समर्थन हरिभद्रसूरि ने भी अपने ग्रन्थों में किया है।[१] योगशतक नामक ग्रन्थ में उन्होंने योग के स्वरूप को उभय दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए योग के दो भेद किये हैं – १. निश्चययोग, २. व्यवहारयोग।[२]

१. निश्चययोग

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र – इन तीनों का आत्मा के साथ सम्बन्ध 'निश्चययोग' है। इन तीनों का योग आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है। इसलिए उसको योग-संज्ञा दी गई है।[३]

जैनशास्त्रों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष के साधन के रूप में माना गया है।[४] पदार्थों को यथार्थ रूप से जानने की रुचि – निष्ठा का होना सम्यग्दर्शन है।[५] वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है।[६] शास्त्रोक्त विधिनिषेध के अनुरूप उसका आचरण करना सम्यक्चारित्र है।[७] स्वतंत्र रूप में तीनों में से कोई भी साधन मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन के सिद्ध होने पर ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है।[८] कुछ विद्वान् सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही सम्यग्दर्शन को संभव मानते हैं। वस्तुतः दोनों साथ-साथ प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों की प्राप्ति होने पर ही सम्यक् चारित्र सिद्ध होता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर भी यदि चारित्र-शुद्धि नहीं होती अर्थात् चारित्र का पालन नहीं किया जाता तो दुर्गति की संभावना होती है।[९] ज्ञान की अपेक्षा चारित्र की प्रधानता को आ० हरिभद्र आदि ने स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया है।[१०] इस त्रिविध योग के पालन से योग परिपुष्ट होता है और आत्मा का आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योग की पूर्णता ही मोक्ष प्राप्त कराती है। इसलिए स्पष्ट रूप से हरिभद्रसूरि ने सम्यग्ज्ञानादि तीनों गुणों के साथ आत्मा में प्रवेश करने को 'योग' कहा है। तीनों के संबंध से निश्चित ही आत्मा का मोक्ष के साथ संबंध होता है अर्थात् आत्मा मोक्ष की ओर अभिमुख होती है। इसलिए उन्होंने इसे 'निश्चययोग' की संज्ञा दी है।[११] आ० हेमचन्द्र ने भी उनसे प्रभावित होकर ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप 'रत्नत्रय' को मोक्ष का हेतु होने से 'योग' कहा है।[१२]

---

१. पंचवस्तुक, १०१४ एवं उस पर टीका ; तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/५/३३
२. इह योगो द्विधा – निश्चयतो व्यवहारतश्चेति । – योगशतक, २ पर वृत्ति
३. निच्छयओ इह जोगो सण्णाणाईण तिण्ह संबंधो ।
मोक्खेण जोयणाओ णिद्दिट्ठो जोगिनाहेहिं ।। – योगशतक, २
४. (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । – तत्त्वार्थसूत्र, १/१
(ख) नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गो त्ति पन्नतो, जिणेहिं वरदंसिहि ।। – उत्तराध्ययनसूत्र, २८/२
५. योगशतक, ३; उत्तराध्ययनसूत्र, २८/३५; तत्त्वार्थसूत्र, १/२; स्थानांगसूत्र, अभयदेववृत्ति,१, पृ०१६; नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, ३; योगशास्त्र, १/१७
६. योगशतक, ३; उत्तराध्ययनसूत्र, २८/३५; योगशास्त्र, १/१६
७. (क) सच्चरणमणुट्ठाणं विहिपडिसेहाणुगं तत्थ ।। – योगशतक, ३
(ख) योगशास्त्र, १/१८
८. नन्दीसूत्र, हरिभद्रवृत्ति, पृ० ६४–६५; तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/३१/२
९. पंचवस्तुक, १६५५ – १६६०; आदिपुराण २४/१२१
१०. दशवैकालिकसूत्र, हरिभद्रवृत्ति, उपसंहार (चूलिका), पृ० २८४–२८५ तथा प्रथमाध्ययन, पृ ८०–८१
११. निच्छयओ इह जोगो सण्णाणाईण तिण्ह संबंधो ।
मोक्खेण जोयणाओ णिदिदट्ठो जोगिणाहेहिं ।। – योगशतक, २
१२. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं, रत्नत्रयं च सः ।। – योगशास्त्र, १/१५

२. व्यवहारयोग

सम्यग्ज्ञानादि तीनों गुणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु आत्मा में इन गुणों का न तो स्वतः आविर्भाव होता है और न ही ये स्वतः विकसित होते हैं। इनकी प्राप्ति और विकास के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ता है, कुछ धार्मिक क्रियाओं का पालन करना पड़ता है, तथा अनुभवी व्यक्तियों से प्रवृत्ति-निवृत्ति संबंधी क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करना होता है। आत्मिक गुणों के विकास के लिए जिन धर्मशास्त्रोक्त विधि-निषेधों का पालन तथा गुरुविनय और गुरुसेवा आदि करने पड़ते हैं,[१] उन्हें भी ग्रन्थकार ने 'व्यवहारयोग' की संज्ञा से अभिहित किया है। चूंकि कारण में कार्य विद्यमान रहता है, इसलिए सम्यग्ज्ञानदि रूप कारणों का आत्मा व मोक्ष के साथ संबंध भी व्यवहारतः 'योग' कहा जाता है।[२] इस 'व्यवहारयोग' के पालन से, कालक्रम से अर्थात् उत्तरोत्तर शुद्धता से, 'निश्चययोग' प्राप्त हो जाता है।[३] जिसप्रकार कोई व्यक्ति किसी स्थान-विशेष पर जाने के लिए गन्तव्य मार्ग की ओर चलना प्रारम्भ करता है, चाहे उसकी गति तीव्र हो या मन्द, यथाशक्ति गमन करते हुए उस पथिक को व्यवहार में इष्टपुर (गन्तव्य स्थान) का पथिक कहा जाता है, उसीप्रकार आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए गुरु-विनय आदि में प्रवृत्त साधक, जो सम्यग्ज्ञानादि गुणों की परिपूर्ण उपलब्धि रूप योग को आत्मसात् नहीं कर सका है, परन्तु उस मार्ग पर यथाशक्ति गतिशील होने के कारण योगी कहा जाता है।[४] अतः सभी प्रकार के व्यवहार या शास्त्रनिरूपित ज्ञान जो अध्यात्मविकास की विभिन्न भूमिकाओं में उपयोगी हैं, वे 'योग' कहे जाते हैं।[५]

(घ) इच्छादि त्रिविध योग

आ० हरिभद्रसूरि ने साधक द्वारा क्रियान्वित किये जाने वाले धार्मिक व्यापारों के आधार पर योग के तीन भेद किये हैं – इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग।[६] उपा० यशोविजय ने भी हरिभद्रसूरि का अनुमोदन कर द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में इनका विशेष वर्णन किया है।[७]

उपर्युक्त त्रिविध योग तात्त्विक धर्म की वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें क्रमशः इच्छा, शास्त्र एवं सामर्थ्य की प्रधानता रहती है।[८] शुद्ध क्रिया की दृष्टि से ये क्रमशः त्रुटित, अखण्डित एवं अधिक बलवान् होते हैं अर्थात्

---

१. गुरुविणओ सुस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु।
तह चेवाणुट्ठाणं विहिपडिसेहेसु जहसत्ती।। – योगशतक, ५

२. ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाणं पि।
जो सम्बन्धो सो वि य कारणकज्जोवयाराओ ।। – योगशतक, ४

३. एत्तो चिय कालेणं नियमा सिद्धी पगिट्ठरूवाणं ।
सन्नाणाईण तहा जायइ अणुबंधभावेणं ।। – वही, ६

४. अद्धेणं गच्छंतो सम्मं सत्तीए इट्ठपुरपहिओ ।
जह तह गुरुविणयाइसु पयट्ठओ एत्थ जोगित्ति ।। – वही, ७

५. एएसिं नियनियभूमिगाए उचियं जमेत्थऽणुट्ठाणं ।
आणामयसंजुत्तं तं सव्वं चेव जोगो त्ति।। – वही, २१

६. (क) इहेवेच्छादियोगानां, स्वरूपमभिधीयते ।
योगिनामुपकाराय, व्यक्तं योगप्रसंगतः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २
(ख) "इच्छादियोगानां" इति इच्छायोगशास्त्रयोगसामर्थ्ययोगानाम् किमत आह....। – वही, गा० २ पर स्वो० वृ०

७. इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम् ।
गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते ।। – द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, १६/१

८. (क) इच्छाप्रधानत्वं चास्य तथाऽकालादावपि करणादिति। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा०३ स्वो०वृ०
(ख) शास्त्रप्रधानो योगः शास्त्रयोगः प्रक्रमाद्धर्मव्यापार एव। – वही, गा० ४, स्वो० वृ०
(ग) सामर्थ्यप्रधानो योगः सामर्थ्ययोगः प्रक्रमाद्धर्मव्यापार एव क्षपकश्रेणीगतो गृह्यते। – वही, गा० ८ पर स्वो० वृ०

इच्छायोग भी धर्मवृत्ति ही है, लेकिन इसमें क्रियाशुद्धि की अपेक्षा धर्मप्रवृत्ति की इच्छा प्रधान मानी जाती है, जबकि क्रिया अशुद्ध भी हो सकती है। शास्त्रयोग, इच्छायोग की अपेक्षा उच्चतर प्रवृत्ति है। इसमें शास्त्र अर्थात् शास्त्रीय औत्सर्गिक एवं अन्य समस्त नियमों का पालन प्रधान और क्रियाशुद्धि अखण्डित रहती है। सामर्थ्ययोग में तो शास्त्रीय आदेशों के पूर्ण पालन के अतिरिक्त आत्मा की अचिन्त्य सामर्थ्य प्रकट होने से धर्म-प्रवृत्ति अत्यधिक बलवती होती है।[१]

श्री एस० एम० देसाई[२] इन तीन योगों को तीन प्रकार के साधकों के आधार पर विभाजित हुआ मानते हैं। उनके मत में तीन प्रकार के साधक होते हैं, जिनमें से कुछ साधकों में योग का अभ्यास करने की तीव्र इच्छा तो होती है, परन्तु प्रमादवश वे उसका अभ्यास नहीं करते। कुछ साधक ऐसे होते हैं जो शास्त्रों का अनुसरण तो करते हैं, परन्तु उनकी गहनता तक पहुँचने की सामर्थ्य उनमें नहीं होती। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे साधक भी होते हैं, जिनमें योग-साधना में प्रवृत्त होने की सामर्थ्य होती है, तथा वे सरलता से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकते हैं। इन तीन प्रकार के साधकों द्वारा अनुकरणीय योग ही त्रिविध योगों में विभक्त है। तीन योगों का स्वरूप इस प्रकार है –

१. इच्छायोग

'इच्छायोग' में इच्छा प्रधान होती है।[३] धर्म करने की शुद्ध अभिलाषा को इच्छा कहते हैं। धर्मसाधना की इच्छामात्र करना 'योग' नहीं है, और न ही बिना इच्छा के किया गया धर्मव्यापार 'योग' है। इसलिए हरिभद्रसूरि ने योग का स्वरूप निर्धारित करते समय धर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा के साथ-साथ गुरु-मुख से अथवा शास्त्रों के अध्ययन या श्रवण से उन धार्मिक क्रियाओं एवं उनके विधि-विधानों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना 'योग' के लिए आवश्यक बतलाया है। 'इच्छायोग' में धर्मप्रवृत्ति की शुद्ध इच्छा एवं उसका शास्त्रीय तत्त्वज्ञान होने पर भी साधक प्रमादवश[४] त्रुटित धर्मप्रवृत्ति करता है।[५] संक्षेप में 'इच्छायोग' के चार विशिष्ट लक्षण हैं – १. प्रवृत्त होने की इच्छा, २. शास्त्रश्रवण, ३. कर्तव्यबोध एवं ४. पुरुषार्थ।

'इच्छायोग' साधना की प्रथम श्रेणी है जिसमें इच्छा होने पर भी प्रमादवश साधना खण्डित हो जाती है, जो अग्रिम श्रेणी में अखण्डता में परिवर्तित हो जाती है। परन्तु श्री देसाई[६] का मत है कि 'इच्छायोग' में साधक के लिए तीव्र इच्छा की भूमिका भी अतिमहत्वपूर्ण होती है। साधक में जितनी तीव्र इच्छा होगी, उतनी ही तीव्रगति से वह अपने लक्ष्य तक पहुँच सकेगा। उपा० यशोविजय के अनुसार निर्दम्भता सहित किया गया इच्छायोग शुभानुबन्धकारक तथा अज्ञाननाशक होता है।[७]

---

१. ललितविस्तरा, हिन्दी विवेचन, पृ० ४६–५०

२. **Haribhadra's Yoga Works and psychosynthesis, p. 51- 52**

३. इच्छाप्रधानत्वं चास्य.....। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा०३ स्वो० वृ०

४. प्रमाद के अनेक भेद शास्त्रों में प्रतिपादित हैं। आ० हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ में प्रमादों की संख्या पांच बताई है। वे पांच हैं – मदिरादि व्यसन, विषयासक्ति, क्रोधादि कषाय, निद्रा और विकथा – (राजकथा, देशकथा, भक्तकथा, और स्त्रीकथा)।
– उत्तराध्ययननिर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह), १८०, उद्धृत : नन्दीसूत्र (सू० ८३) पर हरिभद्र वृ० पृ० ७१

५. (क) कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः।
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ३
(ख) चिकीर्षोः श्रुतशास्त्रस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः ।
कालादि-विकलो योगः इच्छायोग उदाहृतः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२

६. **This type of Yoga mainly shows the intensity of the intention or the Keenness of the Sādhaka. The Keener the intention the speedier is he on his way to the goal.**
— Haribhadra's Yoga Works and psychosynthesis, p. 51- 52

७. अध्यात्मसार, ७/२०/२६, ३०

२. शास्त्रयोग

'शास्त्रयोग' साधना की द्वितीय श्रेणी है। इसमें शास्त्रप्रधान धर्म-व्यापार होने से इसे 'शास्त्रयोग' नाम दिया गया है।[१] यथाशक्ति, प्रमादरहित एवं श्रद्धासम्पन्न होकर साधक तीव्रबोध से युक्त, आगमवचनानुसार कालादि भंग से अखण्डित जिस धर्मव्यापार में प्रवृत्त होता है, उसे 'शास्त्रयोग' कहा जाता है।[२] 'शास्त्रयोग' में साधक को सर्वप्रथम शास्त्रों में निर्दिष्ट प्रमादों[३] का त्याग करना आवश्यक है। प्रमादरहितता के साथ-साथ शास्त्रयोग में साधक के विशिष्ट प्रकार का मोह नष्ट होकर स्वसंप्रत्यय होना चाहिए।[४] स्वसंप्रत्यय का अर्थ है – ऐसी उच्च प्रकार की श्रद्धा का उत्पन्न होना जिससे हृदय में अनुभव रूप शुभ प्रतीति और तीव्ररुचि हो, एवं जो अधिकाधिक आत्मबलस्थैर्य आदि की प्रेरक हो।[५] अनुभव रूप शुभ प्रतीति का तात्पर्य है – धर्मप्रवृत्ति का शास्त्रोक्त कठोर पालन। संक्षेप में शास्त्रयोग की विशेषता है – 'अखण्डित योग-साधना'। अखण्डित योग-साधना के लिए आ० हरिभद्र ने निम्नलिखित साधन आवश्यक बताये हैं – १. अप्रमाद, २. विशिष्टश्रद्धा एवं ३. तीव्रबोध। साधना की इस अवस्था में साधक की आगमों का अनुसरण करने की तीव्र इच्छा रहती है। उसकी न तो अपनी वैयक्तिक दृष्टि होती है और न ही वह अपने लक्ष्य के प्रति स्वावलम्बी होता है।[६]

३. सामर्थ्ययोग

'सामर्थ्ययोग' 'शास्त्रयोग' की अपेक्षा अत्यधिक बलवान होता है। हरिभद्रसूरि ने इसे तीनों योगों में श्रेष्ठ कहा है।[७] यह योग पूर्ववर्ती दोनों योगों की सिद्धि के पश्चात् ही संभव होता है। हरिभद्रसूरि के अनुसार शास्त्रों में जिसका उपाय बताया गया है, आत्मशक्ति के वैसे विशिष्ट विकास के कारण जिसका विषय शास्त्र से भी अतिक्रान्त – अतीत है, वैसा उत्तम योग 'सामर्थ्ययोग' है।[८] शास्त्रयोग में उपाय यद्यपि शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट होते हैं,[९] किन्तु शास्त्र से आगे बढ़ जाने वाला पुरुषार्थ प्रकट होता है। इस सामर्थ्ययोग में आत्म-सामर्थ्य की प्रबलता जागृत होती है। ऐसी विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न धर्मप्रवृत्ति जो सामर्थ्ययोग

---

१. शास्त्रप्रधानो योगः शास्त्रयोगः .....। – योगदृष्टिसमुच्चय, ४ पर स्वो० वृ०

२. (क) शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः ।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ४;
(ख) यथाशक्त्यप्रमत्तस्य तीव्रश्रद्धावबोधतः ।
शास्त्रयोगस्त्वखंडार्थाराधनादुपदिश्यते ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/४

३. प्रमादों की संख्या स्थानांगसूत्र (६/४) में छः, तथा गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में पन्द्रह बताई गई है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा० १८० में प्रमाद के ५ भेद माने गये हैं।

४. अयमेव विशिष्यते श्राद्धस्य – तथाविधमोहापगमात्स्वसंप्रत्ययात्मिकादिश्रद्धावतः .....।
– योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ४, स्वो० वृ० एवं ललितविस्तरा, गा० २ की व्याख्या पृ० ५१

५. योगदृष्टिसमुच्चय, गुजराती व्याख्या, पृ० ८४; ललितविस्तरा, पंजिका व्याख्या, पृ० ५१

६. **The second category of 'Yoga by scripture' mainly shows the intensity of the Sādhaka to follow the scriptures but had no insight of his own. He is not self-dependent in the matter of reaching the goal nor has he the insight for it. — Haribhadra's Yoga Works and psychosynthesis, p. 51- 52**

७. सामर्थ्ययोगाभिधानोऽयं योगः 'उत्तमः' – सर्वप्रधानः तद्भावभावित्वात्.....। – योगदृष्टिसमुच्चय, ५ स्वो०वृ०

८. (क) शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।
शक्त्युद्रेकादविशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ५
(ख) शास्त्रेण दर्शितोपायः सामर्थ्याख्योऽतिशक्तितः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/५

९. सामान्येन शास्त्राभिहितोपायः, सामान्येन शास्त्रे तदभिधानात् .....। – योगदृष्टिसमुच्चय, ५ स्वो०वृ०

कहलाती है, को उत्तम योग माना गया है। इसकी उत्तमता का कारण यह है कि इसमें शीघ्र ही वीतराग सर्वज्ञता की प्राप्ति रूप श्रेष्ठ फल उत्पन्न होता है।[१]

पूर्ववर्ती दोनों योगों में शास्त्रों को अत्यधिक महत्ता प्रदान की गई है, जबकि सामर्थ्ययोग में जो मोक्ष-उपाय अपेक्षित होते हैं, उनका परिज्ञान शास्त्रों से सम्भव नहीं होता, क्योंकि शास्त्रों में समस्त असंख्य उपायों का शब्दशः निर्देश होना कठिन है।[२] शास्त्र का इतना ही कार्य होता है कि वह वस्तु के साथ साधक का हस्तस्पर्श करा सके।[३]

डा० के० के० दीक्षित के अनुसार आ० हरिभद्र के इस कथन का आशय यह है कि शास्त्रों से तो मोक्ष रूप परमपद की प्राप्ति के मार्ग के प्राथमिक स्तर का ज्ञान हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक साधना के उच्च धरातल पर अनुभूति मात्रगम्य परिणामों का विवरण शब्दों के माध्यम से सम्भव नहीं है।[४] इसी विषय में श्रीविजयभुवनभानुसूरीश्वर जी महाराज ने कहा है कि योग के साधनों का पालन करने से आत्मा में जो अन्तर्निहित शक्ति अथवा बल उत्पन्न होता है, तदनुरूप विशुद्ध व विशुद्धत्तर होने वाले संयम-स्थानों अर्थात् संयम के अध्यवसायों का स्वरूप वर्णन शास्त्रों द्वारा नहीं किया जा सकता। उन्हें तो अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है।[५] इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शास्त्र निरर्थक हैं, क्योंकि सामर्थ्ययोग की अवस्था प्राप्त करने के लिए जो शास्त्रयोग और उसके उपाय आवश्यक हैं, वे शास्त्रों से ही ज्ञात हो सकते हैं। परन्तु हरिभद्रसूरि लिखते हैं कि यदि शास्त्रों से ही मोक्ष पर्यन्त सब उपायों की विशिष्ट जानकारी प्राप्त हो सकती, तो उनसे ही केवलज्ञान की भांति सम्पूर्ण उपायों का बोध होने से सर्वसाक्षात्कारिता सिद्ध हो जाती। फलतः आगमश्रवण करने वालों को श्रवण करते ही सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती।[६] क्योंकि मोक्ष के अद्वितीय उपाय अयोगकेवलीत्व का शास्त्रों से ही ज्ञान हो जाने से उसको व्यवहार में लाना सम्भव हो जाता और अविलम्ब मोक्ष प्राप्त हो जाता।[७] परन्तु वास्तव में ऐसा कभी होता नहीं।

---

१. 'शास्त्रसन्दर्शितोपायः' इति सामान्येन शास्त्राभिहितोपायः,.....। 'तदतिक्रान्तगोचरं' इति शास्त्रातिक्रान्तविषयः .....।
— शक्त्युद्रेकात्'— शक्तिप्राबल्यात् 'विशेषेण' न सामान्येन शास्त्रातिक्रान्तगोचरः, सामान्येन फलपर्यवसानत्वाच्छास्त्रस्य। 'सामर्थ्याख्योऽयं' — सामर्थ्ययोगाभिधानोऽयं योगः 'उत्तमः' सर्वप्रधानो, अक्षेपेण प्रधानफलकारणत्वादिति। — योगदृष्टिसमुच्चय, ५ स्वो०वृ०

२. (क) सिद्धशाख्यपदसम्प्राप्तिहेतुभेदा न तत्त्वतः।
शास्त्रादेवावगम्यन्ते सर्वथैवेह योगिभिः ।। — योगदृष्टिसमुच्चय, ६
(ख) शास्त्रादेव न बुध्यन्ते सर्वथा सिद्धिहेतवः । — द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/६

३. हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं तत् एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्यात् तथा चन्द्रोपरागवत् ।। — योगबिन्दु, ३१६

४. **This according to him,, dependence on scriptures characterizes the lower and middle stages of spiritual; development; but it does not characterize the highest of these stages.**
— Yogadṛṣtisamuccaya &Yogaviṁśikā, p.20

५. योगदृष्टिसमुच्चय(गुजराती व्याख्या), पृ० ११४

६. (क) सर्वथा तत्परिच्छेदात् साक्षात्कारित्ययोगतः ।
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेस्तदा सिद्धिपदाप्तितः ।। — योगदृष्टिसमुच्चय, ७
(ख) शास्त्रादेव न बुध्यन्ते सर्वथा सिद्धिहेतवः ।
अन्यथा श्रवणादेव सर्वज्ञत्वं प्रसज्यते ।। — द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/६
(ग) सर्वथा सर्वैः प्रकारैः। शास्त्रादेव न बुध्यन्ते। अन्यथा शास्त्रादेव सर्वसिद्धिहेतूनां बोधे सर्वज्ञत्वं प्रसज्यते। श्रवणादेय सर्वसिद्धिहेतुज्ञाने सार्वज्ञ्यसिद्ध्युपधायकोत्कृष्टहेतुज्ञानस्याप्यावश्यकत्वात्, तदुपलंभाख्यस्वरूपाचरण—रूपचारित्रस्यापि विलम्बाभावात् सर्वसिद्ध्युपायज्ञानस्य सार्वज्ञ्यव्याप्यत्वाच्च। — वही, १६/६ पर स्वो० वृ०

७. मुक्तिपदाप्तेः, अयोगिकेवलित्वस्यापि शास्त्रादेव सद्भावावगतिप्रसंगादिति। — योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ७ स्वो० वृ०

वस्तुतः शास्त्र से सर्वज्ञता एवं अयोगिकेवलीत्व के उपायों का बोध शक्य होने पर भी मोक्ष नहीं होता। इसीलिये यह मानना होगा कि इसके अतिरिक्त विशिष्ट आत्म-सामर्थ्य की प्रधानता वाला सामर्थ्ययोग नामक कोई अवर्णनीय धर्म-व्यापार अपेक्षित है, जिससे तुरन्त ही सर्वज्ञत्वादि की सिद्धि प्राप्त हो। यह सामर्थ्ययोग प्रातिभज्ञान से समन्वित होता है।[१] जिस प्रकार प्रगाढ़ अन्धकार में से बाहर निकलते समय पहले अल्प प्रकाश दिखाई देता है उसके बाद पूर्ण प्रकाश, उसी प्रकार केवलज्ञान के प्रकट होने से पहले सूर्य के प्रकाश से पूर्व ऊषा के प्रकाश जैसा प्रातिभज्ञान सामर्थ्ययोग के साथ प्रकट होता है।[२] प्रातिभज्ञान न तो मतिश्रुतादि पांचों ज्ञानों में गिना गया है, और न ही उक्त पांचों के अतिरिक्त कोई छठा ज्ञान है। मतिज्ञान से लेकर मनःपर्यायज्ञान तक के चार ज्ञान उत्कृष्ट रूप में होने के अनन्तर और केवलज्ञान होने के पूर्व प्रातिभज्ञान होता है, और वह केवलज्ञान रूप सूर्य के उदय में उसके पूर्व अरुणोदय के प्रकाश के सदृश होने से मतिज्ञान से पृथक् सुनने में नहीं आता। लेकिन यह एक ज्ञान अवश्य है, क्योंकि केवलज्ञान के पूर्व ऐसे चार ज्ञानों की उत्कृष्ट अवस्था संगत हो सकती है, और उसी विशिष्ट अवस्था का नाम 'प्रातिभज्ञान' है।[३]

'प्रातिभज्ञान'[४] में क्षायोपशमिक (क्षय + उपशम) भाव होता है, जबकि केवलज्ञान में क्षायिक भाव होता है।[५] धर्मव्यापार के प्रकरण से सामर्थ्ययोग भी धर्मव्यापार ही है। लेकिन क्षपकश्रेणी के पुरुषार्थ के अन्तर्गत जो धर्मव्यापार है, वही सामर्थ्ययोग में ग्रहण किया जाता है।[६] क्षपकश्रेणी का पुरुषार्थ वह है, जिसमें शुक्लध्यान के बल पर अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का क्षय करते-करते पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त होती है, और बाद में शीघ्र ही ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरणकर्म एवं अंतरायकर्म का मूलतः नाश हो जाता है। फलस्वरूप सर्वज्ञत्व अर्थात् केवलज्ञान प्रकट होता है, जिसमें समस्त जगत् के समस्तकालवर्ती निखिल द्रव्यों का सर्वपर्याय सहित साक्षात्कार प्रकट हो जाता है।[७]

---

१. न चैतदेवं यत्तस्मात् प्रातिभसंगतः।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ८

२. (क) न केवलं, न च ज्ञानांतरमिति रात्रिंदिवारुणोदयवत्। अरुणोदयो हि न रात्रिंदिवातिरिक्तो न च तयोरेकोपि वक्तुं पार्यते। एवं प्रातिभमप्येतन्न तदतिरिक्तं न च तयोरेकमपि वक्तुं शक्यते। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ८ स्वो० वृ०

(ख) प्रातिभज्ञानगम्यस्तत्सामर्थ्याख्योऽयमिष्यते ।
अरुणोदयकल्पं हि प्राच्यं तत्केवलार्कतः ।।
रात्रेर्दिनादपि पृथग्यथा नो वारुणोदयः ।
श्रुताच्च केवलाज्ञानात्तथेदमपि भाव्यताम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/७, ८

३. (क) असदेतत्, मत्यादिपंचकातिरेकेणास्याऽश्रवणात्। उच्यते, चतुर्ज्ञानप्रकर्षोत्तरकालभावि केवलज्ञानादधः तदुदये सवित्रालोककल्पम् इति न मत्यादिपंचकातिरेकेणास्य श्रवणम्। अस्ति चैतद्, अधिकृता –(अधिकत्वा – प्र.) वस्थोपपत्तेरिति एतद्विशेष एव प्रातिभमिति कृतं प्रसंगेन। – ललितविस्तरा, पृ० ६१

(ख) ननु प्रातिभमपि श्रुतज्ञानमेव अन्यथा षष्ठज्ञानप्रसंगात्तथा च कथं शास्त्रातिक्रान्तविषयत्वमस्येत्यत आह – तत्प्रातिभं हि केवलार्कतः केवलज्ञानभानुमालिनः प्राच्यं पूर्वकालीनं अरुणोदयकल्पम्। –द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/७ स्वो०वृ०

४. पातञ्जलयोगसूत्र में भी 'प्रातिभज्ञान' का उल्लेख हुआ है। दोनों परम्पराओं में वर्णित 'प्रातिभज्ञान' का तुलनात्मक विवेचन 'आध्यात्मिकविकासक्रम' नामक अध्याय में किया गया है।

५. तत्काल एव तथोत्कृष्टक्षयोपशमवतो भावात् श्रुतत्वेन तत्त्वतोऽसंव्यवहार्यत्वान्न श्रुतं, क्षायोपशमिकत्वादशेषद्रव्यपर्यायाऽविषयत्वान्न केवलमिति। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ८ स्वो० वृ०

६. सामर्थ्ययोगः प्रक्रमाद्धर्मव्यापार एव क्षपकश्रेणिगतो गृह्यते, ...। – वही,

७. ललितविस्तरा, पृ० ५४; तत्त्वार्थसूत्र, १/३०; प्रवचनसार, १/२१

सामर्थ्ययोग में जिन धार्मिक प्रवृत्तियों का आचरण किया जाता है, उनसे अन्तरात्मा में कैसी प्रक्रिया होती है, अर्थात् किस प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, और किस प्रकार की आत्मपरिणति होती है, इसको शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए हरिभद्रसूरि ने इसे अनिर्वचनीय कहा है।[१]

श्री देसाई के अनुसार 'सामर्थ्ययोग' नामक तृतीय योग-श्रेणी में साधक अपने लक्ष्य तक अविलम्ब पहुँचने की अतुल सामर्थ्य प्राप्त करता है। उसे एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है, जिससे शास्त्रों पर तो नवीन प्रकाश पड़ता ही है साथ ही मोक्षमार्ग भी प्रकाशित होता है।[२] श्री देसाई के इस मन्तव्य से साधक की तीव्र सामर्थ्य प्रकट होती है।

सामर्थ्ययोग के भेद

आ० हरिभद्रसूरि ने सामर्थ्ययोग के दो भेद किये हैं – १. धर्मसंन्यासयोग और २. योगसंन्यासयोग। 'धर्म' शब्द से चारित्रमोहनीयकर्म के क्षयोपशम (क्षय+उपशम) के द्वारा निष्पन्न क्षमा आदि धर्म गृहीत हैं और 'योग' शब्द से कायादि क्रिया। कायादि क्रिया में कायोत्सर्ग आदि धर्मव्यापार परिगणित होते हैं।[३] 'संन्यास' शब्द का अर्थ है 'निवृत्ति'। निवृत्ति, उपरम, त्याग – ये एकार्थवाचक शब्द हैं।[४] जिस योग की धर्मसंन्यास संज्ञा है वह 'धर्मसंन्याससंज्ञित' योग कहलाता है।[५] पाणिनीय व्याकरण के अनुसार संज्ञा शब्द में इतच् प्रत्यय जोड़ने से 'संज्ञित' शब्द बना है।[६] इसी प्रकार जिसकी योगसंन्यास संज्ञा है, वह 'योगसंन्याससंज्ञित' योग कहलाता है।[७] जिसप्रकार सांसारिक धर्मों, अर्थात् संसार का त्याग करने वाले व्यक्ति को संन्यासी कहा जाता है, उसीप्रकार क्षायोपशमिक (क्षयोपशम से होने वाले क्षमा आदि) धर्मों के त्याग करने को धर्मसंन्यासयोग' और कायादि योगों[८] के त्याग करने को 'योगसंन्यासयोग' नाम दिया गया है। क्षमादि धर्मों की निवृत्ति क्षपकश्रेणी (आठवें गुणस्थान से) पर आरूढ़ योगी को होती है, अतः वही धर्मसंन्यास योगी है। समस्त कायादि व्यापारों की निवृत्ति आयोज्यकरण[९] शैलेशी अवस्था (चौदहवें गुणस्थान) में सम्भव है, अतः वही स्थिति 'सर्वसंन्यासयोग' की स्थिति है।[१०] योग-साधना का प्रारम्भिक सोपान 'सर्वधर्मव्यापारयोग' है, उसकी अपेक्षा 'धर्मसंन्यासयोग' और 'योगसंन्यासयोग' दोनों उच्च कोटि के योग हैं। उनमें भी 'योगसंन्यासयोग' को सर्वोच्च माना गया है, क्योंकि धर्मसंन्यास होने पर आत्मा

---

१. सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ८

२. **But in the third type of "yoga by exertion" the Sādhaka achieves such immense capability that he, like Gaṇapati, can reach the goal in no time. Like Gaṇapati, he gains an insight which sheds new light on even the scriptures and illumnates the path for the realization of the goal of Mokṣa.**
— Haribhadra's Yoga Works and Psychosynthesis, p.51-52

३. (क) द्विधाऽयं धर्मसंन्यास–योगसंन्याससंज्ञितः ।
क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादिकर्म तु ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ६
(ख) द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका १६/११ एवं उस पर स्वो० वृ०

४. संन्यासो निवृत्तिरुपरम इत्येकोऽर्थः। – ललितविस्तरा, गा० ७ पर पञ्जिका टीका० पृ० ५४

५. ततो धर्मसंन्याससंज्ञासंजाताऽस्येति धर्मसंन्यासंज्ञितः। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ६ स्वो० वृ०

६. पाणिनीव्याकरण, ५/२/३६; योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ६ स्वो० वृ०

७. एवं योगसंन्याससंज्ञा संजाताऽस्येति योगसंन्याससंज्ञितः। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा०६ स्वो० वृ०

८. कायवाङ्मनःकर्मयोगः। – तत्त्वार्थसूत्र, ६/१

९. 'आयोज्यकरण' उस क्रिया का नाम है जिसमें अवशिष्ट नाम, गोत्र, वेदनीय एवं आयु – इन चार अघातिकर्मों का यथायोग्य समय क्षय होता है। कर्मों की क्षययोग्य अवस्था उपस्थित करने की क्रिया का प्रयत्न आयोज्यकरण है।
-- योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ८ स्वो०वृ० एवं द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/१२ स्वो० वृ०

१०. द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विदः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, गा० १०

जीवन्मुक्त, अनन्तज्ञानसुखादिमय, शुद्ध, सिद्ध, परमात्म अवस्था को प्राप्त करता है।[१] धर्मसंन्यास, योगसंन्यास ओर सर्वसंन्यास के रूप में त्रिविध संन्यास का निरूपण करके यह सूचित किया गया है कि जैन-परम्परा में 'गुणस्थान' नाम से उल्लिखित आध्यात्मिक विकासक्रम का उक्त त्रिविध संन्यास में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि आ० हरिभद्रसूरि ने सामर्थ्ययोग को जैन-सम्मत 'गुणस्थान' संज्ञक सोपान-पद्धति के अनुरूप संयोजित करने का प्रयास किया है, जबकि इच्छायोग व शास्त्रयोग में उनकी ऐसी कोई अभिरुचि दृष्टिगोचर नहीं होती। डा० के० के० दीक्षित ने भी इस से अपनी सहमति प्रकट की है।[२]

इस प्रकार त्रिविधयोग (इच्छा, शास्त्र, सामर्थ्य) योग-साधना की संभव अवस्थाओं का त्रिविध विभाजन प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वानों ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[३] डा० देसाई ने इनकी तुलना पतञ्जलि के मृदु, मध्य और अधिमात्र इन तीव्र संवेगों से की है। वह यह मानते हैं कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने पतञ्जलि के ही सिद्धान्त को अपनी नवीन शैली द्वारा त्रिविध योगों के रूप में चित्रित किया है।[४]

उक्त त्रिविधयोग निरूपण से आ० हरिभद्रसूरि पर गीता का प्रचुर प्रभाव दृष्टिगत होता है। 'सामर्थ्ययोग' का विवेचन करते समय आ० हरिभद्रसूरि ने संन्यास शब्द का प्रयोग किया है। संन्यास शब्द गीता में बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है।

(ङ) अध्यात्मादि पंचविध योग

आध्यात्मिक दृष्टि से आ० हरिभद्रसूरि ने योग के पांच भेद किये हैं – अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय। ये पांचों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।[५] वस्तुतः इन पांचों प्रकार के योगों को आ० हरिभद्र ने चारित्र के अन्तर्गत परिगणित किया है। योगबिन्दु में व्यावहारिक दृष्टि से अध्यात्म को योग के समानार्थक माना गया है,[६] जबकि इसी ग्रंथ में अध्यात्म और वृत्तिसंक्षय दोनों के लिए भी 'योग' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[७] आ० हरिभद्र ने अपने सभी ग्रन्थों में जप, तप, स्वाध्याय, ध्यान, आसन, व्रतपालन आदि सभी का सामान्य दृष्टि से एक ही शब्द 'धर्मव्यापार' के अन्तर्गत परिगणन किया है। उनका कहना है कि चारित्र के देशतः, सर्वतः

---

१. ललितविस्तरा, 'पंजिका' व्याख्या, पृ० ५६

२. **Yogadṛṣṭisamuccaya & Yogaviṁśikā, p. 21-22**

३. **These three viz. Icchāyoga, Śāstrayoga and Sāmarthyayoga are the three broad divisions of all the possible stages of yoga. — Studies in Jain Philosophy , p. 300-301**

४. **In short my surmise is that this classification of the three yogas is not a new classification at all nor does it present any new type of yoga but they are the three categories of the intensity of Saṁvega for the attainment of the goal. This is fully supported by the above comparision with Patañjali's Sūtras. — Haribhadra's Yoga Works and Psycosynthesis, p.51-52**

५. (क) अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ।। – योगबिन्दु, ३१
(ख) अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
योगः पंचविधः प्रोक्तो योगमार्गविशारदैः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/१

६. अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ।। – योगबिन्दु, ३५७

७. (क) संक्षेपात्सफलो योग, इति सन्दर्शितो ह्ययम् ।
आद्यन्तौ तु पुनः स्पष्टं, ब्रूमोऽस्यैव विशेषतः ।। – वही, ३७६
(ख) संक्षेपात् समासात् सफलः सह फलेन योग इति – एवं सन्दर्शितः। हिः – स्फुटवृत्त्या अयमध्यात्मादिभेदः। आद्यन्तौ तु पुनराद्यन्तावेव पुनरध्यात्मवृत्तिसंक्षयलक्षणौ भेदौ स्पष्टं..... । – योगबिन्दु, ३७६, स्वो० वृ०

आदि जितने भेद हैं, वे सब 'योग' हैं।[१] अतः अध्यात्म सम्यक्चारित्र का समानार्थक सिद्ध होता है।[२]

१. अध्यात्मयोग

सम्यग्दृष्टि अवस्था में संसार से विरत होकर किया गया आत्मलक्षी सामान्य शुद्ध आचार 'अध्यात्म' है।[३] दूसरे शब्दों में, शुद्धात्मा में विशुद्धता लाने वाले अनुष्ठान या आचरण को 'अध्यात्म' कहा गया है।[४] चारित्र-शुद्धि के लिए अध्यात्मयोग का अनुष्ठान परमावश्यक है। इसलिए जैनागमों में मुमुक्षु को बार-बार अध्यात्म से युक्त होने का उपदेश दिया गया है।[५] यही कारण है कि हरिभद्र ने भी अध्यात्मयोग की चर्चा की है। शास्त्रों में आत्मा, मन और प्राण वायु के एक रूप 'समतायोग' को 'अध्यात्मयोग' कहा गया है,[६] जबकि आ० हरिभद्र के अनुसार उचित (शास्त्रोक्त विहित) प्रवृत्ति से अणुव्रतों, महाव्रतों आदि का पालन करना, आगमप्रणीत जीव, अजीवादि तत्त्वों का चिंतन करना तथा मैत्री आदि भावनाओं का जीवन में सम्यक् रूपेण पालन करना ही अध्यात्म है।[७] उपा० यशोविजय जी ने अध्यात्म की उक्त व्याख्या पर विचार करते हुए अध्यात्म का यौगिक एवं रूढ़ि दोनों अर्थों में लक्षण प्रस्तुत किया है। यौगिक अर्थ के अनुसार, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को लक्ष्य में रखकर पंचाचार (अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य रूप पांच आचारों) के आचरण करने को अध्यात्म कहते हैं,[८] और रूढ़ि अर्थ के अनुसार, बाह्य व्यवहार से प्राप्त हुए मैत्री, प्रमोद, माध्यस्थ्य और कारुण्य भावनाओं से सुवासित निर्मल मन को अध्यात्म कहते हैं।[९]

अध्यात्म के बिना कोई भी धर्मानुष्ठान मोक्ष-साधक नहीं होता और आत्मशुद्धि किये बिना जीव अध्यात्मादि योगों का पालन करने में समर्थ नहीं हो सकता। पंचाचार का पालन आत्मा के निज गुणों को विकसित या प्रकट करने का उपक्रम है। जब आत्मा का विकास पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब अनायास ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यही आत्मा की निर्विकल्प-ज्ञान दशा है और यही अध्यात्म की पराकाष्ठा है। आ० हरिभद्र के अनुसार केवल शुक्लपाक्षिक जीव, जिसने मोहरागमयी ग्रन्थि का भेदन कर

---

१. (क) देशादि-भेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः ।
अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ।। – योगबिन्दु, ३५७
(ख) **Deśavirati occupies the fifth Guṇasthāna while Sarva Cāritri (virati) occupies the sixth or seventh Guṇasthāna. Then there are names for the over all character of the person occupying the Guṇasthānas eighth etc. By deśa etc., Haribhadra means all these means. —Yogabindu., p.93**

२. **Now we can treat Adhyātma as a near synonym for good conduct.**
— Yogadṛṣtisamuccya.& Yogaviṁśikā. Appendix - I, p.100.

३. योगबिन्दु, ४०४ ; अध्यात्मोपनिषद्, १/२

४. (क) निज शुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम्। – समयसार, तात्पर्यवृत्ति,परि० पृ० ५२५
(ख) द्रव्यसंग्रह, टीका ५७/२३८

५. (क) अज्झप्पज्झाणजुत्ते (अध्यात्मध्यानयुक्तः) 'अध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मालम्बनं ध्यानं चित्तनिरोधस्तेन युक्तः'। इति व्याख्याकारः। – प्रश्नव्याकरण (टीका) संवरद्वार ३.
(ख) अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवदिट्ठए ठिअप्पा। – सूत्रकृतांगसूत्र, १६/३

६. आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः। – यशस्तिलकचम्पू, ६/१,

७. औचित्याद् व्रतयुक्तस्य वचनात् तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ।। – योगबिन्दु, ३५८

८. आत्मानमधिकृत्य स्याद्, यः पंचाचारचारिमा ।
शब्दयोगार्थनिपुणास्तदध्यात्मं प्रचक्षते ।। – अध्यात्मोपनिषद्, १/२

९. रूढ्यर्थनिपुणास्त्वाहुश्चित्तं मैत्र्यादि वासितम् ।
अध्यात्मं निर्मलं बाह्यव्यवहारोपबृंहितम् ।। – अध्यात्मोपनिषद्, १/३

दिया है और जो चारित्र पालन के पथ पर समारूढ़ है, वही अध्यात्मयोग का अधिकारी है।[१] अध्यात्म की उक्त परिभाषा में 'व्रतयुक्त प्राणी द्वारा औचित्यपूर्वक चारित्र पालन करना' से यह ज्ञात होता है कि पंचम गुणस्थानवर्ती[२] जीव ही अध्यात्मयोग का पालन करने में समर्थ हो सकता है, क्योंकि औचित्यपूर्ण चारित्र का पालन करने की योग्यता पांचवें गुणस्थान में ही प्राप्त होती है। व्रतयुक्त देशविरति या सर्वविरति साधक ही अध्यात्मयोग में प्रवृत्त होते हैं।[३] आ० हरिभद्रसूरि के कथन से भी यही सूचित होता है। इसी भाव के आधार पर पंचमगुणस्थान अथवा उच्च भूमिकाओं में स्थित जीव को ही अध्यात्मयोग का अधिकारी समझा जाता हैं।[४]

अध्यात्मयोग का पालन करने वाला जीव दूसरों के सुखों से ईर्ष्या, दुःखियों की उपेक्षा, शुभकर्मों से अद्वेष ओर अधर्मियों के प्रति राग-द्वेष आदि सभी अशुभ भावनाओं एवं प्रवृत्तियों का त्याग करता है।[५] उसके ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होता है, आत्मशक्ति जागृत होती है, शील का पालन करने से मन की समाधि (शान्ति) प्रकट होती है, वस्तु-तत्त्व का यथार्थ बोध होता है और अमृत के समान ज्ञानादि का सत्य अनुभूत होता है।[६]

अध्यात्मयोग के प्रकार

आ० हरिभद्रसूरि ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अध्यात्मयोग को विविध प्रकार का बताया है।[७] इनके नाम हैं – जप, आत्मसंप्रेक्षण, देववन्दन, प्रतिक्रमण, भावनानुचिन्तन। अध्यात्म के उक्त भेदों की आ० हरिभद्र ने अन्य विद्वानों के मतानुकूल ही व्याख्या की है।

जप

आ० हरिभद्र का मत है कि जो साधक योग-साधना में अभी प्रविष्ट ही हुआ है अर्थात् जिसने योग का अभ्यास करना प्रारम्भ ही किया है, उसकी दृष्टि में 'जप' ही अध्यात्म है। दूसरे शब्दों में अध्यात्म का प्रारम्भिक रूप 'जप' है। जप की सिद्धि देवता के अनुग्रह से होती है।[८] इस अध्यात्मस्थिति (जप) में साधक देवस्तुति रूप मन्त्र की साधना करता है, जिससे पापरूपी विष का नाश हो जाता है।[९] जप

---

१. चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः ।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च, तस्यैवैतदुदाहृतम् ।। – योगबिन्दु, ७२

२. गुणस्थानों का विस्तृत विवेचन के लिए देखें प्रस्तुत ग्रन्थ का 'आध्यात्मिक विकासक्रम' नामक पांचवाँ अध्याय

३. (क) औचित्याद् व्रतयुक्तस्य वचनात् तत्त्वचिन्तनम् । – योगबिन्दु, ३५८
(ख) देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः ।
अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ।। – वही, ३५७

४. **From the view point of the stage of spiritual development only the souls in the fifth or some higher stage are capable of it. — Studies in jain philosophy, p. 298**

५. सुखीर्ष्या दुःखितोपेक्षां पुण्यद्वेषमधर्मिषु ।
रागद्वेषौ त्यजन्नेता लब्ध्याध्यात्मं समाश्रयेत् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/७

६. ततः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ।। – योगबिन्दु, ३५६ ; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/८

७. तत्त्वचिन्तनमध्यात्ममौचित्यादियुतस्य तु ।
उक्तं विचित्रमेतच्च तथावस्थादि-भेदतः ।। – योगबिन्दु, ३८०

८. आदिकर्मकमाश्रित्य जपो ह्यध्यात्ममुच्यते ।
देवतानुग्रहांगत्वादतोऽयमभिधीयते ।। – वही, ३८१

९. जपः सन्मन्त्रविषयः स चोक्तो देवतास्तवः ।
दृष्टः पापापहारोऽस्माद्, विषापहरणं यथा ।। – योगबिन्दु, ३८२

की विधि तथा उपयुक्त स्थान आदि का निरूपण भी आ० हरिभद्र ने किया है, जो प्रायः सभी परम्पराओं में मान्य है।[1] उन्होंने योगबिन्दु में जप की विधि एवं समयावधि का भी उल्लेख किया है।

आत्म-संप्रेक्षण (योग्यतांकन)

अन्य विद्वानों के अनुसार अपने औचित्य-योग्यता-सामर्थ्य का विचार कर तदनुसार धर्मव्यापार में प्रवृत्ति करना तथा उसके द्वारा आत्मसंप्रेक्षण (आत्मा के स्वरूप का बोध प्राप्त करना) भी अध्यात्म है।[2] साधक अपनी योग्यता का अंकन तीन प्रकार से कर सकता है : १. योग (कायिक, मानसिक, वाचिक प्रवृत्ति) द्वारा, २. जनापवाद (लोगों में अपने संबंध में प्रचलित अपवादों) द्वारा तथा ३. आगमशास्त्रों में वर्णित शकुन आदि चिन्हों द्वारा।[3]

देववन्दन

देव आदि का भली-भांति वंदन करना, यथाविधि प्रतिक्रमण करना, मैत्री, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ्य रूप भावनाओं का चिन्तन करना तीसरा अध्यात्म है।[4]

प्रतिक्रमण

'प्रति' उपसर्गपूर्वक गमनार्थक 'क्रमु' धातु से प्रतिक्रमण शब्द बना है। इसका अर्थ है – प्रतिकूल पादनिक्षेप अर्थात् सदोष आचरण में जितने आगे बढ़ गये थे उतने ही पीछे हट कर स्वस्थान पर जाना।[5] अतः प्रतिक्रमण का अर्थ हुआ दोषों का प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) करना। आ० हरिभद्रसूरि इसी बात को अन्य शब्दों में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि निषिद्ध आचरणों का सेवन करने से साधना में जो दोष आता है, उसकी भाव-संशुद्धि का परम हेतु प्रतिक्रमण है।[6] प्रतिक्रमण क्रिया करने के लिए प्रातःकाल और सायंकाल का समय तो निर्धारित है ही, साथ ही इसको दैनिक छोटी से छोटी क्रिया करने पर तथा विशेष अवसरों पर भी करने का विधान शास्त्रों में मिलता है।[7] आ० हरिभद्रसूरि के मत में प्रमाद के कारण दोष उत्पन्न होने पर भी साधक को दिन में दो बार प्रातः और सायं तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। यदि दोष न भी उत्पन्न हो, तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए, क्योंकि इससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्मगुणों की वृद्धि होती है। इसे उन्होंने तीसरे वैद्य की औषधि के दृष्टांत से स्पष्ट करने का प्रयास किया है।[8]

---

१. योगबिन्दु, ३८३–३८७

२. स्वौचित्यालोचनं सम्यक् ततो धर्मप्रवर्तनम् ।
आत्मसंप्रेक्षणं चैव तदैतदपरे जगुः ।। – वही, ३८६

३. योगेभ्यो जनवादाच्च लिंगेभ्योऽथ यथागमम् ।
स्वौचित्यालोचनं प्राहुर्योगमार्गकृतश्रमाः ।।
योगाः कायादिकर्माणि जनवादस्तु तत्कथा ।
शकुनादीनि लिंगानि स्वौचित्यालोचनास्पदम् ।। – वही ३६०, ३६१

४. देवादिवंदनं सम्यक् प्रतिक्रमणमेव च ।
मैत्र्यादिचिन्तनं चैतत् सत्त्वादिष्वपरे जगुः ।। – वही, ३६७

५. प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणं अयमर्थः शुभयोगेभ्योऽशुभायोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एवं क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।
– योगशास्त्र, स्वो० वृ० ३/१२६.

६. निषिद्धासेवनादि यद् विषयोऽस्य प्रकीर्तितः।
तदेतद् भावसंशुद्धेः कारणं परमं मतम् ।। – योगबिन्दु ४०१

७. आवश्यकनिर्युक्ति, (निर्युक्तिसंग्रह) गा० १२४५

८. प्रतिक्रमणमप्येवं सति दोषे प्रमादतः ।
तृतीयौषधकल्पत्वाद् द्विसन्ध्यमथवाऽसति ।। – योगबिन्दु, ४००

'प्रतिक्रमण' का जैनशास्त्रों में बहुत महत्त्व है। इसीलिए समस्त आवश्यक क्रिया को 'प्रतिक्रमण' शब्द से भी कहा जाता है।[१] वैसे 'श्रमण' के लिए निर्धारित षडावश्यकों में इसका उल्लेख मिलता है।[२] 'प्रतिक्रमण' आत्मशुद्धि तथा जीवन-शोधन की श्रेष्ठ प्रक्रिया है, इसलिए आ० हरिभद्र ने इसको अध्यात्म के अंग के रूप में स्वीकार किया है।

भावनानुचिन्तन

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं का चिन्तन-मनन और आचरण करने से अध्यात्मयोग पुष्ट होता है। इसलिए इन्हें अध्यात्मयोग के अनिवार्य अंग कहा गया है। इनका वर्णन आगे किया गया है।

२. भावनायोग

जिन क्रियाओं, भावों या विचारों से जीव भावित होता है, वह भावना है।[३] आ० हरिभद्र के अनुसार, अध्यात्म का पुनः पुनः अभ्यास – चिंतन करना भावना है। परिणामस्वरूप मन की स्थिरता से युक्त 'भावनायोग' प्रकट होता है।[४] भावना के अभ्यास से रागद्वेषादि क्षीण हो जाते हैं।[५] स्पष्ट शब्दों में, भावना के अभ्यास से काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, आदि दोषों से युक्त अशुभ भाव निवृत्त हो जाते हैं, तथा सद्भावनाओं की वृद्धि होती है।[६] जैनागमों में भी भावनायोग की महत्ता प्रकट की गई है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि जिसकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध हो जाती है, वह सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।[७]

भावना के अनेक प्रकार हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वैराग्यभेद से भावना के पांच प्रकार कहे गये हैं।[८] इसके अतिरिक्त भावना के अनेक और वर्गीकरण भी मिलते हैं। पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ हैं।[९] धर्म और शुक्ल ध्यान की चार-चार (मिलित रूप में आठ) अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) हैं।[१०] ये दोनों आगमकालीन वर्गीकरण हैं। तत्त्वार्थसूत्र में एक वर्गीकरण बारह भावनाओं का[११] और दूसरा वर्गीकरण चार भावनाओं का[१२] प्राप्त होता है।

---

१. श्रमणसूत्र, पृ० २०६–२१०
२. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, २६/८–१३
   (ख) सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनायां प्रतिक्रमे ।
   प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य संवरः ।। – योगसारप्राभृत, ५/४६
३. पासणाहचरियं, देवभद्र, ५/४६०
४. (क) अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः ।
   मनः समाधिसंयुक्तः पौनःपुन्येन भावना ।। – योगबिन्दु, ३६०
   (ख) अभ्यासो वृद्धिमानस्य भावना बुद्धिसंगतः । – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/६
   (ग) अस्याध्यात्मस्य अभ्यासोऽनुवर्तनं भावनोच्यते । – वही, स्वो० वृ० १८/६
५. भावयन्ते मुमुक्षुभिरभ्यस्यन्ते निरंतरमेता इति भावनातो रागादिक्षय इति। – धर्मबिन्दुप्रकरण, ७५
६. (क) निवृत्तिरशुभाभ्यासाद् भाववृद्धिश्च तत्फलम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/६
   (ख) प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । – व्यासभाष्य, पृ० १७०
७. भावणाजोग सुद्धप्पा जले णावा व आहिया ।
   नावा व तीर संपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्ठइ ।। – सूत्रकृतांगसूत्र, १/१५/५
८. (क) पासणाहचरियं, ५/४६०
   (ख) ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवैराग्यभेदतः ।
   इष्यते पञ्चधा चेयं दृढ़संस्कारकारणम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/१०
९. उत्तराध्ययनसूत्र, १/१७
१०. स्थानांगसूत्र, ४/१/२४७, पृ० १२७
११. तत्त्वार्थसूत्र, ६/७
१२. वही, ७/६

योग के संदर्भ में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य – ये चार भावनाएँ भावनायोग अथवा अध्यात्मयोग के अनिवार्य अंग हैं।[१] जैनागमों में भी इन भावनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[२] आगमोत्तर साहित्य मे सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने इनका उल्लेख किया है।[३] पश्चात्वर्ती अन्य जैनाचार्यों ने भी इन चार भावनाओं की चर्चा की है।[४] प्रसिद्ध जैन योगाचार्यों में हेमचन्द्र एवं शुभचन्द्र ने ध्यान को परिपुष्ट करने के लिए उपर्युक्त चार भावनाओं का वर्णन किया है[५] क्योंकि इन चारों भावनाओं का योग-साधना से घनिष्ठ संबंध है। जब तक चित्त में भावना नहीं आती, तब तक शान्त रस की प्रचुरता नहीं आती। भावनाएँ चूँकि हृदय पर प्रभाव डालती हैं इसलिए इनको योग-साधना का विशिष्ट एवं अनिवार्य भाग माना गया है। इन भावनाओं के अभ्यास से साधक समत्वयोग की साधना करने में समर्थ बनता है, फिर माध्यस्थ्य भावना तो स्पष्टरूपेण समत्वयोग की साधना ही है। इसी प्रकार अन्य तीनों भावनाएँ अध्यात्मयोग में सहायक होती हैं। इसीकारण, इन चारों भावनाओं का योग-भावना के रूप में वर्गीकरण किया गया है।[६] शास्त्रों में कहा गया है कि उपर्युक्त भावनाएँ विवेकशील, गम्भीर-चेता तथा सन्मार्गानुगामी पुरुषों के चित्त में विशेष रूप से उद्भावित होती हैं।[७] वैसे आगमों में भावना के लिए अणुवेक्खा (अनुप्रेक्षा) शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है बार बार देखना, चिन्तन-मनन और अभ्यास करना।[८] शास्त्रों में बारह अनुप्रेक्षाओं का भावना रूप में भी विवेचन उपलब्ध होता है।[९]

पातञ्जलयोगसूत्र में योग के संदर्भ में मैत्री, करुणा, मुदिता ओर उपेक्षा – इन चार भावनाओं का विशद वर्णन हुआ है[१०] जिनकी व्याख्या हरिभद्र के षोडशक में भी देखने को मिलती है।[११]

३. ध्यानयोग

भावनायोग का अभ्यास करते-करते सूक्ष्म उपयोग पूर्वक किसी शुभ आलम्बन पर मनोवृत्ति को स्थिर करना 'ध्यान' है। यह ध्यान दीपक की लौ के समान ज्योर्तिमय होता है और उस स्थिरता में सूक्ष्म

---

१. मैत्री प्रमोद कारुण्य-माध्यस्थ्यपरिचिन्तनम्।
सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाप्रज्ञाप्यगोचरम्।। – योगबिन्दु, ४०२

२. आवश्यकसूत्र, ४; उत्तराध्ययनसूत्र, १६/२; सूत्रकृत्रांगसूत्र, १/१५/१३, १/६/३३, १/१/४/२; आचारांगसूत्र, १/४/३

३. मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणधिकक्लिश्यमानाऽविनेयेषु। – तत्त्वार्थसूत्र, ७/६

४. अमितगति श्रावकाचार, गा० १; अध्यात्मकल्पद्रुम, गा० ११

५. (क) मैत्रीप्रमोदकारुण्य माध्यस्थानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ।। – योगशास्त्र, ४/११७
(ख) चतस्त्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया धर्मसिद्धये ।। – ज्ञानार्णव, २५/४

६. जैनयोग : सिद्धान्त और साधना, पृ० २२६

७. विवेकिनो विशेषेणभवत्येतद् यथागमम् ।
तथा गम्भीरचित्तस्य सम्यग्मार्गानुसारिणः ।। – योगबिन्दु, ४०३

८. द्रष्टव्य : भावनायोग – एक विश्लेषण, पृ० १३–१५

९. प्रशमरतिप्रकरण, १४६–१५० ; ध्यानशतक, २,

१०. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/३३

११. (क) परहितचिंता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा।। – षोडशक, ४/१५
(ख) मैत्री परस्मिन् हितधीः समग्रे, भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः।
कृपा भवार्त्ते प्रतिकर्तुमीहोपेक्षैव माध्यस्थ्यमवार्यदोषे।। – अध्यात्मकल्पद्रुम, १/११

आत्मा का उपयोग भी साथ ही होता है।[१] जैनग्रन्थों के अनुसार एकाग्रचिंतानिरोध 'ध्यान' है। विद्वानों की दृष्टि में एकाग्रता और चिन्तानिरोध – दो ध्यान हैं, जिनमें चिन्तानिरोध ध्यान उच्च सोपान से सम्बद्ध है।[२]

सामान्यतः चित्त को किसी विषय पर केन्द्रित करना 'ध्यान' है।[३] तत्त्वार्थसूत्र में लिखा गया है कि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उत्तम संहनन करने वाले जीव की एक ही विषय पर सर्वथा ध्येय विषय में एकाकारवृत्ति का प्रवाहित होना 'ध्यान' है।[४] महर्षि पतञ्जलि ने भी ध्येय में चित्त की एकतानता को 'ध्यान' कहा है।[५]

ध्यानयोग में आत्मा में एक विषय में एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि बाद में उससे पृथक् अन्य विषय पर विचार नहीं होता तथा बोध बहुत उन्नत हो जाता है। आ० हरिभद्र व उपा० यशोविजय का मन्तव्य है कि चित्तगत खेद, उद्वेग, भ्रम, उत्थान, क्षेप, आसंग, अन्यमुद् तथा रुग् (रोग, पीड़ा) इन आठ दोषों का त्याग करने पर ही ध्यानयोग की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं।[६]

ध्यानयोग आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने का प्रबलतम साधन है। इससे जगत् के समस्त भाव वशीभूत हो जाते हैं और चित्त में स्थिरता आती है। संसार से संबंध-विच्छेद हो जाता है तथा आत्मा में सूर्य के समान तेज व शक्ति प्रकट होती है।[७]

४. समतायोग

व्यवहारिक दृष्टि से अविद्या द्वारा कल्पित इष्ट एवं अनिष्ट वस्तुओं के प्रति अथवा शुभाशुभ परिणामों के प्रति तटस्थता रखना 'समता' है।[८] आगमों के अनुसार शत्रु व मित्र, मणि व पत्थर तथा सुवर्ण और मिट्टी में राग-द्वेष के उत्पन्न न होने को 'समता' कहा गया है।[९] आ० हेमचन्द्र ने रागद्वेष आदि हेतुओं

---

१. (क) शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।
स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ।। – योगबिन्दु, ३६२.
(ख) उपयोगे विजातीयप्रत्ययाव्यवधानभाक् ।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/११
(ग) तुलना : निव्वायसरयणप्पदीपज्झाणमिव निप्पकम्पे । – प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, ५

२. द्रष्टव्य : तत्त्वार्थसूत्र, ६/२१ पर पं० सुखलाल जी की टिप्पणी ।

३. आवश्यकनिर्युक्ति, १४७७; ध्यानशतक, २

४. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्, आमुहूर्तात् । – तत्त्वार्थसूत्र, ६/२७–२८

५. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/२

६. (क) अष्टपृथग्जनचित्तत्यागाद्योगिकुलचित्तयोगेन् ।
जिनरूपं ध्यातव्यं योगविधावन्यथादोषः ।।
खेदोद्वेगक्षेपोत्थानभ्रान्त्यन्यमुद्रुगासंङ्गैः ।
युक्तानि हि चित्तानि प्रबन्धतो वर्जयेन्मतिमान् ।। – षोडशक, १४/२,३
(ख) खेदोद्वेगभ्रमोत्थानक्षेपासंगान्यमुद्रुजाम् ।
त्यागादष्टपृथक् चित्तदोषाणामनुबन्ध्यदः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/१२

७. (क) वशिता चैव सर्वत्र, भावस्तैमित्यमेव च ।
अनुबन्धव्यवच्छेद, उदर्कोऽस्येति तद्विदः ।। – योगबिन्दु, ३६३
(ख) वशिता चैव सर्वतः भावस्तैमित्यमेव च ।
अनुबन्धव्यवच्छेदश्चेति ध्यानफलं विदुः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/२१

८. (क) अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन, समता समतोच्यते ।। – योगबिन्दु, ३६४
(ख) व्यवहारकुदृष्ट्योच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।
कल्पितेषु विवेकेन तत्त्वधीः समतोच्यते ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/२२

९. (क) सत्तु-मित्त-मणि पाहाण-मट्टियासु रागदोसाभावो समुदाणाम । – धवला, पुस्तक ८, पृ० ८४
(ख) भगवती आराधना, विजयोदया टीका, ७८
(ग) मूलाचार, १/२२
(घ) आचारांगसूत्र, १/३४

में माध्यस्थ्यवृत्ति को 'समता' कहा है।[1] समता अर्थात् माध्यस्थ भाव आने से मन का उद्वेग नष्ट हो जाता है।[2] ध्यानयोग और समतायोग में अन्योऽन्याश्रय संबंध है क्योंकि ध्यान के बिना समतायोग सम्भव नहीं होता और समता के बिना ध्यानयोग संभव नहीं। अतः ध्यानयोग को साधने के लिए समतायोग की पूर्ण आवश्यकता है।[3] समतायोग में जो प्राणी आचरण करता है, उसको अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। फिर साधक की तत्त्व बुद्धि इतनी स्थिर हो जाती है कि वह उन लब्धियों अर्थात् असाधारण शक्तियों का कभी उपयोग नहीं करता, वह उनको स्थूल जानकर उनमें लोभ नहीं करता। इस योग में सूक्ष्मकर्मों का भी क्षय हो जाता है, उससे विशिष्ट चारित्र जैसे, 'यथाख्यातचारित्र' और 'केवलज्ञानदर्शन' को आवृत्त करने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। साधक को संसार से किसी भी प्रकार का सुख मिलने की अपेक्षा नहीं रहती अर्थात् उसका संसार से संबंध विच्छेद हो जाता है।[4] संक्षेप में समतायोग के तीन फल बताये गये हैं – लब्धियों का अप्रवर्तन, सूक्ष्मकर्मों का क्षय और अपेक्षा तंतुओं का विच्छेद।

५. वृत्तिसंक्षययोग

'वृत्तिसंक्षय' आ० हरिभद्रसूरि द्वारा निरूपित योगों में अन्तिम है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से युक्त अध्यात्मयोग के साधक को अनुक्रम में भावनायोग, ध्यानयोग और समतायोग की प्राप्ति होती है। भावनादि तीनों योगों के अभ्यास से वृत्तिसंक्षययोग सिद्ध होता है। आत्मा और कर्म के संयोग की अनादिकालीन योग्यता का संक्षय (निर्मूल नाश) होना वृत्तिसंक्षय है।[5] आत्मा की सूक्ष्म व स्थूल सभी चेष्टाओं को 'वृत्तियाँ' कहा जाता है। ये वृत्तियाँ आत्मेतर/विजातीय पदार्थों तथा अनादि अशुभवृत्तियों अर्थात् कर्मबन्ध की योग्यता रूप अन्यान्य हेतुओं के संयोग से उत्पन्न होती हैं, इसलिए इन्हें योग्यता (वृत्तियाँ) कहा जाता है।[6] अतः आत्मा की स्थूल-सूक्ष्म चेष्टाओं और उनके हेतुभूत कर्मसंयोग की योग्यता के अपगम अर्थात् ह्रास को 'वृत्तिसंक्षय' कहते हैं।[7] यह 'वृत्तिसंक्षय' ग्रन्थिभेद से आरम्भ होकर अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में समाप्त होता है।[8] आ० हरिभद्रसूरि 'वृत्तिसंक्षययोग' का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि आत्मा में मन और शरीर के संयोग से उत्पन्न होने वाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृत्तियों का

---

१. समता रागद्वेषहेतुषु मध्यस्थता। – योगशास्त्रम्, स्वोपज्ञविवरण ३/८२ पृ०

२. तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य ।
निश्चयतो नानिष्ट न विद्यते किंचिदिष्टं वा ।। – उद्धृत् : द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/२२ स्वो०वृ०

३. विनैतया न हि ध्यानं ध्यानेनेयं विना च न ।
ततः प्रवृत्तचक्रं स्याद्द्वयमन्योऽन्यकारणात् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/२३

४. (क) ऋद्धयप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/२४; योगबिन्दु, ३६५
(ख) ऋद्धीनामामर्षौषध्यादीनामुपजीवनेनाप्रवर्तनमव्यापारणं। सूक्ष्माणां केवलज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्राद्यावरकाणां कर्मणां क्षय। तथेति समुच्चये। अपेक्षैव बन्धनहेतुत्वात्तन्तुस्तद्वयवच्छेदः फलमस्याः समतायाः प्रचक्षते विचक्षणाः।
– द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/२४ स्वो०वृ०

५. भावनादित्रयाभ्यासाद् वर्णितो वृत्तिसंक्षयः ।
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽर्थतः ।। – योगबिन्दु, ४०५

६. स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः ।
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यता बीजमस्य तु ।। – वही, ४०६

७. वृत्तिक्षयो हि आत्मनः कर्मसंयोगयोग्यतापगमः, स्थूलसूक्ष्मा ह्यात्मनश्चेष्टावृत्तयः तासां मूलहेतुः कर्मसंयोगयोग्यता,...।
– पातञ्जलयोगसूत्र, १/१८ पर यशो० वृ०

८. सा चाकरणनियमेन ग्रन्थिभेदे उत्कृष्टमोहनीयबन्धव्यवच्छेदेन तत्तद्गुणस्थाने तत्तत्प्रकृत्यात्यन्तिकबन्ध व्यवच्छेदस्य हेतुना क्रमशो निवर्तते । – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१८ पर यशो० वृ०

अपुनर्भाव रूप से जो निरोध होता है वह वृत्तिसंक्षय है।[1] उनका कहना है कि आत्मा स्वभाव से ही निस्तरंग सागर के समान निश्चल है। जैसे वायु के सम्पर्क से उसमें तरंगें उठने लगती हैं, वैसे ही मन और शरीर रूप वायु के संयोग से आत्मा में संकल्प-विकल्प और परिस्पन्द जैसी अनेक प्रकार की चेष्टारूप वृत्तियाँ उठने लगती हैं। इनमें विकल्प रूप वृत्तियों का उदय मनोद्रव्य के संयोग से होता है और चेष्टारूप वृत्तियों की उत्पत्ति शरीर के संबंध से होती है। इन विकल्प और चेष्टारूप वृत्तियों का निर्मूल नाश ही 'वृत्तिसंक्षययोग' है। यह 'वृत्तिसंक्षययोग' साधक को केवलज्ञान की प्राप्ति के समय और अयोगकेवली की स्थिति में उपलब्ध होता है।[2] यद्यपि वृत्तिनिरोध उच्चतर ध्यान आदि की अवस्था में भी होता है, किन्तु सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध तो 'वृत्तिसंक्षययोग' में ही संभव है। 'वृत्तिसंक्षय' योग से साधक को कैवल्य, शैलेशी अवस्था तथा निर्बाध आनन्ददायक, परमानन्दमय मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है।[3] जैन दर्शन के अनुसार १३वें गुणस्थान में कैवल्य की प्राप्ति होती है जिसमें, विकल्प रूप वृत्तियाँ निर्मूल हो जाती हैं, और १४वें गुणस्थान में शैलेशीकरण तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, जहाँ अवशिष्ट चेष्टारूप वृत्तियों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है।[4] उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं को जैन परिभाषा में क्रमशः 'सयोगकेवलि' तथा 'अयोगकेवलि' नाम दिया गया है।[5] उक्त दोनों अवस्थाओं को जैनेतर परिभाषा में क्रमशः 'जीवन्मुक्ति' और 'विदेहमुक्ति' कहा जाता है। अतः स्पष्ट है कि 'वृत्तिसंक्षययोग' आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की पराकाष्ठा है, अर्थात् मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण है, इसलिए इसे प्रधानयोग समझना चाहिये। अध्यात्म आदि पूर्ववर्ती चार योग चूँकि प्रधान योग वृत्तिसंक्षय के कारण हैं, इसलिए योग कहे जाते हैं।

उपर्युक्त पांचों प्रकार के योग, साधक के आध्यात्मिक विकासक्रम को सूचित करते हैं। आ० हरिभद्रसूरि स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार साधक इन पांचों प्रकार के योगों को क्रमशः प्राप्त करता हुआ 'केवलज्ञान' प्राप्त करता है। अध्यात्मादि तीन योगों का पालन करने से साधक के भावों और चारित्र की शुद्धि होती है, जिससे साधक के आयुष्यकर्म समाप्त हो जाते हैं और वह 'समता' नामक चतुर्थ योग को प्राप्त करता है। 'समतायोग' में साधक क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है। तत्पश्चात् उसे अल्पकाल में ही 'केवलज्ञान' की प्राप्ति होती है,[6] जो 'वृत्तिसंक्षय' नामक योग की प्रथम उपलब्धि है।

---

१. (क) अन्यसंयोगवृत्तीनां, यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ।। – योगबिन्दु, ३६६
(ख) विकल्पस्पन्दरूपाणां वृत्तीनामन्यजन्मनाम् ।
अपुनर्भावतो रोधः प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/२५

२. इह स्वभावत एव निस्तरंगमहोदधिकल्पस्यात्मनो विकल्परूपाः परिस्पन्दरूपाश्च वृत्तयः सर्वा अन्यसंयोगनिमित्ता एव। तत्र विकल्परूपास्तथाविधमनोद्रव्यसंयोगात् परिस्पन्दनरूपाश्च शरीरादिति। ततोऽन्यसंयोगे या वृत्तयः तासां यो निरोधः तथा तथा केवलज्ञानलाभकालेऽयोगिकेवलिकाले च अपुनर्भावरूपेणपुनर्भवनपरिहाररूपेण स तु–स पुनः। तत्संक्षयो वृत्तिसंक्षयो मत इति । – योगबिन्दु, गा० ३६६ पर स्वो० वृ०

३. (क) अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः ।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ।। – योगबिन्दु, ३६७
(ख) केवलज्ञानलाभश्च शैलेशीसंपरिग्रह : ।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा फलमस्य प्रकीर्तितम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १८/२६

४. ज्ञानार्णव, ३९/५१–५३

५. पंचसंग्रह (संस्कृत), १/४९–५०

६. एवमासाद्य चरमं जन्माजन्मत्वकारणम् ।
श्रेणिमाप्य ततः क्षिप्रं केवलं लभते क्रमात् ।। – योगबिन्दु, ४२०

आ० हरिभद्रसूरि ने अपनी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय देते हुए उक्त पांच योग-भेदों की तुलना पातञ्जलयोगदर्शन सम्मत सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातयोग के साथ की है। उनके मतानुसार सम्प्रज्ञात-समाधि, जिसमें राजस एवं तामस वृत्तियों का सर्वथा निरोध होकर केवल सत्त्वप्रधान प्रज्ञाप्रकर्ष/उत्कृष्ट ज्ञान रूप वृत्ति का उदय होता है, अध्यात्म आदि चार भेदों में समाविष्ट मानी गई है, तथा असम्प्रज्ञात-समाधि, जिसमें सम्पूर्ण वृत्तियों का क्षय होकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, वृत्तिसंक्षययोग के समानान्तर कही गई है।[1]

पातञ्जलयोग सम्मत असम्प्रज्ञातसमाधि जैनमतानुसार सयोगकेवलि व अयोगकेवलि नामक दोनों अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करती है। इनमें से प्रथम सयोगकेवलि की स्थिति रागात्मक विकल्प रूप मनोवृत्तियों और उनके कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के निरोध से उत्पन्न होती है, और दूसरी अयोगकेवलि की स्थिति संपूर्ण चेष्टारूप वृत्तियों और उनके कारणभूत औदारिकादि शरीरों के क्षय से प्राप्त होती है। पहली अवस्था में कैवल्य और दूसरी अवस्था में निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है।[2]

उपा० यशोविजय जी ने अपने द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका नामक ग्रन्थ (योगावतार द्वात्रिंशिका) में आ० हरिभद्र का अनुसरण करते हुए अध्यात्म आदि पांच भेदों में से प्रारम्भिक चार भेदों में सम्प्रज्ञातसमाधि और 'वृत्तिसंक्षय' नामक अन्तिम योग में असम्प्रज्ञातसमाधि को घटित किया है। किन्तु पातञ्जलयोगसूत्र पर वृत्ति लिखते समय उन्होंने असम्प्रज्ञात की भांति सम्प्रज्ञातसमाधि को भी वृत्तिसंक्षय नामक पांचवें भेद में अन्तर्भूत कर दिया है।[3] इसमें उन्होंने वृत्तिसंक्षय के अर्थ को योगबिन्दु में किये गये अर्थ की अपेक्षा अधिक व्यापकता प्रदान कर इसके क्षेत्र को चतुर्थ गुणस्थान से १४वें गुणस्थान तक विस्तृत किया है। साथ ही १२वें गुणस्थान तक प्राप्त होने वाले पृथक्त्ववितर्क-विचार और एकत्ववितर्क-अविचार नामक दो शुक्लध्यानों में असम्प्रज्ञातयोग को अन्तर्भुक्त किया है, जो पातञ्जल योगशास्त्र में वर्णित चार समापत्तियों[4] के साथ तुलना करने पर उचित बैठता है। असम्प्रज्ञातयोग का अन्तर्भाव केवलज्ञान की प्राप्ति से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक अर्थात् १३वें और १४वें गुणस्थान में हो जाता है। इन दोनों गुणस्थानों में ज्ञानावरणादि चारों घाति कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से उत्पन्न कैवल्य अवस्था में कर्मसंयोग की योग्यता और उसमें उत्पन्न होने वाली चेष्टारूप वृत्तियों का समूल नाश हो जाता है। यही सर्ववृत्तिनिरोध रूप असम्प्रज्ञातयोग है। असम्प्रज्ञातयोग को 'संस्कारशेष' कहा गया है,[5] क्योंकि १३वें गुणस्थान में भवोपग्राही अर्थात् अघाती कर्मों का सम्बन्ध मात्र शेष रह जाता है। यही संस्कार है। उसी की अपेक्षा से असंप्रज्ञातयोग को संस्कार-शेष कहा गया है।[6] इस अवस्था में मतिज्ञान के भेदरूप संस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् वहाँ वृत्ति रूप भावमन नहीं रहता। मन के द्वारा विचार तो केवल मति और श्रुतज्ञान में ही किया जाता है। शेष

---

१. समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते ।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा।।
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ।। – योगबिन्दु, ४१६, ४२१

२. इह च द्विधाऽसंप्रज्ञातसमाधिः, सयोगिकेवलिकालभावी अयोगिकेवलिकालभावी च। तत्राद्यो मनोवृत्तीनां विकल्पज्ञानरूपाणां तद्बीजस्य ज्ञानावरणाद्युदयरूपस्यनिरोधादुत्पद्यते, द्वितीयस्तु सकलाशेषकायादि वृत्तीनां तद्बीजानामौदारिकादिशरीर–रूपाणागत्यन्तोच्छेदात् सम्पद्यते। – वही, स्वो०वृ०, गा० ४२१

३. द्विविधोऽप्ययं अध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिसंक्षयभेदेन पंचधोक्तस्य योगस्य पंचमभेदेऽवतरति।
– पातञ्जलयोगसूत्र १/१८ पर यशोविजयवृत्ति

४. पातञ्जलयोगसूत्र, १/२१–४४

५. (क) विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। – वही, १/१८
(ख) सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषोनिरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः। – व्यासभाष्य, पृ० ६४

६. संस्कारशेषत्वं चात्र भवोपग्राहिकर्मांशरूपसंस्कारापेक्षया व्याख्येयम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, यशो० वृ०, १/१८

तीनों (अवधि, मनःपर्याय, और केवल) ज्ञानों में मन की आवश्यकता नहीं रहती। १४वें गुणस्थान में मन, वचन और कायिक प्रवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से शैलेशीकरण एवं मोक्षपद की प्राप्ति होती है। सर्ववृत्तिनिरोध रूप असम्प्रज्ञातसमाधि की चरम परिणति यही है। इस प्रकार वृत्तिसंक्षय की इस व्यापक व्याख्या में योग के समस्त प्रकारों का समावेश किया जाना वर्णनशैली एवं संकेतशैली की विभिन्नता को ही सूचित करता है, वस्तुतः इनमें कोई भेद नहीं है।

(च) तात्त्विकादि षड्विध भेद :

आ० हरिभद्र ने अन्य दृष्टि से योग के छः भेद भी किये हैं। ये हैं – तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध, सास्रव और अनास्रव।[१] इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

तात्त्विक और अतात्त्विकयोग

तात्त्विकयोग यथार्थतः पारमार्थिकयोग हैं। जिसमें सम्यक् ज्ञानपूर्वक सुदेव, सुगुरु, सुधर्म पर श्रद्धा की जाती है, जीव, अजीवादि तत्त्वों के स्वरूप का यथार्थ बोध होता है और मोक्ष सुख की एकमात्र इच्छा होती है, वह 'तात्त्विकयोग' है।[२] संक्षेप में यथाविधि पारमार्थिक रूप में योग का अनुसरण करना 'तात्त्विकयोग' है। सुदेव, सुगुरु व सुधर्म की श्रद्धा से रहित लोकानुरंजनार्थ औपचारिक रूप से जिस योग का पालन किया जाता है वह 'अतात्त्विकयोग' है।[३]

सानुबन्ध और निरनुबन्धयोग

लक्ष्य को स्वायत्त करने तथा अविच्छिन्न गति से चलने वाला योग 'सानुबन्ध' होता है।[४] विद्वान् लोग इसे अतात्त्विक ही मानते हैं, क्योंकि आत्मा संसार में भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है और पुण्यवान् जीवात्माओं के भोग-विलास को देखकर उन भोगों को प्राप्त करने के लिए तड़पता हुआ ताप, शीत, डंस आदि परिषहों को सहन करता है। उपवास आदि करता है। इसप्रकार अकामनिर्जरा के द्वारा पुण्यबन्ध से देवत्व, राज्य तथा अनेक भोग-सामग्री प्राप्त करता है, परन्तु संसार में अत्यन्त आसक्ति होने से उस योग का सानुबन्ध कर्म अनुबंध रूप अतात्त्विकयोग है, जिसे दीर्घ संसार का कारण समझना चाहिए।

जिस योग में साधक की साधना में बीच-बीच में विच्छेद या गतिरोध होता रहता है, वह निरनुबन्धयोग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप तत्त्व की यथार्थता को जानकर सच्चरित्र के द्वारा यथाशक्ति अप्रमाद भाव से ध्यान-समाधि में स्थिरता प्राप्त करने से दीर्घकाल तक संसार का बंध नहीं होता। अल्पभवी अर्थात् दो या तीन भव में मोक्ष की ओर गमन करने वाला योग 'निरनुबंधयोग' कहलाता है।[५]

सास्रव और अनास्रवयोग

प्रवृत्ति रूप योग 'सास्रवयोग' है और निवृत्ति रूप योग 'अनास्रवयोग' है।[६] जो संसार को दीर्घ बनाता

---

१. तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथाऽपरः।
सास्रवोऽनास्रवश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः ।। – योगबिन्दु, ३२

२. योगबिन्दु, गा० ३३ पर स्वो० वृ०

३. तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया। – योगबिन्दु, गा० ३३ पर स्वो० वृ०

४. अच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवानपरो मतः ।। – योगबिन्दु, ३३

५. योगबिन्दु, (गुजराती अनुवाद) बुद्धिसागरसूरि, पृ० ८२

६. ललितविस्तरा, पृ० ६५

है, जन्म-मरण के चक्र को बढ़ाता है वह 'सास्रवयोग' है, और जो इस चक्र को रोकता है वह अनास्रवयोग' है।[1]

पुण्य-पाप रूप जीवहिंसा से युक्त यज्ञ-याग कराने, आहुति डालने, बलि देने आदि अनेक प्रकार के पापाचरण जीवात्मा से संबंध जोड़कर आत्मा को दीर्घतर संसार में भ्रमण कराते हैं, इसलिए 'आस्रवयोग' कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन सहित पांच महाव्रतों को धारण कर अप्रमादयुक्त पांच समिति, तीन गुप्ति सहित धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करने वाले योगी को 'अनास्रवयोग' होता है।[2]

(छ) स्थानादि पंचविध योग :

योग से अभिप्राय मोक्ष के कारणभूत आत्मव्यापार से है। हरिभद्रसूरि ने स्थान, उर्ण, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन – इन पांच व्यापारों को आत्मव्यापार में परिगणित कर योग के पांच भेद किये हैं।[3] उपा० यशोविजय ने ज्ञानसार में उक्त पंचविधयोग को समस्त आचारों में विशिष्ट मानते हुए ऊर्ण के स्थान पर वर्ण तथा अनालम्बन के स्थान पर एकाग्रता शब्द का प्रयोग किया है।[4] मोक्ष के कारण होने से ही इनकी योगरूपता सिद्ध होती है। उक्त पांच व्यापारों में प्रथम दो का संबंध बाह्यक्रिया से है तथा पश्चात्वर्ती तीन का सम्बन्ध ज्ञान या चिन्तन से है, इसीलिए इन्हें कर्मयोग और ज्ञानयोग इन दो भागों में विभाजित कर दिया गया है।[5] कर्मयोग बाह्य आध्यात्मिक व्यापार होने से योग का 'बहिरंग साधन' है और ज्ञानयोग आन्तरिक आध्यात्मिक व्यापार होने से योग का 'अंतरंग साधन' कहा जा सकता है।

१. स्थान

'स्थान' शब्द से तात्पर्य स्थित होने से है। मोक्ष के हेतुभूत धर्मव्यापारों में 'आसन' की विशिष्ट महत्ता है, क्योंकि इनको क्रियान्वित करने के लिए शरीर की स्थिरता अनिवार्य है। महर्षि पतञ्जलि के अष्टांगयोग में तृतीय अंग आसन है।[6] जैनयोग में 'आसन' के अर्थ में 'स्थान' शब्द का प्रयोग मिलता है।[7] आसन का अर्थ है – 'बैठना'। 'स्थान' का अर्थ है – 'गति की निवृत्ति'। स्थिरता आसन का महत्वपूर्ण स्वरूप है। वह खड़े होकर, बैठकर और लेटकर – तीनों प्रकार से प्राप्त की जा सकती है। इस दृष्टि से 'आसन' की अपेक्षा 'स्थान' से शब्द अधिक व्यापक है। इसीलिए आ० हरिभद्रसूरि ने 'आसन' की अपेक्षा 'स्थान' शब्द का उपयोग करना उचित समझा। यहाँ 'स्थान' शब्द से तात्पर्य स्थित होने से है।[8] इसमें आसनादि क्रियाओं का विधान है। आ० हरिभद्र ने किसी आसनविशेष अथवा स्थितिविशेष का उल्लेख

---

१. सास्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्रवः परः ।। – योगबिन्दु, ३४
२. योगबिन्दु, (गुज० अनु०) पृ० ८२–८३
३. (क) मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेणं ।।
ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो । – योगविंशिका, १, २
(ख) स्थानोर्णार्थालंबनतदन्ययोग परिभावनं सम्यक् ।
परतत्वयोजनमलं योगाभ्यास इति तत्त्वविदः ।। – षोडशक, १३/४
४. मोक्षेण योजनाद् योगः सर्वेऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्यस्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्रयगौचरैः ।। – ज्ञानसार, २७/१
५. (क) दुगमित्थकम्मजोगो तहा तियं नाणजोगो उ ।। – योगविंशिका, २
(ख) कर्मयोगं द्वयं तत्र, ज्ञानयोगं त्रयं विदुः ।। – ज्ञानसार, २७/२
६. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/२९
७. (क) तिट्ठंति तहिं तेण ठाणं। – आवश्यकचूर्णि, पृ० ४४
(ख) तिष्ठंति स्वाध्याय व्यापृता अस्मिन्निति स्थानम्। – व्यवहारभाष्य, ३ टी० पत्र ५४
८. स्थीयतेऽनेनेति स्थानम्। – योगविंशिका, गा० २ पर यशोविजय वृत्ति

नहीं किया। उपा० यशोविजय ने योगविंशिका एवं षोडशक की वृत्ति में कायोत्सर्ग, पर्यंकबन्ध एवं पद्मासन आदि शास्त्रप्रसिद्ध आसनों को 'स्थान' शब्द से अभिप्रेत माना है।[१]

२. ऊर्ण

ऊर्ण, वर्ण या शब्द पर्यायवाची हैं। आ० हरिभद्र ने 'ऊर्ण' शब्द का प्रयोग किया है और उपा० यशोविजय ने 'वर्ण' शब्द प्रयुक्त किया है। प्रत्येक क्रिया आदि के समय शास्त्रविहित जो सूत्र पढ़े जाते हैं, उन्हें ऊर्ण, अर्थात् वर्ण या शब्द कहा जाता है।[२]

३. अर्थ

अर्थ का अभिप्राय सूत्रार्थ के ज्ञान से है।[३] आत्मतत्त्व के गूढ़ रहस्यों को समझने के लिए शास्त्रविहित सूत्रों के अर्थ को जानना आवश्यक है। सूत्र के अर्थ (शब्द के अभिप्राय) को जाने बिना सूत्रोच्चारण का कोई महत्व नहीं होता। इसलिए आ० हरिभद्रसूरि ने 'अर्थ' को भी महत्वपूर्ण योग-साधन मानकर 'योग' की संज्ञा दी है।

४. आलम्बन

जब साधक आसन, ऊर्ण और अर्थ के अभ्यास में सिद्धहस्त हो जाता है तब वह ध्यान का अधिकारी होता है। प्रारम्भिक अवस्था में साधक को ध्यान के लिए किसी प्रतीक की आवश्यकता होती है। अतः वह किसी तीर्थंकर की मूर्ति अर्थात् बाह्य प्रतिमा आदि पर पूर्ण आस्था के साथ चित्त को एकाग्र करता है। बाह्य प्रतिमा आदि का ध्यान करना आलम्बन कहलाता है।[४]

आलम्बन दो प्रकार का होता है – रूपी ओर अरूपी। परम अर्थात् मुक्त आत्मा ही अरूपी आलम्बन है। उस अरूपी आलम्बन के गुणों की भावना रूप जो ध्यान है, वह सूक्ष्म (अतीन्द्रिय विषयक) होने से अनालम्बनयोग कहलाता है।[५] उपा० यशोविजय ने इसे निरालम्बन नाम दिया है।[६]

५. अनालम्बन

जब साधक तीर्थंकर की प्रतिमा आदि बाह्य प्रतीक से ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है, तब वह तीर्थंकर के आन्तरिक गुणों पर चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करता है। मन की यह एकाग्रता अनालम्बन कहलाती है, क्योंकि ध्येय वस्तु किसी भी इन्द्रिय के प्रत्यक्षगम्य नहीं है।[७] उपा० यशोविजय के शब्दों में रूपी द्रव्य के आलम्बन से रहित जो शुद्ध चैतन्य मात्र की समाधि है, वह अनालम्बन है।[८]

---

१. स्थानं आसनविशेषरूपं कायोत्सर्गपर्यंकबंधपद्मासनादि सकलशास्त्रप्रसिद्धम्। – योगविंशिका, गा० २ पर यशोविजय वृत्ति
२. ऊर्णः शब्दः स च क्रियादावुच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षणः। – वही
३. अर्थः शब्दाभिधेयव्यवसायः। – वही
४. आलम्बनं बाह्यप्रतिमादिविषयध्यानम्। – वही
५. (क) आलंबण पि एयं, रूवमरूपी य इत्थ परमु त्ति ।
तग्गुणपरिणइरूवो, सुहुमोऽणालंबणो नाम ।। – योगविंशिका, १६
(ख) षोडशक, १४/१
६. ज्ञानसार, २७/६
७. (क) सूक्ष्मोऽतीन्द्रियविषयत्वादनालम्बनो नाम योगः। – योगविंशिका, गा० २ पर यशो० वृ०
(ख) षोडशक, १४/१
(ग) **The word anālambana does not mean deviod of any ālambana (object) but only devoid ofmeans 'abstract' or subtle (Sūkṣma). — Studies in Jain Philosophy, p. 294.**
८. 'रहितः' इति रूपिद्रव्यालम्बनरहितोनिर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूप इत्येवं.....। – योगविंशिका, गा० २ पर यशोविजय वृत्ति

आलम्बनयोग के अधिकारी अधिक से अधिक छठे गुणस्थान वाले होते हैं। परन्तु अनालम्बनयोग के अधिकारी सातवें से १२वें गुणस्थान तक के स्वामी होते हैं। सप्तम गुणस्थान में ध्यान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में होता है। इस अवस्था में आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव करने के लिए बहुत उत्कंठित होता है। अतः वह अभ्यास करते-करते क्षपकश्रेणी पर चढ़कर आध्यात्मिक विकास के ८वें चरण पर पहुँच जाता है। इस स्थिति में ध्यान अपेक्षाकृत अधिक स्थिर होता है। आत्मा संसार से पूर्णतः पृथक् हो जाता है और यथार्थ स्वरूप का अनुभव करने के लिए गंभीरतापूर्वक आगे बढ़ता है। वह तब तक विश्राम नहीं करता, जब तक उसे पूर्णता प्राप्त नहीं हो जाती। ऐसे जीव की स्थिति ६वें गुणस्थान में होती है। इस अवस्था में आत्मा पुनः क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर १२वें गुणस्थान में पहुँचने के लिए प्रयत्न करता है। १२वें गुणस्थान में पहुँचने पर उसे उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह वह अवस्था है, जिसमें आत्मा अमूर्त विषयों पर ध्यान एकाग्र करता है। अभी उसे अमूर्त विषयों का अनुभव नहीं हुआ होता। परन्तु उसमें उन विषयों का अनुभव करने की तीव्र आध्यात्मिक इच्छा होती है। यही अनालम्बनयोग है।[1] इस अवस्था में जीव में आत्म-अनुभव का प्रयत्न जारी रहने से किसी भी ध्येय का ध्यान नहीं होता।[2] यही कारण है कि ध्यान बिना किसी आलम्बन के होता है। आ० हरिभद्र एवं उपा० यशोविजय ने उक्त अवस्था में स्थित साधक की धनुर्धारी व्यक्ति से, क्षपकश्रेणी की धनुष से, आत्म-अनुभव की ध्येय से और ध्यान की बाण से तुलना की है। जब बाण के छूटते ही लक्ष्यवेध रूप परमात्मतत्त्व का प्रकाश होता है, वह अवस्था अनालम्बनयोग की चरमसीमा मानी गई है।

उक्त परमात्मतत्त्व का प्रकाश ही केवलज्ञान है, जो अनालम्बनयोग का फल है।[3] आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से पूर्व जब तक उसकी प्रबल आकांक्षा होती है, तब तक का विशिष्ट प्रयत्न निरालम्बन ध्यान है। परन्तु 'केवलज्ञान' होने पर आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की इच्छा न रहने से अनालम्बन ध्यान न हो, तो भी आत्मतत्त्व विषयक केवलज्ञान रूप प्रकाश को 'सालम्बनयोग' कहा जा सकता है।

केवलि-अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् जब तक योग-निरोध के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, तब तक की स्थिति को एक प्रकार की विश्रान्ति मात्र कह सकते हैं, ध्यान नहीं, क्योंकि ध्यान वह विशिष्ट प्रक्रिया है, जो 'केवलज्ञान' के पूर्व या योगनिरोध के समय होती है। निरालम्बन ध्यान के सिद्ध हो जाने पर साधक मोह सागर को पार कर लेता है। यही क्षपकश्रेणी की सिद्धि है। क्षपकश्रेणी से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। 'केवलज्ञान' से क्रमशः 'अयोग' नामक योग तथा परम निर्वाण की प्राप्ति होती है।[4] इस अवस्था

---

१. (क) सामर्थ्ययोगतो या तत्र दिदृक्षेत्यसंगशक्त्याढ्या ।
सानालम्बनयोगः प्रोक्तस्तद्दर्शनं यावत् ।। – षोडशक, १५/८
(ख) षोडशक, यशोभद्रवृत्ति एवं यशोविजयवृत्ति १५/८
(ग) 'तत्र' परतत्वे द्रष्टुमिच्छादिदृक्षा 'इति' एवंस्वरूपा–असंगशक्त्यानिरभिष्वंगाविच्छन्नप्रवृत्त्या आढ्या–पूर्णा 'सा' परमात्मदर्शनेच्छा अनालम्बनयोगः, परतत्त्वस्यादर्शनं–अनुपलम्भं यावत्, परमात्मस्वरूपदर्शने तु केवलज्ञानेनानालम्बनयोगो न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात्। अलब्धपरतत्त्वस्तल्लाभाय ध्यानरूपेण प्रवृत्तो ह्यनालम्बनयोगः। – योगविंशिका, गा० १६ पर यशो० वृ०

२. तत्राप्रतिष्ठितोऽयं यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र ।
सर्वोत्तमानुजः खलु तेनानालम्बनो गीतः ।। – षोडशक, १५/६

३. (क) द्रागस्मात्तद्दर्शनमिषुपातज्ञातमात्रतो ज्ञेयम् ।
एतच्च केवलं तज्ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ।। – वही, १५/१०
(ख) योगविंशिका, गा० १६ पर यशो० वृ०

४. (क) एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव ।
तत्तो अजोगजोगो, कमेण परमं च निव्वाणं ।। – योगविंशिका, २०
(ख) योगविंशिका, गा० २० पर यशोविजयवृत्ति

में अवशिष्ट वृत्तियों के बीज रूप सूक्ष्म संस्कार भी जल जाते हैं। इसे ही पातञ्जलयोग में 'धर्ममेघ-समाधि' कहा गया है। अन्य लोग इसे अमृतात्मा, भवशत्रु, शिवोदय, सच्चिदानन्द आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं। यही सर्वोत्कृष्ट निर्वाण है।[१] महर्षि पतञ्जलि ने जिस योग (समाधि) को सम्प्रज्ञात कहा है वही जैन शास्त्रानुसार निरालम्बन ध्यान है। जैन परिभाषा में जो 'केवलज्ञान' है, वह पातञ्जलयोग की परिभाषा में 'असम्प्रज्ञातयोग' के नाम से अभिहित है।[२]

मोक्ष के साधनभूत उपर्युक्त स्थानादि पांच योगों का अनुष्ठान सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होने पर ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि क्रियारूप अथवा ज्ञानरूप चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम अर्थात् शिथिल होने पर अवश्य प्रकट होता है। इसीलिए चारित्री को ही योग का अधिकारी माना गया है।

यही कारण है कि आ० हरिभद्र ने योगबिन्दु में अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय रूप पांच योगों की प्राप्ति चारित्र में ही मानी है। उपा० यशोविजय ने अध्यात्मादि पांच योगों को स्थानादि पांच योगों में समाविष्ट किया है।

उपर्युक्त पंचविध योग की पातञ्जलयोगसूत्र से तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैनसम्मत 'स्थानयोग' महर्षि पतञ्जलि सम्मत तृतीय अंग 'आसन' ही है। इसकी विशेषता यह है कि यह 'स्थानयोग' आसन की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

स्थानादि पंचविध योग के भेद एवं उपभेद

उक्त स्थानादि योगों की सिद्धि जिस क्रम से होती है, तदनुरूप इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद किये गये हैं। सर्वप्रथम जीव में उक्त क्रियाओं के प्रति रुचि जागृत होती है। तत्पश्चात् वह उनमें कुशलतापूर्वक प्रवृत्ति करता है। अभ्यास करते करते उनमें स्थिरता प्राप्त कर लेता है।[३] और अन्त में उन क्रियाओं पर उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसी क्रम से आ० हरिभद्रसूरि एवं उपा० यशोविजय ने स्थानादि प्रत्येक योग के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि आदि चार-चार भेद किये हैं।[४] जिस अवस्था में स्थान आदि योगों का अभ्यास करने में रत साधकों को कथा सुनकर प्रीति होती हो तथा ऐसा उल्लास प्रकट हो, जिससे विधिपूर्वक अनुष्ठान करने वालों के प्रति बहुमानपूर्वक विविध प्रकार के भाव पैदा होते हों, वह अवस्था 'इच्छायोग' है।[५] जिस अवस्था में वीर्योल्लास की प्रबलता होने से उपशमभावपूर्वक स्थानादि योगों

---

१. (क) धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशक्रशिवोदयः ।
सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ।। – योगबिन्दु, ४२२
(ख) 'ततश्च' केवलज्ञानलाभादनन्तरं च 'अयोगयोगः' वृत्तिबीजदाहायोगाख्यः समाधिर्भवति, अयं च 'धर्ममेघः' इति पातञ्जलैर्गीयते, अमृतात्मा' इत्यन्यैः, 'भवशत्रुः' इत्यपरैः, 'शिवोदयः' इत्यन्यैः 'सत्त्वानन्दः' इत्येकैः, 'परश्च' इत्यपरैः। 'क्रमेण' उपदर्शितपारम्पर्येण ततोऽयोगयोगात् 'परमं' सर्वोत्कृष्टफलं निर्वाणं भवति। – योगविंशिका, १६, यशो० वृ०

२. ततश्च 'केवलमेव' केवलज्ञानमेव भवति। अयं चासम्प्रज्ञातः समाधिरिति परैर्गीयते, ...। वही

३. **One reaches the consummation of these activities in the following order. At the outset one develops an interest in these activities, and comes to have a will for practising them. Then he takes an active part in them and begins actual practice. Gradually he becomes steadfast in them and achieves stability. Finally he gains mastery over the activities. Each of the five activities is mastered in this order.**
— Studies in Jain Philosophy, p. 294.

४. (क) इक्किक्को य चउद्धा इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।
इच्छापवित्तिथिरसिद्धि भेयओ समयनीई ए ।। – योगविंशिका, ४
(ख) कृपा निर्वेदसंवेगप्रशमोत्पत्तिकारिणः ।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा-प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः।। – ज्ञानसार, २७/३

५. (क) तज्जुत्तकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा ।
सव्वत्थुवसमसारं, तप्पालणमो पवत्ती उ ।। – योगविंशिका, ५
(ख) योगविंशिका, गा० ३ पर यशो० वृ०

का शास्त्रानुसार अभ्यास किया जाये वह 'प्रवृत्तियोग' है। जिस अवस्था में प्रवृत्तियोग के पालन में योग के बाधक कारणों की चिन्ता, भय न हों, वह 'स्थिरतायोग' है। जिस अवस्था में स्थानादि समस्त अनुष्ठान-योग परहित साधक बनने लगे, वह 'सिद्धियोग' है।[1] 'सिद्धियोग' में स्थानादि योग का आचरण करने वाले साधक अपनी आत्मा में तो शांति उत्पन्न करते ही हैं, साथ ही उस आत्मा के संसर्ग में आने वाले साधारण प्राणी भी प्रभावित होते हैं।[2]

यद्यपि इच्छा आदि चारों योग परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि क्षयोपशम अथवा योग्यता-भेद के आधार पर इनमें से प्रत्येक के असंख्य प्रकार मानें गये हैं।[3] स्थानादि योगांगों में प्रत्येक के प्रीति, भक्ति, वचन और 'असंग अनुष्ठान' आदि चार विभाग किये गये हैं।[4] जो धर्म-अनुष्ठान प्रीति-रागपूर्वक किया जाता है, उसे 'प्रीति अनुष्ठान' कहते हैं। भक्तिपूर्वक धार्मिक क्रिया करने पर वह 'भक्ति अनुष्ठान' कहलाता है। शास्त्र अथवा शिष्ट पुरुषों के वचनानुसार आचरण करना 'वचन-अनुष्ठान' है। निरन्तर अभ्यास द्वारा चन्दन की गंध के समान सहजभाव से सत्पुरुषों द्वारा की जाने वाली क्रिया असंगानुष्ठान या असंगयोग हैं।[5] इनमें से प्रथम दो अनुष्ठान प्रीति या भक्तिपूर्वक[6] किये जाने के कारण लौकिक फल स्वर्ग की प्राप्ति कराते हैं तथा अन्तिम दो अनुष्ठान किसी निमित्त के बिना कर्त्तव्यभावपूर्वक किये जाने से मोक्ष के कारण हैं।[7]

संक्षेप में स्थानादि पांच योगों के तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति आदि चार-चार भेद होने से योग के बीस भेद हुए। इनमें से भी प्रत्येक के प्रीति अनुष्ठान, भक्ति अनुष्ठान, आगमानुष्ठान और असंगानुष्ठान आदि चार-चार भेद होने से योग के ८० भेद बनते हैं। ये सभी मोक्ष के कारणभूत साधन होने से योग कहे गये हैं। उदार एवं सूक्ष्मदृष्टिसूचक उक्त योग-भेद विवेचन हरिभद्रसूरि एवं उपा० यशोविजय के अतिरिक्त अन्य किसी की कृति में उपलब्ध नहीं होता।

(ज) कर्मयोग और ज्ञानयोग

मोक्ष-प्राप्ति हेतु किये जाने वाले समस्त व्यापारों को दो भागों में विभाजित किया गया है – १. कर्मयोग और २. ज्ञानयोग।[8] कर्मयोग के अन्तर्गत स्थान एवं ऊर्ण तथा ज्ञानयोग के अन्तर्गत अर्थ, आलम्बन एवं

---

१. तह चेव एयबाहग-चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं ।
सव्वं परत्थसाहग-रूवं पुण होई सिद्धि त्ति ।। – योगविंशिका, गा० ६

२. स्वसन्निहितानां स्थानादियोगशुद्ध्यभाववतामपि तत्सिद्धिविधानद्वारा परगतस्वसदृशफलसंपादकं पुनः सिद्धिर्भवति। अतएव सिद्धाऽहिंसानां समीपे हिंसाशीला अपि हिंसां कर्तुं नालम्, सिद्धसत्यानां च समीपेऽसत्यप्रिया अप्यसत्यमभिधातुं नालम्।
– योगविंशिका, गा० ६ पर यशो०वृ०

३. योगविंशिका गा० ७ पर यशोविजयवृत्ति ।

४. (क) एए य चित्तरूवा, तहाखओवसमजोगओ हुंति ।
तस्स उ सद्धापीयाइजोगओ भव्वसत्ताणं ।। – योगविंशिका, ७
(ख) एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगयाजुत्तं ।
नेयं चउव्विहं खलु, एसो चरमो हवइ जोगो ।। – वही, १८
(ग) ज्ञानसार, २७/७
(घ) अध्यात्मोपनिषद् ३/४१
(ङ) षोडशक, १०/१०

५. षोडशक, १०/३–८

६. प्रीति व भक्ति में अन्तर है। स्त्री को पत्नीवद् मानकर किया गया अनुराग प्रीति है, और माता मानकर किया गया अनुराग भक्ति है। (द्रष्टव्य : षोडशक १०/५ तथा यशोविजयवृत्ति)

७. षोडशक, १०/६

८. (क) कर्मज्ञानादि भेदेन स द्विधा तत्र चादिमः । – अध्यात्मसार, ५/१५/२
(ख) कर्मयोगद्वयं तत्र, ज्ञानयोगं त्रयं विदुः। – ज्ञानसार, २७/२
(ग) शास्त्रवार्तासमुच्चय पर स्याद्वादकल्पलता टीका, ८ वां स्तबक, श्लोक ७
(घ) दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ ।। – योगविंशिका, २

अनालम्बन (एकाग्रता), इन तीन योगों को अन्तर्भूत किया गया है[१] परन्तु अध्यात्मसार में उपा० यशोविजय ने कर्मयोग के अन्तर्गत सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, गुरुवन्दन आदि षडावश्यक क्रियाओं का परिगणन किया है।[२] ज्ञानयोग के अन्तर्गत आत्मा के सद्भूत अर्थों का चिन्तन समाविष्ट है।[३] कर्मयोग का सम्बन्ध बाह्य क्रियाओं से है तथा ज्ञानयोग का संबंध आन्तरिक चिन्तन से। 'अध्यात्मसार' में वर्णित इनका विषयानुकूल विवेचन इस प्रकार है –

कर्मयोग

आवश्यकादि विहित धार्मिक क्रिया का अनुष्ठान कर्मयोग है।[४] यह योग शारीरिक चेष्टाओं से युक्त होने के कारण कर्मात्मक कहलाता है। सत् में प्रवृत्ति रूप देह का प्रशस्त राग युक्त अध्यवसाय पुण्यात्मक होता है अर्थात् शुभकर्म का बन्ध करता है।[५]

आवश्यकादि क्रिया पर राग (प्रीति) रखने से और भगवद्वचन पर बहुमानभाव (भक्तिभाव) होने से कर्मयोग को साधने वाला साधक स्वर्ग-सुख तो प्राप्त कर सकता है, परन्तु परमपद प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि आवश्यकादि धर्म पर होने वाला राग मुख्य रूप से शुभकर्म का बंध करता है, न कि विशिष्ट कर्म-निर्जरा। विशिष्ट कर्मनिर्जरा राग-भाव से नहीं होती। सरागभाव तो शुभकर्म का बंध करता है और शुभ कर्म-बंध से स्वर्गादिसुख की ही प्राप्ति होती है।[६]

ज्ञानयोग

आत्मा के विषय में एक प्रतीति ही जिसका लक्षण है, ऐसा शुद्ध तप 'ज्ञानयोग' कहलाता है। वह ज्ञानयोग इन्द्रिय विषयों से उन्मनी भाव होने (उदासीनता का अनुभव करने) के कारण मोक्ष के सुख का साधक है।[७] शुद्ध तप से कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होती है। विशिष्ट निर्जरा से मोक्ष प्राप्त होता है।[८] तप के द्वारा कर्मों का आत्मा से पृथक् होना 'निर्जरा' है।[९] सभी कर्मों का निःशेष पूर्णक्षय 'मोक्ष' कहलाता है।[१०] शुद्ध तप के द्वारा कर्मों का क्षय किया जाता है। कर्मक्षय का हेतु होने से तप को भी निर्जरा कहा गया है।[११] जिस अवस्था में तप से शुद्ध हुई आत्मा में ही रति रखना अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करना एकमात्र

---

१. योगविंशिका, ३; ज्ञानसार, २७/१
२. अध्यात्मसार, ५/१५/२
३. वही, ५/१५/५
४. आवश्यकादिविहितक्रिया रूपः प्रकीर्तितः । – अध्यात्मसार, ५/१५/२
५. शारीरस्पन्दकर्मात्मा, यदयं पुण्यलक्षणम् ।
कर्मोऽतनोति सद्रागात् कर्मयोगस्ततः स्मृतः ।। – वही, ५/१५/३
६. (क) आवश्यकादि रागेण वात्सल्याद् भगवद्गिराम् ।
प्राप्नोति स्वर्गसौख्यानि न यान्ति परमं पदम् ।। – वही, ५/१५/४
(ख) धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ।। – प्रवचनसार, १/११
(ग) प्रतिबन्धैकनिष्ठं तु स्वतः सुन्दरमप्यदः ।
तत्स्थानस्थितिकार्येव वीरे गौतमरागवत् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/१०
७. ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमात्मरत्येकलक्षणम् ।
इन्द्रियार्थोन्मनीभावात् स मोक्षसुखसाधकः ।। – अध्यात्मसार, ५/१५/५
८. शास्त्रवार्तासमुच्चय, १/२०, २१; ६/२२, २३; स्याद्वादकल्पलता, ६/२१
९. कर्मणा विपाकतस्तपसा वा शाटो निर्जरा । – तत्त्वार्थभाष्य, हरिभद्रवृत्ति, १/४
१०. कृत्स्नकर्मक्षयोमोक्षः । – तत्त्वार्थसूत्र, १०/२
११. जम्हा निकाइयाण वि कम्माण तवेण होई निज्जरणं।
तम्हा उवयाराओ, तवो इहं निज्जरा भणिया।। – नवतत्त्वप्रकरण, ११; देवगुप्तसूरिभाष्य, ६०

लक्ष्य हो, वह 'ज्ञानयोग' कहलाता है। यही 'ज्ञानयोग' समस्त कर्मों का क्षय करता है और मोक्ष-सुख का साधक है। डा० दीक्षित के मतानुसार शुभ तप से हरिभद्र का आशय धर्म अथवा शुभकोटि के जीवन व्यापार से है। मोक्ष का जनक सिद्ध होने के लिए इन व्यापारों में एक विशिष्टता होनी चाहिये अर्थात् वे फलकामना से रहित अर्थात् निष्काम भाव से संपादित किये जाने चाहिये।[१] यह विचार पूर्णतः आगम-सम्मत प्रतीत होता है।[२]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्मयोग स्वर्गादि सुख का तथा ज्ञानयोग मोक्ष-सुख का दाता है। जो साधु अप्रमत्त होते हैं उनके लिए आवश्यकादि क्रियाएँ करने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है क्योंकि उनके जीवन में अविचारों (दोषों) का अभाव होता है। अपने ध्यान में विरोध न आये इसप्रकार वे उक्त क्रियाओं को करते भी हैं, क्योंकि उनके लिए उक्त क्रियाओं का सर्वथा निषेध नहीं किया गया है।[३] गीता में कहा गया है कि जो मुमुक्षु आत्मस्वरूप में ही रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त रहता है, आत्मा में ही सन्तोष अनुभव करता है, उसके लिए कुछ भी करणीय नहीं है।[४] ज्ञानयोगी भिक्षाचर्या आदि जो क्रियाएँ करता है वह केवल शरीर निर्वाहार्थ होती हैं क्योंकि शरीर के बिना धर्म-साधना नहीं हो सकती और शरीर आहारादि के बिना टिक नहीं सकता। यद्यपि ज्ञानयोगी की भिक्षाटन आदि क्रियाएँ देह से ही होती हैं, परन्तु अनासक्त भावना के कारण उनमें आत्मा का कोई सराग प्रयत्न नहीं होता। इसलिए वे क्रियाएँ साधक के उच्च ध्यान में किसी भी प्रकार विघातक नहीं होतीं।[५] जैसे रत्नों की परीक्षा का प्रशिक्षण लेते समय जो दृष्टि होती है, वह रत्नों की परीक्षा के समय की दृष्टि से भिन्न होती है, क्योंकि दोनों के फल में अन्तर होता है। उसी प्रकार, ज्ञानी की आचार-क्रिया में भी अन्तर होता है।[६] अतः सभी विषयों से मन को हटाकर ध्यानार्थ की जाने वाली क्रिया प्रारब्ध जन्म के संकल्प से होती है, जिसका फल आत्मलाभ होता है।[७]

ज्ञान और क्रिया दोनों मिलकर मोक्ष के हेतु बनते हैं। ज्ञान का महत्त्व तभी संभव होता है, जब उसके अनुरूप आचरण किया जाए। ज्ञानपूर्वक किया गया आचरण ही योग है। अतः क्रिया के बिना ज्ञान निरर्थक माना जाता है और बिना ज्ञान के कोई भी क्रिया फलीभूत नहीं होती।[८] इसलिए आत्म-साधना के लिए भी क्रिया के पूर्व का ज्ञान होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य माना गया है। जैनागमों में स्पष्ट

---

१. शास्त्रवार्तासमुच्चय, १/२१

२. इहलौकिक व पारलौकिक भोगों की आकांक्षा सम्यग्दर्शन में अतिचार (दोष) पैदा करती है। फलविशेष की इच्छा रूप 'निदान' को आर्तध्यान में परिगणित किया गया है, जिससे दुर्गति होती है। इस दृष्टि से शास्त्रों में ऐहिक व पारलौकिक लाभ को दृष्टि में रखकर तप करना वर्जित बताया गया है।

३. न ह्यप्रमत्तसाधूनां क्रियाऽप्यावश्यकादिका ।
नियमा ध्यानशुद्धत्वाद् यदन्यैरप्यदः स्मृतम् ।। – अध्यात्मसार, ५/१५/७

४. (क) यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। – गीता ३/१७,१८ उद्धृत : अध्यात्मसार, ५/१५/८
(ख) मोक्षप्राभृत, १६, ८३
(ग) आत्माभ्यासे रतिं कुर्यात् । – योगशास्त्र, १२/१७

५. देहनिर्वाहमात्रार्था याऽपि भिक्षाटनादिका ।
क्रिया सा ज्ञानिनोऽसंगान्नेव ध्यानविघातिनी ।। – अध्यात्मसार, ५/१५/११

६. रत्नशिक्षा दृगन्या हि तन्नियोजनदृग्यथा ।
फलभेदात्तथाचारक्रियाऽप्यस्य विभिद्यते ।। – अध्यात्मसार, ५/१५/१२

७. ध्यानार्था हि क्रिया सेयं प्रत्याहृत्य निजं मनः ।
प्रारब्धजन्मसंकल्पादात्मज्ञानाय कल्पते ।। – वही, ५/१५/१३

८. ज्ञानसार ६/२, ३; अध्यात्मोपनिषद्, ३/१३, १४

शब्दों में कहा गया है कि पहले ज्ञान फिर क्रिया।[1] वास्तव में ज्ञान और क्रिया की गौणता और मुख्यता को लेकर ही अवस्था-भेद होता है।[2] अर्थात् जहाँ कर्मयोग होता है वहाँ क्रिया की प्रधानता और ज्ञान की गौणता होती है और जहाँ ज्ञानयोग होता है, वहाँ ज्ञान की प्रधानता और कर्म की गौणता होती है।

उक्त समस्त भेद आध्यात्मिक योग-साधना के क्रमिक सोपानों को संकेतित करने के लिए निर्धारित किये गये हैं। इनका अभ्यास कर साधक आत्मालोचन करने में समर्थ हो सकता है। वह यह जान सकता है कि वह साधना की किस भूमिका पर पहुँचा है, तथा उसे कितना आगे जाना है। दूसरी बात जो उक्त भेदों में परिलक्षित होती है, वह यह है कि साधना की निम्न कोटि में ही बाह्य क्रियाकाण्डों को स्थान दिया गया है। साधना की उच्च कोटि में ध्यान की उत्तरोत्तर अवस्था का पल्लवन होता जाता है और सारे क्रियाकाण्ड स्वतः छूटते जाते हैं। उक्त सभी भेदों का वर्णन करते हुए उक्त सोपानों में विद्यमान साधक की अवस्थाओं का एवं उसके द्वारा पालनीय अनुष्ठानों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रमुख जैन आचार्यों ने उक्त सोपानों का वर्णन करते हुए पातञ्जलयोगसूत्र सम्मत विविध सोपानों के साथ उनका तुलनात्मक संबंध स्थापित करने का भी प्रयास किया है, ताकि दोनों परम्पराओं की समानसूत्रता (समानलक्ष्यता) के विषय में साधक दिग्भ्रान्त न हों, क्योंकि आचार्य हरिभद्र आदि जैनाचार्यों ने अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है कि मोक्ष-साधना हेतु योग की विभिन्न परम्पराओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। यदि भेद है तो केवल निरूपण शैली का है।[3] आ०सिद्धसेन ने भी नामादि भेद के आधार पर परस्पर विवाद करने को हेय माना है।[4]

---

१. पढमं नाणं तओ दया । – दशवैकालिकसूत्र, ४/३३

२. ज्ञानं क्रियाहीनं, न क्रिया वा ज्ञान वर्जिता ।
गुणप्रधानभावेन दशाभेदः किलैतयोः ।। – अध्यात्मसार, ५/१५/२४

३. योगबिन्दु, ३

४. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (सिद्धसेन), २०/४, ४/१५, १६

तृतीय अध्याय

योग के अधिकारी, प्राथमिक योग्यता एवं आवश्यक निर्देश

१. योग के अधिकारी

भारतीय धर्मों की यह अवधारणा है कि परमात्मपद प्राप्त करने के अधिकारी वे ही लोग हैं जिन्होंने मोह, अभिमान एवं विषयासक्ति आदि पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जो सांसारिक कामनाओं से रहित हैं और अध्यात्म-साधना में सतत संलग्न रहते हैं।[१] किन्तु उक्त स्थिति सहजतया सभी प्राणियों को प्राप्त नहीं होती। विविध योनियों में जन्म-मरण के अनन्त आवर्तों को पार करते हुए प्राणी जब इस भारतभूमि में, जो स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग के समान है, और जहाँ जीव देवयोनि से मनुष्य योनि में आते हैं[२], तब उन्हें यहाँ जन्म लेकर अध्यात्म-साधना के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने का अवसर सुलभ होता है, अन्यथा नहीं।[३]

सभी मनुष्य एक जैसे स्वभाव के नहीं होते। सात्विक गुणों से अलंकृत व्यक्ति ही मोक्ष-साधना में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।[४] योग-साधना का अधिकारी कौन व्यक्ति हो सकता है, इस संबंध में शास्त्रों में पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया है। प्रमुखतः अध्यात्म-साधना की पात्रता के लिए जो आवश्यक बातें बताई गई हैं, उनमें तीव्र वैराग्य[५], श्रद्धा, आत्मतत्व एवं मोक्ष-प्राप्ति की जिज्ञासा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[६] इसके अतिरिक्त इन्द्रियसंयम की शक्ति को भी योग-साधक के लिए आवश्यक बताया गया है।[७]

अ. पातञ्जलयोग-मत

अध्यात्म-साधना का लक्ष्य है – चित्तवृत्तिनिरोध।[८] और वह योग के अभ्यास व वैराग्य के बिना सम्भव नहीं है।[९] यह (अभ्यास और वैराग्य) सब प्राणियों में सम्भव भी नहीं होता। जो मनुष्य अभ्यास और

---

१. निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत् ।। – गीता, (श्रीमद्भगवद्गीता), गीताप्रेस, १५/५

२. (क) गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।। – विष्णुपुराण, २/३/२४; तुलना : स्थानांगसूत्र, ३/३
(ख) भागवतपुराण, ५/१७/११
(ग) विष्णुपुराण, २/४/२२

३. (क) इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ।। – महाभारत, शान्तिपर्व, २६७/३२
(ख) भागवतपुराण, ११/६/२६

४. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।। – गीता, १४/१८

५. गीता, ६/३ पर नीलकण्ठी टीका

६. गीता, ४/३८, ३६

७. वही, ६/३६

८. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/२

९. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । – वही, १/१२

वैराग्य के साधक होते हैं, केवल वे ही आत्म-साधना के अधिकारी हो सकते हैं, अन्य नहीं।[१]

योग का अधिकारी साधना का रसिक होता है। उसे सांसारिक विषय वासनाओं तथा उनकी चर्चा में बिल्कुल आनन्द नहीं आता। आध्यात्मिक या धार्मिक चर्चाओं में वह हर्षातिरेक से रोमांचित हो उठता है। व्यासभाष्य के अनुसार, जिस प्रकार वर्षाऋतु में तृणांकुर के फूटने से भूमि में उसके बीज की सत्ता का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार मोक्ष-मार्ग की चर्चा के श्रवण से जब किसी व्यक्ति का शरीर रोमांचित ओर नेत्रों में अश्रुपात दिखाई देने लगे, तो उससे यह अनुमान होता है कि उसके हृदय में मोक्ष सम्बन्धी विशेष दर्शन (श्रद्धा) का बीज विद्यमान है, अर्थात् उसने पूर्व जन्म में आत्मकल्याण की साधना की है।[२]

साधना के क्षेत्र में कुछ लोग काफी आगे बढ़े होते हैं तो कुछ प्रारम्भिक स्थिति में विद्यमान होते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो प्रारम्भिक स्थिति से थोड़ा आगे बढ़ चुके हैं, किन्तु साधना का लक्ष्य जिनके लिए अभी बहुत दूर है। इनमें से जो जितना आगे बढ़ा हुआ है, वह अपने पीछे रहने वाले साधक की अपेक्षा उत्तम है। विज्ञानभिक्षु[३] एवं नागोजी भट्ट[४] ने इसी दृष्टि से साधना के अधिकारियों के तीन भेद निर्धारित किये हैं – मन्द (आरुरुक्षु), मध्यम (युञ्जान) और उत्तम (योगारूढ़)। इनमें 'मन्द साधक' वह होता है, जो विषय-वासनाओं में फँसा होने पर भी योगमार्ग पर अग्रसर होने का इच्छुक होता है। इसे 'आरुरुक्षु' भी कहा जाता है। अष्टांगयोग-साधना में निरत गृहस्थ इस कोटि में आता है।[५] 'मध्यम अधिकारी' (युञ्जान) वह होता है जो संसार से विरक्त होकर तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग-साधना में संलग्न रहता है। वानप्रस्थ आश्रमधर्म का पालक इस कोटि का साधक कहा जा सकता है।[६] 'उत्तम साधक' (योगारूढ़) वह व्यक्ति है, जो सभी काम-संकल्पों को छोड़ चुका है।[७] ऐसे साधक के लिए अभ्यास और वैराग्य-साधना का उपदेश दिया गया है। उक्त साधक पूर्वजन्म में की गई बहिरंग-साधना के कारण साधना-मार्ग में सर्वाग्रणी माना गया है। 'जड़ भरत' आदि इसी उत्तम कोटि के साधकों में परिगणित किये जाते हैं। व्यास[८] और भोज[९] ने उत्तम साधक के लिए समाहितचित्त तथा मध्यम और मन्दसाधक के लिए व्युत्थितचित्त शब्द का प्रयोग किया है।

पातञ्जलयोगसूत्र के अनुसार योग-साधना में 'उपायप्रत्यय' नामक प्रथम कोटि का अधिकारी होने के लिए कुछ गुण अपेक्षित हैं। यथा – योग-साधना के प्रति श्रद्धा (आस्तिकता व सम्मान) वीर्य (अभिरुचि एवं उत्साह), स्मृति (अपने लक्ष्य एवं गन्तव्य मार्ग का अविस्मरण), समाधि (एकाग्रता की सामर्थ्य), और प्रज्ञा (हेयोपादेय विवेक से युक्त बुद्धि)।[१०]

---

१. गीता, ७/३
२. यथा प्रावृषि तृणांकुरस्योद्भवेन.....कर्माभिर्निवर्तितमित्यनुमीयते। – व्यासभाष्य, पृ० ५३०
३. तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः। – योगसारसंग्रह, पृ० ३७
४. योगाधिकारिणस्त्रिविधा मन्दमध्यमोत्तमाः क्रमेणारुरुक्षुयुंजानयोगारूढरूपाः। – नागोजीभट्टवृत्ति, २/१
५. योगसारसंग्रह, पृ० ६०
६. वही, पृ० ५०
७. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।। – गीता, ६/४, द्रष्टव्य : अध्यात्मसार, ५/१५/२३
८. उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते।
– व्यासभाष्य, अवतरणिका, सूत्र २/१, पृ० १६१
९. तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः सात्म्यम्।
– भोजवृत्ति, अवतरणिका, सूत्र २/१, पृ० ६०
१०. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/२०

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त गुणों की अपेक्षा का निरूपण ऐसे व्यक्तियों को लक्ष्य करके किया गया है, जो पूर्वजन्म में साधना की विशिष्ट कोटि में पहुँच गए थे किन्तु लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाये। ऐसे योग-भ्रष्ट व्यक्ति को अगले जन्म में पूर्व जन्म के विशिष्ट संस्कार स्वतः प्राप्त होते हैं। उनके लिए उक्त गुणों की अनिवार्यता नहीं है, क्योंकि श्रद्धा आदि गुणों की सिद्धि वे अपने पिछले जन्म में ही कर चुके होते हैं। ऐसे साधकों को पातञ्जलयोगसूत्र में भवप्रत्यय' और उनसे भिन्न सामान्य साधकों को 'उपायप्रत्यय' नाम से अभिहित किया गया है। सामान्यतः इन दोनों साधकों में मुख्य अन्तर यह होता है कि जहाँ 'उपायप्रत्यय' साधक 'व्युत्थितचित्त' होता है, और उसे चित्त की एकाग्रता एवं समाधि की सिद्धि के लिए विशिष्ट प्रयास करना पड़ता है, वहाँ 'भवप्रत्यय' साधक स्वतः 'समाहितचित्त' होता है और सम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति उसके लिए शत प्रतिशत सम्भव होती है।[१] निष्कर्ष यह है कि योग-साधना का अधिकारी व्यक्ति पूर्ण आस्तिक, संसार से विरक्त, एवं संयम साधना में पूर्ण सक्षम होता है।

आ. जैनयोग-मत

जैनशास्त्रों में भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मभूमि में एवं मनुष्य योनि में उत्पन्न होना अनिवार्य माना गया है।[२] भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य तथा कर्मभूमि[३] में उत्पन्न होने वाले मनुष्येतर प्राणी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।[४] जैन शास्त्रोक्त १५ कर्मभूमियों[५] में उत्पन्न जीव को ही मुक्ति प्राप्त करने का अवसर मिल सकता है, अन्य को नहीं।[६] भोगभूमि में उत्पन्न होनेवाले व्यक्ति संयम आदि चारित्र पालन करने में अक्षम होते हैं, इसलिए वे मुक्ति के अनधिकारी माने गए हैं।[७]

मनुष्य योनि में भी सभी अध्यात्म-साधना के अधिकारी नहीं होते। कुछ विशिष्ट गुणों से सम्पन्न मनुष्यों में ही मुक्ति की पात्रता होती है, जिन्हें 'भव्यजीव' कहा गया है।[८] शास्त्रों के अनुसार योग्य कालादि साधन मिलने पर जो जीव आत्मा के स्वाभाविक निज गुणों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्यादि को प्रकट करने में सक्षम हो, वह 'भव्य' कहलाता है।[९]

भव्य को 'कनकपाषाण' और अभव्य को 'अन्धपाषाण' की उपमा दी गई है। जिस प्रकार अन्धपाषाण में सुवर्ण बनने की योग्यता नहीं होती, वैसे ही अभव्य जीवों में मोक्षमार्ग को पार करने की सामर्थ्य नहीं होती।[१०] भव्य मनुष्यों में भी सभी मुक्ति के अधिकारी नहीं होते।[११] केवल वही 'भव्य' साधना के सफल

---

१. पातञ्जलयोगसूत्र, २/१ पर व्यासभाष्य और भोजवृत्ति की अवतरणिका
२. भगवती आराधना, ७८१ की टीका
३. कर्मभूमि वही है जहाँ मोक्षमार्ग के ज्ञाता और उपदेष्टा तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त क्षेत्र 'अकर्मभूमि' कहलाता है। जैन शास्त्रोंके अनुसार कर्मभूमियों की संख्या १७० मानी गयी है। मुख्यतः भरत, ऐरावत, और विदेह — ये तीन कर्मभूमियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक में ३-३ कर्मभूमियाँ स्वीकार की गई है। यथा — ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेह। इस प्रकार कर्मभूमियों की संख्या १५ हो जाती है। किन्तु यदि ५ विदेहों के ३२-३२ क्षेत्रों को ध्यान में रखकर कर्मभूमियों की संख्या निर्धारित की जाये तो विदेह क्षेत्र में १६० कर्मभूमियाँ हो जाती हैं। भरत, ऐरावत में से प्रत्येक की पांच—पांच कर्मभूमियों को मिला देने से कुल १७० कर्मभूमियाँ हो जाती है।
४. हरिवंशपुराण, ६४/६४, ६६/५०; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २६६
५. भगवतीसूत्र, २६/८/१, २; जीवाजीवाभिगमसूत्र, २/४५; सर्वार्थसिद्धि, ३/१/११३
६. सर्वार्थसिद्धि, १०/६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ६/१०/२
७. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३७
८. सिज्झंति भव्वजीवा अभव्वजीवा न सिज्झंति। — पंचसंग्रह, (प्राकृत) १५५, १५६
९. ज्ञानादयश्चतुष्टयं भवितुं योग्यो भव्यः। — उद्धृत : अध्यात्म-अनुभव-योगप्रकाश, पृ० १०
१०. उत्तराध्ययनसूत्र, ३/११; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ८/६/६
११. पंचसंग्रह, (प्राकृत) १/५४

अधिकारी हो सकते हैं, जो संज्ञी[1] (पंचेन्द्रिय), पर्याप्तक[2] एवं जागरुक अवस्था में हों, सविकल्प (साकार) ज्ञानोपयोग वाले हों, शुभ लेश्या[3] (आत्म-परिणाम) से युक्त हों,[4] साथ ही जिनमें श्रद्धा धर्मश्रवण की जिज्ञासा एवं संयम में पुरुषार्थ की क्षमता हो।[5] जैन शास्त्रों में योग-साधना के अधिकारी होने के विषय में पर्याप्त ऊहापोह उपलब्ध होता है, जिसका विवेचन प्रस्तुत है :–

योग का अधिकारी - सम्यक्त्वी

योग मोक्ष का हेतु है और जैनदर्शन में मोक्ष के साधन के रूप में सम्यग्दर्शन (समीचीन श्रद्धापूर्ण दृष्टि), सम्यग्ज्ञान (उक्त दृष्टि से युक्त हेय-उपादेय का विवेक) और सम्यक्चारित्र (सावद्य योगों से निवृत्ति एवं कषायहीनता) – तीनों के समुदाय को मान्यता प्रदान की गई है।[6] इन तीनों के समुचित रूप से पालन करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं, इसलिए उक्त रत्नत्रय को ही जैनयोग-मार्ग कहना उपयुक्त होगा। आ० हरिभद्र,[7] आ० शुभचन्द्र,[8] आ० हेमचन्द्र,[9] एवं उपा० यशोविजय[10] आदि सभी आचार्यों ने उक्त 'रत्नत्रय' को 'योग-मार्ग' के रूप में स्वीकृत किया है। आ० हरिभद्र ने तो इसे 'महायोग' कहकर अपनी विशिष्ट श्रद्धा व्यक्त की है।[11]

उपरोक्त 'जैनयोग-मार्ग' की साधना का वास्तविक अधिकारी चारित्र (व्रत) सम्पन्न व्यक्ति होता है। चारित्र या संयम से सम्पन्न होने के लिए सम्यग्दृष्टि होना अर्थात् मिथ्यात्वग्रन्थि से रहित तथा तत्त्वज्ञानी होना अत्यन्त आवश्यक है।[12] इसलिए जैन शास्त्रों में मोक्ष-साधना के मार्ग में 'सम्यग्दृष्टि' व 'सम्यग्ज्ञानी' को अत्यधिक महत्त्व दिया गया[13] और उसे मोक्ष का प्रथम अधिकारी कहा गया। कालान्तर में आचार्यों ने सम्यग्दर्शन को प्रथम सोपान[14] तथा संयम/व्रत/चारित्र को द्वितीय सोपान कह दिया।[15] इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को प्राथमिक अधिकारी तथा संयमी/व्रती/चारित्री को उच्च अधिकारी माना जाने लगा। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए भी आत्मा में विशिष्ट परिणमन योग्यता का होना जरूरी है। सम्यग्दर्शन की पात्रता के लिए यह आवश्यक है कि कर्मों का तथा उसमें कारणभूत कषायों का प्रभाव इतना मन्द पड़ जाए कि जीव द्वारा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु किया जा रहा पुरुषार्थ निश्चित रूप से सफलता को प्राप्त हो।

---

१. मन के सद्भाव के कारण जिन जीवों में शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति होती है, वे संज्ञी कहलाते हैं।
२. आहार ग्रहण करने की शक्ति, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इनकी पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं, इनसे युक्त जीव को 'पर्याप्तक' कहा जाता है ।
३. कषाय से अनुरञ्जित काययोग, वचनयोग और मनोयोग अर्थात् काय, वचन और मन की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।
४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, २/३/२
५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ६५२
६. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। – तत्त्वार्थसूत्र, १/१
७. योगशतक, २
८. ज्ञानार्णव, १८/२१, २२, ६/१
९. योगशास्त्र, १/१५
१० ज्ञानसार, १३/२
११. धर्म्मस्तु सम्यग्दर्शनादिरूपो दानशीलतपोभावनामयः सास्रवानास्रवो महायोगात्मकः। – ललितविस्तरा, पृ० ६३
१२. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/२९; भगवती आराधना, ७३५
१३. दर्शनप्राभृत, (प्राभृतसंग्रह) २, ३ , मोक्षप्राभृत, ३९; रयणसार, १२६ १२७; कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३२५
१४. आदिपुराण, ९/१३१; दर्शनप्राभृत २१; भावप्राभृत, १४७
१५. उत्तरपुराण, ६७/६६, शीलप्राभृत, २०

उक्त योग्यताओं के साथ-साथ सबसे प्रमुख वस्तु 'काललब्धि'[1] का सुयोग हो अर्थात् सम्यकत्व प्राप्ति का नियतकाल समुपस्थित हो गया हो। उक्त काललब्धि तभी सम्भव है, जबकि जीव के संसार-भ्रमण का काल अधिक से अधिक 'अर्धपुद्गलपरावर्तन'[2] मात्र अवशिष्ट रह गया हो।[3]

त्रिविध कोटि के योगाधिकारी

योग-साधना के विभिन्न सोपानों पर चढ़ने के लिए साधकों को उनकी योग्यता के अनुकूल क्रमशः साधना करनी पड़ती है। आ० हरिभद्र ने सर्वप्रथम प्रारम्भिक योगाधिकारी के लिए प्राथमिक सोपान की नवीन कल्पना की, जिसका उपा० यशोविजय ने भी अनुसरण किया। इस सोपान का नाम है – 'अपुनर्बन्धक'। इस प्रकार योग-साधना के अधिकारियों की उच्चता व नवीनता के आधार पर तीन कोटियाँ बनती हैं – १. अपुनर्बन्धक, २. सम्यग्दृष्टि और ३. चारित्री। इनका संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है –

१. अपुनर्बन्धक (योग-साधना का प्रथम अधिकारी)

अपुनर्बन्धक का अर्थ है – पुनः बन्धन में न पड़नेवाला, अर्थात् मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का पुनः बन्ध न करने वाला। यहाँ वह उल्लेखनीय है कि जीव द्वारा बांधे जाने वाले कर्मों की अवधि की जघन्यता व उत्कृष्टता तथा कर्मों के फल देने की शक्ति में मन्दता या तीव्रता का निर्धारण-कषायों के परिणामों व स्वरूप पर निर्भर है, ऐसी जैन मान्यता है।[4] अपने अच्छे आत्म-परिणामों तथा मन्द कषाय के कारण मिथ्यादृष्टि को भी गाढ़ अशुभ कर्मबन्ध नहीं हो पाता।[5] उत्कृष्ट-संक्लेश-परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि (संज्ञी, पर्याप्तक) को उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है।[6]

उक्त मिथ्यात्व चारित्रमोहनीय बन्ध की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण[7] तथा जघन्य स्थिति 'अन्तः कोड़ाकोड़ी-सागरोपम' मानी गई है।[8] जीव के उत्कृष्ट परिणामों के कारण जब कर्मों की स्थिति घटते-घटते एक 'अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर' में सिमट जाती है, तभी वह सम्यक्त्व की ओर उन्मुख हो पाता है, अन्यथा नहीं।[9]

जिसकी तीव्रकर्मप्रकृति निवृत्त नहीं हो पाई है, ऐसा व्यक्ति योग-साधना का अधिकारी नहीं माना गया है।[10] योग का अधिकारी होने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मबन्ध की तीव्र एवं उत्कृष्ट स्थिति न हो,

---

१. मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने की पात्रता का नियत काल उपस्थित हो जाना 'काललब्धि' है।

२. जीव द्वारा लोक में व्याप्त समस्त पुद्गलों को एक बार ग्रहण व त्याग करने में जितना समय लगता है, उसे 'पुद्गलपरावर्त' कहते हैं। संसार के समस्त पुद्गलों को केवल एक बार किसी न किसी रूप में भोग सकें, मात्र इतना समय शेष रह जाए तो उसे 'अर्द्धपुद्गलपरावर्त' कहा जाता है।

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३०७, ३०८ तथा उन पर शुभचन्द्र विरचित टीका

४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ८/३/१०, ८/१३/३; गोम्मटसार, (कर्मकाण्ड), २५७

५. (क) एवं सामान्यतो ज्ञेयः परिणामोऽस्य शोभनः।
मिथ्यादृष्टेरपि सतो महाबन्ध-विशेषतः।। – योगबिन्दु, २६७
(ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक, ८/१२/१

६. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), १३७, १३८ पर कर्णाटकवृत्ति

७. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), १४४ पर कर्णाटकवृत्ति; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ८/१५; तत्त्वार्थसूत्र, ८/१५, पर श्रुतसागरीयवृत्ति

८. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), १४६ पर कर्णाटकवृत्ति

९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३०८ पर शुभचन्द्रकृत टीका; लब्धिसार, ८, ६

१०. (क) अनियत्ते पुण तीए एगंतेणेव हंदि अहिगारो।
तप्परतंतो भवरागओ दढं अणहिगारी त्ति ।। – योगशतक १०
(ख) अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते । – योगबिन्दु, १०१, तुलना : पातञ्जलयोगसूत्र २/१७, १८

क्योंकि ऐसी स्थिति वाले जीव में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती। इतना ही नहीं, तीव्र अशुभ कर्मबन्ध वाले जीव के लिए मनुष्य योनि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ कही गई है।[१]

ऐसे अपुनर्बन्धक जीव को प्रथम कोटि का योगाधिकारी माना गया है।[२] अध्यात्म मार्ग में बढ़ते हुए जीव के प्रयत्न का यह प्रथम सोपान है। कहा गया है कि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध न करने वाला अपुनर्बन्धक जीव ही मोक्ष-मार्ग का पथिक बनने के लिए प्रयत्न करता है, दूसरा कोई नहीं।[३] आ० हरिभद्र के अनुसार जिसप्रकार वन में मार्ग भूले हुए पथिक को पगडण्डी बता दी जाए, तो वह सही स्थान पर पहुँच जाता है, उसीप्रकार प्रथम श्रेणी के साधक अपुर्नबन्धक को धर्म का लौकिक मार्ग बता देने से भी वह अध्यात्मयोग तक पहुँच जाता है।[४]

जिन जीवों की संसार में परिभ्रमण करने की स्थिति परिमित हो जाती है, ऐसे व्यक्ति 'चरमावर्ती'[५] नाम से अभिहित हैं। अपुनर्बन्धक को 'शुक्लपाक्षिक' भी कहा गया है,[६] क्योंकि इसमें मोहनीयकर्म के तीव्र भाव की कालिमा रूपी 'कृष्णपक्ष' का अन्धकार नष्ट हो जाता है और आत्मा के स्वाभाविक गुणों के आविर्भाव रूप शुक्लपक्ष का प्रकाश उदित होने लगता है।[७] दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है।[८] अपुनर्बन्धक या शुक्लपाक्षिक जीव की आत्मा संसार-समुद्र से निकलकर मुक्त होने के लिए तीव्रता से उत्कण्ठित रहती है,[९] उसकी संसार में आसक्ति न्यून तथा धर्म-रुचि प्रगाढ़ हो जाती है।[१०] इस स्थिति में कर्मों की मन्दता के कारण जीव केवल दैव के वशीभूत ही नहीं होता, अपितु उसका पुरुषार्थ कर्मों की अपेक्षा अधिक प्रबल हो जाता है, और यहीं से जीव के ऊर्ध्ववर्ती विकास की यात्रा का प्रारम्भ समझना चाहिए।

आध्यात्मिक विकास के १४ सोपान, जिन्हें 'गुणस्थान' कहा जाता है, उनमें साधक को मुख्य रूप से पांच पड़ाव पार करने होते हैं। पहला पड़ाव चौथा गुणस्थान है, जहाँ वह मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करता

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र ३/७

२. पढमस्स लोकधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेणं।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च।। – योगशतक, २५

३. स्याद्वादकल्पलता, पृ० ६१

४. एवं चिय अवयारो जायइ मग्गम्मि हंदि एयस्स।
रण्णे पहपब्भट्ठोऽवट्टाए वट्टमोयरइ ।। – योगशतक, २६

५. चरमावर्त में विद्यमान जीव 'चरमावर्ती' कहलाता है। 'चरमावर्त' अनादि संस्कार का सबसे छोटा व अन्तिम काल है। इसमें चरम और आवर्त दो शब्द हैं। चरम का अर्थ है अन्तिम और आवर्त का अर्थ है पुद्गलावर्त। जीव द्वारा ग्रहण किए जा सकने योग्य लोक में व्याप्त समस्त पुद्गलों का एक बार संस्पर्श और विसर्जन एक 'पुद्गलावर्त' कहलाता है। इस क्रम का अन्तिम आवर्त, जिसे भोगने के पश्चात् जीव को पुनः इस चक्र में नहीं आना पड़ता, 'चरमपुद्गलावर्त' या चरमावर्त कहलाता है।

६. (क) चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम् ।। – योगबिन्दु, ७२
(ख) योगदृष्टिसमुच्चय, २४

७. कृष्णपक्षे परिक्षीणे, शुक्ले च समुदञ्चति।
द्योतन्ते सकलाध्यक्षाः, पूर्णानन्दविधोः कला।। – ज्ञानसार, १/८

८. जेसिं अवद्धो पोग्गलपरियट्टो, सेसओ उ संसारो।
ते सुक्कपक्खिआ खलु अहिगे पुण किण्हपक्खि त्ति ।। – दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, ३०

९. अपुनर्बन्धकादीनां भवाब्धौ चलितात्मनाम्।
नासौ तथाविधा युक्ता वक्ष्यामो युक्तिमत्रतु।। – योगबिन्दु ६८

१०. (क) पावं न तिव्वभावा कुणइ न बहु मन्नई भवं घोरं।
उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ।। – योगशतक १३
(ख) सो अपुणबंधगो जो णो पावं कुणइ तिव्वभावेणं।
बहुमण्णइ णेव भवं सेवइ सव्वत्थ उचियठिइं ।। – उपदेशरहस्य २२

है। छठे गुणस्थान में अविरति (अव्रत) पर, सातवें में प्रमाद पर, १२वें में कषाय पर, १४वें में योग (मन, वचन और काय की सक्रियता) पर विजय प्राप्त करता है। अपुनर्बन्धक-जीव की स्थिति 'मिथ्यात्व' नामक प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव तथा 'सम्यग्दृष्टि' नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव से भिन्न है। यह उक्त दोनों अवस्थाओं के मध्यवर्ती वह अवस्था है, जहाँ से जीव ग्रन्थि-भेद की ओर आगे बढ़ता है। जीव ग्रन्थिभेद की ओर तभी बढ़ता है, जब उसका मिथ्यात्व अत्यन्त अल्प रह जाता है। ग्रन्थिभेद होते ही मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। वास्तव में मिथ्यात्व का अत्यन्त नष्ट हो जाना ही ग्रन्थिभेद कहलाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अपुनर्बन्धक न तो मिथ्यात्वी है, न सम्यग्दृष्टि, और न ही सम्यक्चारित्री। डा० दीक्षित ने भी अपुनर्बन्धक को सम्यग्दृष्टि और चारित्री से भिन्न बताया है।[१] उन्होंने अपुनर्बन्धक को प्रथम गुणस्थान की चरम अवस्था माना है।[२] इस स्थिति में मिथ्यात्व बहुत कम होता है। अतः जीव ग्रन्थिभेद की क्रिया में किए जाने वाले तीन करणों में से प्रथम 'यथाप्रवृत्तिकरण' की क्रिया में प्रवृत्त होता है। सारांश यह है कि अपुनर्बन्धक अवस्था ही योग का आरम्भिक चरण है। इस अवस्था वाला जीव ही उन्नति करता हुआ विकास की चरम सीमा, अर्थात् उसके अन्तिम लक्ष्य स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।[३]

अपुनर्बन्धक के लक्षण

अपुनर्बन्धक जीव उत्कृष्ट संक्लेश अथवा तीव्रकषाय युक्त पापाचरण नहीं करता। इस दुःखपूर्ण संसार में उसकी रुचि/आसक्ति नहीं होती। वह लौकिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक सभी कार्यों में न्यायपूर्वक मर्यादा का पालन करता है।[४] हरिभद्रसूरि के अनुसार अपुनर्बन्धक-जीव में भवाभिनन्दी जीव के विपरीत गुण पाये जाते हैं।[५] भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र लोभी, दीन, मत्सरी–ईष्यालु, धूर्त एवं अज्ञानी होता है, और वह निरर्थक कार्यों में लगा रहता है[६] जबकि अपुनर्बन्धक जीव अक्षुद्रता, उदारता, निर्लोभता, अदीनता, अमत्सरता, निर्भयता, सरलता, विवेक, ज्ञान आदि गुणों से युक्त होता है। उसके औदार्य, दाक्षिण्यादि गुण शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं।[७] वह देवपूजा, गुरुभक्ति, दान, शील, तप इत्यादि शुद्ध अनुष्ठानों में शुद्धाशय से प्रवृत्त होता है,[८] और धर्म का अधिकारी बनकर मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता है। अपुनर्बन्धक जीव ही 'पूर्वसेवा'[९] आदि सदनुष्ठानों का यथार्थता से पालन करता है, न कि उपचार से, क्योंकि इसके आत्म-परिणाम क्रमशः पवित्र भावयुक्त होते जाते हैं।[१०] आत्मसंयत पुरुषों

---

१. **.....an Apunarbandhaka is neither a Bhinnagranthi nor a Chāritrin. - Dixit K.K., Yogabindu, p. 20**

२. **.....in this graduated series an Apunarbhandhaka occupies the uppermost level of the first Guṇasthāna. — Ibid, introduction p. 5**

३. ललितविस्तरा, पृ० २६

४. योगशतक, १३

५. भवाभिनन्दिदोषाणां प्रतिपक्षगुणैर्यतः ।
वर्धमानगुणप्रायो, ह्यपुनर्बन्धको मतः।। – योगबिन्दु, १७८

६. क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरीभयवान् शठः।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ।। – वही, ८७

७. भवाभिनन्दिदोषाणां – "क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी" इत्यादिना प्रागेवोक्तानाम् प्रतिपक्षगुणैरक्षुद्रतानिर्लोभतादिभिर्युतो "वर्धमानगुणप्रायो"– वर्धमाना शुक्लपक्षक्षपापतिमण्डलमिव प्रतिकलमुल्लसन्तो गुणा औदार्यदाक्षिण्यादयः प्रायो बाहुल्येन यस्य स तथा, अपुनर्बन्धको धर्माधिकारी मतोऽभिप्रेतः। – वही, गा० १७८ पर वृत्ति

८. (क) शान्तोदात्तत्वमत्रैव शुद्धानुष्ठानसाधनम्
सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं तत्त्वसंवेदनानुगम्।। – योगबिन्दु, १८६
(ख) अध्यात्मसार, १/२/७

९. द्रष्टव्य : योगबिन्दु, १०६–१६६ तथा यशोविजय कृत 'पूर्वसेवा' नामक १२वीं द्वात्रिंशिका।

१०. अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात् पूर्वसेवा यथोदिता।
कल्याणाशययोगेन शेषस्याप्युचारतः ।। – योगबिन्दु, १७६

की आत्मा क्रोधादि कषायों से प्रभावित नहीं होती। उनकी आत्मा शांत व उदात्त प्रकृति की होने से उनकी बुद्धि शुभ अर्थात् पुण्यात्मक कार्यों में लगी रहती है, और उन्हें विशेष प्रकार के गुणों की प्राप्ति होती है।[१] जहाँ भवाभिनन्दी जीव सांसारिक कामभोगों में आसक्त रहता है, वहाँ अपुनर्बन्धक जीव मुक्ति को ही मनोरम रमणी की भांति जानकर उसको पाने के लिए व्याकुल व सचेष्ट रहता है।[२] मार्गानुसारी जीव प्रायः तात्त्विक चिन्तन व तत्त्वचर्चा में संलग्न रहता है। आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त कराने के लिए गतिशील रहता है और तदनुरूप सम्यक् आचरण भी करता है।[३]

अपुनर्बन्धक की द्विविध सम्भावित स्थिति

एक बार अपुनर्बन्धक अवस्था प्राप्त हो जाने पर जब जीव ग्रन्थिभेद की ओर अग्रसर होता है, तब वह मार्गाभिमुख एवं मार्गपतित – इन दो विशिष्ट अवस्थाओं से भी गुजरता है। मार्गाभिमुख और मार्गपतित – इन दोनों अवस्थाओं की व्याख्या हरिभद्रसूरि ने इस प्रकार की है –'सीधी नली में प्रवेश करने पर सर्प जिस तरह वक्रता छोड़कर सीधा हो जाता है, उसी प्रकार चित्त की अवक्र अथवा सरल प्रवृत्ति ही मार्ग है।' अर्थात् ऐसी स्थिति आध्यात्मिक गुण प्राप्त करने में उपकारक होती है। जो जीव इस स्थिति की ओर अभिमुख तो होता है, परन्तु उसे अभी इस स्थिति की प्राप्ति न हुई हो, वह मार्गाभिमुख, और जिसको वह स्थिति प्राप्त हो गई है, वह मार्गपतित कहलाता है।[४]

२. भिन्न-ग्रन्थि या सम्यग्दृष्टि (योग का द्वितीय अधिकारी)

अपुनर्बन्धक से ऊपर की स्थिति 'सम्यग्दृष्टि' की है। यह अपुनर्बन्धक की तुलना में योग का श्रेष्ठ अधिकारी है। अपुनर्बन्धक जीव अपने सद्गुणों का विकास करते-करते एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जब उसमें रहने वाला अल्प मिथ्यात्व भी समाप्त हो जाता है, और साधक का वास्तविक आत्म-विकास प्रारम्भ हो जाता है। आत्म-विकास में मुख्य बाधक मोह और रागादि की ग्रन्थि है। अतः राग-द्वेष की उस कर्कश, दृढ़ और रेशम की गांठ के समान दुर्भेद्य ग्रन्थि को काटना आवश्यक है। सघन राग-द्वेष से अत्यन्त

---

१. क्रोधाद्यबाधितः शान्तः उदात्तस्तु महाशयः।
शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमतिसंगतः।। – योगबिन्दु, १६३

२. ऊहतेऽयमतः प्रायो, भवबीजादिगोचरम्।
कान्तादिगतगेयादि, तथा भोगीव सुन्दरम्।। – वही, १६४

३. एवमूहप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः।
एतद्योगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते।। – वही, १६६

४. (क) यतो ललितविस्तरायां मार्गलक्षणमित्थमुक्तम् – "इह मार्गश्चेतसोऽवक्रगमनं भुजंगमनलिकायानतुल्यो विशिष्टगुण-स्थानावाप्तिर्प्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेष इति। तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः मार्गप्रवेशयोग्यभावापन्नो मार्गाभिमुखः'।
– योगबिन्दु० १७६ पर स्वो० वृत्ति

(ख) इन दोनों अवस्थाओं की प्राप्ति के संबंध में दो मत मिलते हैं – कुछ लोगों का मत है कि ये अवस्थाएँ अपुनर्बन्धकत्व प्राप्त होने के पश्चात् ही जीव में आती हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि ये अवस्थाएँ अपुनर्बन्धकत्व प्राप्त होने से पहले की हैं। इनमें से पहला मत आ० हरिभद्र का है और दूसरा मत योगबिन्दु की अज्ञातकर्तृक टीका में उद्धृत है, पर टीकाकार ने उसका निराकरण किया है। आ० हरिभद्र ने पंचसूत्रवृत्ति (सूत्र ५) में लिखा है कि अपुनर्बन्धकत्व प्राप्त होने के पश्चात् ही मार्गाभिमुख व मार्गपतित नामक अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। आचार्य अभयदेव ने मार्गाभिमुख और मार्गपतित को अपुनर्बन्धक से भिन्न और निम्नकोटि का माना है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि योगबिन्दु की वृत्ति में पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत दूसरा मत शायद अभयदेव की परम्परा से लिया गया हो। (द्रष्टव्य : पंचाशक ३/३) आ० हरिभद्र के उपदेशपद की टीका (श्लोक २५३) में आ० मुनिचन्द्र ने भी प्रथम मत का ही निर्देश किया है, किन्तु उपा० यशोविजय ने अपुनर्बन्धक द्वात्रिंशिका (१४/२, ४) में दोनों मतों का समन्वय भी किया है।

मलिन परिणाम को 'ग्रन्थि' कहते हैं।[१] जब आत्मा विकास की ओर बढ़ते हुए तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ मन्द कर, मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्म-बल प्रकट कर लेता है, वह स्थिति कर्मशास्त्रों में 'ग्रन्थिभेद' के नाम से स्पष्ट की गई है।[२]

सम्यग्दृष्टि के लक्षण

जिस जीव का ग्रन्थिभेद हो जाता है, उसके दर्शनमोहनीयकर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षयोपशम अथवा क्षय हो जाता है। परिणामस्वरूप साधक के भावों में इतना परिवर्तन आ जाता है कि उसकी देह तो संसार में होती है, परन्तु चित्त प्रायः मोक्ष के ध्यान में लीन रहता है।[३] उसके द्वारा की जाने वाली जप, तप, संयम, ध्यान आदि क्रियायें अध्यात्ममयी होती हैं।[४] साधक की दृष्टि उत्तम भावयुक्त अर्थात् मोक्षानुगामी हो जाती है, जिससे दैनिक कार्यों में लगा रहने पर भी उसका चित्त मोक्ष में ही रत रहता है, उन कार्यों में नहीं।[५] एक ओर वह संसार के बंधन से आत्मा को पृथक् करने के उपायों (मोक्षोपाय) के विषय में चिन्तन करता है, दूसरी ओर उसमें शुद्धानुष्ठान करने की अभिलाषा जागृत होती है।[६] आत्मभावों में पूर्ण स्थिरता होने पर वह सदा शुद्ध अनुष्ठानों को क्रियान्वित करता है।[७] यह शुद्ध अनुष्ठान ही 'योग' कहलाते हैं, और 'पूर्वसेवा' आदि अनुष्ठानों द्वारा साधक क्रमशः उत्तरोत्तर शुद्धता प्राप्त करता जाता है।[८] सम्यग्दृष्टि जीव को द्वितीय श्रेणी का साधक/अधिकारी मानते हुए आ० हरिभद्रसूरि ने उसके लिए अणुव्रतादि अध्यात्मधर्म अथवा लोकोत्तरधर्म का पालन करने का उपदेश दिया है।[९]

३. चारित्री (व्रती/संयमी) - (योग का उच्च अधिकारी)

सम्यग्दृष्टि को सदसद्विवेक होने पर भी, जब तक वह चारित्रधर्म का पालन करने में समर्थ नहीं होता, तब तक उसे मुक्तिद्वार में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त नहीं हो पाता।[१०] सम्यग्दृष्टि जीव जब चतुर्थ गुणस्थान से आगे बढ़ते हुए संयतासंयत (देशविरति) नामक पंचम गुणस्थान में पहुँचता है, तो वहीं पर चारित्र का उदय होता है।

---

१. गंठित्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढगूढगंठिव्व।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो।। – विशेषावश्यकभाष्य (वैशाली संस्करण), ११६५

२. साधक अपने साधनाकाल में दो बार ग्रन्थिभेद करता है। प्रथम बार जब वह अपने मिथ्यात्व को सम्यक्त्व रूप में परिणत करता है, और दूसरी बार जब वह कैवल्यप्राप्ति के लिए श्रेणी का आरोहण करता है। दोनों बार उसका साधनाक्रम एक जैसा ही होता है ।

३. भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः।
तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावतः।। – योगबिन्दु, २०३

४. नार्या यथान्यसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते।
तद्योगः पापबन्धश्च तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम्।। – वही, २०४

५. न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाकुलस्यापि तत्र चित्तं न जायते।। – वही, २०५

६. चारु चैतद् यतो ह्यस्य तथोहः संप्रवर्तते ।
एतद्वियोगविषयः शुद्धानुष्ठानभाक् स यत् ।। – वही, २०६

७. वही, २०८

८. एतच्च योगहेतुत्वाद्योग इत्युचितं वचः।
मुख्यायां पूर्वसेवायामवतारोऽस्य केवलम् ।। – वही, २०६

९. बीयस्स उ लोगुत्तरधम्मम्मि अगुव्वयाइ अहिगिच्च।
परिसुद्धाणायोगा तस्स तहाभावगासज्ज ।।
तस्साऽऽराण्णतणओ तम्मि दढं पक्खवायजोगाओ।
सिग्घं परिणागाओ सम्मं परिपालणाओ य।। – योगशतक, २७, २८

१०. मूलाचार, ६/६; प्रवचनसार, ३/३७

आ० हरिभद्रसूरि ने चारित्री को तृतीय श्रेणी का साधक माना है। उनका अभिमत है कि तृतीय श्रेणी के साधक को युक्तिपूर्वक सामायिक आदि से सम्बद्ध (परमार्थोदिदष्ट) भावप्रधान उपदेश दिया जाना चाहिए, क्योंकि वैसा उपदेश ही उसके लिए उत्तरोत्तर उत्तम योग का साधक माना गया है।[१]

सभी अशुभ या सावद्य योगों से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति, कषायहीनता एवं शुद्ध-स्वरूप में रमण, इन सभी का समावेश 'चारित्र' में किया जाता है। साधक अशुभ कर्मों से निवृत्त होकर शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, और धीरे-धीरे रागादि कषायों को क्रमशः क्षीण करते हुए पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थिरता रूपी आचरण का पालन करने में सक्षम होता है। हरिभद्रसूरि के शब्दों में जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने लिए निर्दिष्ट अनुष्ठानों का पालन करता हुआ विकास के उस चरण तक पहुँच जाता है, जहाँ पर दो से नौ पल्योपम[२] तक की अवधि के मध्य किसी भी अवस्था तक के उसके कर्म निवृत्त हो जाते हैं, तब वह चारित्री कहलाने लगता है।[३]

चारित्री के लक्षण

हरिभद्रसूरि के अनुसार धार्मिक तत्त्वों में रुचि रखना, सिद्धान्तप्रिय होना, आध्यात्मिक गुणों में अनुराग रखना, सदनुष्ठान में क्रियाशील रहना, यथाशक्ति धर्म का पालन करना – ये सब 'चारित्री' के लक्षण हैं।[४]

योगबिन्दु में चारित्री के लक्षणों को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सुनसान जंगल में भटकते हुए नेत्रहीन व्यक्ति, जिसके आसातावेदनीय[५] दुःखप्रद कर्म का उदय नहीं हुआ है, वह गड्ढे आदि से बचता हुआ, अपने मार्ग पर चलता जाता है, ठीक उसी प्रकार संसार रूपी भयानक जंगल में भटकता हुआ जीव सातावेदनीय कर्म का उदय होने पर अपने को पापकर्मों से बचाता हुआ, शास्त्रज्ञान रूपी नेत्र से रहित होने पर भी, सम्यक् मार्ग पर गतिशील होता है अर्थात् शुभ धर्माचरण में क्रियाशील होता है।[६] जिस जीव में उपर्युक्त गुण नहीं पाये जाते, उसको चारित्रगुण की प्राप्ति नामभात्र की हुई है, ऐसा समझना चाहिए तथा जिसमें उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान होते हैं, उनके चारित्र में भी पूर्वसंचित कर्मों की विचित्रता होने से कुछ दोष आ जाते हैं।[७]

---

१. तइयस्स पुण विचित्तो तदुत्तरसुजोगसाहणो भणिओ।
सागाइयाइविसओ नयनिउणं भावसारो त्ति ।। – योगशतक, २६

२. पल्योपम के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी हेतु देखें : पउमचरियं, विमलसूरि २०/६५–६६; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ४/४५,पृ० २६४; सर्वार्थसिद्धि, ३/३८; अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ० ५७; अनुयोगद्वार, हरिभद्रवृत्ति, पृ० ८४; धवला, पुस्तक १४, पृ० ३००

३. (क) एवं तु वर्तमानोऽयं चारित्री जायते ततः।
पल्योपम-पृथक्त्वेन विनिवृत्तेन कर्मणः ।। – योगबिन्दु, ३५२
(ख) द्विप्रभृत्यानवभ्यः पृथक्त्वं.....। – वही, ३५२ पर स्वो० वृ०

४. (क) लिङ्गं मार्गानुसार्येष श्राद्धः प्रज्ञापनाप्रियः।
गुणरागी महासत्त्वः सच्छक्यारम्भसंगतः ।। – वही, ३५३
(ख) मग्गणुसारी सद्धो पन्नवणिज्जो कियावरो चेव।
गुणरागी-सक्कारंभसंगओ तह य चारित्री ।। – योगशतक, १५

५. जिस कर्म का वेदन/अनुभव परिताप के साथ किया जाता है, उसे असातावेदनीय कहते हैं। – श्रावकप्रज्ञप्ति (टीका) १४; धर्मसंग्रहणी, मलयगिरिवृत्ति, पृ० ६११; धवला, पुस्तक ६, पृ० ३५

६. असातोदयशून्योऽन्धः कान्तारपतितो यथा।
गर्तादिपरिहारेण सम्यक् तत्राभिगच्छति।।
तथाऽयं भवकान्तारे पापादिपरिहारतः।
श्रुतचक्षुर्विहीनोऽपि सत्सातोदयसंयुतः ।। – योगबिन्दु, ३५४–३५५

७. अनीदृशस्य तु पुनश्चारित्रं शब्दमात्रकम् ।
ईदृशस्यापि वैकल्यं विचित्रत्वेन कर्मणाम् ।। – वही, ३५६

जिस अवस्था में 'चारित्री' की स्थिति प्रारम्भ होती है, उससे लेकर अन्तिम अवस्था तक देशादि भेद से चारित्री के अनेक भेद होते हैं।[1] यहाँ यह ध्यातव्य है कि चारित्री के अनेक भेद छठे गुणस्थान से लेकर १२वें गुणस्थान तक गुणस्थानों के नामों पर आधारित हैं। छठे गुणस्थान से अन्तिम गुणस्थान की ओर बढ़ते हुए साधक के अभ्यास की अवधि जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसके कर्मों का क्षय हो जाता है, तब जीव सर्वज्ञ बन जाता है,[2] और उसकी साधना समाप्त हो जाती है। १४वें गुणस्थान के अन्त में साधक को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। प्रारम्भ में 'चारित्री' के सामर्थ्य का विकास इतना नहीं हो पाता कि वह पूर्ण रूप से चारित्रधर्म का पालन कर सके। प्रारम्भ में वह 'एक देश' से अर्थात् अंशतः चारित्रधर्म का पालन करता है। अतः उसे 'देशविरत चारित्री' कहते हैं।[3] क्रमशः चारित्रधर्म का पालन करता हुआ वह एक कदम और आगे बढ़कर 'सर्वविरति' नामक छठे गुणस्थान पर पहुँच जाता है। यहाँ वह हिंसादि समस्त पाप कर्मों का पूर्ण रूप से त्याग कर देता है, और सम्यक् रूप से चारित्रधर्म का पालन करने लगता है। इसलिए उसे 'सर्वविरत' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[4] 'सर्वविरत चारित्री' छठे गुणस्थान से लेकर १२वें गुणस्थान तक विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है। इसीलिए आ० हरिभद्र लिखते हैं कि वीतराग दशा प्राप्त होने तक सामायिक आदि शुद्धि के तारतम्य से तथा शास्त्रज्ञान को जीवन में क्रियान्वित करने की परिणति के अनुसार 'सर्वविरत चारित्री' अनेक प्रकार का होता है।[5] सर्वविरत योगियों में भी कुछ श्रेणी-आरूढ और कुछ श्रेणी-अनारूढ होते हैं। श्रेणीगत योगियों में भी कुछ सयोगीकेवली और कुछ अयोगीकेवली होते हैं। अयोगीकेवली सर्वोपरि है। इसप्रकार योगाधिकारी के अनेक भेद किये जा सकते हैं।[6]

२. अधिकारी-भेद से योगी के विविध प्रकार

योग-साधना के आरोहण-क्रम में योगी की विविध उच्च-उच्चतर-उच्चतम स्थितियों को ध्यान में रखकर, योगी के विविध प्रकार शास्त्रों में वर्णित किये गये हैं।

अ. पातञ्जलयोग-मत

पातञ्जलयोग-परम्परा में योगी के चार भेद बताए गए हैं – प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति एवं अतिक्रान्तभावनीय।[7]

(क) प्रथमकल्पिकयोगी[8]

जो योगी प्रवृत्तमात्रज्योति अर्थात् संयम में तत्पर होने से परचित्त-ज्ञान आदि सिद्धियों के उन्मुख अभ्यास में लीन हैं, वह प्रथमकल्पिक नामक योगी कहा जाता है।

---

१. देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः ।। – योगबिन्दु, ३५७
२. मोक्षप्राभृत, ३०; प्रवचनसार, २/१०५–१०६
३. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१/३५६/१२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७/२१/३/५४७/२७; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १३६; वसुनन्दिश्रावकाचार, २१५; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३६७–३६८
४. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१/३६०/१२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७/२१/३/५४७/२७; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४०; वसुनन्दिश्रावकाचार, २१६; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३६९–३७०
५. एसो सामाइयसुद्धिभेयओऽणेगहा मुणेयव्वो ।
आणापरिणइभेया अंते जा वीयरागो त्ति ।। – योगशतक, १६
६. अध्यात्मसार, १/२/८–११
७. चत्वारः खल्वमी योगिनः प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति। – व्यासभाष्य, पृ० ४४७
८. तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। – वही, पृ० ४४८

(ख) मधुभूमिकयोगी[1]

मधुभूमिक-योगी वह है जिसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा है अर्थात् जिसने जीवों तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की है, परन्तु उन्हें जीतने की इच्छा करता है।

(ग) प्रज्ञाज्योतियोगी[2]

जिसने सभी भूतों तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, और भूतेन्द्रिय के जय से निष्पादित सर्व पाप-रचित्त-ज्ञानादि में जो कृतरक्षाबन्ध अर्थात् सिद्धि लाभ वाला है, तथा विशोकादि सिद्धियों की प्राप्ति हेतु यत्नशील है,वह प्रज्ञाज्योति नामक तृतीय योगी कहा जाता है।

(घ) अतिक्रान्तभावनीययोगी[3]

चतुर्थ अतिक्रान्तभावनीय-योगी वह है, जिसने विशोका भूमि को प्राप्त करके विवेकख्याति का भी लाभ कर लिया है एवं उसके प्रति भी विरक्त है, और इसी वैराग्य के कारण विघ्नशंका से रहित जीवन्मुक्त है अर्थात् जो परम वैराग्य से युक्त है।

आ. जैनयोग-मत

जैन-परम्परा के प्रसिद्ध आ० हरिभद्रसूरि ने निम्नलिखित चार प्रकार के योगियों की चर्चा की है – गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और निष्पन्नयोगी।[4] इन चार प्रकार के योगियों की कल्पना तथा परिभाषा जैन-परम्परा में आ० हरिभद्र ने ही सर्वप्रथम की है। इनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है –

(क) कुलयोगी

जो योगियों के कुल में जन्म लेकर उनके कुल धर्मानुसार ही आचरण करते हैं, उन्हें कुलयोगी कहा जाता है।[5] सामान्यतः योगियों के गोत्र में उत्पन्न योगियों को भी कुलयोगी कहा जाता है। उक्त लक्षण द्रव्यतः समझना चाहिए। भावतः कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले भव्य जीवों का ही प्रस्तुत व्याख्या में समावेश हो सकता है, दूसरों का नहीं।[6] तात्पर्य यह है कि जो योगी अपने पिछले जन्म में अपनी योग-साधना सम्पूर्ण नहीं कर पाते, बीच में ही आयुष्य पूर्ण कर लेते हैं, वे अगले जन्म में कुलयोगी के रूप में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि पूर्व संस्कारवश उन्हें जन्म से ही योग प्राप्त होने से उनकी प्रवृत्ति योग-साधना के अनुरूप हाती है।[7] कुलयोगी के लक्षण इस प्रकार हैं – कुलयोगी किसी से द्वेषभाव नहीं करते, देव, गुरु और ब्राह्मण (साधुवर्ग) के प्रति श्रद्धा रखते हैं। वे प्रकृति से दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध एवं जितेन्द्रिय होते हैं।[8] कुल योगी की इस हारिभद्रीय अवधारणा पर पातञ्जलयोग सम्मत 'भवप्रत्यय' योगी की अवधारणा का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

१. ऋतम्भराप्रज्ञो द्वितीयः। – व्यासभाष्य, पृ० ४४८
२. भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कृतकर्त्तव्यसाधनादिमान्। – वही, पृ० ४४८.
३. चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयः। तस्य चित्तप्रतिसर्गः एकोऽर्थः। – वही
४. कुलादियोगभेदेन चतुर्धा योगिनो यतः । – योगदृष्टिसमुच्चय, २०८
५. ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये ।
कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ।। – वही, २१०, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२१
६. ये प्रकृत्याऽन्येऽपि कुलयोगिन उच्यन्ते द्रव्यतो भावतश्च गोत्रवन्तोऽपि सामान्येन कर्मभूमिभव्या अपि नापरे कुलयोगिन इति। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२१ पर स्वो० वृ०
७. पातञ्जलयोगसूत्र में उल्लिखित 'भवप्रत्यय' साधक में भी पूर्व जन्म में किए गए योगाभ्यास के संस्कारवश जन्म से ही योग-साधना के अनुरूप प्रवृत्ति होती है। – द्रष्टव्य : पातञ्जलयोगसूत्र, १/१६
८. सर्वत्राद्वेषिणश्चैते गुरुदेवद्विजप्रियाः ।
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २११; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२२

(ख) गोत्रयोगी

'भूमिभव्य' व नामधारी योगियों को 'गोत्रयोगी' कहा जाता है। 'भूमिभव्य' उन्हें कहते हैं, जो आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारतभूमि में उप्पन्न होते हैं। इस भूमि में योग-साधना के अनुकूल उत्तम सामग्री, साधन, निमित्त आदि सहज उपलब्ध हो जाते हैं किन्तु उनमें वह योग्यता, भव्यता अथवा सुपात्रता नहीं होती कि वे योग-साधना कर सकें।[१] केवल भूमि की भव्यता से साधना निष्पन्न नहीं होती। वह तभी सधती है, जब साधक में अपनी भव्यता, योग्यता एवं सुपात्रता विद्यमान हो। इसीलिए आ० हरिभद्र ने कहा है कि दूसरे गोत्रयोगी होते हुए भी कुलयोगी नहीं होते।[२]

(ग) प्रवृत्तचक्रयोगी

जिसका अहिंसादि योगचक्र प्रवृत्त हुआ हो उसे 'प्रवृत्तचक्रयोगी' कहते हैं। जिस प्रकार चक्र के किसी भाग पर डण्डा सटाकर घुमा देने पर वह स्वयं घूमने लगता है, उसी प्रकार जिन योगियों का योगचक्र उनके किसी अंग का संस्पर्श कर देने पर स्वयं ही योग में प्रवृत्त हो जाता है, वे 'प्रवृत्तचक्रयोगी' कहलाते हैं। आ० हरिभद्रसूरि लिखते हैं कि जिनमें इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम और सिद्धियम, इन चार प्रकार के यमों में से पहले दो यम सिद्ध हो चुके होते हैं और शेष दो को प्राप्त करने की इच्छा होती है, तथा जो शुश्रुषा आदि गुणों से युक्त होते हैं, वे 'प्रवृत्तचक्रयोगी' हैं।[३]

प्रवृत्तचक्रयोगी अपनी आत्मोन्नति के लिए अनेक प्रकार के चारित्र का पालन करता हुआ, राग-द्वेषादि से छुटकारा पाकर आत्मगुणों की वृद्धि के क्रम में तीन प्रकार की अवञ्चकताओं को पूरा करता है। 'अवञ्चक' का अर्थ है – जो कभी वञ्चना (ठगी) न करे। तात्पर्य यह है कि जो बिना चूके बाण की तरह सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँच जाये, वही अवञ्चक है। अवञ्चक तीन प्रकार के कहे गये हैं – योगावञ्चक, क्रियावञ्चक ओर फलावञ्चक।[४] इन तीन अवंचकों की प्राप्ति सत्पुरुषों को उनके द्वारा कृत प्रणाम, वैयावृत्य, सेवा आदि कार्यों के परिणामस्वरूप होती है।[५]

१. योगावञ्चक

जिनके दर्शन से मन में पवित्रता का संचार होता है, ऐसे कल्याणदृष्टि-सम्पन्न विशिष्ट पुरुषों के साथ योग या सम्बन्ध होना योगावञ्चकता है।[६] सत्पुरुषों का सहयोग साधक के लिए प्रकाशस्तम्भ है, साधक के लिए आगे बढ़ने का यह आद्य सोपान है, अतः ऐसे साधक को आद्यावञ्चक भी कहते हैं।

२. क्रियावञ्चक

सत्पुरुषों के दर्शन (सुयोग) के पश्चात् उनका वंदन, स्तवन, कीर्तन, वैयावृत्य, सेवादि क्रिया करना

---

१. जैनयोग-ग्रन्थचतुष्टय, पृ० ६८

२. कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २१०; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२१

३. प्रवत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः ।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्तं शुश्रूषादिगुणान्विताः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २१२

४. योगक्रियाफलाख्यं यत्श्रूयतेऽवंचकत्रयम् ।
साधूनाश्रित्य परममिषुलक्ष्यक्रियोपमम् ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ३४; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२५

५. एतच्च सत्प्रणामादिनिमित्तं समये स्थितम् ।
अस्य हेतुश्च परमस्तथाभावमलाल्पता ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ३५; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२६

६. सद्भिः कल्याणसंपन्नैर्दर्शनादपि पावनैः ।
तथा दर्शनतो योग आद्यावंचक उच्यते ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २१६; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२६

क्रियावञ्चकता है। सत्पुरुषों का सुयोग प्राप्त होने पर साधक की स्थिति में इतना परिवर्तन आ जाता है कि उसकी क्रियायें पारमार्थिक हो जाती हैं। परिणामस्वरूप उसके महापापों का क्षय हो जाता है।[१]

३. फलावञ्चक

सत्पुरुषों के उपदेश से तो और भी अधिक लाभ होता है। विद्वानों का अभिमत है कि जिन सत्पुरुषों का सान्निध्य साधक को प्राप्त हुआ है उनके उपदेशानुसार धार्मिक-क्रियायें करने से उत्तरोत्तर उत्तम योगों का फल प्राप्त होता है। ऐसे साधक को फलावञ्चक कहा जाता है।[२]

प्रवृत्तचक्रयोगी सर्वप्रथम आद्य योगावञ्चक स्थिति को प्राप्त करता है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् उसे क्रियावञ्चक और फलावञ्चक-साधना की स्थितियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती है।[३] उक्त त्रिविध अवञ्चक ही योग-साधना का अभ्यास करने के अधिकारी माने गये हैं।

(घ) निष्पन्नयोगी

जो साधक योग-निष्पन्न अथवा योग-सिद्ध हो गये हों, अर्थात् जिनकी योगसाधना समाप्त हो गई हो ऐसे योगी निष्पन्नयोगी या सिद्धयोगी कहलाते हैं। ये योगसिद्धि के निकट होते हैं। अतः इन्हें पुनः धर्मव्यापार में प्रवृत्त होने की कोई आवश्यकता नहीं होती।[४] दूसरे शब्दों में सत्यदर्शी (द्रष्टा) के लिए सत्य-असत्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्देश आवश्यक नहीं रहता।[५] आचारांग में भी कहा गया है – "उद्देसो पासगस्स णत्थि।"[६]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चार प्रकार के योगियों में केवल कुलयोगी और प्रवृत्तचक्रयोगी ही योग-साधना के अधिकारी हैं। गोत्रयोगी नाममात्र का ही योगी होता है। आत्म-परिणामों के मलिन होने से उसमें योग का अभ्यास करने की योग्यता का अभाव होता है। निष्पन्नयोगी पहले ही अपना योगाभ्यास पूर्ण कर चुका होता है, इसलिए उसे योग का अधिकारी नहीं कहा जा सकता।[७]

३. योग-साधना प्रारम्भ करने से पूर्व आवश्यक तैयारी

अ. पातञ्जलयोग-मत

योग-साधना की क्षमता रखते हुए भी प्रत्येक प्राणी को योग-साधना प्रारम्भ करने से पूर्व **विशेष** प्रयत्न

---

१. तेषामेव प्रणामादि-क्रियानियम इत्यलम्।
क्रियावचंकयोगः स्यान्महापापक्षयोदयः।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २२०; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/३०

२. फलावचकयोगस्तु सद्भ्यः एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाप्तिर्धर्मसिद्धौ सतां मता।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २२१; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/३१

३. आद्यावञ्चक-योगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः ।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २१३ एवं द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/२४

४. (क) निष्पन्नयोगिनां तु सिद्धिभावादिति। – योगदृष्टिसमुच्चयं, २०६ स्वो० वृ०
(ख) सिद्धेर्निष्पन्नयोगस्य नोद्देशः पश्यकस्य यत् । – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १६/१६
(ग) तथा सिद्धेः सामर्थ्ययोगत एवं कार्यनिष्पत्तेः निष्पन्नयोगस्यासंगानुष्ठानप्रवाहप्रदर्शनेन सिद्धयोगस्यायं शास्त्रेण नाधीयते। – वही १६/१६, स्वो० वृ०

५. अद्यस्मात् पश्यकस्य स्वत एव विदितवेद्यस्य ।
उद्दिश्यत इत्युद्देशः सदसत्कर्तव्याकर्तव्यादेशो नास्ति ।। – वही

६. आचारांगसूत्र २/७३, उद्धृत : द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका,१६/१६ स्वो० वृ०

७. (क) कुलप्रवृत्तचक्रा ये त एवस्याधिकारिणः ।
योगिनो न तु सर्वेऽपि तथा सिद्धयादि–भावतः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २०६
(ख) शास्त्रेणाधीयते चायं नासिद्धेर्गोत्रयोगिनाम् ।
सिद्धेर्निष्पन्नयोगस्य नोद्देशः पश्यकस्य यत् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १६/१६

करना पड़ता है। तदनुरूप कुछ योग्यता अर्जित करनी पड़ती है। महर्षि पतञ्जलि ने तीन प्रकार के साधकों के लिए तीन प्रकार के योग-उपायों (अभ्यास-वैराग्य, क्रियायोग, अष्टांगयोग) का विधान किया गया है। किस प्रकार का साधक अष्टांगयोग का पालन करने के योग्य हो सकता है, इस विषय की कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है। सम्भवतः उनकी दृष्टि में सभी व्यक्ति योग-साधना करने की योग्यता रखते हैं। यह बात दूसरी है कि साधना की उच्च कोटि में सभी व्यक्ति न पहुँच सकें।

आ. जैनयोग-मत

जैनधर्म में निवृत्तिमार्ग की प्रधानता है और निवृत्ति का मार्ग साधुचर्या है। वही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है। किन्तु सबके लिए साधु-मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है, और मुनिधर्म/साधुधर्म को अपनाये बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। जैनधर्म में प्रत्येक जीव के लिए मोक्ष प्राप्त करना जीवन का अंतिम लक्ष्य बताया गया है,[१] तथा गृहस्थ के लिए गृहस्थधर्म या सागारधर्म और मुनि के लिए अनगारधर्म या मुनिधर्म का उपदेश दिया गया है।[२] इस प्रकार जैन-परम्परा में निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करने में असमर्थ गृहस्थ साधकों के लिए धर्मपूर्वक प्रवृत्तिमार्ग का प्रावधान है।[३]

उक्त प्रवृत्तिमार्ग अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है।[४] प्रवृत्तिमार्ग में रहते हुए भी साधक का लक्ष्य यह रहता है कि वह उस स्थिति से ऊपर उठकर अर्थात् शुभ-अशुभ दोनों प्रवृत्तियों से रहित शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति कर सके। निवृत्तिमार्ग की चरम परिणति पूर्ण वीतरागता एवं अर्हन्त-पद अथवा जीवन्मुक्त अवस्था की प्राप्ति में होती है।[५] इस कारण जैन-परम्परा में साधक के लिए निवृत्तिपरक आचार की प्रधानता दिखाई देती है। वैदिक-परम्परा के गीता, महाभारत, धर्मसूत्र, एवं स्मृति आदि ग्रन्थों में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों प्रकार के मार्गों का संकेत मिलता है।[६] आ० हरिभद्रसूरि ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने जैन-परम्परा को वैदिक-परम्परा के अनुकूल ढालने का प्रयत्न किया है। आ० हरिभद्र मूलतः ब्राह्मण थे। अतः ऐसी संभावना करना उचित है कि उनके विद्याभ्यास का प्रारम्भ प्राचीन ब्राह्मण-परम्परा के अनुरूप ही हुआ होगा और उन्होंने समस्त ब्राह्मणग्रन्थों का गहनता से परिशीलन किया होगा। वैदिक एवं जैन दोनों परम्पराओं में प्रचलित विधानों की परस्पर तुलना करने पर जब उन्हें अनुभव हुआ होगा कि गृहस्थवर्ग समाज का केन्द्र बिन्दु है, तो उन्होंने गृहस्थ के लिए आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति करने हेतु सामाजिकधर्म एवं मर्यादाओं का योग्य रीति से पालन करते हुए उनके आध्यात्मिक विकास का पथ विशेष रीति से प्रशस्त किया। आध्यात्मिकता के नाम पर अवश्य आचरणीय सामाजिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा से आध्यात्मिक विकास का मार्ग अवरुद्ध होता है। इसलिए आ० हरिभद्र ने साधक गृहस्थवर्ग के लिए निवृत्ति के साथ-साथ प्रवृत्तिधर्म की दृष्टि से आचरणीय कुछ आवश्यक नियमों एवं कर्त्तव्यों का विधान किया, जिन्हें मार्गानुसारी साधक के गुणों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[७] अन्य योग ग्रन्थों में उक्त आवश्यक कर्त्तव्य, योग-मार्ग में प्रवेश करने से पहले की जाने वाली पूर्व

---

१. अनगारधर्मामृत, प्रस्तावना, पृ०१४–१५
२. सागारधर्मामृत, १/३
३. आत्मानुशासन, २३५; ज्ञानार्णव, २३/१, २५, ३०, ३७
४. आत्मानुशासन, २३६
५. वही, २३७
६. (क) प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।
आवर्तेत प्रयत्नेन, निवृत्तेनाश्नुते मृतम् ।। – भागवतपुराण, ७/१५/४७
(ख) भागवतपुराण, ६/१/१–२; मनुस्मृति, १२/८८; महाभारत, शान्तिपर्व, ३४०/२–३, १६/१, ३६/१२–१३, २१७/४
७. धर्मबिन्दुप्रकरण, प्रथम अध्याय

तैयारी के रूप में वर्णित हैं।[1] इस तैयारी को योगबिन्दु में 'पूर्वसेवा'[2] योगदृष्टिसमुच्चय में 'योगबीज'[3] तथा योगशतक में 'लौकिकधर्म'[4] के नाम से अभिहित किया गया है। 'पूर्वसेवा' में उक्त नियमों का व्यापक एवं स्पष्ट रूप से चित्रण है। 'योगबीज' एवं 'लौकिकधर्म' में उल्लिखित कर्त्तव्य कर्म भी पूर्वसेवा में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए उपा० यशोविजय ने भी 'पूर्वसेवा' की स्पष्टतर व्याख्या प्रस्तुत की है।[5]

आ० शुभचन्द्र ने भी 'पूर्वसेवा' से सम्बद्ध विषयों का भिन्न-भिन्न प्रसंगों में विवेचन किया है, परन्तु उन्होंने पूर्वसेवा के स्थान पर 'वृद्धसेवा' पद को ग्रहण किया है।[6] आ० हेमचन्द्र ने हरिभद्र से प्रभावित होकर गृहस्थ को विशेष महत्ता प्रदान की है, और गृहस्थ की भूमिका पर ही योगशास्त्र की रचना की है, क्योंकि राजा कुमारपाल गृहस्थ थे और हेमचन्द्र ने कुमारपाल के लिए ही उक्त ग्रन्थ की रचना की थी। उन्होंने सम्यग्दृष्टि साधक के लिए यह अर्हता प्राप्त करने से पूर्व अथवा प्राप्त कर लेने पर तथा अणुव्रतधर्म का भी पालन करने से पहले आरम्भिक तैयारी के रूप में कुछ नियमों का उल्लेख किया है जिन्हें, 'मार्गानुसारी के गुण' कहा गया है।[7] ये नियम यद्यपि संख्या में ३५ ही हैं, तथापि वे गृहस्थ जीवन के सभी पहलुओं का स्पर्श करते हैं। आ० हरिभद्रकृत धर्मबिन्दु में भी मार्गानुसारी के इन गुणों का विस्तृत विवेचन है।[8] संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है –

(क) पूर्वसेवा

अध्यात्मयोग के लिए उपदिष्ट पूर्वभूमिका अर्थात् प्रथम सोपान 'पूर्वसेवा' है। गुरु देवादि पूज्यवर्ग की सेवा, दीनजनों को दान, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अद्वेष भाव को पूर्वसेवा कहा गया है।[9] योगशतक में आ० हरिभद्र ने प्रथम अधिकारी अपुनर्बन्धक के लिए परपीड़ा-परिहार, देव, गुरु, अतिथि जैसे विशिष्ट पुरुषों की पूजा तथा दीनजनों को दान रूप लौकिकधर्मों का पालन आवश्यक बताया है।[10]

१. देवगुरुपूजन

आ० हरिभद्र के अनुसार अध्यात्मयोग-मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए उसकी तैयारी की दृष्टि से व्यक्ति का मानसिक संस्कार इस प्रकार का होना चाहिये कि वह गुरुवर्ग में केवल धर्मगुरु को ही अपना गुरु न माने, अपितु सब बुजुर्गों को गुरु समझकर, उनका भी आदर करे। ऐसे बुजुर्गों अर्थात् गुरुजनों में उन्होंने माता-पिता, कलाचार्य, ज्ञातिजन विप्र एवं वृद्धजनों आदि का समावेश किया है।[11] ऐसा प्रतीत होता है कि वे योग-मार्ग के शिक्षक के रूप में गुरु की आवश्यकता का अनुभव करते थे। गुरु वह है, जो मनुष्य के

---

१. योगप्रासादप्रथमभूमिकारूपा पुनः तन्त्रज्ञैः– सम्यगधिगतशास्त्रैः "प्रकीर्तिता" इत्युत्तरेण योगः। – योगबिन्दु १०६ पर स्वो० वृ०
२. योगबिन्दु, १०६–१४६
३. योगदृष्टिसमुच्चय, २२, २३, २७, २८
४. योगशतक, २५, २६
५. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में पूर्वसेवा नामक १२वीं द्वात्रिंशिका
६. ज्ञानार्णव, ४/६–१४
७. योगशास्त्र, १/४७–५७
८. धर्मबिन्दु, १/२
९. (क) पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरुदेवादिपूजनम् ।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता।। – योगबिन्दु, १०६
(ख) पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवादिपूजनम् ।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १२/१
१०. योगशतक, २५
११. माता-पिता-कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः ।। – योगबिन्दु, ११०, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १२/२

हृदयस्थ अज्ञान-अंधकार को समाप्त करके उसे ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर दे।[1] दूसरे शब्दों में मन में अज्ञान, अविवेक, हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह आदि दोषों के अन्धकार को विनष्ट करने वाला महापुरुष 'गुरु' कहलाता है। वृद्ध पुरुषों की सेवा तथा उनका आदर करने से भी मार्ग दर्शकता प्राप्त होती है। गुणवान् की संगति से, उनके संपर्क से और उनकी पर्युपासना से गुणों की पहचान होती है। गुणों के प्रति राग होता है और उन्हें प्राप्त करने की इच्छा होती है। साधक अपनी इस इच्छापूर्ति हेतु प्रयास करता है, शुभाचरण करता है।

इसके अतिरिक्त माता-पिता आदि भी मार्गदर्शक होते हैं। सबसे पहले माता-पिता ही बच्चों को अच्छे-बुरे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान कराते हैं। उन्हें सदा शुभ मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं। उनके इस उपकार का ऋण किसी भी प्रकार नहीं चुकाया जा सकता। आ० हरिभद्र ने माता-पिता की भी गुरुवद् सेवा, पूजा व आदर-सत्कार करने का उपदेश दिया है। वे कहते हैं कि जिस कार्य से माता-पिता, कलाचार्य उनके संबंधी, शिक्षक, वृद्ध एवं धर्मोपदेशक आदि का अनिष्ट हो, उस कार्य का त्याग कर देना चाहिये तथा जिस में उनका हित हो, वैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए; जिससे उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ में बाधा या कष्ट न हो, ऐसे कार्य करने चाहिए। उनकी उचित प्रकार से मान-सम्मान-दान आदि से पूजा करनी चाहिये। उनकी वय, ज्ञान और उपकार के अनुरूप उनका मान करना चाहिये और उनके प्रति विनयभाव रखना चाहिए।[2]

देवपूजन के विषय में वे कहते हैं कि आध्यात्मिक व्यक्ति को यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी देव विशेष में आस्था होने पर भी वह अन्यदेवों के प्रति द्वेष भाव न रखे। सभी देवों का समभाव से आदर करे।[3] उनके अनुसार उत्तम गृहस्थ के लिए सभी देव माननीय हैं, ऐसा विचार करने से अपने मान्य देव से भिन्न दूसरे देवों के प्रति अरुचि अथवा हीनभावना दूर हो सकती है।[4] ऐसी सर्वदेवनमस्कार की उदात्तवृत्ति अन्त में लाभदायक सिद्ध होती है, यह बताने के लिए ही उन्होंने चारिसंजीवनीन्याय कादृष्टांत भी दिया है।[5] जिस प्रकार विशेष परीक्षा की योग्यता न होने के कारण सब वनस्पतियों के साथ संजीवनी बूटी चराकर, एक स्त्री ने अपने पति रूप बैल को पुनः मनुष्यत्व रूप प्राप्त कराया था, उसी प्रकार विशेष परीक्षाविकल प्रारम्भिक योगाधिकारी भी सब देवों की समभाव से उपासना करते-करते योग-मार्ग में विकास करके इष्ट लाभ कर सकता है। सम्भव है कि उक्त दृष्टान्त बहुत पुराना हो, परन्तु इसका विनियोग सर्वदेवों के प्रति समान आदर रखने के भाव से आ० हरिभद्र एवं उपा० यशोविजय जी ने

---

१. अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।। – नारदपुराण १/६५/५६, तुलना : आदिपुराण, ६/१७३–१७७; योगशास्त्र, १२/१५--१६; पद्मनन्दिपंचविंशति ६/१८; पाणिनीय शिक्षा, ५६

२. योगबिन्दु, १११–११५; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका,१२/३–६

३. (क) गुणाधिक्यपरिज्ञानाद् विशेषेऽप्येतदिष्यते।
अद्वेषेण तदन्येषां, वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ।। – योगबिन्दु, १२०
ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १२/१०

४. अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।
गृहिणां माननीया यत्,सर्वे देवा महात्मनाम् ।।
सर्वान् देवान् नमस्यन्ति, नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ११७, ११८ एवं द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १५/७–८

५. (क) चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः ।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ।। – योगबिन्दु, ११६
(ख) चारिसंजीवनीचारन्यायादेवं फलोदयः ।
मार्गप्रवेशरूपः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ।। – अध्यात्मोपनिषद्, १/६६, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १२/६

भिन्न-भिन्न पंथों के बीच देवों के नाम पर होने वाले कलह को कम करने का सर्वसमन्वय सूचक सही मार्ग लोगों के सामने उपस्थित किया है।

द्रव्य एवं भावभेद से पूजन दो प्रकार का होता है। अर्हत्-सिद्धादि को लक्ष्य बनाकर गन्ध, पुष्प, धूप और अक्षत आदि विशिष्ट वस्तुओं द्वारा उनकी प्रतिमाओं की पूजा करना द्रव्यपूजन है और भावपूर्वक मन में उनको स्थान देना भावपूजन है। अपना सर्वस्व देव को अर्पण करना और यथासामर्थ्य उनकी भक्ति करना, ये सब देवपूजन के अन्तर्गत आते हैं। धन का तीर्थादिक शुभ स्थान में व्यय, देव के लिए सुन्दर मन्दिर का निर्माण, बिम्ब-स्थापना आदि के रूप में देवपूजन किया जाता है। आ० हरिभद्र ने देवपूजन की उक्त विधियों पर भी प्रकाश डाला है।[१]

योगदृष्टिसमुच्चय में कहा गया है कि जिन भगवान् के प्रति कुशल-शुभभाव युक्त चित्त से नमस्कार करना, मन, वचन और काय की पूर्ण शुद्धिपूर्वक उन्हें प्रणाम करके अपने भक्तिभाव को प्रकट करना, आचार्यादि भावयोगियों की पूजा करना[२]; गुरु, देव, ब्राह्मण-विप्र, यति और तपस्वियों की तन्मयता एवं श्रद्धापूर्वक पूजा सम्मानादि करना 'योगबीज' है।[३]

२. दान

आ० हरिभद्र ने गुरुओं एवं देवों के प्रति भक्ति-भावना के अतिरिक्त, एक महत्वपूर्ण सामाजिक कर्त्तव्य 'दान' का भी निर्देश किया है। उनका कहना है कि रोगी, अनाथ, निर्धन आदि निस्सहाय वर्ग को सहायता के रूप में उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ दान में देनी चाहियें। परन्तु दान देते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि अपने आश्रित जनों की उपेक्षा न होने पाये।[४]

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि आ० हरिभद्र ने पुण्य के लोभ में बिना विचारे दान देने को अनुचित बताकर, प्रत्येक व्यक्ति को अपने आश्रितों के प्रति किये जाने वाले कर्त्तव्य का आभास कराया है। योग के पूर्व उपायों में दान का उल्लेख इसलिए किया गया है, क्योंकि इससे त्यागधर्म की शुरुआत होती है।

३. सदाचार

नीति के उत्तम नियमों का अनुसरण करना 'सदाचार' है। मोक्ष-मार्गदर्शक के रूप में यह अति उपयोगी है। हरिभद्र ने 'सदाचार' के अन्तर्गत अनेक गुणों का समावेश किया है। उनके अनुसार सब प्रकार की निन्दा का त्याग साधु पुरुषों का गुणगान, विपत्ति के समय भी दीनता अनंगीकार, सम्पत्ति होने पर भी निरभिमानता, समयानुकूल एवं सत्यभाषण, वचनों का पालन, अशुभ कार्यों में धन और पुरुषार्थ न लगाना, कुलक्रमागत धार्मिक कृत्यों का अनुसरण, प्रमाद का त्याग, लोकव्यवहार में उपयोगी और लोकसम्मत, नियमानुसार विनय, नमन, दान इत्यादि का परिपालन, निन्दनीय कार्यों में अप्रवृत्ति तथा प्राणनाश का

---

१. (क) पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ।। – योगबिन्दु, ११६
(ख) देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धादिपूर्वकम् ।
पुष्पैर्विलेपनैर्धूपैर्नैवेद्यैः शोभनैः स्तवैः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १२/६

२. योगदृष्टिसमुच्चय, २२–२३, २६

३. वही, १५१

४. (क) पात्रे दीनादिवर्गे च दानं विधिवदिष्यते ।
पोष्यवर्गाविरोधेन न विरुद्धं स्वतश्च यत् ।। – योगबिन्दु, १२१
(ख) आतुरापथ्यतुल्यं यद्दानं तदपि चेष्यते ।
पात्रे दीनादिवर्गे च पोष्यवर्गाविरोधतः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १२/११
(ग) योगदृष्टिसमुच्चय, २७

प्रसंग आ जाने पर भी निन्दित कार्य नहीं करना सदाचार के अन्तर्गत आते हैं।[1] संक्षेप में वे सब शुभ कार्य जिनके प्रवर्तन से मनुष्य की प्रभावशील तथा लोककल्याणक, नीतियुक्त (नीतिवान्) और सद्गुणी मनुष्यों में गणना होती है तथा जिस व्यवहार से लोक में अतिशायी प्रामाणिकता और सौजन्य के गुण प्राप्त होते हैं, उन सबको सदाचार में समाविष्ट किया गया है।

नीति के वे श्रेष्ठ नियम, जिन्हें नैतिक बिन्दु कहा जाता है, उत्कृष्ट चारित्रिक गुण माने गये हैं। इन सबका 'योग की पूर्वसेवा' में समावेश होता है। योग-धर्म का वास्तविक अधिकारी नैतिक दृष्टि से तनिक भी पतित नहीं होता। योगमार्गारूढ़ साधक के लिए सदाचार के सभी नैतिक नियमों का पालन स्वाभाविक और अनिवार्य है।

४. तप

अनेक प्रकार के तप करने से इन्द्रियों पर संयम होता है। जैन-परम्परा में अशुभ कर्मों को नष्ट करने के लिए तप के रूप में साधना प्रचलित थी। वासनाओं को क्षीण करने, अशुभ कर्मों को नष्ट करने एवं साधना के लिए आध्यात्मिक बल प्राप्त करने के लिए शरीर, मन और इन्द्रियों को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है, वे सभी तप हैं। उपा० यशोविजय क्षुधा और कृशता को तप का लक्षण न मानते हुए, तितिक्षा (क्रोध और दीनता से रहित सहनशीलता के परिणाम वाली क्षमा) तथा ब्रह्मगुप्ति (नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन) आदि रूप बोध को ही 'तप' कहते हैं।[2] उनका कथन है कि जिस तप से क्रोधादि कषायों का नाश, ब्रह्म और वीतराग का ध्यान होता है, उसे ही शुद्ध और निर्दोष तप समझना चाहिये।[3] जैन-परम्परा में तप की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। मुख्यतः तप के दो भेद माने गये हैं– बाह्य और आभ्यन्तर।[4] शरीर की बाह्यक्रिया से सम्बन्धित तप को 'बाह्यतप' कहा जाता है। बाह्यतप छः प्रकार का है – १. अनशन, २. ऊनोदरी (अवमौदर्य), ३. भिक्षाचरी (वृत्ति परिसंख्यान) ४. रसपरित्याग, ५. कायक्लेश और ६. विविक्त शय्यासन (प्रतिसंलीनता)।[5] बाह्यक्रिया की अपेक्षा जिसका सम्बन्ध आत्मा से होता है, ऐसे तप को आभ्यन्तर तप कहा जाता है। वह भी छः प्रकार का है – १. प्रायश्चित, २. विनय, ३. वैयावृत्य,

---

१. (क) लोकापवादभीरुत्वं, दीनाभ्युद्धरणादरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्तितः।।
सर्वत्र निन्दासंत्यागो,वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं तद्वत् संपदि नम्रता ।।
प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति, कुलधर्मानुपालनम् ।।
असद्व्ययपरित्यागः, स्थाने चैतत्क्रिया सदा।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः प्रमादस्य विवर्जनम् ।।
लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति, प्राणैः कण्ठागतैरपि।। – योगबिन्दु, १२६–१३०
(ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १२/१३–१६

२. बुभुक्षा देहकार्श्यं वा, तपसो नास्ति लक्षणम्।
तितिक्षा ब्रह्मगुप्त्यादि स्थानं ज्ञानं तु तद्वपुः ।। – अध्यात्मसार, ६/१८/१५८

३. यत्र रोधः कषायाणां, ब्रह्मध्यानं जिनस्य च ।
ज्ञातव्यं तत्तपः शुद्धमवशिष्टं तु लंघनम् ।। – वही, ६/१८/१५७

४. उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/७

५. (क) अणसनमूणोयरिया भिक्खाचरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होई ।। – उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/८
(ख) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः। – तत्त्वार्थसूत्र, ६/१६

४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. व्युत्सर्ग।[१] बाह्यतप आभ्यन्तरतप में सहायक होता है। इसलिए बाह्यतप को अन्तस्तप का एक साधन माना गया है।[२] बाह्यतप से स्थूल शक्तियों पर अंकुश लगाया जा सकता है। तदुपरान्त मानसिक वृत्तियाँ भी साधक के वशीभूत हो जाती हैं। तप में ही चित्त को योग-साधना में समर्थ बनाने की शक्ति है। अतः योगभूमिका पर आरूढ़ होने के लिए 'तप' आवश्यक है। इसीलिए आ० हरिभद्र ने योग-साधना की पूर्वावस्था में 'तप' को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने जैनेतर परम्परा[३] में प्रचलित चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न और पापसूदन आदि तपों का भी परिगणन किया है।[४] उनका विचार है कि यदि जैन दृष्टि से योग सधता है, तो चान्द्रायणादि व्रतों को करने वाला भी व्रती क्यों नहीं हो सकता अर्थात् वह भी व्रती कहलायेगा। जैन-परम्परा में तो अणुव्रत और महाव्रतों का पालन करने वाला ही व्रती कहलाता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व साधक को व्रतों का पालन करने में असमर्थ माना जाता है। आ० हरिभद्र ने चान्द्रायणादि व्रतों को भी योग की पूर्वभूमिका में स्थान देकर योग को सम्यक् दर्शन की संकीर्ण परिभाषा से ऊपर उठाने का प्रयत्न किया है। इस विचार के पीछे, योग-साधना के प्रति आदर भाव का निर्माण करना उनका एक विशिष्ट उद्देश्य था। आ० हरिभद्र[५] एवं उपा० यशोविजय[६] ने उक्त चान्द्रायणादि व्रतों (क्रियायोग के अन्तर्गत परिगणित) को पापनाशक बताते हुए, उनकी विधि का विवेचन भी अपने ग्रन्थों में किया है।

५. मोक्ष-अद्वेष

मोक्ष के प्रति द्वेषभाव न रखना अर्थात् मोक्ष के प्रति प्रीतिभाव रखना एक अनिवार्य आभ्यन्तर उपाय है, जो योग-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। मोक्ष में न कोई विषयभोग है और न किसी प्रकार का संक्लेश। परन्तु कुछ भवाभिनन्दी जीव अतिशय राग के कारण उसी में अनुरञ्जित रहते हैं, उसे ही अपना सर्वस्व मानते हैं। ऐसी रागयुक्त अवस्था में त्याग संभव नहीं। भवाभिनन्दी जीव तीव्र अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण मोक्ष से द्वेष करने लगते हैं।[७] शास्त्रों में भी मोक्ष के प्रति द्वेष रखने वालों के आलाप सुने जाते हैं, जो सत्पुरुषों के सुनने योग्य नहीं होते, क्योंकि सत्पुरुष तो इन्द्रिय-सुखों को भी दुःख ही मानते हैं, जबकि भवाभिनन्दी जीव इन्द्रियविषयों और उनसे प्राप्त होने वाले सुखों को ही वास्तविक सुख मानकर मोक्ष

---

१. (क) पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिंतरो तवो ।। – उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/३०
(ख) प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । – तत्त्वार्थसूत्र, ६/२०

२. अदु पोरिसिं..... झायइ। – आचारांगसूत्र, ६/१/५
राइं दिवंपि जयमाणे.....झाइ। – वही ६/२/४
अकसाई विगयगेही.....झाइ। – वही ६/४/१५

३. (क) विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीर-शोषणं प्राहुस्तपसास्तप उत्तमम् ।। – योगि याज्ञवल्क्य, २/२,३
(ख) व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तापनादीनि। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३२ पर व्यासभाष्य

४. (क) तपोऽपि च यथाशक्ति कर्त्तव्यं पापतापनम्
तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्युघ्नं पापसूदनम् ।। – योगबिन्दु, १३१
(ख) तपश्चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्युघ्नं पापसूदनम् ।
आदिधार्मिकयोग्यं स्यादपि लौकिकमुत्तमम्।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १२/१७

५. योगबिन्दु, १३२–१३५

६. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १२/१८–३१

७. (क) कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिर्भोगसंक्लेशवर्जिता ।
भवाभिनन्दिनामस्यां द्वेषोऽज्ञाननिबंधनः।। – योगबिन्दु, १३६
(ख) मोक्षः कर्मक्षयो नाम भोगसंक्लेशवर्जितः।
तत्र द्वेषो दृढाज्ञानादनिष्टप्रतिपत्तितः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १२/२२

की अवहेलना करते है।[1] जो मोक्ष के प्रति द्वेष रखते हैं, वे महामोह से अभिभूत, अकल्याणमय जीव जन्म-मरण के चक्र में फँसकर संसारवर्धन करते हैं।[2]

इसके विपरीत जो जीव मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं रखते, उन्हें प्रशंसायोग्य कहा गया है। जो जीव संसार के बीज रूप मोह का त्याग कर चुके होते हैं, वे कल्याण के भागी होते हैं।[3] इस प्रकार मोक्ष के प्रति द्वेषभाव न रखते हुए तदनुरूप आचरण करने से मोक्ष प्राप्त करने में सहायता मिलती है।[4]

जो जीव मुक्ति के प्रति अद्वेष, गुरु देवादि का पूजन आदि कार्य करते हैं, वे ही आत्महित करते हैं। दूसरे जीव जिनकी आत्मा दोषयुक्त है, वे उत्तम कल्याण-मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकते।[5] जो दोषयुक्त होने पर भी सत्कार्य करते हैं, उनके द्वारा, बड़े-बड़े दोषों का सेवन करने वाले जीव के द्वारा, घोर दोषपूर्ण क्रिया करने वाले जीव के द्वारा किए गए छोटे-छोटे सत्कार्य भी महत्त्वहीन हो जाते हैं। यह तो भीलों के राजा की उस आज्ञा जैसा है जिसमें उसने अपने भौत-भौतिकता प्रधान गुरु (अथवा शरीर पर भूति-राख मलने वाले) को पैर से स्पर्श न करने का आदेश देकर आदरभाव व्यक्त किया था, परंतु साथ ही गुरु के वध की आज्ञा देकर घोर हिंसामय अपराध भी किया।[6] गुरुजनों की पूजादि के जो पूर्वसेवा आदि प्रकार हैं, उनमें सबसे अधिक महत्त्व मुक्ति के प्रति अद्वेषभाव का ही है। इसीलिए आ० हरिभद्र ने सांसारिक जंजाल से निवृत्त होने के लिए मुक्ति के प्रति अद्वेषभाव रखने का उपदेश दिया है।[7]

उपर्युक्त धार्मिक व्यापारों का पालन किए बिना साधक को मोक्ष प्राप्ति के अग्रिम सोपानों पर चढ़ने की योग्यता प्राप्त नहीं होती, इसलिए यथार्थ रूप से योग-साधना प्रारम्भ करने से पूर्व प्राथमिक योग्यता के रूप में उक्त धर्मों का पालन अनिवार्य है। पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित 'क्रियायोग' (तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) तथा अष्टांगयोग के द्वितीय अंग 'नियम' में इनका अन्तर्भाव हो जाता है। अन्तर केवल यह है कि योग-परम्परा में इन्हें स्पष्ट रूप से पूर्वभूमिका के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया गया।

(ख) मार्गानुसारी के गुण

आ० हरिभद्र[8] एवं हेमचन्द्र[9] ने मार्गानुसारी के निम्नलिखित ३५ गुण बताये हैं –

१. न्याय-नीति से धनोपार्जन करना।
२. शिष्टजनों का यथोचित सम्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना।

---

१. योगबिन्दु, १३७, १३८; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका,१२/२३–२५ ; तुलना : पातञ्जलयोगसूत्र, २/१५ एवं उस पर तत्त्ववैशारदी टीका
२. महामोहाभिभूतानामेवं द्वेषोऽत्र जायते ।
अकल्याणवतां पुसां तथा संसारवर्धनः ।। – योगबिन्दु, १३६
३. नास्ति येषामयं तत्र तेऽपि धन्याः प्रकीर्तिताः।
भवबीजपरित्यागात् तथा कल्याणभाजिनः ।। – वही, १४०
४. अनेनापि प्रकारेण द्वेषाभावोऽत्र तत्त्वतः ।
हितस्तु यत् तदेतेऽपि तथाकल्याणभागिनः ।। – वही, १४६
५. येषामेव न मुक्त्यादौ द्वेषो गुर्वादिपूजनम् ।
त एव चारु कुर्वन्ति नान्ये तद्गुरुदोषतः ।। – वही, १४७
६. सच्चेष्टितमपि स्तोकं गुरुदोषवतो न तत् ।
भौतहन्तुर्यथाऽन्यत्र पादस्पर्शनिषेधनम् ।। – वही, १४८
७. गुर्वादिपूजनान्नेह तथा गुण उदाहृतः।
मुक्त्यद्वेषात् यथाऽत्यंतं महापायनिवृत्तितः।। – वही, १४६
८. धर्मबिन्दु, १/३–५७
९. योगशास्त्र, १/४७–५६

३. समान कुल और आचार वाले, स्वधर्मी किन्तु भिन्न गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना।
४. चोरी, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि पाप कर्मों का त्याग करना।
५. अपने देश के कल्याणकारी आचार-विचार और संस्कृति का पालन करना।
६. किसी दूसरे की, विशेष रूप से राजा तथा राज्य कर्मचारियों की निन्दा न करना।
७. ऐसे घर में निवास करना जो न अधिक गुप्त हो और न अधिक खुला हो, जो सुरक्षा वाला भी हो और जिसमें अव्याहत वायु एवं प्रकाश आ सके।
८. घर में बाहर निकलने के अनेक द्वार न रखना।
९. सदाचारी जनों की संगति करना।
१०. माता-पिता की पूजा, उनका आदर-सम्मान करना।
११. उपद्रव वाले स्थान से दूर रहना।
१२. निन्दनीय कार्य में प्रवृत्ति न करना।
१३. आय के अनुसार व्यय करना।
१४. वैभव/देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना।
१५. धर्मश्रवण करने की इच्छा, अवसर मिलने पर धर्मश्रवण, शास्त्रों का अध्ययन, उनका स्मरण, जिज्ञासा-प्रेरित शास्त्रचर्चा, विरुद्ध अर्थ से बचना, अर्थज्ञान और तत्त्वज्ञान प्राप्त करना एवं बुद्धि के इन सद्गुणों से युक्त होकर धर्म-श्रवण करना।
१६. अजीर्ण होने पर भोजन का त्याग करना।
१७. भोजन के समय सन्तोष से पथ्य-युक्त भोजन करना।
१८. धर्म, अर्थ और काम आदि तीन पुरुषार्थों का इस प्रकार सेवन करना, जिससे किसी में बाधा उत्पन्न न हो।
१९. अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि, साधु एवं दीन-दुखियों की सेवा करना।
२०. मिथ्या-आग्रह से दूर रहना।
२१. गुणों के प्रति पक्षपात होना और उनको प्राप्त करने का प्रयत्न करना।
२२. निषिद्ध देशाचार एवं निषिद्ध कालाचार का त्याग करना।
२३. अपनी शक्ति-अशक्ति अर्थात् सामर्थ्य-असामर्थ्य का विचार करके कार्य करना।
२४. आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध जनों को अपने घर आमन्त्रित करना, सम्मानित करना एवं यथोचित सेवा करना।
२५. माता-पिता, पत्नी, पुत्र आदि आश्रितों का यथायोग्य भरण-पोषण करना।
२६. दीर्घदर्शी होना। किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व उसके गुणों-अवगुणों पर विचार करना।
२७. अपने हित-अहित, कृत्य-अकृत्य के प्रति विवेकशील होना।
२८. कृतज्ञ होना।
२९. लोकप्रिय होना।
३०. लज्जाशील होना, अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव करना।
३१. करुणाशील, दयावान होना।
३२. सौम्य स्वभावयुक्त होना।
३३. परोपकार करने में कर्मठ होना।

३४. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य आदि छः आन्तरिक शत्रुओं का त्याग करने में तत्पर होना।
३५. इन्द्रिय-विजेता होना।

उक्त ३५ गुणों से युक्त जीव ही विशिष्ट गृहस्थधर्म की भूमिका तक पहुँच कर श्रावक बनने के योग्य होता है। उसमें योग-मार्ग पर चलने की योग्यता आ जाती है। अतः इन ३५ गुणों को गृहस्थ-धर्म की नींव या आधारभूमि समझना चाहिये। आ० हेमचन्द्र ने स्वंय लिखा है – "गृहि धर्माय कल्पते"।[१] इन गुणों को जो धारण करता है, वह सद्गृहस्थ की भूमिका पर प्रतिष्ठित होता है। अतः गृहस्थधर्म अंगीकार करने से पूर्व उपरोक्त ३५ गुणों के द्वारा जीवन को शुद्ध करना आवश्यक है। इन सर्वगुणों से युक्त मार्गानुसारी जीव ही श्रावक बनकर, अणुव्रत-साधना का अधिकारी बनता है।

(ग) साधक के लिए निर्दिष्ट अनुष्ठान

'चारित्री' व्यक्ति सदनुष्ठानों में प्रवृत्त रहता है और असदनुष्ठानों से बचने का प्रयत्न करता है। जैनदृष्टि भावशुद्धि को अधिक प्रमुखता देती है, इसलिए प्रत्येक अनुष्ठान की प्रशस्तता/अप्रशस्तता का आधार भावों की प्रशस्तता/अप्रशस्तता है।[२] इसी दृष्टि से आ० हरिभद्र ने साधक की स्थिति विशेष के आधार पर अनुष्ठानों की प्रशस्तता/अप्रशस्तता का निर्धारण किया है।

अनुष्ठान के प्रकार

शास्त्रों में अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का वर्णन मिलता है, परन्तु वे सभी एक जैसे नहीं होते। न ही उनका प्रभाव एक जैसा होता है और न ही सभी साधकों के लिए सभी अनुष्ठान उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसीलिए आ० हरिभद्र ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जिसप्रकार एक ही भोज्य पदार्थ का एक रुग्ण व्यक्ति द्वारा सेवन किया जाए और उसी पदार्थ को एक स्वस्थ व्यक्ति सेवन करे तो दोनों की परिणति एक जैसी न होकर भिन्न होती है, उसी प्रकार एक ही अनुष्ठान, कर्ता के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् फल प्रदान करता है।[३] फल-प्राप्ति का आधार आंतरिक आशय और तत्त्वावबोध है। अतः उक्त अनुष्ठान कैसा है, उसका बाह्यदृष्टि से विचार करना चाहिये। आ० हरिभद्र ने योगबिन्दु व योगविंशिका में पांच प्रकार के अनुष्ठानों का वर्णन किया है :– १. विषानुष्ठान, २. गरानुष्ठान, ३. अननुष्ठान, ४. तद्धेतु अनुष्ठान,५. अमृतानुष्ठान।[४] इनमें से पहले तीन असदनुष्ठान हैं, जबकि अन्तिम दो सदनुष्ठान हैं। इनमें से भी अन्तिम अनुष्ठान मोह रूपी उग्रविष का नाशक होने से श्रेष्ठ कहा गया है।[५] तीन असदनुष्ठान अचरमावर्ती जीवों को ही होते हैं, क्योंकि अचरमावर्ती जीवों की संसार

---

१. अन्तरंगारिषड्वर्ग-परिहार-परायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृहिधर्माय कल्पते ।। – योगशास्त्र, १/५६

२. भावप्राभृत (अष्टपाहुड) गा० २–७

३. एकमेवह्यनुष्ठानं कर्तृभेदेन भिद्यते ।
सरुजेतरभेदेन भोजनादिगतं यथा ।। – योगबिन्दु, १५३; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १३/८

४. (क) इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं सामान्येनैव पंचधा ।
विषादिकमनुष्ठानं विचारेऽत्रैव योगिभिः ।।
विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ।। – योगबिन्दु, १५४, १५५
(ख) विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम्
गुरुसेवाद्यनुष्ठानमिति पंचविधं जगुः ।। – अध्यात्मसार, ३/१०/२, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १३/११

५. द्वयं हि सदनुष्ठानं त्रयमत्रासदेव च ।
तत्रापि चरमं श्रेष्ठं मोहोग्रविषनाशनात् ।। – अध्यात्मसार, ३/१०/२८

में अत्याधिक आसक्ति होती है, वे जो भी कार्य करते हैं, वे सब उनके कर्मबन्धन के कारण बनते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य ऐहिक तथा पारलौकिक फल की कामना होता है।[1] चरमावर्त काल में कर्मों की मलिनता कम हो जाती है। अतः इस कालावधि में प्रविष्ट जीव के कोई अनुष्ठान असद् नहीं होते, अपितु वे 'तद्धेतु नामक चतुर्थ अनुष्ठान की कोटि में आते हैं।[2] अपुनर्बन्धकादि योगाधिकारियों का अनुष्ठान सदनुष्ठान ही होता है। उपा० यशोविजय के अनुसार आदर, क्रिया करने में प्रीति, श्रद्धा, अविघ्न, ज्ञानादि सम्पत्ति की प्राप्ति, धर्मादि के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले मुनियों की सेवा करना आदि सदनुष्ठान के लक्षण हैं।[3] असदनुष्ठान योग-साधना में बाधा उत्पन्न करते हैं, इसलिए हरिभद्र ने उनका निषेध कर सदनुष्ठानों का पालन करने का उपदेश दिया है। उक्त पांचों अनुष्ठानों का स्वरूप इसप्रकार है --

१. विषानुष्ठान

इस अनुष्ठान में साधक का उद्देश्य धन, समृद्धि एवं कामभोगों की उपलब्धि, कीर्ति, आहार, उपाधि, पूजा तथा ऋद्धि आदि प्राप्त करना होता है। जिसप्रकार 'विष' उसे खाने वाले व्यक्ति का तत्काल हनन कर देता है, उसीप्रकार इस जन्म में प्राप्त होने वाले अनुकूल खान-पान आदि भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा से किया हुआ अनुष्ठान कर्ता के शुभचित्त के शुभ-परिणामों को तत्क्षण नष्ट कर देता है। इसलिए इस अनुष्ठान को 'विष' की संज्ञा दी गई है। महान् अनुष्ठान भी लब्धि आदि की प्रार्थना से किये जाने पर तुच्छ बन जाते हैं, तथा साधक में लघुता का भाव उत्पन्न करते हैं।[4] रागादि भावों की अधिकता के कारण किये गये साधक के लिए हेय माना गया है।

२. गरानुष्ठान

दिव्य भोगों, स्वर्गादि सुखों की अभिलाषा से किये जाने वाला धार्मिक अनुष्ठान पुण्य कर्म के फल की पूर्णता को कालान्तर में क्षय कर देता है, इसलिए मनीषीजन इसे 'गरानुष्ठान' कहते हैं।[5] जैसे कुद्रव्यों/

---

१. योगबिन्दु, १५०, १५१; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका,१३/१०

२. (क) चतुर्थमेतत् प्रायेण ज्ञेयमस्य महात्मनः ।
सहजाल्पमलत्वं तु युक्तिरत्र पुरोदिता ।। – योगबिन्दु, १६३
(ख) सदनुष्ठानरागेण तद्धेतुर्मार्गगामिनाम् ।
एतच्च चरमावर्तेऽनाभोगादेर्विना भवेत् ।। – अध्यात्मसार, ३/१०/१७

३. आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः सम्पदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ।। – वही, ३/१०/२६

४. (क) विषं लब्ध्याद्यपेक्षात् इदं सच्चित्तमारणात् ।
महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं लघुत्वपादनात्तथा ।। – योगबिन्दु, १५६
(ख) आहारोपधि-पूजर्द्धि-प्रभृत्याशंसया कृतम् ।
शीघ्रं सच्चित्तहन्तृत्वाद्विषानुष्ठानमुच्यते ।।
स्थावरं जंगमं चाऽपि तत्क्षणं भक्षितं विषम् ।
यथा हन्ति तथेदं सच्चित्तमैहिकभोगतः ।। – अध्यात्मसार, ३/१०/३, ४
(ग) विषं लब्ध्याद्यपेक्षातः क्षणात्सच्चित्तमारणात् । – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १३/१२; योगविंशिका टीका, १२

५. (क) दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः ।
एतद् विहितनीत्येव कालान्तरनिपातनात् ।। – योगबिन्दु, १५७
(ख) दिव्य-भोगाभिलाषेण कालान्तर-परिक्षयात् ।
स्वादृष्टफलसम्पूर्तेर्गराऽनुष्ठानमुच्यते ।। – अध्यात्मसार, ३/१०/५
(ग) दिव्य-भोगाभिलाषेण गरः कालान्तरे क्षयात् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १३/१५
(घ) द्रष्टव्य : योगविंशिका, १२ पर यशो० वृ०

प्राणघातक द्रव्यों के संयोग से बनाया हुआ 'गर' नामक विष भक्षणकर्ता को कालान्तर में धीरे-धीरे मार डालता है, उसी प्रकार गरानुष्ठान भी कालान्तर में (जन्मान्तर में) आत्मा का हनन कर देता है।[1] प्रथम दोनों अनुष्ठान संसार की वृद्धि करने वाले, नरक तथा तिर्यञ्चगति में ले जाने वाले तथा अनेक प्रकार के महान् अनर्थ, क्लेश और उपद्रव कराने वाले होते हैं। इसलिए जिनेश्वरों ने सर्वत्र निदान सहित इनका निषेध करने की आज्ञा दी है।[2]

३. अननुष्ठान

प्रणिधानादि के अभाव में शुद्ध अध्यवसाय रहित होकर, संमूर्च्छिम[3] जीवों की मानसिक शून्यता के समान सूने मन से तथा उचित-अनुचित का विचार करने में असमर्थ होकर जो क्रियायें की जाती हैं, उन्हें 'अननुष्ठान' कहते है।[4] इन्हें इसलिए 'अननुष्ठान' कहते हैं क्योंकि ये क्रियायें की हुई होकर भी न किये हुए के बराबर होती हैं।

इस अननुष्ठान रूप अनुष्ठान में ओघसंज्ञा तथा लोकसंज्ञा, इन दो कारणों से प्रवृत्ति होती है। विशेषता रहित सर्वसाधारण का बोध कराने वाली सामान्य ज्ञान रूप दृष्टि 'ओघसंज्ञा' कहलाती है तथा सूत्र-कथित निर्दोष मार्ग की अपेक्षा से रहित साधारण मनुष्य जैसी दृष्टि 'लोकसंज्ञा' कहलाती है।[5] इस अनुष्ठान में व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कुछ न कुछ क्रियाएँ करता रहता है। परन्तु न उसकी इन क्रियाओं के प्रति श्रद्धा होती है और न विवेक।[6] अतः गतानुगतिकता अर्थात् सूत्रोक्त आचाररहित एवं ओघसंज्ञा से देखा-देखी जो अनुष्ठान किया जाता है, वह 'अननुष्ठान' कहलाता है, और वह मोक्ष का साधक नहीं होता, इसलिए त्याज्य है।[7] कहा जाता है कि इस अनुष्ठान में शारीरिक परिश्रम अत्यधिक होने से अकामनिर्जरा होती है, अकामनिर्जरा से सांसारिक सुख की प्राप्ति होती है, अतः यह त्याज्य है।[8]

४. तद्धेतु अनुष्ठान

यह अनुष्ठान धार्मिक क्रियाओं के प्रति अनुराग होने से किया जाता है। इसमें शुभ-भावों का अंश

---

१. यथाकुद्रव्यसंयोगजनितं गरसंज्ञितम् ।
विषं कालान्तरे हन्ति तथेदमपि तत्त्वतः ।। – अध्यात्मसार, ३/१०/६

२. निषेधायानयोरेव विचित्रानर्थदायिनोः ।
सर्वत्रैवानिदानत्वं जिनेन्द्रैः प्रतिपादितम्।। – वही, ३/१०/७

३. बिना गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव सम्मूर्च्छन कहलाते हैं ।

४. (क) अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते ।
संप्रगुप्तं मनोऽस्येति ततश्चैतद् यथोदितम् ।। – योगबिन्दु, १५८
(ख) प्रणिधानाद्यभावेन कर्मानध्यवसायिनः ।।
संमूर्च्छिम-प्रवृत्ताभमननुष्ठानमुच्यते।। – अध्यात्मसार, ३/१०/८
(ग) "अनाभोगवतः" कुत्रापि फलादावप्राणिहितमनसः 'एतद्' अनुष्ठानं 'अननुष्ठानं' अनुष्ठानमेव न भवतीत्यर्थः।
– योगविंशिका, गा० १२ पर यशो० वृ०
(घ) समोहादननुष्ठानं सदनुष्ठानरागतः। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १३/१३

५. ओघसंज्ञाऽत्र सामान्यज्ञानरूपा निबन्धनम् ।
लोकसंज्ञा च निर्दोषसूत्रमार्गानपेक्षिणी ।। – अध्यात्मसार,३/१०/६

६. न लोकं नाऽपि सूत्रं, नो गुरुवाचमपेक्षते।
अनध्यवसितं किञ्चिचत् कुरुते चौघसंज्ञया।। – वही ३/१०/१०, ११

७. तस्माद् गत्यानुगत्या यत् क्रियते सूत्रवर्जितम्।
ओघतो लोकतो वा तदननुष्ठानमेवहि।। – वही, ३/१०/१५

८. अकामनिर्जरांगत्वं कायक्लेशादिहोदितम्।
सकामनिर्जरातु स्यात् सोपयोगं प्रवृत्तितः।। – वही, ३/१०/१६

विद्यमान होता है और यह मोक्ष का हेतु है इसलिए इसे 'तद्धेतु अनुष्ठान' कहा गया है।[1] उपा० यशोविजय ने इस अनुष्ठान के साधक को मार्गानुसारी तथा चरमावर्ती जीव कहा है। उनके मत में चरमावर्त में की जाने वाली क्रियायें अनाभोग, अनादर, विस्मृति तथा फलाकांक्षा के बिना की जाती हैं। ऐसे समय में साधक को धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, जो मोक्ष का कारण होता है। अतः इसे 'तद्धेतु-अनुष्ठान' कहते हैं।[2]

५. अमृतानुष्ठान

चन्दन और उसकी सुगन्ध के समान जो आत्मा के सहज स्वाभाविक तथा शुद्ध भावधर्म हैं, वे आत्मा से अभिन्न हैं। इस भावधर्म अथ च आत्मधर्म से (गर्भित) अनुष्ठान, 'अमृतानुष्ठान' कहा जाता है।[3] दूसरे शब्दों में आत्मा को समक्ष रखकर भावशुद्धि अथवा चित्तशुद्धिपूर्वक किया जाने वाला अत्यन्त संवेग से गर्भित अनुष्ठान, 'अमृत-अनुष्ठान' कहलाता है। इस अनुष्ठान का फल अमृत के समान आनन्ददायक होता है, अर्थात् साक्षात् मोक्ष का कारण होता है।[4]

यद्यपि योगशतक में उक्त अनुष्ठानों की चर्चा करते हुए केवल यह सामान्य सूचना दी गई है कि प्रत्येक अनुष्ठान अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप 'योग' ही है, क्योंकि उसमें अपध्यान अर्थात् दुर्ध्यान का प्रायः अभाव होता है तथा सर्वदर्शन सम्मत योग के लक्षण उसमें घटित होते हैं।[5]

गृहस्थ व मुनि के लिए पृथक्-पृथक् धर्मानुष्ठान

जैन-परम्परा में मुनि व गृहस्थ दोनों के लिए पृथक्-पृथक् अनगार व सागारधर्म का प्रतिपादन है। जहाँ गृहस्थ व्रतों का आंशिक व स्थूल पालन करता है, वहाँ मुनि पूर्णता सूक्ष्मदृष्टि से पालन करता है। उक्त आगमिक विभाजन का आ० हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि ने भी समर्थन किया है।[6] उन्होंने गृहस्थ को सद्धर्म के पालन में बाधा उपस्थित न हो इस बात का ध्यान रखते हुए आजीविका चलाने तथा निर्दोष दान देने, वीतराग पूजा, विधिपूर्वक भोजन, संध्याकालीन उपासना आदि करने का उपदेश दिया है। इसके अतिरिक्त जैन-परम्परा में प्रचलित प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्म, चैत्यवन्दन, धर्मश्रवण और साधुजन को संयम

---

१. एतद्रागादिकं हेतुः श्रेष्ठो योगविदो विदुः ।
सदनुष्ठानभावस्य शुभभावांश-योगतः ।। – योगबिन्दु, १५६

२. (क) सनुष्ठानरागेण तद्धेतुर्मार्गगामिनाम्।
एतच्च चरमावर्तेऽनाभोगादेर्विना भवेत्।। – अध्यात्मसार ३/१०/ १७
(ख) तद्धेतुरमृतं तु स्याच्छ्रद्धया जैनवर्त्मनः। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १३/१३
(ग) सदनुष्ठानरागतः तात्त्विकदेवपूजाद्याचारभावबहुमानादि ..... तद्धेतुरुच्यते। – वही १३/१३ पर स्वो० वृ०

३. सहजो भावधर्मो हि सुगन्धश्चन्दनगन्धवत्
एतद्गर्भमनुष्ठानममृतं सम्प्रचक्षते ।। – अध्यात्मसार, ३/१०/२५

४. (क) जिनोदितमितित्वाहुर्भावसारमदः पुनः।
एतद्गर्भमनुष्ठानममृतं मुनिपुंगवाः ।। – योगबिन्दु, १६०
(ख) जैनीमाज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तं चित्तशुद्धितः ।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं तद्विदो विदुः ।। – अध्यात्मसार, ३/१०/२६
(ग) जैनवर्त्मनो जिनोदितमार्गस्य श्रद्धया इदमेव तत्त्वमित्यध्यवसायलक्षणया त्वनुष्ठानममृतं स्यात्, अमरणहेतुत्वात्। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १३/१३ पर स्वो० वृ०

५. एएसिं णियणियभूमियाए उचियं जमेत्थऽणुट्ठाणं।
आणामयसंजुत्तं तं सव्वं चेव योगो त्ति।।
तल्लक्खणयोगाओ उ चित्तवित्तीणिरोहओ चेव।
तह कुसलपवित्तीए मोक्खेण उ जोयणाओ त्ति।। – योगशतक, २१–२२

६. योगशास्त्र, १/४६; श्रावकप्रज्ञप्ति, ६, १०६; योगशतक, २७–३२ व टीका

में उपकारक उचित सेवा रूप क्रियायोग के अभ्यास करने का भी उपदेश दिया है।[१] व्रतों के संबंध में उन्होंने मैत्री आदि भावनाओं पर अधिक भार दिया है।[२] इस प्रकार आ० हरिभद्र ने निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म का समन्वित लोकोपकारी रूप प्रस्तुत किया है।

सर्वविरत साधु के लिए जिन आचारों का विधान किया गया है, वे हैं – गुरु के अधीन रहकर गुरुकुल में निवास, यथोचित विनयधर्म का पालन, नियतकाल में अपने स्थान के परिमार्जन में प्रयत्नशीलता, अपना बल छिपाए बिना सभी कार्यों में शान्तिपूर्वक प्रवृत्ति, आत्मकल्याणपूर्वक गुरु के वचनों का पालन, निर्दोष भाव से संयम का पालन, विशुद्ध भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह, शास्त्र-विधि के अनुसार स्वाध्याय तथा मृत्यु जैसे संकटों का सामना करने में समुद्यत रहना आदि हैं।[३]

यही नहीं, आ० हरिभद्र ने अभिनव साधक के लिए आचरण करने योग्य विधि का निरूपण भी किया है। उनका मत है कि अभिनव साधक को पहले श्रुतपाठ, गुरुसेवा, आगम-आज्ञा जैसे स्थूल साधनों के अभ्यास में रत रहना चाहिये। शास्त्र के अर्थ का अवबोध हो जाने पर साधक को राग-द्वेषादि आन्तरिक दोषों को निकालने के लिए सूक्ष्मतापूर्वक आत्म-अवलोकन करना चाहिये।[४] इसके अतिरिक्त चित्त में स्थिरता लाने हेतु साधक को रागादि दोषों के विषय[५] एवं परिणामों का चिन्तन[६] करने की विधि भी बताई गई है। आ० हरिभद्र के अनुसार योगाभ्यासी को उपरोक्त क्रमानुसार अभ्यासानुकूल आचरणीय विधि-विधान का पालन करना चाहिये। समुचित क्रम के विपरीत आचरण करने से साधना में सामञ्जस्य नहीं रह पाता।[७] आ० हरिभद्र द्वारा योग सम्बन्धी अनुष्ठानों का जिस विस्तार से निरूपण किया गया है, वैसा पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता। उक्त सभी अनुष्ठान किसी सम्प्रदाय/धर्म विशेष से बन्धे हुए प्रतीत नहीं होते।

(घ) आहार-निर्देश

योगाभ्यासी को योग-साधनों के अभ्यास के साथ-साथ आहार पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये। आहार का मन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए आ० हरिभद्र ने आहार की चर्चा के सम्बन्ध में सर्वसंपत्करी भिक्षा का विधान किया है।[८] सर्वसम्पत्करी भिक्षा का भाव यह है कि वह भिक्षा साधक के वर्तमान और भावी जीवन को श्रेय की ओर ले जाने वाली हो अर्थात् उसके जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से ऊर्ध्वगामी बनाने वाली हो। इसी प्रकार वह भिक्षा देने वाले और लेने वाले दोनों में से किसी में भी दोषकारक न

---

१. सद्धम्माणुवरोहा वित्ती दाणं च तेण सुविसुद्धं।
जिणपुय-भोयणविही संझाणियमो य जोगंतो।। – योगशतक, ३०

२. चिइवंदण जइविस्सामणा य सवणं च धम्मविसयं ति।
गिहिणो इमो वि जोगो, किं पुण जो भावणामग्गो।। – वही, ३१

३. अणिगूहणा बलम्मी सव्वत्थ पवत्तणं पसंतीए।
णियलाभचिंतणं सइ अणुग्गहो मे त्ति गुरुवयणे।।
संवरणिच्छिद्दत्ते सुद्धंछुज्जीवणं सुपरिसुद्धं।
विहिसज्झाओ मरणादवेक्खणं जइजणुवएसो। – वही, ३४, ३५

४. वही, ५१, ५२

५. वही, ५७–६०

६. वही, ७८–७६

७. एसो चेवेत्थ कमो उचियपावित्तीए वन्निओ साहू ।
इहराऽसमंजसत्तं तहा तहांऽठाणविणिओगा ।। – वही, ८०

८. साहारणो पुण विही सुक्काहारो इमस्स विण्णेओ ।
अण्णत्थओ य एसो उ सव्वसंपक्करी भिक्खा ।। – वही, ८१

होकर, दोनों के लिए गुणकारी तथा परिमित मात्रा में ही होनी चाहिए, ताकि उससे भूख-प्यास जैसी अनिवार्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।[१]

(ङ) गुरु की आवश्यकता

योग-साधना के सन्दर्भ में जैन-जैनेतर सभी ग्रन्थों में गुरु के सान्निध्य की आवश्यकता पर बल दिया गया है, क्योंकि योग्य गुरु के निर्देशन के बिना योग के व्यवहारिकपक्ष को जानना कठिन है। केवल शास्त्रों का अध्ययन कर यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करने से लाभ की अपेक्षा हानि होती है। शास्त्र तो केवल योग के अंगों, तथा उसके उपायों का सैद्धान्तिक ज्ञान कराते हैं, परन्तु योग के व्यवहारिकपक्ष को जानने के लिए योग्य गुरु का सान्निध्य अपेक्षित होता है। योग के प्रमुख अंग आसन, प्राणायाम और ध्यान की यथार्थ विधि योग्य गुरु के निर्देशन के बिना नहीं जानी जा सकती। आसन, प्राणायाम और ध्यान का गलत अथवा असावधानीपूर्वक अभ्यास करने से कई प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोग हो जाते हैं जिनका चिकित्सा द्वारा उपचार असम्भव होता है।[२] यद्यपि महर्षि पतञ्जलि ने शाब्दिक रूप से गुरु के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा तथापि गुरु के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके, गुरु का महत्त्व और आदर स्थापित किया है।[३]

जैन-परम्परा में भी आ० हरिभद्र, आ० शुभचन्द्र आ० हेमचन्द्र एवं उपा० यशोविजय प्रभृति प्रमुख जैनाचार्यों ने गुरु की आवश्यकता को अनुभव करके साधक को गुरु के सान्निध्य में रहने का उपदेश दिया है। उक्त सभी जैनाचार्यों ने स्वयं योग्य गुरु के सान्निध्य में रहकर योग-मार्ग का अनुभव प्राप्त किया था।[४] उसी के अनुसार उन्होंने साधक को गुरु के पास रहकर योग-मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया और गुरु के लिए भी यह आवश्यक बतलाया कि वह साधक की प्रकृति योग्यता, रुचि एवम् स्थिति को जानकर योग के व्यवहारमार्ग का निर्देशन करे।[५]

जो साधक योग-साधना की उत्तरोत्तर वृद्धि के क्रम में गुरु की आज्ञा के बिना तथा अपने अधिकार व योग्यता को जाने बिना अभ्यास करता है, वह आगे चलकर अपने स्थान से च्युत हो जाता है। इसके अतिरिक्त योग की कुछ क्रियाएँ जैसे – आसन, मुद्रा, प्राणायाम और ध्यान भी गुरु-शिक्षण की विशेष अपेक्षा रखते हैं। अतः योग-शिक्षा के लिए गुरु का सदा पास रहना आवश्यक है। शास्त्रों में गुरु को अज्ञान रूपी अंधकार का नाशक बताया गया है।[६] जैनाचार्यों ने भी गुरु की महिमा का गुणगान करते हुए, उसे ऐहिक सुख तथा पारलौकिक सुख, दोनों दृष्टियों से हितकर बताया है।[७]

---

१. वणलेवो धम्मेणं उचियत्तं तग्गयं निओगेण ।
एत्थं अवेक्खियव्वं इहराऽजोगो त्ति दोसफलो ।। – योगशतक, ८२

२. (क) **Practise yoga only after learning the techniques thoroughly from a competent teacher (Guru). If you start taking them wrongly without being properly trained, it will be difficult to correct them later. If not properly practised, the mind gets disturbed and a feeling of uneasiness results. It is therefore, all the more necessary to learn yoga practices under the strict eye of an able preceptor.**
— Text Book of Yoga, p. 9
(ख) हठयोगप्रदीपिका, २/१६, १७

३. पातञ्जलयोगसूत्र, १/२६

४. योगशतक, ६१; ज्ञानार्णव, २०/११; योगशास्त्र, १/४, १२/५५ ; अध्यात्मसार, १/१/७

५. गुरुणा लिंगेहिं तओ एएसिं भूमिगं मुणेऊण।
उवएसो दायव्वो जहोचियं ओसहाऽऽहरणा।। – योगशतक, २४

६. अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानान्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।। – श्रीनारदीय महापुराण, २३/२०; तुलना : आदिपुराण ६/१७३, १७६

७. योगशतक, १२; गुरुतत्त्वविनिश्चय १/२–१०

इस प्रकार पातञ्जल एवं जैन दोनों योग-परम्पराओं में कुछ विषयों को छोड़कर सामान्यतः एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। दोनों में समान रूप से मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मभूमि एवं मनुष्ययोनि में उत्पन्न होना अनिवार्य बताया गया है। जहाँ पातञ्जलयोग-परम्परा स्पष्ट रूप से यह घोषणा करती है कि योग-साधना सभी मनुष्यों का धर्म है,[1] वहाँ जैन-परम्परा भी मोक्ष-मार्ग और उसकी साधना को सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से उपयोगी घोषित करती है[2], परन्तु वहाँ मोक्ष की प्राप्ति का अधिकार केवल भव्यजीवों को ही प्रदान किया गया है, अभव्यजीवों को नहीं। वस्तुतः जैन-परम्परा में भव्यत्व और अभव्यत्व की कल्पना मनुष्य की स्वभावसिद्ध योग्यता को देखकर ही की गई है। जैसे मूँग में कोई दाना ऐसा होता है, जिसे 'कोरडु' कहते हैं, इस 'कोरडु' का ऐसा स्वभाव है कि चाहे जितना भी प्रयत्न कर लिया जाए, परन्तु वह पकता नहीं है, इसी प्रकार जो अभव्यजीव होता है, उसमें मुक्त होने योग्य परिणामों की सम्भावना नहीं होती। यह जैनों का अपना सिद्धान्त है, जो अन्य परम्पराओं की अपेक्षा विशिष्ट है।

योगबिन्दु आदि ग्रन्थों में चरमावर्ती और अचरमावर्ती जीवों के रूप में योग के अधिकारियों एवं अनधिकारियों के विषय में जो चर्चा है, वह जैन-परम्परा के चिरन्तन सिद्धान्तों पर आधारित होने पर भी विशिष्ट है। इस विचार के माध्यम से आ० हरिभद्र ने पाठकों को कर्मग्रन्थों के चरमपुद्गलावर्त जैसे पारिभाषिक शब्दों का परिचय कराने का प्रयत्न किया है।

आ० हरिभद्र ने चरमावर्ती जीवों के रूप में जो योगाधिकारियों के लक्षण बताए हैं, लगभग वैसा वर्णन व्यासभाष्य में भी देखने को मिलता है, जहाँ मोक्ष-मार्ग की चर्चा के श्रवण मात्र से शरीर में होने वाले रोमांच एवं आनन्दाश्रुपात को योगाधिकारी का अनुमापक चिह्न बताया गया है। परन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि जैन-परम्परा का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक मनोवैज्ञानिक है एवं कर्मों की तरतमता पर आधारित है।

योगाधिकारियों के भेदों के विषय में पातञ्जलयोग एवं जैनयोग दोनों की दृष्टि समान है। साधना-क्रम में क्रमिक प्रगति व आपेक्षिक तरतमता के अनुसार हरिभद्र ने अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि और चारित्री के भेद से योग के अधिकारियों का जो विभाजन किया है वह पातञ्जलयोग के अधम, मध्यम एवं उत्तम श्रेणियों में किए गये विभाजन के अनुरूप है, तथापि उनके लक्षण एवं स्वरूप के विवेचन में मौलिकता है।

योगाधिकारी की प्राथमिक व अनिवार्य योग्यता के सम्बन्ध में पतञ्जलि प्रायः मौन हैं। असम्प्रज्ञात-समाधि की चर्चा करते हुए उन्होंने केवल उपायप्रत्यय अधिकारी के लिए ही श्रद्धादि गुण अपेक्षित बताए हैं। सामान्य अधिकारी के विषय में उन्होंने कोई चर्चा नहीं की। पतञ्जलि ने उपायप्रत्यय साधक के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि जो गुण अपेक्षित बताए हैं, उनकी समानता जैन-साधना-मार्ग के सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान) के साथ सहज की जा सकती है। जैनशास्त्रों में सम्यग्दर्शन के जो प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य रूप लक्षण इंगित किये गये हैं, इनमें आस्तिक्य और संवेग योगदर्शन सम्मत श्रद्धा, वीर्य और स्मृति से साम्य रखते हैं। जैन-परम्परा सम्मत सम्यग्ज्ञान योगसम्मत प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व करता है। जैनशास्त्रों में सम्यक्चारित्र का प्रथम सोपान सामायिक माना गया है और गृहस्थ व मुनि दोनों के लिए सामायिक की अनिवार्यता वर्णित की गई है। 'सामायिक' में साधक को प्रतिदिन नियतकाल तक समताभाव (अन्य पदार्थों से मन को हटाकर शुद्ध आत्मसाधना की ओर उन्मुख

---

१. स च निरोधः सर्वासां चित्तभूमीनां सर्वप्राणिनां धर्मः कदाचित् कस्याञ्चिद् भूमौ आविर्भवति। – भोजवृत्ति, पृ० ३

२. (क) उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ।। – यशस्तिलकचम्पू, ८/३६५
(ख) उपासकाध्ययन, ४३/८२२
(ग) हरिवंशपुराण, ५८/३

होना) धारण करना[1] अपेक्षित होता है। प्रत्येक जैन के लिए यह एक आवश्यक विधान है।[2] पातञ्जलयोग सम्मत समाधि (चित्त की एकाग्रता) और जैन-परम्परा में स्वीकृत सामायिक चारित्र, इन दोनों की परस्पर समानता स्वतः स्पष्ट है।

योगाधिकारी की प्राथमिक व अनिवार्य योग्यता योग-परम्परा में सर्वप्रथम आ० हरिभद्र को अनुभव हुई और उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से इसे समझाने का प्रयास किया। आ० शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव चूंकि सामान्य व्यक्ति के लिए न होकर, उच्च स्तर के साधक अर्थात् मुनि (जो स्वतः योगाधिकारी की योग्यता से सम्पन्न होता है) के लिए है, इसलिए उन्हें इसका विवेचन करने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। आ० हेमचन्द्र एवं उपा० यशोविजय ने उसकी उपयोगिता समझकर, अपने पूर्ववर्ती आ० हरिभद्र का अनुसरण किया। आ० हरिभद्र की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने जैनेतर परम्परा में प्रचलित चान्द्रायणादि व्रतों को भी योग की पूर्वभूमिका में स्थान दिया और अपने इस उदार दृष्टिकोण से योग को सम्यग्दर्शन की सीमित परिभाषा से ऊपर उठाकर योग-साधना के प्रति एक गहन आदरभाव का निर्माण किया।

अर्धमागधी आगमों में सिद्धों के १५ भेद बताए गये हैं। जिनमें अन्यलिंगसिद्ध (जैनमुनि का वेश-धारण न करके अन्य वेश से सिद्ध होने वाले) भी एक भेद है।[3] वहाँ स्पष्ट रूप से यह मान लिया गया है कि जैनेतर मार्ग से साधना करके भी सिद्धता (मुक्ति) प्राप्त हो सकती है। आगमिक चिन्तन की यह उदारता निश्चय ही आ० हरिभद्र की भावभूमि में रही होगी।

योगी के विविध प्रकारों के निरूपण में भी दोनों परम्पराओं में साधना-मार्ग में प्राप्त उपलब्धि के तारतम्य को आधार माना गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ० हरिभद्र ने पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित चतुर्विध योगियों के निरूपण से प्रभावित होकर ही अपने योगग्रन्थों में चार प्रकार के योगियों का विवेचन किया है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आ० हरिभद्र ने योगियों की परिभाषा की जो संघटना की है वह बिल्कुल नवीन है। हाँ, कुलयोगी की हारिभद्रीय अवधारणा पर, पातञ्जलयोग सम्मत भवप्रत्ययोगी की अवधारणा का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

भावों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता के आधार पर आ० हरिभद्र द्वारा किया गया भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों का विवेचन भी कई दृष्टियों से विशिष्ट है। उन्होंने योग सम्बन्धी भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों का जिस विस्तार से निरूपण किया है, वैसा अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता और न ही वे किसी सम्प्रदाय-विशेष से बंधे हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पातञ्जलयोग-परम्परा से अनेक समानताओं एवं विषमताओं के होने पर भी जैन-परम्परा का अपना वैशिष्ट्य सुरक्षित रहा है।

---

१. गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), ३६८ पर टीका

२. गृहस्थ और मुनि के लिए निर्धारित षडावश्यकों में सामायिक का परिगणन किया गया है।
— द्रष्टव्य : अनुयोगद्वार (व्यावर संस्करण) ७४–७५

३. द्रष्टव्य : नंदीसूत्र २१, स्थानांगसूत्र, १/२१४–२२

चतुर्थ अध्याय

योग और आचार

दर्शनशास्त्र के दो पक्ष हैं – सैद्धान्तिक और व्यवहारिक। अतः योगदर्शन जहाँ योग के सैद्धान्तिक पक्ष का निरूपण करता है, वहाँ इसका सम्बन्ध ज्ञान के अनुभवात्मक अनुष्ठान अर्थात् व्यवहारिक पक्ष से भी है। सिद्धान्त पक्ष को 'विचार' और व्यवहार पक्ष को 'आचार' कहा जाता है। आध्यात्मिक साधना दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित है, क्योंकि विचार प्रथम है, अतः उस विचार की परिणति के लिए आचार अपेक्षित है। विचार को आचरण में लाए बिना प्राप्य, अप्राप्य बन जाता है। जहाँ आचार के लिए श्रद्धा अपेक्षित है, वहाँ विचार के लिए तर्क की आवश्यकता है। दोनों के संतुलित विकास से ही व्यक्तित्व का विकास संभव है।

आचार और विचार की एक अविच्छिन्न श्रृंखला है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने धर्म और दर्शन अर्थात् आचार और विचार का युगपत् प्रतिपादन किया है। अनेक आधुनिक चिन्तक दर्शन और आचार (साधनपक्ष) को पृथक्-पृथक् रखने का प्रयत्न करते हैं, तथा आचार और दर्शन को असम्पृक्त सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया गया है, विशेषकर तर्कशास्त्र के क्षेत्र में। तर्कशास्त्र की उपलब्धियों को जीवन-साधना के रूप में उतारने की कल्पना न किया जाना स्वाभाविक भी है। सम्भवतः इसी कारण दर्शन और आचार (साधनपक्ष) को अलग-अलग देखने की प्रवृत्ति दार्शनिक जगत् में प्रचलित हो गई है। किन्तु जैनदर्शन अथवा योगदर्शन के अध्येता के लिए दर्शन और आचार को पृथक्-पृथक् करना सहज प्रतीत नहीं होता। फलतः यदि यह कहा जाए कि जैनदर्शन और योगदर्शन मूलतः आचार-प्रधान दर्शन हैं, तो अनुचित न होगा। पातञ्जलयोग एवं जैनयोग-परम्परा में आचार को प्रधानता देने के साथ-साथ विविध दार्शनिक विषयों का आचार के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास भी किया गया है।

अ. पातञ्जलयोग और आचार

पातञ्जलयोगसूत्र में कैवल्य प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य[1], क्रियायोग[2] (तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) और अष्टांगयोग[3] का प्रतिपादन है तथा कैवल्य के रूप में पुरुषार्थ-शून्य गुणों के प्रतिप्रसव की कल्पना की गई है।[4]

---

१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१२

२. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । – वही, २/१

३. योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। – वही, २/२८,२९

४. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। – वही, ४/३४

आ. जैनयोग और आचार

जैन-परम्परा में भी मोक्ष की प्राप्ति हेतु साधना के एक समन्वित मार्ग का प्रवर्तन हुआ है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध है।[१] जैन तीर्थंकरों एवं साधुओं ने तत्त्वज्ञान और उसके द्वारा निर्दिष्ट साधना के पूर्व उसके उपायों के प्रति श्रद्धा को अनिवार्य बतलाया है।

जैन-परम्परा में सम्यक् आचार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और उसे केन्द्र में रखकर ही धर्मविषयक चिन्तन का विकास हुआ है। कोई व्यक्ति जो जैनागमों का ज्ञाता तो है, परन्तु तदनुरूप आचरण नहीं करता, तो उसका वह संपूर्ण ज्ञान निरर्थक और विस्मरणशील है। केवल शास्त्रों के ज्ञाता को म्लेच्छ या शब्ददैत्य कहा जाता है। जो व्यक्ति मात्र ज्ञानी है, उसका न कोई महत्त्व है और न सार्थकता। ज्ञान का महत्व उसके अनुरूप आचरण में है[२] और उसकी सार्थकता मनोनिग्रह, संयम, वीतरागता व मोक्षानुरक्ति में। इस कारण मनोनिग्रहकारक एवं वीतरागता-उत्पादक 'ज्ञान' को ही 'सच्चा ज्ञान' कहा गया है।[३] आचार का पालन करने से ही ज्ञान में निखार आता है और वह स्पष्ट एवं परिपक्व बनता है। बिना आचरण (सम्यक्चारित्र) के उसमें पूर्णता नहीं आती। अतः ज्ञान के पूर्ण विकास के लिए सम्यक् आचरण और आचरण की शुद्धता एवं पूर्णता के लिए ज्ञान परस्पर पूरक तथा अनिवार्य हैं। ज्ञान और क्रिया की संयुक्त साधना से ही साध्य की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।[४] इसीलिए जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित रूप को मोक्षमार्ग के रूप में निरूपित किया गया।[५] इनकी विशेषता यह भी है कि इन तीनों में सम्पूर्ण जैन आचार व तात्त्विक विवेचना समाहित है।

यद्यपि जैनदर्शन में संकीर्ण सम्प्रदायनिष्ठता के लिए कोई स्थान नहीं है तथापि व्यवहारिक दृष्टिकोण से उसके त्रिविध साधना-मार्ग में सम्प्रदायनिष्ठता स्पष्ट दिखाई देती है। आ० हरिभद्र ने सम्प्रदायनिष्ठ संकीर्णता को दूर करने तथा जैनाचार को सर्वग्राह्य बनाने के लिए तत्कालीन परिस्थिति व लोकरुचि के अनुरूप, अभिनव दृष्टिकोण अपनाया और सभी धार्मिक व्यापारों को 'योग'[६] की संज्ञा देकर, साधना की दृष्टि से योग के क्षेत्र को भी एक नवीन दिशा प्रदान की।

आ० शुभचन्द्र ने भी प्राचीन-परम्परा का अनुसरण करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ओर सम्यक्चारित्र का मोक्ष-मार्ग के रूप में विवेचन किया।[७] आत्मज्ञान की वृद्धि करना ही ज्ञानार्णव की रचना का एकमात्र उद्देश्य था।[८] इसलिए ज्ञानार्णव में उन्होंने केवल साध्वाचार का ही निरूपण किया, और ध्यान-साधना करने वाले साधक के लिए गृहस्थाश्रम के त्याग का स्पष्ट विधान किया।[९]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १/१ ; योगप्रदीप, ११३ ;योगशास्त्र, १/१५

२. (क) क्रियाविरहितं हन्त, ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं बिना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ।।
स्वानुकूलां क्रियां काले, ज्ञानपूर्वोऽप्यपेक्षते ।
प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि, तैलं पूर्त्यादिकं यथा ।। – ज्ञानसार, ६/२,३; अध्यात्मोपनिषद्, ३/१३, १४
(ख) तुलना : भावप्राभृत, ५२, ५३; शीलप्राभृत, ३०, ३१

३. मूलाचार, २६७, २६८

४. ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः ।

५. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । – तत्त्वार्थसूत्र ,१/१

६. मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो। – योगविंशिका, १

७. ज्ञानार्णव, अध्याय ६ से १६

८. न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया ।
कृतिः किं तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् ।। – वही, १/१६

९. वही, ४/१०–१३

इसी प्रकार आ० हेमचन्द्र ने भी सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप त्रिविध साधना मार्ग का ही चित्रण किया है।[१] उन्होंने 'योगशास्त्र' की रचना राजा कुमारपाल के निमित्त की थी।[२] इसलिए उनका यह ग्रन्थ लोकधर्म की भूमिका पर रचा गया है। यही इस ग्रन्थ की सर्वोपरि विशेषता है।

उपा० यशोविजय ने भी अपने योग-ग्रन्थों में आ० हरिभद्र सम्मत योगमार्ग एवं सर्वग्राह्य आचार को ही पल्लवित-पुष्पित किया। पूर्वपृष्ठों में इन विषयों का विशद विवेचन किया जा चुका है।

प्रस्तुत अध्याय में उन आचारों का विवेचन करेंगे जिनकी पृष्ठभूमि में आ० शुभचन्द्र और आ० हेमचन्द्र ने अपने योग-ग्रन्थों की रचना की है। वे हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय।

क. सम्यग्दर्शन

अर्थ : 'दर्शन' शब्द प्रायः 'दृष्टि' के अर्थ में अथवा तत्त्वज्ञान और उसके साधनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से 'सम्यग्दर्शन' शब्द कई बार सम्यक् तत्त्वज्ञान का पर्यायवाची प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ यह इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। जैनदर्शन में 'सम्यग्दर्शन' पद पारिभाषिक होकर एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त है, जिसके अनुसार जीव, अजीव आदि तत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है।[३] जैन आगमों में परिभाषित 'सम्यग्दर्शन' का यही अर्थ आ० हरिभद्र,[४] आ०शुभचन्द्र,[५] आ० हेमचन्द्र[६] एवं उपा० यशोविजय[७] आदि ने भी स्वीकार किया है। दिगम्बर-परम्परा के कुछ ग्रन्थों में 'आगम' या 'शास्त्र' पर होने वाली श्रद्धा को 'सम्यग्दर्शन' कहा गया है।[८] शास्त्रों का उपदेशक गुरु होता है, इसलिए श्वेताम्बर-परम्परा के सभी ग्रन्थों में गुरु पर श्रद्धा रखना भी 'सम्यग्दर्शन' का लक्षण माना गया है।[९] आ० हेमचन्द्र के अनुसार सच्चे देव को देव समझना, सच्चे गुरु को गुरु समझना और सच्चे धर्म में धर्म-बुद्धि रखना 'सम्यक्त्व' है।[१०]

पातञ्जलयोगसूत्र के व्यासभाष्य में भी 'सम्यग्दर्शन' शब्द का उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है कि अनादि दुःख रूप प्रवाह से प्रेरित योगी आत्मा और भूतसमूह को देखकर समस्त दुःखों के क्षय के कारणभूत 'सम्यग्दर्शन' की शरण में जाता है अर्थात् दुःखनिवृत्ति का कारण मानकर उसे स्वीकार करता है। यहीं उसे संसार के हान का, उससे मुक्ति पाने का उपाय भी कहा गया है।[११] जैनदर्शन में प्ररूपित

---

१. चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ।। – योगशास्त्र, १/१५

२. श्रीचौलुक्य-कुमारपाल-नृपतेरत्यर्थमभ्यर्थनाद्।
आचार्येण निवेशिता पथि गिरां श्रीहेमचन्द्रेण सा।। – वही, २/५५

३. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/१०; तत्त्वार्थसूत्र, १/२; वसुनन्दिश्रावकाचार, १०; पंचास्तिकाय, १०७; प्रशमरतिप्रकरण, २२२; दर्शनप्राभृत, १६; सर्वार्थसिद्धि,१३; प्रंचसंग्रह,१/१५६; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २२

४. योगशतक, ३; श्रावकप्रज्ञप्ति, ६२

५. ज्ञानार्णव, ६/४(१), ५, ६(२)

६. योगशास्त्र, १/७

७. अध्यात्मसार, ४/१२/६

८. वसुनन्दिश्रावकाचार, ६; रत्नकरण्डश्रावकाचार, १/४

९. अमितगतिश्रावकाचार, १४; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३१७

१०. (क) या देवे देवतानुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते।। – योगशास्त्र, २/२

(ख) यद्यपि रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेष्विति यतिश्रावकाणां साधारणं सम्यकत्त्वलक्षणमुक्तम्। तथापि गृहस्थानां देवगुरुधर्मेषु पूज्यत्वोपास्यत्वानुष्ठेयत्वलक्षणोपयोगवशाद्देवगुरुधर्मतत्त्वप्रतिपत्तिलक्षणं सम्यक्त्वं पुनरभिहितम्।
– योगशास्त्र, स्वोपज्ञ वृत्ति, २/२

११. तदेवगनादिना दुःखस्रोतसा व्यूह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति.. हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। – व्यासभाष्य, पृ० २१५-२१८

सम्यग्दर्शन के समकक्ष अर्थ में पातञ्जलयोग-परम्परा में 'विवेकख्याति' का उल्लेख हुआ है, जिसे 'सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्यय' भी कहा जाता है।[१]

जैन-परम्परा में जिन जीव, अजीवादि तत्त्वों के श्रद्धान् को सम्यग्दर्शन कहा गया है, उनकी चर्चा पातञ्जलयोगसूत्र में नहीं मिलती। वहाँ व्यक्त ओर अव्यक्त दो प्रकार के तत्त्वों का उल्लेख प्राप्त होता है। व्यक्त तत्त्वों में महत्तत्त्व, अहंकार, एकादश इन्द्रियों, पंचतन्मात्राओं तथा पंचमहाभूतों का[२] तथा अव्यक्त तत्त्व में प्रकृति का परिगणन किया गया है।[३]

जहाँ तक आ० हेमचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट सम्यग्दर्शन के स्वरूप का प्रश्न है, वह पतञ्जलि की मान्यता के सर्वथा अविरुद्ध तथा अनुकूल है। पतञ्जलि ने चित्तवृत्तिनिरोध के अनेक उपायों की चर्चा करते हुए ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख किया है। ईश्वरप्रणिधान को स्पष्ट करते हुए उन्होंने ईश्वर के स्वरूप का विश्लेषण करके उसे सभी गुरुओं का भी गुरु कहा है[४] और उसके वाचक पद प्रणव का जप[५] और ईश्वर के प्रति सर्वात्मना समर्पण आवश्यक माना है।[६] यहाँ ईश्वर को 'परमगुरु' कहना और भाष्यकार द्वारा महर्षि पतञ्जलि के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए, परम गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पण की चर्चा में सम्यग्दर्शन की उपर्युक्त भावना ही बीजरूप में प्रतिष्ठित दिखाई पड़ती है।

इसके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलि ने योग के आठ अंगों में 'स्वाध्याय' को योग के एक अंग के रूप में स्वीकार किया है। भाष्यकार द्वारा "स्वाध्यायःप्रणवादि पवित्राणाम् जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा"[७] कहकर जो स्पष्टीकरण किया गया है, वह तत्त्वज्ञान के प्रतिपादक अथवा मोक्षमार्ग के प्रतिपादक ग्रन्थों के प्रति साधक में परम श्रद्धा होने की अनिवार्यता को सूचित करता है, जो पुनः सम्यग्दर्शन का एक अन्य विशिष्ट लक्षण है। इस प्रकार जैनपरम्परा में स्वीकृत 'सम्यग्दर्शन' न केवल वेदान्त के अविरुद्ध है, अपितु पतञ्जलि की मूल भावना के अत्यन्त अनुकूल भी है।

सम्यग्दर्शन की जीवन में प्रतिष्ठा, तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित साधना की पूर्वपीठिका है। यह वह भूमि है जहाँ से भव्यप्राणी का जीवन अज्ञानान्धकार से निकलकर, सम्यक् आत्मबोध रूप ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। सम्यग्दर्शन की प्रतिष्ठा ही सम्यग्ज्ञान की पृष्ठभूमि बनती है। दूसरे शब्दों में जब तक सम्यग्दर्शन का आविर्भाव नहीं होता, तब तक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता और उसके अभाव में कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति सम्यक्चारित्र की कोटि में नहीं आती। आ० शुभचन्द्र के अनुसार सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उपलब्ध होते हैं, तथा यम, नियम, जप, तप आदि सार्थक हो सकते हैं।[८] सम्यग्दर्शन के अभाव में समस्त ज्ञान और समस्त चारित्र मिथ्या ही बने रहते हैं।[९] सम्यग्दर्शन के बिना सर्व ज्ञान और चारित्र के मिथ्या होने से व्यक्ति का अपना कोई मूल्य उसी प्रकार नहीं होता, जैसे अंक के बिना शून्य मूल्यहीन होता है, और ऐसे व्यक्ति कभी भी दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर

---

१. सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। – व्यासभाष्य, पृ० २६२
२. ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः। – पातञ्जलयोगसूत्र, ४/१३
३. .....निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिंगं प्रधानं तत्प्रतियन्ति। – व्यासभाष्य, पृ० २३४
४. सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । –पातञ्जलयोगसूत्र, १/२६
५. तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम् । –वही, १/२७, २८
६. ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंयासो वा। – व्यासभाष्य, पृ० १६२
७. वही
८. ज्ञानार्णव, ६/५३
९. वही, ६/५४

पाते।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सम्यग्दर्शन अध्यात्म-साधना में सिद्धि रूपी प्रासाद तक पहुँचने के लिए प्रथम सोपान है।[2]

अंग : जिस प्रकार पतञ्जलि के योगदर्शन में यम, नियमादि आठ अंगों की चर्चा के उपरान्त यमादि अंगों के अहिंसा आदि भेद स्वीकार किए गये हैं, उसी प्रकार जैनपरम्परा में सम्यग्दर्शन के निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहा (उपगूढन या उपगूहन), स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना – इन आठ अंगों को स्वीकार किया गया है।[3] इन आठ अंगों के रहने पर ही तत्त्वज्ञान अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व, उनके प्रतिपादक शास्त्र और उनका बोध कराने वाले गुरु आदि के प्रति श्रद्धा सुदृढ़ हो पाती है। उदाहरणार्थ तत्त्वों के प्रति अथवा उनके बोधक शास्त्र एवं गुरु के प्रति शंकालु होने पर, श्रद्धा का उदय नहीं हो सकता। धर्म-फल के प्रति संदेह, और जड़ता (विद्यमान संस्कारों के प्रति मूढ़तापूर्ण अभिनिवेश) भी श्रद्धा को पनपने नहीं देते। सांसारिक विषय-भोगों के प्रति राग भी साधक को मोक्ष-मार्ग के प्रति श्रद्धालु नहीं रहने देता। अतः निराकांक्षिता (निःकांक्षित होना) भी मोक्षशास्त्र के प्रति श्रद्धा के लिए आवश्यक है। वह व्यक्ति जो श्रेष्ठ जनों के गुणों के प्रति आदरभाव नहीं रखता, सद्गुणों की वृद्धि की कामना नहीं करता अर्थात् जो उपबृंहण से शून्य है, वह भी मोक्ष-मार्ग के प्रति अपनी श्रद्धा को स्थिर नहीं रख पाता। चंचलता क्योंकि सत् और असत् दोनों ही कार्यों की ओर जीव की प्रवृत्ति कराने में प्रेरक होती है, अतः चंचलता के कारण सन्मार्ग का पथिक भटक जाता है। इसीकारण प्रतिपक्ष स्वरूप चंचलता के 'स्थिरीकरण' को सम्यग्दर्शन के एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। न केवल अध्यात्म-साधना, बल्कि लौकिक जीवन के लिए भी सहधर्मी समाज की आवश्यकता होती है। एकाकी साधना करने वाला व्यक्ति और सहधर्मियों के प्रति उपेक्षा रखने वाला व्यक्ति, बहुधा कभी सन्देहग्रस्त होता है, कभी आपदग्रस्त। यही परिस्थितियाँ उसे अपने मार्ग से विचलित कर देती हैं। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन के एक अंग के रूप में 'वात्सल्य' को भी अनिवार्य माना गया है। सम्यग्दर्शन का अष्टम अंग है 'प्रभावना' अर्थात् धर्मशास्त्र के प्रचार-प्रसार की प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति जहाँ गुरु-ऋण से मुक्त होने का एक उपाय है, वहीं साधना और ज्ञान की पूर्णता-प्राप्ति का भी एक मुख्य साधन है; क्योंकि ज्ञान की पूर्णता अधीति, बोध और आचरण के उपरान्त, उसकी सम्यक् प्रभावना या प्रचार-प्रसार से ही बन पाती है। इस तथ्य को प्राचीन आचार्यों ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है।[4] सम्यग्दर्शन की पूर्णता इन आठों अंगों की समष्टि से ही होती है, और उसके पश्चात् ही साधक सम्यग्ज्ञान की ओर आगे बढ़ पाता है।

लक्षण : जीवाजीवप्रभृति सप्ततत्त्वों, तत्त्वज्ञान, शास्त्र एवं गुरु आदि के प्रति श्रद्धा को 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। यह श्रद्धा एक प्रकार का मनोभाव है। कोई भी मनोभाव जनसामान्य के हृदय में समय-समय पर उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है। किन्तु कुछ मनोभाव किन्हीं परिस्थिति विशेष में अधिक काल तक रहा करते हैं। प्रेम, क्रोध, उत्साह, भय, विस्मय, घृणा (जुगुप्सा), हास्य एवं भक्ति, ऐसे ही भाव हैं, जो चिरकाल तक व्यक्ति विशेष में दिखाई पड़ते हैं। इन मनोभावों का काव्यादि में वर्णन होने पर उन्हें

---

१. ज्ञानार्णव, ६/५७
२. (क) सिद्धिप्रसादसोपानं विद्धिदर्शनमग्रिमम् । – आदिपुराण, ६/१३१
   (ख) सोवाणं पढममोक्खस्स । – भावपाहुड़, १४५
३. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/३१
४. अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
   चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेदिम विद्यासु चतुर्दश स्वयम् ।। – नैषधीयचरितम्, १/४

स्थायीभाव के नाम से स्मरण किया जाता है, और उनका आस्वादन 'रस' के नाम से स्वीकार किया जाता है।[1] ये 'स्थायीभाव' अन्य भावों की अपेक्षा भले ही चिरस्थायी हों, किन्तु श्रद्धा अथवा भक्ति ऐसा मनोभाव है, जो एक बार उत्पन्न होने के बाद अपने आश्रय के प्रति कुछ काल विशेष में ही न रहकर, सुदीर्घकाल तक स्थिर रहता है, और कभी-कभी तो आजीवन प्रभावशाली बने रहते हुए अन्य सभी भावों को तिरस्कृत किए रहता है। वैष्णव संतों की परम्परा में रामानुज, रामानन्द, वल्लभ, मध्व, निम्बार्क और चैतन्य ऐसे सन्त हैं, जिनके मानस में एक बार भक्ति का उदय हुआ तो वे उसमें ही लीन हो गए और उनकी शिष्य-परम्परा में मीरा, रविदास, मलूकदास आदि सन्त भी उस श्रद्धा-भक्ति में निरन्तर सराबोर रहे। जैन-परम्परा में भी धर्म के प्रति अत्यन्त प्रगाढ श्रद्धा किसी भी साधु अथवा गृहस्थ में देखी जा सकती है।

इस श्रद्धा और भक्ति का उदय यद्यपि किसी भी परिस्थिति में हो सकता है, तथापि इसके उदय और परिपोष में सत्संगति, गुरूपदेश और स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा करता है। किसी भी साधक के जीवन में श्रद्धा का बीज होने पर, उसका परिपोष धीरे-धीरे होता है। किन्तु जब वह श्रद्धा पूर्वोक्त तत्त्वादि के प्रति परिपुष्ट होती हुई सुस्थिर हो जाती है, तब साधक के जीवन में कुछ चिह्न प्रकट होते हैं, जिन्हें जैन-परम्परा में सम्यग्दर्शन के लक्षण के नाम से स्मरण किया गया है। ये लक्षण हैं – १. प्रशम २. संवेग, ३. निर्वेद ४. अनुकम्पा और ५. आस्तिक्य।[2]

आ० शुभचन्द्र प्रभृति कुछ जैनाचार्यों ने निर्वेद को संवेग का पर्यायवाची मानकर पृथक् रूप से चर्चा नहीं की, इसलिए उन्होंने चार लक्षणों का ही उल्लेख किया है।[3]

यह स्वाभाविक भी है कि मानव के हृदय में तत्त्वों अथवा गुरु आदि के प्रति श्रद्धा परिपक्व होने पर, उसके हृदय में स्थित क्रूरता आदि कषाय शान्त होने लगें, संसार के प्रति राग दूर होकर वैराग्य पुष्ट होने लगे, प्राणी मात्र के प्रति अनुकम्पा जीवन में परिलक्षित होने लगे और मोक्ष-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा मानस में विद्यमान हो। इन चिह्नों में पंचम आस्तिक्य तो श्रद्धा का पूर्ण विकास है, अतः उसका प्राकट्य तो होना ही है। इन सब चिह्नों के प्रकट होने से यह प्रतीत होने लगता है कि साधक अपने मार्ग पर सम्यक् रीति से अग्रसर हो रहा है और अब वह सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट न होकर, मोक्ष-मार्ग पर तीव्र गति से आगे बढ़ सकेगा।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार भी श्रद्धा वैराग्य को समृद्ध करती हुई अभ्यास में साधक को निरन्तर प्रवृत्त रखती है, और अन्त में उसे समाधि की उत्कृष्टतम कोटि तक पहुँचा देती है। जिन्होंने पूर्व जन्म में पर्याप्त योग-साधना की है, उनके लिए भले ही श्रद्धा की बहुत अपेक्षा न हो, किन्तु अन्य साधक साधना के प्रति श्रद्धावान् होने पर ही समाधि रूप मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर हो पाते हैं, और कुछ विशिष्ट कोटि के साधकों में साधना-काल में विविध सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं।[4]

भेद : सम्यग्दर्शन भी श्रद्धा होने के कारण एक मनोभाव है। किसी भी मनोभाव की स्थिति विशेष अर्थात् प्रबलता के स्तर के आधार पर उसके अनन्त भेद हो सकते हैं। जिन परिस्थितियों में उस मनोभाव का उदय होता है उसके आधार पर भी प्रत्येक मनोभाव के अनेक भेद किए जा सकते हैं। अनन्त भेदों की संभावना के कारण प्रत्येक भेद का परिगणन करना संभव नहीं है। जैन आचार्यों ने सम्यग्दर्शन रूप

---

१. साहित्यदर्पण, २/१०
२. योगबिन्दु, स्वोपज्ञ वृत्ति, २५२; श्रावकप्रज्ञप्ति, ५६; धर्मसंग्रहिणी, ८०६; योगशास्त्र, २/५; अध्यात्मसार, ४/१२/२४
३. ज्ञानार्णव, ६/६/४ ; परमात्मप्रकाश (टीका), २/१७/१३२/५ ; तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/२/३
४. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकं इतरेषाम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१९-२०

मनोभाव के अनेक वर्गीकृत भेद स्वीकार किये हैं, जिनमें कुछ निम्नलिखित हैं :–

१. निश्चय और व्यवहार-सम्यग्दर्शन[१]
२. निसर्गज और अधिगमज-सम्यग्दर्शन[२]
३. सराग और वीतराग-सम्यग्दर्शन[३]
४. द्रव्य और भाव-सम्यग्दर्शन[४]
५. औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन[५]

सम्यग्दर्शन के इन पांच वर्गों में 'निसर्गज और अधिगमज-सम्यग्दर्शन' मनोभाव की उत्पत्ति के हेतु के आधार पर वर्णित किया गया भेद है, जबकि औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन मनोभाव के प्रकार के आधार पर परिगणित हुआ है। 'द्रव्य एवं भाव-सम्यग्दर्शन' उसके विषय को आधार मानकर किया गया है, जबकि 'सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन' श्रद्धा रूपी मनोभाव के साथ इतर मनोभाव के संश्लेष और असंश्लेष के आधार पर स्वीकृत है। 'निश्चय और व्यवहार-सम्यग्दर्शन' श्रद्धा रूपी मनोभाव के उपर्युक्त परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न विषय और प्रवृत्ति दोनों को आधार मानकर स्वीकार किए गए हैं। इनमें निश्चय-सम्यग्दर्शन मूलतत्त्व विषयक होता है, जबकि व्यवहार-सम्यग्दर्शन सांसारिक व्यवहार अथवा उसके उपादानों से सम्बद्ध है। कहने का तात्पर्य है कि सम्यग्दर्शन के इन वर्गों में जैन आचार्यों ने स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि सम्यग्दर्शन रूप मनोभाव को अनेक दृष्टियों से देखा और समझा जा सकता है।

श्रद्धा रूपी मनोभाव अपनी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में जहाँ रुचि की अपेक्षा रखता है, वहीं उसके परिपुष्ट होने पर विविध विषयों अथवा क्रियाओं आदि के प्रति रुचि को उत्पन्न भी करता है। ये रुचियाँ भी यद्यपि अनन्त हो सकती हैं, तथापि जैन आचार्यों ने निसर्ग, उपदेश, आज्ञा, सूत्र, बीज, अभिगम, विस्तार, क्रिया, संक्षेप एवं धर्म को आधार मानकर उपर्युक्त १० रुचियाँ स्वीकार की हैं।[६] ये दसों प्रकार की रुचियाँ सम्यक्त्व की उत्पत्ति की निमित्त मानी जा सकती हैं किन्तु इनकी सत्ता सम्पूर्ण वैराग्य उत्पन्न होने के बाद (वीतराग दशा में) नहीं होती अर्थात् ये सराग सम्यग्दर्शन में ही रह सकती हैं, इसके आगे नहीं।[७]

प्रतिपक्षी भाव - मिथ्यात्व : सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व का प्रतिपक्षी भाव है। मिथ्यात्व का अर्थ है – अविद्या की स्थिति। पतञ्जलि के अनुसार अविद्या, जिसे जैन दर्शन में मिथ्यादृष्टि कहा गया है, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का मूल कारण है। चूंकि समस्त क्लेशों के मूल में इनकी सत्ता रहती है, इसलिए इन्हें स्वयं भी क्लेश कहा जाता है।[८]

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग की साधना में प्रवृत्त होकर, निरन्तर वैराग्यपूर्वक अभ्यास करते रहने पर सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि होती है। तभी ऋतम्भराप्रज्ञा का उदय होता है, जिसके

---

१. रयणसार, ४
२. तत्त्वार्थसूत्र, १/३; तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २/१/३; अनगारधर्मामृत, २/४७/१७१
३. सर्वार्थसिद्धि, १/२/१०/७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/२/२९–३१; अनगारधर्मामृत, २/५१/१७८; भगवती आराधना, ५१/१७५/१८.२१
४. तत्त्वार्थभाष्य सिद्धसेनवृत्ति, १/५
५. श्रावकप्रज्ञप्ति, ४४; योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति, २/२.
६. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/१६
७. दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पन्नत्ते तंजहा निसग्गुवदेसरुई.....इत्यादि। – स्थानांगसूत्र, १०/७५
८. पातञ्जलयोगसूत्र, २/३

फलस्वरूप साधक के मानस में पूर्व से विद्यमान समस्त संस्कार अवरुद्ध होते हैं, और जब समस्त संस्कार का निरोध हो जाने पर प्रज्ञा का संस्कार भी निरुद्ध हो जाता है, तब साधक निर्बीजसमाधि को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[१]

जैन आचार्यों ने भी मिथ्यादृष्टि अपर पर्याय 'अविद्या' का निरोध योगसाधना के लिए आवश्यक माना है। उनकी यह भी मान्यता है कि मिथ्यादृष्टि का प्रतिबन्धन आरम्भ होने पर ही व्यक्ति साधना के मार्ग में आगे बढ़ पाता है। इसलिए उन्होंने मिथ्यादृष्टि के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन को सर्वप्रथम स्थान दिया है। यह मिथ्यादृष्टि अनेक प्रकार की हो सकती है। महर्षि पतञ्जलि ने अनित्य पदार्थों को नित्य समझना, अशुचि पदार्थों को शुचि समझना, दुःखमय पदार्थों को सुखमय समझना और अनात्म पदार्थों को आत्मस्वरूप समझना अविद्या है, ऐसा स्वीकार किया है।[२] पतञ्जलि के इन अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म शब्दों द्वारा विश्व के समस्त पदार्थों का भिन्न-भिन्न चार दृष्टियों से वर्गीकरण कर दिया गया है। जैनाचार्यों ने साधकों की सुविधा के लिए उपर्युक्त वर्गीकरण को अप्रत्यक्षतः स्वीकार करते हुए भी, प्रत्यक्षतः इसके अनेक प्रकार स्वीकार किए हैं। उदाहरणतः स्थानांगसूत्र में अधर्म को धर्म, धर्म को अधर्म, अमार्ग को सन्मार्ग, मार्ग को अमार्ग, असाधु को साधु, साधु को असाधु, अजीव को जीव, और जीव को अजीव, अमुक्त को मुक्त तथा मुक्त को अमुक्त समझना मिथ्यात्व है, ऐसा कहा गया है।[३] आ० हेमचन्द्र ने उक्त लक्षण को दृष्टिगत रखते हुए अदेव में देवत्व बुद्धि, अगुरु में गुरुत्व बुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि रखने को मिथ्यात्व कहा है।[४]

आ० हेमचन्द्र प्रभृति जैन आचार्यों ने उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त पांच प्रकार के अन्य मिथ्यात्वों की चर्चा भी की है यथा – आभिग्राहिक, अनाभिग्राहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक।[५]

मिथ्यात्व के प्रकार – जैन दर्शन में मिथ्यात्व के ५ प्रकारों के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों से उल्लेख प्राप्त होते हैं। सामान्यतः मिथ्यात्व पांच प्रकार का माना गया है –

१. **आभिग्राहिक मिथ्यात्व**	परम्परागत मान्यताओं को बिना समीक्षा के अपना लेना।
२. **अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व**	साधारण अशिक्षितों की तरह बिना तत्त्वविवेक के सभी गुरुओं, देवों एवं धर्मों को मानना।
३. **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व**	अभिमान की रक्षा के लिए असत्य मान्यताओं को हठपूर्वक पकड़े रहना।
४. **सांशयिक मिथ्यात्व**	संशयग्रस्त बने रहकर सत्य का निर्णय न कर पाना।
५. **अनाभोगिक मिथ्यात्व**	विवेक या ज्ञान-क्षमता का अभाव।

उपा० यशोविजय ने स्थानांगसूत्र में वर्णित मिथ्यात्व को अविद्या के रूप में स्वीकार करते हुए[६]

---

१. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबंधी। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।
– पातञ्जलयोगसूत्र, १/४८, ५०, ५१

२. अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या। – वही , २/५

३. स्थानांगसूत्र, १०/७/३४

४. योगशास्त्र, २/३ एवं स्वोपज्ञवृत्ति

५. धर्मसंग्रह, अधिकार १, पृ० ३६; योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति, २/३, पृ० १६६

६. अत्राविद्या स्थानांगोक्तं दशविधं मिथ्यात्वमेव । – पातञ्जलयोगसूत्र, यशोविजयवृत्ति, २/५

पतञ्जलि द्वारा स्वीकृत अविद्या की परिभाषा को लगभग उन्हीं शब्दों में ग्रहण कर लिया है।[1] पतञ्जलि के अनुसार अनित्य, अपवित्र, दुःखमय और अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुखमय और आत्मा का ज्ञान होना अविद्या है।[2]

सम्यग्दर्शन के दोष : अध्याय के प्रारम्भ में यह चर्चा की गई है कि सम्यग्दर्शन तीर्थंकरों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का प्रथम सोपान है। जैसा कि लोक में आभाणक प्रसिद्ध है "श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति"[3] अर्थात् किसी भी भद्रकार्य में बहुत विघ्न हुआ करते हैं। मोक्ष-साधना के प्रथम सोपान पर पदार्पण करते हुए भी अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) के दोष के नाम से स्मरण किया जाता है। आ० हरिभद्र[4] एवं आ० हेमचन्द्र[5] के अनुसार सम्यक्त्व के पांच मुख्य दोष हैं –

१.	**शंका**	वीतराग मुनियों के वचनों पर श्रद्धा के स्थान पर संदेह उत्पन्न होना।
२.	**(आ)कांक्षा**	परधर्म स्वीकार करने की कामना करना।
३.	**विचिकित्सा**	स्वधर्माचरण के फल में सन्देह रखना।
४.	**परपाषण्ड-प्रशंसा**	सर्वज्ञ-प्रणीत मत के अतिरिक्त अन्य मत की अथवा अन्य मत वाले मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना।
५.	**परपाषण्डी-संस्तव**	सर्वज्ञ-प्रणीत मत के अतिरिक्त अन्य मत वाले मिथ्यादृष्टियों से गाढ़ परिचय अथवा रागात्मक आस्था रखना।

आ० शुभचन्द्र आदि कुछ आचार्यों ने सम्यग्दर्शन में २५ दोषों की सम्भावना व्यक्त की है, जिन्हें उन्होंने चार वर्गों में विभाजित कर रखा है। वे हैं –

१.	**मूढ़ता**	अज्ञानता। यह अज्ञानता तीन प्रकार की हो सकती है – धर्म के विषय में, देव के विषय में और गुरु के विषय में जिसे क्रमशः धर्ममूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता कहा जाता है।
२.	**मद**	अन्तःकरण के भीतर अभिमान का प्रादुर्भाव होना। ये आठ प्रकार का होता है, यथा – जातिमद, कुलमद, बलमद, लाभमद, ज्ञानमद, तपमद, रूपमद और ऐश्वर्यमद, जो क्रमशः मातृवंश, पितृवंश, शारीरिक बल, पूजा-प्रतिष्ठा, बुद्धि, उपवास आदि शारीरिक सौन्दर्य और ऐश्वर्य के आश्रय से अन्तःकरण में प्रादुर्भूत होता है।
३.	**अनायतन**	न आयतन। आयतन अर्थात् स्थान। जो धर्म के आयतन होते हैं वे धर्मायतन कहे जाते हैं। किन्तु जो धर्म के वस्तुतः स्थान नहीं होते, वे अनायतन कहलाते हैं और वे संक्षेप में छः हैं – कुदेव, कुश्रुत, कुलिंगी (कुगुरु), तथा

---

१. नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यनात्मसु ।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ।। – ज्ञानसार, १४/१

२. अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या ।। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/५

३. उद्धृत : योगशतक, स्वोपज्ञवृत्ति, गा० १

४. श्रावकप्रज्ञप्ति, ८६

५. योगशास्त्र, २/१७

इन तीनों के भक्त – कुदेवभक्त, कुश्रुतभक्त और कुलिंगीभक्त। इन छहों की प्रशंसा करने से सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

४. **शंका** वीतराग या अर्हत् के वचनों पर शंका करना, उनकी यथार्थता के प्रति संदेह व्यक्त करना अथवा तत्त्वार्थ के श्रद्धान में शिथिलता होना।

शंका आठ प्रकार की हो सकती है – शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थिरीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना।[१] इनमें से प्रथम चार आ० हरिभद्र द्वारा भी स्वीकृत हैं और उनका वर्णन पीछे किया जा चुका है। शेष चार में अज्ञानी या अशक्तजनों के कारण मोक्ष-मार्ग की निन्दा होने पर उसे दूर करने का प्रयत्न नहीं करना तथा अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करना, 'अनुपगूहन' है। प्राणियों को मोक्ष-मार्ग से भ्रष्ट होते देखकर भी उन्हें उसमें स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं करना, 'अस्थिरीकरण' है। साधर्मीजनों का सद्भावनापूर्वक यथायोग्य आदर-सत्कार नहीं करना, 'अवात्सल्य' है। जैनधर्म विषयक अज्ञानता को दूर करके उसकी महिमा को प्रदर्शित करने का प्रयत्न नहीं करना या स्वयं अज्ञानतावश ऐसा आचरण करना, जिससे धर्म की निन्दा हो सकती हो, 'अप्रभावना' है।

स्मरणीय है कि दसवीं एवं ग्यारहवीं शती के ब्राह्मण आचार्य क्षेमेन्द्र ने दर्पदलन नामक ग्रन्थ में पूर्ववर्णित ८ मदों में से ७ अर्थात् कुल, धन, विद्या, रूप, शौर्य, दान और तप को दर्प का कारण माना है और इस दर्प को बड़ा दोष स्वीकार किया है।[२] किन्तु जो साधक इन दोषों से बच कर स्वयं में जिनशासन मेंस्थिरता, धर्म की प्रभावना, जिनशासन में भक्ति, जिनशासन में कौशल तथा चतुर्विधसंघ-सेवा रूपी भूषणों[३] को प्रतिष्ठित कर लेते हैं, वे पूर्वोक्त दोषों पर विजय प्राप्त करके सम्यग्दर्शन रूपी मनोभाव को सम्पूर्ण रूप से परिपुष्ट करके मोक्ष-साधना के राजपथ पर पहुँच जाते हैं।

प्राप्तिक्रम : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की अपेक्षा उन्हीं जीवों को है, जिन्हें वह अब तक प्राप्त नहीं हुआ है, और जो मिथ्यादृष्टि में ही भटक रहे हैं। ऐसे जीवों की दो स्थितियाँ हो सकती हैं, प्रथम जो अनादि काल से मिथ्यादृष्टि में पड़े हुए हैं, और दूसरे जो सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके, किन्हीं कारणों से भटककर, पुनः मिथ्यादृष्टि में पतित हो गए हैं। इन दोनों में अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि में विद्यमान जीवों के लिए पुनः मिथ्यादृष्टि में पतित जीवों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कुछ सरल है। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि, सभी मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन के अधिकारी नहीं होते। इस प्रसंग में पातञ्जलयोग-परम्परा जैन-परम्परा से भिन्न है। पातञ्जलयोग में भव्यजीव (मोक्ष-प्राप्त कर सकने योग्य) तथा अनादि-अनन्त अभव्यजीव (जिन्हें कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी), ऐसा कोई विभाजन नहीं है। महर्षि पतञ्जलि की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान रूप से योग के अधिकारी हैं।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता का उदय होते ही जीव उसके उन्मुख होता है, और वह' क्षयोपशम', 'विशुद्धि', 'देशना', 'प्रायोग्य' और 'करण' इन पांच लब्धियों[४] को प्राप्त करता है।[५] इनमें अन्तिम

---

१. ज्ञानार्णव, ६/७*१; उपासकाध्ययन, २१/२४

२. क्षेमेन्द्रः सुहृदां प्रीत्या दर्पदोषचिकित्सकः ।
स्वास्थ्याय कुरुते यत्नं मधुरैः सूक्ति भेषजैः ।।
कुलं वित्तं श्रुतं रूपं शौर्यं दानं तपस्तथा ।
प्राधान्येन मनुष्याणां सप्तैते मदहेतवः ।। – दर्पदलन, ३, ४

३. स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने ।
तीर्थसेवा च पंचाऽस्य भूषणानि प्रचक्षते ।। – योगशास्त्र, २/१६

४. लब्धि का अर्थ है– प्राप्ति । प्रकृत में सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य सामग्री की प्राप्ति को 'लब्धि' कहा गया है।

५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ६५०, ६५१

'करणलब्धि' भव्य-जीवों को ही प्राप्त होती है, और इसकी प्राप्ति के उपरान्त सम्यग्दर्शन का प्रकटन प्रारम्भ हो जाता है।[१]

'करणलब्धि' के सामान्यतः तीन स्तर (परिणाम) स्वीकार किये गये हैं – १. यथाप्रवृत्तकरण, २. अपूर्वकरण, ३. अनिवृत्तिकरण।[२] इनमें प्रथम स्थिति में जीव अनादि, दुर्भेद्य कर्म-ग्रन्थि के समीप पहुँचता है, द्वितीय स्थिति में ग्रन्थि-भेदन की योग्यता प्राप्त करता है और तृतीय स्थिति में मोहनीयकर्म की उस कठोर, गाढ़-ग्रन्थि का भेदन कर लेता है। जिस प्रकार वैदिक योग-साधना में सफलता गुरु की कृपा से ही सम्भव मानी जाती हैं[३] उसी प्रकार जैनयोग-परम्परा में उपर्युक्त करणों में प्रथम अर्थात् यथाप्रवृत्तकरण को एक स्वाभाविक, परन्तु महत्वपूर्ण घटना माना जाता है।[४] इस प्रथम करण की प्राप्ति के पश्चात् जीव की साधना क्रमशः आगे बढ़ती है, और वह द्वितीय, तृतीय 'करणों' को क्रमशः प्राप्त करता जाता है। स्मरणीय है कि दिगम्बर परम्परा में यथाप्रवृत्तकरण के स्थान पर अधःप्रवृत्तकरण शब्द मिलता है।[५] जैन आचार्यों के अनुसार यथाप्रवृत्तकरण दो प्रकार का होता है – सामान्य यथाप्रवृत्तकरण और विशिष्ट यथाप्रवृत्तकरण।[६] इनमें प्रथम करण की प्राप्ति अभव्य जीव को भी हो सकती है, किन्तु विशिष्ट यथाप्रवृत्तकरण का अधिकारी भव्यजीव ही बन पाता है।[७] सम्यग्दर्शन की पूर्णता विशिष्ट यथाप्रवृत्तकरण की प्राप्ति के बाद क्रमशः होने लगती है और जीव अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण को प्राप्त करके साधना के प्रथम सोपान पर पूर्णतः आरूढ़ हो जाता है तथा सम्यग्दर्शन की पूर्णता के साथ ही सम्यग्ज्ञानी की कोटि में आ जाता है।

ख. सम्यग्ज्ञान

जैन-परम्परानुसार मोक्ष का द्वितीय सोपान सम्यग्ज्ञान है। पातञ्जलयोगशास्त्र में चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग को कैवल्य का साधन माना गया है, और उसकी प्राप्ति के लिए अभ्यास-वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान, प्राणायाम आदि जिन साधनों[८] की चर्चा की गई है, उनमें ज्ञान का अलग से परिगणन नहीं है। चित्तवृत्ति का निरोध एक स्थिति विशेष तक हो जाने पर अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधि के सिद्ध होने पर ऋतम्भराप्रज्ञा के उदय की बात कही गई है। यह ऋतम्भराप्रज्ञा अध्ययन से प्राप्त ज्ञान और अनुमान से प्राप्त ज्ञान से भिन्न हुआ करती है।[९] यहाँ इस ज्ञान को यद्यपि विशेष महत्त्व दिया गया है और कहा गया है कि इस ज्ञान का संस्कार अन्य समस्त संस्कारों का निरोध कर डालता है, और उसके अनन्तर स्वयं उसका भी निरोध हो जाता है, जिसके फलस्वरूप साधक को निर्बीजसमाधि की सिद्धि होती है,[१०] तथापि यह ज्ञान जैन-परम्परा के सम्यग्ज्ञान के समानान्तर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों ज्ञानों के हेतु में परस्पर पर्याप्त भेद है।

---

१. लब्धिसार, ३
२. करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टिमेव भव्वाणं। – विशेषावश्यकभाष्य, १२०२
३. अमनस्कयोग, १५
४. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ४५१
५. विशेषावश्यकभाष्य, १२०२, पृ० ३०२
६. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० १२२
७. योगबिन्दु, २६५
८. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । ईश्वरप्रणिधानाद्वा। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबंधनी। विशोका वा ज्योतिष्मती। वीतरागविषयं वा चित्तम्। स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। यथाभिमतध्यानाद्वा। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/२, १२, २३, ३४–३६
९. वही, १/४८, ४६
१०. पातञ्जलयोगसूत्र, १/५०, ५१

अर्थ : सम्यग्ज्ञान का अर्थ है – सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक् श्रद्धापूर्वक जीवाजीवादि नवतत्त्वविषयक यथार्थ ज्ञान।[१] सांसारिक पदार्थों के सम्यग्दृष्टि रहित ज्ञान को इस कारण मिथ्याज्ञान कहा गया है क्योंकि वह जीव को विषयभोगों की ओर आकृष्ट करता है और वह मुक्ति की अपेक्षा बंधन का कारण बनता है। आत्माभिमुख होने के लिए आत्मबोध होना आवश्यक है। उस आत्मतत्त्व को अथवा वास्तविक कल्याण-साधन के मार्ग को पहचानना सम्यग्ज्ञान है।[२] इसलिए उपा० यशोविजय ने कहा है कि मोक्ष के हेतुभूत एक पद का ज्ञान भी श्रेष्ठ है, जबकि मोक्ष की साधना में अनुपयोगी विस्तृत ज्ञान भी व्यर्थ है।[३]

ज्ञान के प्रकार : सम्यग्ज्ञान की चर्चा प्रारम्भ होते ही ज्ञान के स्वरूप, उसके साधन और उसके विषय की ओर हमारा ध्यान अनायास चला जाता है। इन तीनों दृष्टियों से ज्ञान के अनेक भेद प्रतीत होते हैं। सामान्य रूप से जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष, दो भेद हैं।[४] भारतीय दर्शन में साधारणतया इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाता है परन्तु जैनदर्शन के अनुसार इन्द्रियों और मन की सहायता की अपेक्षा के बिना साक्षात् आत्मा से ही जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।[५] इसके विपरीत इन्द्रिय और मन आदि की सहायता से बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों का जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है।[६] लौकिक प्रत्यक्ष का समावेश प्रत्यक्ष में करने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के पुनः सांव्यवहारिक (इन्द्रिय) प्रत्यक्ष तथा पारमार्थिक (आत्म) प्रत्यक्ष, ये दो भेद भी किए गए है।[७]

जैनदर्शन में अन्य प्रकार से भी ज्ञान के भेद किये गये हैं। यथा – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल।[८] इनमें से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को 'परोक्ष'[९] तथा अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान को 'प्रत्यक्ष'[१०] माना गया है। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध पर्यायवाचक शब्द हैं।[११] पांचों इन्द्रियों तथा मन से होने वाला ज्ञान 'मतिज्ञान' कहलाता है।[१२] मतिज्ञान के पश्चात् शास्त्रादि के आधार पर चिन्तन-मनन के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह 'श्रुतज्ञान' है। इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता, जबकि श्रुतज्ञान में शब्दोल्लेख होता है। यद्यपि दोनों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समान होती है, तथापि मति की अपेक्षा श्रुत का विषय अधिक विस्तृत है और उसमें स्पष्टता भी अधिक है क्योंकि श्रुतज्ञान में मनोव्यापार की प्रधानता होने से शब्द और अर्थ की पर्यालोचना रहती है तथा पूर्वापर क्रम भी बना रहता है। इसीलिए कहा गया है कि अन्य से श्रवण कर या ग्रंथ आदि पढ़कर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'श्रुतज्ञान' है।[१३] श्रुतज्ञान अवग्रहादि मतिपूर्वक होता है।[१४] जिस ज्ञान से इन्द्रियों की सहायता के बिना ही एक निश्चित सीमा के भीतर अर्थात् मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को जाना जा सके, वह

---

१. (क) नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे । – उत्तराध्ययनसूत्र, २८/३५
   (ख) पज्जवाण य सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ।। – वही, २८/५
२. मुनि न्यायविजय, जैनदर्शन, पृ० ४
३. ज्ञानसार, ५/२
४. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, १/१२
५. अतीन्द्रियत्वात् । – वही
६. निमित्तापेक्षत्वात् । – वही
७. प्रत्यक्षं द्विविधम्– सांव्यवहारिकम्, पारमार्थिकं चेति । – जैनतर्कभाषा, पृ० २
८. तत्त्वार्थसूत्र, १/६; ज्ञानार्णव, १/३
९. तत्त्वार्थसूत्र, १/११
१०. वही, १/१२
११. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । – वही, १/१३
१२. तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् । – वही, १/१४
१३. विशेषावश्यकभाष्य, १००, १२१
१४. श्रुतं मतिपूर्वं ..... । – तत्त्वार्थसूत्र १/२०

'अवधिज्ञान' है।[1] जिस ज्ञान से संज्ञी, पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जाना जा सके, वह मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान भावों की विशेष निर्मलता और तप के प्रभाव से उत्पन्न होता है।[2] इसलिए अवधिज्ञान की अपेक्षा इसे श्रेष्ठ कहा गया है।

जैन-परम्परा में ज्ञान की पराकाष्ठा को अनन्त और असीम माना गया है। परिपूर्ण ब्रह्मज्ञान, परिशुद्ध आत्मज्ञान अथवा केवलज्ञान, ज्ञान की उसी पराकाष्ठा के बोधक हैं। ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मों के पूर्णतः नष्ट होने पर जो एक निर्मल, परिपूर्ण एवं असाधारण ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।[3] केवलज्ञान से त्रिकालवर्ती सभी द्रव्यों और उनकी पर्यायों को एक साथ जाना जा सकता है।[4] यह ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है। इसके प्राप्त होने पर आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और परम चिन्मय बन जाता है। यह मनुष्य की साधना का अन्तिम फल है, जिसके प्राप्त होने पर आत्मा जीवन्मुक्त तथा अन्त में सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[5]

पतञ्जलि ने निरोध करने योग्य वृत्तियों की चर्चा करते हुए प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति का विवेचन किया है।[6] प्रमाण इन वृत्तियों में प्रथम है। पतञ्जलि ने प्रमाण तीन माने हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।[7] इन प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान की कोटियाँ जैनदर्शन की मान्यता से अविरुद्ध हैं। ऋतम्भराप्रज्ञा के सन्दर्भ में पतञ्जलि ने इन तीन प्रमाणों के आधार पर श्रुतप्रज्ञा और अनुमानप्रज्ञा, इस प्रकार द्विविध प्रज्ञा की उपलब्धि का उल्लेख किया है।[8] ऋतम्भराप्रज्ञा इन दोनों प्रज्ञाओं से भिन्न है। वह भेद विषयमूलक है। अर्थात् श्रुतप्रज्ञा एवं अनुमानप्रज्ञा का विषय कुछ और होता है तथा ऋतम्भराप्रज्ञा का कुछ और।[9]

कहा जाता है कि जब योगी का चित्त दिनभर के लिए लय होने लगता है तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसके ज्ञान का विषय बन जाता है।[10] छः रात्रिपर्यन्त अमनस्कता सिद्ध होने पर सम्पूर्ण भूतकालिक ज्ञान और सात रात्रि पर्यन्त अमनस्कता सिद्ध होने पर विश्ववेतृता सिद्ध होती है,[11] जिसे केवलज्ञान की जैन अवधारणा के समानान्तर रखा जा सकता है। पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट ऋतम्भराप्रज्ञा के समानान्तर जैनदर्शन के अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान में से ठीक-ठीक किस ज्ञान को रखा जाए, यह कहना कठिन है, तथापि केवलज्ञान को उसकी सीमा में ही समाहित किया जा सकता है। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान अनुमानप्रज्ञा और श्रुतप्रज्ञा में अन्तर्गर्भित हो जाते हैं।

ज्ञेय वस्तु : ज्ञेय वस्तु का अर्थ है – जिसे जाना जाए। जैन आचार्यों ने सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को सामान्य

---

१. रूपिष्ववधेः। – तत्त्वार्थसूत्र, १/२८
२. विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः। – वही, १/२६
३. (क) मोक्षक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। – तत्त्वार्थसूत्र, १०/१
(ख) अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम् ।
अनन्तमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तितं जिनैः ।। – ज्ञानार्णव, ७/८
४. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। – तत्त्वार्थसूत्र, १/३०
५. उत्तराध्ययनसूत्र, २६/७१, ७२
६. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः । – पातञ्जलयोगसूत्र, १/६
७. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । – वही, १/७
८. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् । – वही, १/४६
९. व्यासभाष्य, पृ० १५३
१०. अमनस्कयोग, ६२
११. वही, ६६, ७०

और विशेष, दो वर्गों में विभाजित किया है।[1] उन्होंने ज्ञेय के लिए कहीं प्रमेय शब्द का और कहीं द्रव्य शब्द का प्रयोग किया है।[2]

जैनदर्शन में सत् और द्रव्य में कोई भेद नहीं माना गया है अर्थात् सत्ता सभी द्रव्यों में विद्यमान रहती है।[3] जैन आचार्यों ने द्रव्य को स्वयं सत्ता स्वरूप माना है,[4] अर्थात् सत्ता रूप परमतत्त्व द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों में रहता है। अतः वे सत्ता (द्रव्य) के ही विस्तार हैं।[5] इस कथन के अनुसार परमतत्त्व द्रव्य के तीन स्थूल भेद किए जा सकते हैं – द्रव्य (स्थूल द्रव्य), गुण और पर्याय। दृष्टिभेद से अनेक बार द्रव्य और सत्ता में प्रदेशभेद न मानकर गुण-गुणीभेद दर्शाया गया है।[6] इस प्रकार सत्ता द्रव्य का अभिन्न लक्षण है तथापि गुण-गुणी रूप से सत्ता व द्रव्य में कथंचित् भेद भी है। द्रव्य का स्वरूप सत्ता के स्वरूप से भिन्न है। सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है।[7] द्रव्य के बिना गुण नहीं रह सकते और गुण के बिना द्रव्य का स्वरूप सिद्ध नहीं होता।[8] अतः द्रव्य स्वयं ही सत्ता स्वरूप है।[9]

चूँकि द्रव्य अपने स्वभाव में नित्य अवस्थित रहता है इसलिए द्रव्य सत् है।[10] और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।[11] इसलिए जैनाचार्यों ने द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किया है। ये तीनों परस्पर अविनाभावी हैं। व्यय अथवा विनाश के बिना उत्पाद नहीं होता, उत्पाद के बिना व्यय नहीं होता, ध्रौव्य के बिना उत्पाद-व्यय नहीं होते और न उत्पाद-व्यय के बिना ध्रौव्य रहता है।[12] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का परिणाम हैं। द्रव्य का स्वयं उत्पाद अथवा विनाश नहीं होता है। पर्याय की अपेक्षा ही द्रव्य उत्पाद-व्यय रूप होता है।[13] उत्पाद एवं विनाश द्रव्य में रहने वाली पर्यायों का होता है।[14] इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जो अपने मूल स्वभाव को छोड़े बिना उन गुणों का आधार होता है, जिसकी पर्याय उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती है, उसे द्रव्य कहते हैं।[15] इस प्रकार द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश तीनों की सत्ता रहती है।[16] उदाहरणार्थ – जैसे घटादि पदार्थ नवीनता को छोड़कर दूसरे भाव को स्वीकार करते हैं फिर भी उनका मूलभाव यानि मौलिक अस्तित्व खंडित नहीं होता। जैनदर्शन के अनुसार पूर्व पर्याय को छोड़कर जो नवीन पर्याय उत्पन्न होती है, उसका नाम 'उत्पाद' और पूर्व पर्याय के विनाश का नाम 'व्यय' है। इन दोनों के साथ-साथ वस्तु में जो अनादि स्वाभाविक परिणाम सदा रहता है उसे ध्रौव्य कहा जाता है।[17] उदाहरणार्थ – सुवर्णमय गहनों को तोड़कर नए-नए आकार के गहनों का निर्माण कराने से उनके आकार तो भिन्न हो जाते हैं पर उनकी स्वर्णरूपता (पीतादि गुण) सदा विद्यमान रहती

---

१. ज्ञेयं हि वस्तु सामान्य-विशेषात्मकमत्र यत्। – आचारसार, ४/३
२. प्रवचनसार, १/३६
३. इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं । – वही, २/५
४. वही. २/६, १३
५. वही, २/१५
६. वही, २/१६
७. वही, २/१७
८. पंचास्तिकाय, १३
९. प्रवचनसार, २/१८
१०. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२९; प्रवचनसार, २/६
११. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०; प्रवचनसार, २/७
१२. अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरण, पृ० ८३
१३. प्रवचनसार, १/१८
१४. वही, २/११
१५. वही, १/१८
१६. योगबिन्दु, ५०१; प्रवचनसार, २/३
१७. प्रवचनसार, २/८

है।[1] यहाँ स्वर्णत्व ध्रौव्य है और पूर्ववर्ती आकारों का विनाश तथा उत्तरवर्ती आकारों का निर्माण क्रमशः व्यय और उत्पाद हैं। इसीप्रकार दूध से दही बनाना दूध का विनाश है और दही की उत्पत्ति उत्पाद है, तथा दोनों में रहने वाला गोरसत्व ध्रौव्य है।[2] इसप्रकार स्पष्ट है कि सत् पदार्थ एक ही समय में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप होता है।[3]

जैन आचार्यों ने द्रव्य का लक्षण करते हुए द्रव्य की एक अन्य विशेषता यह बताई कि द्रव्य गुण, पर्याय स्वरूप है।[4] अर्थात् गुण और पर्याय भी द्रव्य रूप हैं क्योंकि पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती।[5] उसी प्रकार द्रव्य के बिना गुण और गुण के बिना द्रव्य नहीं होता। अर्थात् द्रव्य और गुण परस्पर अभिन्न हैं[6] परन्तु द्रव्य की विविध पर्यायों में परिणमन होता रहता है।[7] द्रव्य जब जिस रूप में परिणमन करता है, तब वह उसी रूप में हो जाता है।[8] द्रव्य में परिणाम-जनन की शक्ति ही उसका गुण है, और गुणजन्य परिणाम पर्याय है। इसलिए द्रव्य गुण, पर्याय वाला है।[9]

जैनदर्शन में वर्णित वस्तु की उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिगुणात्मकता पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्र में भी धर्म और धर्मी, आकृति और द्रव्य नाम से निर्दिष्ट है। वहाँ भाष्यकार व्यास लिखते हैं कि जैसे रुचक स्वस्तिकादि अनेकविध आकारों को धारण करता हुआ भी सुवर्णपिंड अपने मूल स्वरूप का परित्याग नहीं करता अर्थात् सुवर्ण असुवर्ण नहीं हो जाता, अपितु उसके आकार विशेष ही अन्यान्य स्वरूपों को धारण करते हैं। इसी प्रकार धर्मी में रहने वाले धर्मों का ही अन्यथाभाव भिन्न-भिन्न स्वरूप में परिवर्तन होता है, धर्मी रूप द्रव्य का नहीं। धर्मी द्रव्य तो सदा अपनी मूल स्थिति में रहता है। इसप्रकार धर्मों के उत्पाद और विनाश एवं धर्मी के ध्रौव्य तथा उत्पत्ति, विनाश और स्थिति रूप वस्तु की सिद्धि में कोई न्यनूता प्रतीत नहीं होती।[12] अतः स्पष्ट है कि वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है।

अनेकान्तवाद

महर्षि पतञ्जलि ने निरोद्धव्य वृत्तियों में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति, इन पांच वृत्तियों को स्वीकार किया है।[11] ये वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं।[12] क्लिष्ट का अर्थ है– क्लेशहेतुक। भाष्यकार व्यास के अनुसार जो वृत्तियाँ धर्म, अधर्म तथा वासना समूह की उत्पत्ति करने वाली एवं अविद्या आदि क्लेशमूलक हैं, वे क्लिष्ट कहलाती हैं।[13] महर्षि पतञ्जलि ने इन्हें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के भेद से पांच प्रकार का माना है।[14] अभिनिवेश का अर्थ है – 'अतिशय आग्रह'।

---

१. प्रवचनसार, १/२० पर तत्त्वदीपिकाटीका
२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, ७/३; आत्ममीमांसा, ६०; अध्यात्मोपनिषद्, ४४
३. आत्ममीमांसा, ५१; षड्दर्शनसमुच्चय, ५७
४. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३७; पंचास्तिकाय, १०
५. प्रवचनसार, १/१०; पंचास्तिकाय, १२
६. पंचास्तिकाय, १८
७. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५/३८/४ ३
८. प्रवचनसार, १/६
९. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३७; प्रवचनसार, १/२
१०. तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वं। यथासुवर्णभाजनस्य भित्त्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति । – व्यासभाष्य, पृ० ३३८, ३३६
११. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः । – पातञ्जलयोगसूत्र, १/६
१२. वृत्तयः पंचतयः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः । – वही, १/५
१३. क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयेक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । – व्यासभाष्य, पृ २३
१४. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३

जिसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास ने "मैं न होऊँ", "ऐसा न हो" इस उदाहरण को प्रस्तुत किया है।[1] इस अभिनिवेश की पुष्टि मुख्य रूप से एकान्तवाद से हुआ करती है, जिसके उन्मूलन के लिए जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद की स्थापना की। इसकी स्थापना का एकमात्र उद्देश्य अभिनिवेश रूपी वृत्ति का निरोध है, ऐसा समझना चाहिए।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन की समस्त दर्शन जगत् को एक महत्त्वपूर्ण देन है। यह जैन दर्शन का मौलिक चिन्तन है, जिसमें विभिन्न धर्मों और दर्शनों में निहित सत्यों को स्वीकार कर उनमें परस्पर समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

अनेकान्तवाद वस्तु के व्यापक और सार्वभौमिक स्वरूप को जानने का वह प्रकार है, जिसमें विवक्षित धर्म को जानते हुए भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जाता, उन्हें गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है। इससे सम्पूर्ण वस्तु का मुख्य-गौण भाव से स्पर्श हो जाता है अर्थात् वस्तु के सभी अंशों का ज्ञान हो जाता है।

'अनेकान्तवाद' के 'अनेकान्त' शब्द पर विचार करने से अनेकान्त शब्द में 'अनेक' और 'अन्त' इन दो शब्दों का संयोग दिखाई देता है। 'अन्त' शब्द का व्युत्पतिगत अर्थ है – अम्यते गम्यते-निश्चीयते इति अन्तः धर्मः। न एकः अनेकः। अनेकश्चासौ अन्तश्च इति अनेकान्तः।[2] अर्थात् वस्तु में अनेक धर्मों के समूह को मानना अनेकान्त है। अनेकान्त की परिभाषा एक जैनाचार्य ने इस प्रकार दी है – अनेके अन्ताः भावाः अर्थाः सामान्यविशेष-गुणपर्यायाः, यस्य सोऽनेकान्तः अर्थात् जिसमें अनेक अर्थ, भाव, सामान्य, विशेष, गुण, पर्याय रूप से पाये जायें, वह अनेकान्त है।[3] 'वाद' का अर्थ है – सिद्धान्त, चिन्तन, या कथनशैली। इसप्रकार अनेकान्तवाद का अर्थ हुआ – पदार्थ का भिन्न-भिन्न दृष्टियों/अपेक्षाओं से पर्यालोचन करना।

वस्तु का स्वरूप

जैनदर्शन किसी भी पदार्थ को एकान्त नहीं मानता। उसके मत में पदार्थ मात्र ही अनेकान्तात्मक है। केवल एक ही दृष्टि से किया गया पदार्थ-निश्चय जैनदर्शन में अपूर्ण माना जाता है। जैनदर्शन के मतानुसार वस्तु का स्वरूप विराट है। उसमें सत्ता-असत्ता, भाव-अभाव, नित्यता-अनित्यता, परिणामिता-अपरिणामिता आदि अनेक प्रतिद्वन्द्वी परस्पर विरोधी-धर्म विद्यमान हैं। यदि वस्तु में रहने वाले अनेकधर्मों में से किसी एक ही धर्म को लेकर उसका (वस्तु का) निरूपण किया जाए और उसी को सर्वांशतया सत्य मान लिया जाए तो यह विचार अपूर्ण एवं भ्रान्त होगा क्योंकि जो विचार एक दृष्टि से सत्य समझा जाता है तद्विरोधी विचार भी दृष्ट्यन्तर से सत्य होते हैं। उदाहरणार्थ – एक व्यक्ति पिता, पुत्र, भाई आदि भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से पुकारा जाता है, जिससे प्रतीत होता है कि उसमें पितृत्व, पुत्रत्व तथा भ्रातृत्व आदि अनेक धर्मों की सत्ता विद्यमान है। जिसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व आदि की कल्पना होती है, उनमें कोई विरोध नहीं माना जाता, उसीप्रकार एक ही वस्तु में नित्यानित्यादि अनेकान्त धर्म मानने में भी कोई विरोध नहीं है।[4] वस्तुतः पदार्थ का स्वरूप एक समय में एक ही शब्द के द्वारा सम्पूर्णतया नहीं कहा जा सकता और न ही वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों में से किसी एक ही

---

१. सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, "मा न भूवं भूयासमिति"। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः।
– व्यासभाष्य, पृ० १८५

२. रत्नाकरावतारिका, पृ ८६

३. 'अनेकान्तवाद', मुनि श्री मोहनलाल शार्दूल, तुलसीप्रज्ञा, खण्ड ८, अंक ४–६, पृ० १७

४. कथं विप्रतिषिद्धानां न विरोधः समुच्चये। अपेक्षाभेदतो हन्त सैव विप्रतिषिद्धता ।।
भिन्नापेक्षा यथैकत्र पितृपुत्रादिकल्पना । नित्यानित्याद्यनेकान्तः तथैव न विरोत्स्यते।।
अव्याप्यवृत्तिधर्माणां यथावच्छेदकाश्रया। नापि ततः परावृत्तिः तत् किं नात्र तथैक्ष्यते।। – अध्यात्मोपनिषद्, ३८–४०

धर्म को स्वीकार करके अन्य का अपलाप किया जा सकता है। अनेकान्तवाद चिन्तन की वह शैली है, जिसके द्वारा अपेक्षाभेद से वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता का बोध हो सकता है।

एक शब्द या वाक्य के द्वारा वस्तु के समस्त धर्मों का युगपद् कथन अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य मानकर कथन किया जाता है, तो कभी दूसरे को। अनन्त धर्मों में से जिसका प्रतिपादन किया जाता है वह मुख्य होता है, शेष सभी गौण होते हैं। मुख्य धर्म के साथ अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकृत होते रहें, उनका निषेध न हो, इस प्रयोजन से प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' या 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[१] 'स्यात्' शब्द का अर्थ है – किसी अपेक्षा से। वस्तु-तत्त्व के निर्णय में किसी अपेक्षा की प्रधानता पर आधारित वाद 'स्याद्वाद' कहलाता है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे का कोई महत्व नहीं रह जाता। अनेकान्तवाद वस्तु के यथार्थ स्वरूप को सापेक्ष दृष्टि से चिन्तन-विचार करने की शैली है जबकि स्याद्वाद वस्तु की अनेक धर्मात्मकता या अनन्तधर्मात्मकता को कहने का साधन है।[२] इसप्रकार अनेकान्तवाद एक सिद्धान्त है तो स्याद्वाद अनेकान्तवाद का निरूपण करने का वाचनिक उपाय अर्थात् शैली है। अनेकान्तवाद सापेक्ष चिन्तनशैली है और स्याद्वाद निरूपण-पद्धति।

शास्त्रों में कहा गया है कि स्याद्वाद का 'स्याद्' शब्द अनेकान्त द्योतक 'अव्यय' है इसलिए स्याद्वाद ही अनेकान्तवाद है। नित्य और अनित्य आदि अनेक धर्मों से युक्त वस्तु का अभ्युपगम 'स्याद्वाद' है।[३] इस प्रकार स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों पर्यायवाची माने गए हैं।

स्याद्वाद का अर्थ

स्याद्वाद शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों के मेल से बना है। उनमें 'स्यात्' शब्द अस् धातु का विधिलिंग में प्रथमपुरुष के एक वचन का रूप प्रतीत होता है, परन्तु यथार्थ में यह अव्यय है। इसके अनेक अर्थ हैं। यथा – प्रशंसा, विवाद, अस्तित्व, संशय, प्रश्न और अनेकान्त। जैनदर्शन में यह अनेकान्त के अर्थ में प्रयुक्त है। यह कथंचित् का पर्यायवाची अव्यय और अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादक है।[४] इसका अर्थ है – किसी अपेक्षा से। 'वाद' शब्द का अर्थ है – कथन करना। इसप्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ– अपेक्षा विशेष से पदार्थ में विद्यमान (अन्य अपेक्षाओं का निराकरण किए बिना) वस्तु के स्वरूप का कथन करना।[५] तात्पर्य यह है कि स्याद्वाद सापेक्ष सिद्धान्त है। जब कोई कथन किसी वस्तु के धर्म विशेष पर आधारित होता है तो वह सापेक्ष कहलाता है। संक्षेप में वस्तुतत्त्व के निर्णय में किसी अपेक्षा की प्रधानता पर आधारित वाद 'स्याद्वाद' है।

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग, ४, पृ. ४६७

२. लघीयस्त्रयम्, ६२ पर विवृत्ति

३. स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्। ततः स्याद्वादः अनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्।
-- स्याद्वादमञ्जरी, पृ० १५

४. (क) स्यादिति शब्दो अनेकान्तद्योतकोति प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचारप्रश्नादिद्योती तथा विवक्षापायात् ।
-- अष्टसहस्री, पृ० २८६

(ख) अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः।
-- पंचास्तिकाय, १४ पर अमृतचन्द्रसूरि की टीका

५. स्यात्कथंचित्विवक्षितप्रकारेणानेकांतरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः।
-- समयसार, तात्पर्यवृत्ति, ४१३/७

स्याद्वाद की कथन शैली - सप्तभंगी

स्याद्वाद का विश्लेषण करने की शैली ही 'सप्तभंगी' कहलाती है क्योंकि जैन-परम्परानुसार वस्तु के समस्त गुणों का सर्वांगीण निरूपण सात प्रकार से किया जा सकता है। सप्तभंगी का अर्थ है – विचारधारा के सात प्रकार। सप्तभंगी की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि एक वस्तु में किसी एक नियत धर्म-सम्बन्धी प्रश्न को लेकर अविरुद्ध रूप से पृथक्-पृथक् या सम्मिलित विधि-निषेध की कल्पना द्वारा 'स्यात्' पद से युक्त सात प्रकार के वचन का प्रयोग 'सप्तभंगी' है।[1]

अनन्तधर्मात्मक वस्तु में सत्-असत्, अस्तित्व-नास्तित्व, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि अनेक परस्पर विरोधी धर्म विद्यमान हैं और सभी अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त हैं। जिसप्रकार लोक-व्यवहार में परस्पर विरोधी धर्म-युगलों का विचार कथन, ज्ञान, अपेक्षा-दृष्टि के आधार पर किया जाता है, उसीप्रकार वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मों का विचार भी अपेक्षाभेद को लक्ष्य में रखकर किया जा सकता है। इनका कथन करने के लिए स्व-पर की अपेक्षा का आश्रय लिया जाता है। स्व के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आधार हैं, और पर के कथन के लिए भी यही द्रव्यादि भाव आधारभूत होते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी द्रव्य रूप है या द्रव्य है और द्रव्य निराधार नहीं रहता। उसके रहने के लिए स्थान अवश्य होना चाहिए। अतः वह किसी न किसी क्षेत्र में रहेगा। द्रव्य का अस्तित्व त्रिकालवर्ती है, जिससे द्रव्य के रूप से रूपान्तरित होते रहने पर भी समय तो प्रत्येक स्थिति में उसके साथ रहता ही है। प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का बोध स्वयं उसका भाव है। यद्यपि वस्तु की अवस्थाएँ अनेक रूप धारण कर लेती हैं तथापि उनकी अपनी मौलिक प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता। यथा जीव अजीव नहीं होता और न अजीव जीव होता है। वस्तु का स्वरूप तभी बन सकता है जब उसमें स्व की सत्ता की भाँति पर की असत्ता भी हो। अर्थात् वस्तु-स्वरूप के कथन में विधि और निषेध दोनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है क्योंकि प्रत्येक शब्द के मुख्य रूप से विधि और निषेध ये दो वाच्य होते हैं। प्रत्येक विधि के साथ निषेध और प्रत्येक निषेध के साथ विधि का संबंध अवश्य रहता है। एकान्त रूप से न कोई विधि संभव है और न ही कोई निषेध। स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा प्रतिषेध रूप प्रणाली अपनाई जाती है।

शब्द जब विधि और निषेध के द्वारा अपने अर्थ को बताता है तो उसके सात प्रकार होते हैं। चूँकि वस्तु के एक धर्म सम्बन्धी प्रश्न सात प्रकार से हो सकते हैं, इसलिए स्याद्वाद की कथन शैली के भंग भी सात ही होते हैं। चूँकि जिज्ञासाएँ सात ही प्रकार की होती हैं, इसलिए प्रश्न भी सात ही प्रकार के होते हैं। चूँकि शंकाएँ (संदेह) सात प्रकार की होती हैं, इसलिए जिज्ञासाएँ भी सात ही प्रकार की होती हैं।[2] किसी भी एक ही धर्म के विषय में सात ही भंग होने से इसे सप्तभंगी कहते हैं। भंग का अर्थ है – विकल्प, प्रकार या भेद। विधि-निषेध के आधार पर सप्तभंगी रूप सात प्रकार के वचन-विन्यास का विवरण इस प्रकार है –

१.	स्याद् अस्ति	कथंचित् है।
२.	स्याद् नास्ति	कथंचित् नहीं है।
३.	स्याद् अस्ति-नास्ति	कथंचित् है और नहीं है।
४.	स्याद् अवक्तव्य	कथंचित् कहा नहीं जा सकता है।
५.	स्याद् अस्ति-अवक्तव्य	कथंचित् है, तो भी कहा नहीं जा सकता।

---

१. एकत्रवस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशाद्विरोधोनव्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पना स्यात्कारांकितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभंगी। – प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४/१४, उद्धृत सप्तभङ्गीनयप्रदीप प्रकरण पृ० ६

२. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४४/३७–४४२

६. स्याद् नास्ति-अवक्तव्य कथंचित् नहीं है, तो भी कहा नहीं जा सकता।
७. स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य कथंचित् है और नहीं है, तो भी कहा नहीं जा सकता।[1]

इस सप्तभंगी में अस्ति, नास्ति ओर अवक्तव्य – ये तीन भंग मूल हैं। यद्यपि अस्ति रूप विधि तथा नास्ति रूप निषेध का अनुभव तो व्यक्ति को प्रति समय होता रहता है, तथापि व्यवहार में दोनों में से किसी एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता ही आधार होती है। दोनों को मिलाकर एक साथ विधि, और निषेध का कथन करने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः विधि और निषेध का एक साथ कथन करने वाले शब्द या वाक्य के अभाव में विवशतापूर्वक यह कहना पड़ता है कि इन दोनों को एक साथ नहीं कहा जा सकता। इसी को अवक्तव्य नामक तीसरा भंग कहते हैं। इसप्रकार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य – इन तीन भंगों के संयोग से शेष चार भंग बनते हैं।[2] उनमें से स्याद्-अस्ति-नास्ति, स्यादस्ति-अवक्तव्य और स्यात्-नास्ति अवक्तव्य, ये तीन द्विसंयोगी तथा स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य एक त्रिसंयोगी भंग है। इन सप्तभंगों के समूह को ही सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगों के लक्षण इस प्रकार हैं –

१. **स्यात्-अस्ति** : यह भंग वस्तु के अन्य धर्मों का निषेध न करते हुए विधि-विषयक बोध उत्पन्न करता है। जैसे कथंचित् यह घट है। यहाँ घट में अस्तित्व धर्म स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की दृष्टि से दर्शाया गया है।

२. **स्यात्-नास्ति** : यह भंग धर्मान्तर का निषेध न करते हुए निषेध विषयक बोध का कथन करता है। जैसे – कथंचित् घट नहीं है। यहाँ घट में नास्तित्व का कथन परचतुष्टय की अपेक्षा से है। पर की अपेक्षा से किया गया कथन निषेध रूप होता है।

३. **स्यात्-अस्ति-नास्ति** : यह भंग एक धर्मी में क्रम से आयोजित विधि-प्रतिषेध विषयक बोध का कथन करता है। यथा – किसी अपेक्षा से घट है और किसी अपेक्षा से घट नहीं है। इसमें स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व का और परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्तित्व का कथन है।

४. **स्यात्-अवक्तव्य** : यह भंग एक धर्मी में प्रतिपादित विधि और प्रतिषेध विषयक बोध के युगपद् कथन की अवक्तव्यता का निषेध करता है। जैसे घट का कथंचित् वचन द्वारा कथन नहीं किया जा सकता। इस भंग में यह बताया गया है कि घट की वक्तव्यता (वर्णन) युगपद् में नहीं, क्रम में ही होती है। अर्थात् अस्तित्व-नास्तित्व या विधि-निषेध का युगपद् वाचक कोई शब्द नहीं है, इसलिए यह कथंचित् अवक्तव्य है।

५. **स्यात्-अस्ति-अवक्तव्य** : यह भंग प्रथम और चतुर्थ भंग को एक साथ जोड़कर बनाया गया है। इसमें धर्मी विशेष्य में सत्त्व सहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान की उत्पत्ति का कथन है। जैसे – कथंचित् घट है किन्तु उसका कथन नहीं किया जा सकता। यहाँ वाक्य के पूर्वार्ध में विधि की विवक्षा करके उत्तरार्ध में युगपद् विधि-निषेध की विवक्षा की गई है।

६. **स्यात्-नास्ति-अवक्तव्य** : यह भंग द्वितीय और चतुर्थ भंग को जोड़कर बनाया गया है। यह धर्मी विशेष्य में असत्त्व सहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान की उत्पत्ति का कथन करता है। जैसे – कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है। यहाँ वाक्य के पूर्वार्ध में निषेध की विवक्षा करके उत्तरार्ध में युगपद् विधि-निषेध की अवक्तव्यता बताई गई है।

---

१. पंचास्तिकाय, १४
२. स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक २४ की व्याख्या

७. स्यात्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य : यह भंग तृतीय और चतुर्थ भंग को जोड़कर बना है। इसमें सत्त्व-असत्त्व सहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान की उत्पत्ति का कथन किया गया है। जैसे – कथंचित् घट है, नहीं है, और अवक्तव्य है। यहाँ पहले कथन में विधि की और दूसरे में निषेध की विवक्षा करके तीसरे कथन में युगपद् विधि-निषेध की अवक्तव्यता सूचित की गई है।

यद्यपि अनन्तधर्मात्मक वस्तु का कथन करने वाले शब्द भी अनन्त हो सकते हैं, तथापि उन सब कथनों का समाहार उपर्युक्त सप्तभंगों में हो जाता है।[१] इन सातभंगों का प्रत्येक भंग निश्चयात्मक है, अनिश्चयात्मक नहीं। इसलिए कई स्थलों पर 'एव' (ही) शब्द का प्रयोग होता भी देखा गया है। जैसे – 'स्याद् घट अस्त्येव'। यहाँ पर 'एव' शब्द स्वचतुष्टय की अपेक्षा निश्चित रूप से घट का अस्तित्व प्रकट करता है। परन्तु जहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, वहाँ अनिश्चयात्मकता की स्थिति नहीं समझनी चाहिए।

इस प्रकार जैनदर्शन का स्याद्वाद सात परामर्शों को समानांतर स्थापित करता है। इन परामर्शों को मानस में एक साथ लाने पर जो सिद्धान्त बनता है वह 'अनेकान्त सिद्धान्त' अर्थात् 'अनेकान्तवाद' कहलाता है। यह सिद्धान्त जीवन के किसी भी प्रसंग में, चाहे वह व्यावहारिक जगत् से संबंधित हो अथवा तात्त्विक चिन्तन से, मनुष्य के जीवन से अभिनिवेश की निवृत्ति कराने में आधार का कार्य करता है और इस प्रकार पतञ्जलि द्वारा निर्देशित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश[२] में अन्तिम क्लेश के समूल उच्छेद में हेतु बनता है। अभिनिवेश की निवृत्ति होना प्रारम्भ होते ही स्वतः राग-द्वेष की भी निवृत्ति होने लगती है, अस्मिता भी शिथिल हो जाती है और उसका अन्तिम परिणाम होता है – अविद्या का समूल उच्छेद। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पतञ्जलि की क्लेश-निवृत्ति की साधना में तत्त्व-चिन्तन की दृष्टि से किए जाने वाले अभ्यास और वैराग्य में जैनदर्शन का अनेकान्त सिद्धान्त उपयोगी सिद्ध होता है।

ज्ञेय विषय

जैनदर्शन यथार्थवादी होने के साथ-साथ द्वैतवादी भी है। द्वैतवादी होने के कारण जैनदर्शन में मुख्य रूप से दो ही तत्त्व माने गए हैं – जीव और अजीव।[३] दोनों ही तत्त्व सह अस्तित्त्व वाले होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। चैतन्य लक्षण वाले जितने भी तत्त्व विशेष हैं, वे सब जीव विभाग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके विपरीत जिनमें चैतन्य नहीं है ऐसे सभी तत्त्वों का समावेश अजीव विभाग के अन्तर्गत हो जाता है।[४] इन दो तत्त्वों के आधार पर ही जैन दार्शनिक परम्परा में सात या नौ तत्त्वों की कल्पना की गई है। साधारणतः व्यवहारिक दृष्टिकोण से तत्त्व/पदार्थ के सात भेद माने गए हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष।[५] कहीं-कहीं पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्व माने गए हैं।[६] वास्तव में शुभकर्मों का आगमन पुण्यास्रव और अशुभकर्मों का आगमन पापास्रव है, तथा शुभ कर्मों का बंध पुण्यबंध और अशुभकर्मों का बंध पापबन्ध है। इस दृष्टि से पुण्य और पाप, इन दो तत्त्वों का अन्तर्भाव

---

१. पुच्छावसेण भंगा सत्तेव दु संभवदि जस्स जथा ।
वत्थुत्ति तं पउच्चदि सामण्णविसेसदो णियदं।। – उद्धृत : तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० २५३

२. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३

३. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६; द्रव्यसंग्रह, २३; अनुयोगद्वारसूत्र, १२३; प्रवचनसार, २/३५

४. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३३

५. (क) जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् । – तत्त्वार्थसूत्र, १/४
(ख) जीवाजीवास्त्रवो बन्धः संवरो निर्जरा ततः ।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः ।। – ज्ञानार्णव, ६/८

६. स्थानांगसूत्र, ६/६६५; उत्तराध्ययनसूत्र, २८/२४

आस्रव या बन्ध में हो जाता है। जीव व अजीव इन दोनों के संयोग-वियोग से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष की सिद्धि होती है। जैनदर्शन की मान्यता है कि इन मूलभूत तत्त्वों के श्रद्धान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि भारतीय दर्शन की सांख्य, वेदान्त, न्याय और वैशेषिक शाखाओं में श्रेय को आधार बनाकर दार्शनिक मीमांसा की गई है। इन विचारकों के अनुसार मूल तत्त्वों की संख्या में अन्तर है और इसका मुख्य कारण है – परस्पर दृष्टि का भेद। सांख्य के अनुसार केवल दो तत्त्व हैं– त्रिगुणात्मक प्रकृति और पुरुष। योगदर्शन में मुख्यतः हेय और उपादेय दृष्टि से तत्त्वों के दो विभाग किए गए हैं। जिस प्रकार जैनदर्शन में बंध, आस्रव, मोक्ष और निर्जरा, इन चार तत्त्वों की चर्चा की गई है,[१] उसीप्रकार योगदर्शन में भी हेय, हेयहेतु, हान व हानोपाय रूप चतुर्व्यूह[२] का विवरण प्राप्त होता है।

जैनदर्शन में द्रव्यों का विभाजन एक दूसरे प्रकार से भी किया गया है। जैन मतानुसार जीव द्रव्य अरूपी है। अजीव द्रव्य के दो भेद हैं – रूपी और अरूपी।[३] रूपी अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण से युक्त द्रव्य। रूपी द्रव्य को 'पुद्गल' कहा गया है।[४] अरूपी द्रव्य के पुनः चार भेद हैं – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, और काल।[५] इसप्रकार द्रव्य के कुल छः भेद हो जाते हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, जिन्हें षड्द्रव्य कहा जाता है।[६]

उपर्युक्त षड्द्रव्यों में से प्रथम पांच द्रव्य असंख्यात प्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय हैं।[७] और छठा काल द्रव्य एकप्रदेशी होने के कारण अनस्तिकाय है।[८] 'अस्तिकाय' का अर्थ है – प्रदेश बहुत्व अर्थात् बहुदेशव्यापी।[९] अनस्तिकाय का अर्थ है – एकदेशव्यापी। जैनदर्शन में काल एक ऐसा द्रव्य है जो एकदेशव्यापी है, इसलिए उसे 'अनस्तिकाय' नाम दिया गया है। मोक्ष-मार्ग में उपयोगिता की दृष्टि से ज्ञेय रूप में षड्द्रव्यों की अपेक्षा सात या नौ तत्त्वों का अधिक महत्व माना गया है, इसलिए यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

१. जीव

जीव अथवा आत्मा एक अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है, जिसे संसार के सभी दार्शनिकों ने तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि अति परोक्ष पदार्थों का मानना भी आत्मा के अस्तित्व पर ही आधारित है। वैदिक दर्शनों में आत्मा और जीव का भेद करते हुए जीव तत्त्व को कम महत्व दिया गया है। उनके मतानुसार मोक्षावस्था में आत्मा जीव-भाव से मुक्त हो जाता है। किन्तु जैनदर्शन में आत्मा और जीव में कोई भेद नहीं किया गया। जैनदर्शन में आत्मा के लिए अनेक नाम प्रयुक्त हैं जिनमें से जीव भी एक है।[१०]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६ से ६
२. यथा चिकित्साशास्त्रम् चतुर्व्यूहम् – रोगो, रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यम् इति। एवम् इदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव, तद्यथा–संसारः, संसारहेतुः, मोक्षो मोक्षोपायः इति। – व्यासभाष्य, पृ० २१८
३. भगवतीसूत्र, २/१०/११७, स्थानांगसूत्र, ५/४४१
४. तत्त्वार्थसूत्र, ५/५
५. सर्वार्थसिद्धि, ५/४/५३३
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ५८८; उत्तराध्ययनसूत्र, २८/७
७. तत्त्वार्थसूत्र, ५/१–३
८. सर्वार्थसिद्धि, ५/१/५२७
९. द्रव्यसंग्रह, २४; स्थानांगसूत्र, १०
१०. (क) जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा।
पुमानात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः।। – आदिपुराण, २४/१०३
(ख) षोडशक, यशोविजयवृत्ति, १/११

जीव सामान्य का लक्षण उपयोग है।[1] उपयोग का अर्थ होता है – चैतन्यपरिणति। जीव का साधारण गुण चैतन्य है[2] जिससे वह समस्त जड़ द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। जैनदर्शन में जीव का स्वरूप बताते हुए उसे उपयोगमय, अमूर्त, कर्ता, स्वदेह परिमाण, भोक्ता, संसारी, सिद्ध तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला बताया गया है।[3] वहाँ प्रत्येक जीव को स्वभावतः अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तसामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है।[4] जैनाचार्यों के मतानुसार जैसे रत्न की कान्ति, निर्मलता और शक्ति रत्न से अलग नहीं है, वैसे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप लक्षण आत्मा से भिन्न नहीं है[5] परन्तु कर्मों से आबद्ध होने अर्थात् आच्छादित होने के कारण जीव में इन गुणों का आविर्भाव नहीं हो पाता। अपने द्वारा किए गए शुभ-अशुभ कर्मों के प्रभाव से जीव के स्वाभाविक गुण आच्छादित रहते हैं। शुभ कार्यों के अनुष्ठान से जब कर्मावरण हट जाते हैं तब जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का भान होता है।[6]

जीव सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं बद्ध (संसारी) और मुक्त।[7] मुक्तजीवों-सिद्धों का पारमार्थिक दृष्टि से कोई प्रकार नहीं होता। व्यवहारिक दृष्टि से सिद्धों-मुक्तों के १५ भेद वर्णित किए गए हैं।[8] संसारीजीव स्थावर और जंगम-भेद से दो प्रकार का होता है। जंगमजीव को जैनदर्शन में 'त्रस' की संज्ञा दी गई है।[9] इन्द्रियों की संख्या के भेद से त्रसजीव के चार प्रकार होते हैं – पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय।[10] संसारीजीव नारक, मनुष्य, तिर्यञ्च और देव-भेद से भी चार प्रकार का माना जाता है। सबसे निकृष्ट योनि स्थावरजीवों की होती है, क्योंकि इनमें केवल स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है।

२. अजीव

यद्यपि जीव और अजीव दोनों द्रव्य सह अस्तित्व वाले हैं तथापि इनमें जीव जहाँ ज्ञान रूप है वहाँ अजीव अज्ञानरूप। इसी प्रकार जीव भोक्ता है तो अजीव भोग्य; जीव ज्ञाता है तो अजीव ज्ञेय; जीव चेतन है तो अजीव अचेतन।[11] चैतन्य रहित सभी जड़ पदार्थ अजीव कहे जाते हैं। अजीव द्रव्य पांच प्रकार का है – धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।[12] भगवान् ने लोक को पंचास्तिकाय रूप माना है।[13]

---

१. भगवतीसूत्र, २/१०; उत्तराध्ययनसूत्र, २८/१०; तत्त्वार्थसूत्र, ३/८; प्रवचनसार, २/८३; आवश्यकसूत्र, हरिभद्रवृत्ति १०५७, पृ० ४१४; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, हरिभद्रवृत्ति १/४

२. धवलापुस्तक १५, पृ० ३३; सर्वार्थसिद्धि, १/४, तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, १/४/७, षड्दर्शनसमुच्चय, ४३, ४४, पृ० १३८.

३. जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।। – द्रव्यसंग्रह, २

४. एक एव हि तत्रात्मा स्वभावे समवस्थितः।
ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणः प्रतिपादितः ।। – अध्यात्मसार, ६/१८/६

५. प्रभानैर्मल्यशक्तीनां यथा रत्नान्न भिन्नता।
ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणानां तथात्मनः ।। – वही, ६/१८/७

६. षोड़शक, १/११

७. तत्त्वार्थसूत्र, २/१०

८. स्थानांगसूत्र, १/२१४–२२; नन्दीसूत्र, २१

९. तत्त्वार्थसूत्र, १/१२

१०. वही, १/१४

११. तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः। – सर्वार्थसिद्धि, १/४/१८

१२. तत्त्वार्थसूत्र, ५/१

१३. भगवतीसूत्र, १३/४/४८१

(क) धर्म

जीव और पुद्गल की गति (गमन क्रिया) में जो सहायक कारण (माध्यम) है उसे धर्म कहते हैं।[१] धर्म अमूर्त है, निष्क्रिय है और नित्य है। धर्म एक अखंड द्रव्य है, जो सारे लोक में व्याप्त है।[२]

(ख) अधर्म

जिसप्रकार जीव और पुद्गल की गति में धर्म सहायक कारण है उसीप्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्म कारण है।[३] धर्म के समान अधर्म भी अमूर्त, निष्क्रिय और नित्य है। यह भी अखण्ड द्रव्य है और सर्वलोकव्यापी है।[४]

(ग) आकाश

जो द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान (आश्रय) देता है, वह आकाश है।[५] आकाश नित्य और व्यापक, अनन्तप्रदेश वाला और अमूर्त है। जैन-परम्परा में आकाश के दो विभाग किए गए हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश। जहाँ धर्म-अधर्मादि द्रव्यों की स्थिति है वह लोक है। इसके विपरीत जहाँ केवल आकाश की ही स्थिति है, अन्य द्रव्यों का पूर्णतः अभाव है, वह अलोक है। जैसे जल के आश्रयस्थान को जलाशय कहा जाता है उसीप्रकार लोक के आकाश को लोकाकाश और अलोक के आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल लोकाकाश में ही अवकाश ग्रहण करते हैं। अलोकाकाश में जीवादि किसी की सत्ता नहीं होती,[६] केवल आकाश ही होता है। जैन-मान्यता के अनुसार आकाश जीवादि अन्य द्रव्यों का आश्रय स्थान है परन्तु स्वयं स्वप्रतिष्ठित है। आकाश का कोई आधार नहीं है।

(घ) काल

जीवादि द्रव्यों के परिणमन में निमित्त कारण को 'काल' कहा जाता है। काल अदृश्य है, अतः अनुमान के द्वारा ही इसके अस्तित्व का ज्ञान होता है। काल अनन्त है, अखण्ड है, सर्वत्र व्याप्त है, काल के एकदेशीय होने से उसका विस्तार नहीं होता, अतः वह अस्तिकाय नहीं है, किन्तु अस्तिकाय न होने पर भी यह एक सत्पदार्थ है, क्योंकि अन्य पदार्थों की वर्तना और परिणाम में यह परोक्षतः सहायक होता है।[७]

जैन-परम्परा में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के संबंध में आचार्यों में वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। कुछ आचार्य उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं[८] और कुछ इसे स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर जीवाजीवादि द्रव्यों की पर्यायों का प्रवाह रूप मानते हैं।[९]

(ङ) पुद्गल

जैनदर्शन में लोकसंस्थान के षड्द्रव्यों में 'पुद्गल' को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। 'पुद्गल' जैन

---

१. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, ५/१/१६; तत्त्वार्थसार, ७/३३,३४
२. तत्त्वार्थसूत्र, ५/४
३. तत्त्वार्थसार, ७/३५; नियमसार, ३०
४. सर्वार्थसिद्धि, ५/८/५४१
५. तत्त्वार्थसूत्र, ५/१८
६. जैनधर्मदर्शन, पृ० २१३
७. वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य। – तत्त्वार्थसूत्र, ५/२२
८. भगवतीसूत्र, २५/४/७३४; उत्तराध्ययनसूत्र, २७/७–८; तत्त्वार्थसूत्र, ५/५८ (श्वेताम्बर पाठ)
९. सर्वार्थसिद्धि, ५/३८–३९; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५/३९–४० पृ० ५०१–५०२; तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५/३८–३९

परम्परा का पारिभाषिक शब्द है। इस शब्द का इस अर्थ में व्यवहार अन्य किसी दर्शन में नहीं मिलता। व्युत्पत्ति के आधार पर जिनका संयोग और पार्थक्य हो सके, उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं। जैनग्रन्थों में पूरण और गलन स्वभाव के कारण ही पदार्थ को 'पुद्गल' बताया गया है।[१] पुद्गल के विशेष गुण या धर्म चार हैं – स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण।[२] पुद्गल समस्त भौतिक जगत का आधार है। मूलतः पुद्गल द्रव्य परमाणु रूप है। इसके दो भेद हैं – अणु और स्कन्ध।[३] पुद्गल का वह अन्तिम भाग जिसका पुनः विभाग न किया जा सके, अणु कहलाता है। जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है, वे स्कन्ध कहलाते हैं। पुद्गल को अन्य द्रव्यों से पृथक् स्वतन्त्र माना गया है क्योंकि पुद्गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग हो सकते हैं, परन्तु जीवाजीवादि अन्य द्रव्य अविभागी हैं।[४]

३. पुण्य

जैनदर्शन में स्वीकृत नव तत्त्वों में 'पुण्य' को तृतीय स्थान दिया गया है। जो आत्मा को पवित्र बनाता है उस शुभकर्म को 'पुण्य' कहते हैं।[५] आ० हेमचन्द्र ने कर्मों के लाघव को भी 'पुण्य' माना है।[६]

४. पाप

पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व 'पाप' है। जो आत्मा का पतन करे, उस अशुभकर्म को 'पाप' कहते हैं।[७] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जो आत्मा को शुभ से बचाता है, वह 'पाप' है। जैसे असातावेदनीय आदि।[८] पुण्य और पाप दोनों का सम्बन्ध कर्मपुद्गलों से है और दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं। संसार दशा में ये जीव के साथ बंध को प्राप्त होते हैं, इसलिए उनका अन्तर्भाव आस्रव तत्त्व में हो जाता है।

५. आस्रव

'आस्रव' जैनपरम्परा का पारिभाषिक शब्द है, जो आत्मा के साथ कर्मों का संबंध कराने वाले हेतुओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कहा गया है कि जिन हेतुओं से कर्म आत्मा में प्रविष्ट होते हैं, वे 'आस्रव' हैं।[९] जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव शरीर, वाणी और मन – इन तीन साधनों से क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। शरीर, वाणी और मन के सामान्य व्यापार को जैन परिभाषा में 'योग' कहा गया है।[१०] वही आस्रव है[११] क्योंकि इन्हीं तीनों के योग द्वारा आत्मप्रदेश में स्पन्दन होने से आत्मा में एक विशेष अवस्था उत्पन्न होती है।[१२] यह आस्रव शुभ और अशुभ-भेद से दो प्रकार का होता है। शुभयोग से मुख्यतया पुण्य प्रकृति का तथा अशुभयोग से पाप-प्रकृति का आस्रव होता है।[१३]

---

१. पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः । – तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५/१/२४, पृ. ४३४
२. तत्त्वार्थसूत्र, १/२३
३. वहीं, १/२५
४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५/८/१० पृ० ४५०
५. प्रवचनसार, २/८६; षड्दर्शनसमुच्चय, ४६; अध्यात्मसार, ५/१८/६०
६. योगशास्त्र, ४/१०७
७. तत्त्वार्थसूत्र, ६/३; प्रवचनसार, २/८६; अध्यात्मसार, ५/१८/६०
८. सर्वार्थसिद्धि, ६/३/५१६
९. सर्वार्थसिद्धि, ६/२/६१; श्रावकप्रज्ञप्ति, ७६ पर स्वो० वृ०
१०. कायवाङ्मनःकर्मयोगः । – तत्त्वार्थसूत्र, ६/१
११. स आस्रवः । – तत्त्वार्थसूत्र, ६/२
१२. सर्वार्थसिद्धि, ६/१/६१०; श्रावकप्रज्ञप्ति, ७६; ज्ञानार्णव, २/१७६
१३. तत्त्वार्थसूत्र, ६/३; सर्वार्थसिद्धि, ६/३/६१४; श्रावकप्रज्ञप्ति, ७६

६. बन्ध

चेतन के साथ अचेतन कर्म-परमाणुओं के सम्बन्ध को 'बन्ध' कहते हैं।[१] जब जीव आस्रव के सम्पर्क में आता है तो उसका अपना यथार्थ स्वरूप आच्छादित हो जाता है और वह बन्धन में पड़ जाता है, इसलिए कहा गया है कि कषायसहित होने से जीव द्वारा कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना 'बन्ध' है।[२]

जैनदृष्टि से बन्ध चार प्रकार का होता है – स्थितिबंध, प्रकृतिबंध, अनुभागबंध, और प्रदेशबंध।[३] प्रकृति व प्रदेशबन्ध का आधार कायादि व्यापार रूप योग है, जबकि अनुभाग व स्थिति-बंध का आधार कषाय है।[४] कर्म-बन्ध के मुख्य हेतु राग-द्वेष हैं। बन्ध के पांच हेतु हैं – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[५] उक्त बन्ध-हेतु पातञ्जलयोगसूत्र में पंच क्लेशों के रूप में वर्णित हैं। जैनदर्शन में उल्लिखित मिथ्यात्व पातञ्जलयोग में अविद्या के रूप में वर्णित है। जैन-परम्परा में वर्णित अविरति पातञ्जलयोग के राग-द्वेष के समकक्ष है। प्रमाद जो कि असावधानी का ही पर्याय है, योगसूत्र में चित्त को विक्षिप्त करने वाले विघ्नों में परिगणित है।

७. संवर

संवर का अर्थ है – 'निरोध'। जैन मतानुसार आस्रव का निरोध 'संवर' है।[६] दूसरे शब्दों में आत्मा के प्रति आने वाले कर्मों का रुक जाना ही 'संवर' है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीव का कर्म-पुद्गलों से संबंध न होने पाये। इसलिए जीव के कर्म-पुद्गल से संबंध स्थापित न होने और उसके कारणों के निरोध को 'संवर' कहा गया है। वस्तुतः आस्रव तथा बंध का निरोध ही 'संवर' है। फलप्राप्ति की अभिलाषा के बिना किए गए सभी सत्कर्म संवर रूप होते हैं।

यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र नामक उपायों से सिद्ध होता है।[७] इनका विस्तृत विवेचन सम्यक्चारित्र के निरूपण के संदर्भ में किया जायेगा।

८. निर्जरा

निर्जरा, क्षय और वेदना अथवा निर्जरण, क्षपण और नाश ये तीनों समानार्थक शब्द हैं।[८] अनादिकाल से संचित शुभ तथा अशुभकर्मों का आत्मा से एकदेश (अंशतः) पृथक् होना 'निर्जरा' है।[९] आ० शुभचन्द्र एवं आ० हेमचन्द्र प्रभृति आचार्यों के अनुसार संसार के जन्म-मरण के हेतुभूत कर्मों को आत्मा से अंशतः अलग करना 'निर्जरा' है।[१०] इससे स्पष्ट है कि निर्जरा में कर्मों का सर्वथा क्षय नहीं होता। समिति, अनुप्रेक्षा, गुप्ति, परीषह तथा चारित्र में निर्दिष्ट उपायों और निरोधों के आचरण से जीव का सम्बन्ध कर्मपुद्गलों से नहीं हो पाता तथा मोक्ष-मार्ग बहुत कुछ निष्कंटक हो जाता है। किन्तु इन निरोधों के पालन से उन कर्म-पुद्गलों

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, १४/१४
२. तत्त्वार्थसूत्र, ८/२, ३; श्रावकप्रज्ञप्ति, ८०
३. तत्त्वार्थसूत्र, ८/३; श्रावकप्रज्ञप्ति, ८०; ज्ञानार्णव, ६/४५
४. श्रावकप्रज्ञप्ति, गा० ८० स्वो० वृत्ति
५. तत्त्वार्थसूत्र, ८/१; ज्ञानार्णव, ६/४; योगशास्त्र, ४/७८
६. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१; ज्ञानार्णव, २/१२८
७. तत्त्वार्थसूत्र, ४/१; श्रावकप्रज्ञप्ति, ८१
८. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ८/२४; श्रावकप्रज्ञप्ति, ८२
९. सर्वार्थसिद्धि, १/४/१८; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, १४
१०. ज्ञानार्णव, २/१४०; योगशास्त्र, १/१६ स्वो० वृत्ति ; योगशास्त्र, ४/८६; स्थानांगसूत्र, अभयदेववृत्ति, ४/१/२५० पृ० १३०; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०३

का क्षय या विनाश नहीं हो पाता, जो इन निरोधों का आचरण करने से पूर्व ही जीव में प्रविष्ट हो गए हैं। यह स्थिति मोक्ष में बाधक है। अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए इन कर्म-पुद्गलों का नाश आवश्यक है। विनाश की यह प्रक्रिया जैन परिभाषा में 'निर्जरा' के नाम से जानी जाती है। इसके लिए तप, संयम आदि की आवश्यकता है।[१]

'निर्जरा' मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात् कारण है, क्योंकि निर्जरा की क्रिया जब उत्कृष्टता को प्राप्त कर लेती है, तब आत्म-प्रदेशों से संबंधित सर्वकर्मों का क्षय हो जाता हैं, और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

६. मोक्ष

'मोक्ष' बन्ध का प्रतिपक्षी है। इसलिए बन्ध के कारणों का अभाव होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही 'मोक्ष' है।[२] अभिप्राय यह है कि जब तक जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध रहता है तब तक उसका स्वाभाविक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता, वह समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों के आत्मा से पृथक् हो जाने पर ही प्रादुर्भूत होता है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय तभी हो सकता है, जब नवीन कर्मों का बन्ध सर्वथा रोक दिया जाए और पूर्वबद्ध कर्मों की पूरी तरह निर्जरा कर दी जाए। जब तक नवीन कर्म आते रहेंगे, तब तक कर्म का आत्यन्तिक क्षय सम्भव नहीं हो सकता। नवीन कर्मों का आना संवर द्वारा अवरुद्ध होता है और पूर्वबद्ध कर्मों का निर्जरा द्वारा क्षय होता है। इसप्रकार जब आत्मा पूर्ण रूप से कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है तब वह अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाता है, वही अवस्था मोक्ष या मुक्ति कहलाती है। यह मोक्ष रूप जीव की अवस्था सादि होकर अनन्तकाल तक रहने वाली है तथा बाधक कर्मों के हट जाने से वह निराकुल, निर्बाध सुख से सम्पन्न है।[३]

ग. सम्यक्चारित्र

जिसप्रकार किसी रोगी की परीक्षा और निदान करने के अनन्तर चिकित्सक औषधि की व्यवस्था करता है किन्तु औषधि की व्यवस्था के पश्चात् भी यदि रोगी औषधि का प्रयोग न करे तो उसके निरोग होने की कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बाद यदि उसका जीवन में उपयोग न किया जाए तो वे दोनों भी पूर्णतः निरर्थक हो जाएँगे।[४] इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनन्तर सम्यक्चारित्र का निबंधन जैनदर्शन और जैन-साधना-पद्धति में किया गया है। इस प्रसंग में यदि यह कहा जाए कि सम्यक्चारित्र ही जैन साधना का मुख्य अभीष्ट है और सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान उसकी केवल पूर्वपीठिका हैं तो अनुचित न होगा।

अर्थ : सम्यक्चारित्र का अर्थ है – चित्तगत मलिनताओं को नष्ट करना। यहाँ मलिनता से तात्पर्य राग-द्वेषादि कर्ममल हैं। उनको दूर करने के अनन्तर ही आत्मा में पूर्ण निर्मलता आ सकती है, जिसके लिए सम्यक्चारित्र का विधान किया गया है।[५] महर्षि पतञ्जलि ने भी निरोधव्य क्लिष्ट वृत्तियों में अविद्या और अस्मिता के साथ राग-द्वेष और अभिनिवेश का निबन्धन किया है[६] तथा क्लेशों की निवृत्ति के लिए उन्होंने

---

१. तपसा निर्जरा च। – तत्त्वार्थसूत्र ६/३
२. तत्त्वार्थसूत्र, १०/२, ३; ज्ञानार्णव, ३/६
३. श्रावकप्रज्ञप्ति, ८३
४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ८६; उत्तराध्ययनस, २८/२६, ३०; ज्ञानसार, ६/२,३, २४, १०/१, ११/८,; अध्यात्मोपनिषद्, ३/१३, १४
५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३/१/४७
६. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३

अभ्यास और वैराग्य रूप साधना का पथ प्रदर्शित किया है।[१] जिसने सुख का अनुभव प्राप्त किया है उसको सुख की अनुस्मृतिपूर्वक सुख और उनके साधन में जो गर्हा अर्थात् तृष्णा और लोभ होता है उसे राग कहते हैं।[२] इसके विपरीत जिसने दुःख का अनुभव प्राप्त किया है उसको दुःख की अनुस्मृतिपूर्वक दुःख और उनके साधन में जो प्रतिघ अर्थात् द्वेषभावना या क्रोध और उसको मारने की इच्छा होती है, उसे द्वेष कहते हैं।[३]

जैसा ऊपर कहा गया है कि सम्यक्चारित्र का अर्थ चित्तगत मलिनताओं को दूर करना है किन्तु जैन आचार्यों ने इसे अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। उनके अनुसार सांसारिक बन्धन को उत्पन्न करने वाली क्रियाओं का निरोध करते हुए शुद्ध आत्मस्वरूप का लाभ करने के लिए सम्यग्ज्ञानपूर्वक जो क्रियाएँ की जाती हैं उन्हें 'सम्यक्चारित्र' कहते हैं।[४] इसके लिए साधक को ऐसी क्रियाओं का पालन करना चाहिए जिससे आत्मा में समत्व की स्थापना हो सके। आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यक्चारित्र को धर्म की संज्ञा देते हुए कहा है कि मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा की शुद्धावस्था को प्राप्त करना समत्व है और आत्मा का यह समत्वधर्म ही चारित्र है।[५] अन्यत्र उन्होंने इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट भावों में समताभाव रखने को सम्यक्चारित्र कहा है।[६] इस कथन में एक प्रकार से पूर्वोक्त कथन का विशदीकरण ही माना जा सकता है।

जैन-परम्परा में सम्यक्चारित्र के लिए आचार-विचार का विशेष महत्त्व है। यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि आचार-विचार के सम्यक् पालन से ही चारित्र का उत्कर्ष हो सकता है।[७] आ० शुभचन्द्र[८] और आ० हेमचन्द्र[९] उपर्युक्त कथन को ही प्रकारान्तर से कहने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि आ० हेमचन्द्र ने उत्तरोत्तर गुणों की अपेक्षा से पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों से पवित्र साधुओं की शुभवृत्ति को भी 'सम्यक्चारित्र' के नाम से अभिहित किया है।[१०] आ० हरिभद्रसूरि ने उत्तरोत्तर चित्तशुद्धि के उद्देश्य से ध्यानादि क्रियाओं के अभ्यास को चारित्र माना है।[११]

महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांगयोग में यम और नियम की व्यवस्था द्वारा राग-द्वेष आदि चित्त के कालुष्य को दूर करने का निर्देश दिया है। उनके अनुसार हिंसा की उत्पत्ति काम, क्रोध, और लोभ के द्वारा ही होती है, उनके बिना नहीं तथा काम, क्रोध और लोभ राग-द्वेष के ही विकार हैं। अतः योग का साधक अहिंसादि का पालन करते हुए सर्वप्रथम इन चित्त-विकारों को दूर करने का अभ्यास करता है।[१२] इसके अतिरिक्त नियमों में शौच-साधना के द्वारा राग-द्वेषादि मानसिक मलों की निवृत्ति के लिए पतञ्जलि ने स्पष्ट

---

१. अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१२
२. सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स रागः इति। – व्यासभाष्य, पृ० १८४
३. दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः। – व्यासभाष्य, पृ० १८४
४. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, पृ० ४११
५. प्रवचनसार, १/७
६. पंचास्तिकाय, १०७; मोक्षप्राभृत, ३८
७. जैन आचार : साधना और सिद्धान्त, प्रस्तावना, पृ० १६
८. ज्ञानार्णव, ८/१
९. सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमिष्यते। – योगशास्त्र, १/१८.
१०. वही, १/३४
११. योगबिन्दु, ३७१
१२. वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३४

निर्देश किया है। योगसूत्र के टीकाकार भावागणेश,[1] नागोजीभट्ट[2] आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। पतञ्जलि स्वयं भी शौचसाधना के फल की चर्चा करते हुए सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता और इन्द्रियजय की चर्चा करते हैं।[3] इससे स्पष्ट पता चलता है कि पतञ्जलि ने उपर्युक्त चित्तमलों की निवृत्ति के लिए यम-नियमों की साधना पर सर्वाधिक बल दिया है और उन्हें अष्टांगयोग में सर्वप्रथम स्थान दिया है।

चारित्र के भेद : जैन आचारग्रन्थों में चारित्र पर विविध दृष्टियों से विचार करते हुए उसका निम्नलिखित प्रकार से विभाजन किया गया है –

(क) निश्चय और व्यवहार-चारित्र[4] : रागादि विकल्पों से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप में आचरण करना 'निश्चयचारित्र' है जबकि अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप में **प्रवृत्ति** व्यवहारचारित्र है। दूसरे शब्दों में अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति 'व्यवहारचारित्र' है।

(ख) सराग और वीतराग-चारित्र[5] : व्यवहारचारित्र को ही 'सरागचारित्र' और निश्चयचारित्र को 'वीतरागचारित्र' कहा जाता है।

(ग) सकल और विकल-चारित्र[6] : साधु एवं गृहस्थ की अपेक्षा से चारित्र के सकल और विकल दो भेद किये गये हैं। साधु मोक्ष-प्राप्ति हेतु निर्दिष्ट व्रतों को सूक्ष्म रीति से अर्थात् सर्वांशतः पालन करता है जबकि गृहस्थ सामाजिक एवं पारिवारिक कार्यों को करते हुए उन्हीं व्रतों का अंशतः पालन करता है। इसीलिए साधु एवं गृहस्थ दोनों के लिए पृथक्-पृथक् आचारों का विधान किया गया है। इन दोनों प्रकार के चारित्रों को क्रमशः साधुधर्म, साध्वाचार, श्रमणाचार तथा गृहस्थधर्म, गृहस्थाचार, श्रावकाचार भी कहा जाता है।

(घ) सामायिकादि पंचविध चारित्र : चारित्र के विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए पांच प्रकार के चारित्र का भी वर्णन किया गया है – १. सामायिक, २. छेदोपस्थापना, ३. परिहारविशुद्धि, ४. सूक्ष्मसंपराय तथा ५. यथाख्यात।[7]

१. सामायिक-चारित्र

समभाव में रहने के लिए संपूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना 'सामायिक-चारित्र' है। व्यवहारिक दृष्टि से हिंसादि बाह्य पापों से निवृत्ति भी 'सामायिक-चारित्र' है। जो थोड़े समय के लिए किया जाता है, वह 'इत्वरकालिक', और जो सम्पूर्ण जीवन के लिए किया जाता है वह 'यावत्कालिक सामायिक-चारित्र' कहलाता है।

२. छेदोपस्थापना-चारित्र

छेद का अर्थ है – भेदन करना या छोड़ना। उपस्थापना का अर्थ है – पुनः ग्रहण करना। प्रथम दीक्षां

---

१. चित्तमलक्षालनरूपाच्छौचात्सत्त्वशुद्धिः सत्त्वोद्रेकः ततः सौमनस्यं स्वाभाविकी प्रीतिः। ततः प्रीतचित्तस्याविक्षेपादैकाग्र्यम्। – भावागणेशवृत्ति पृ० १०२

२. ततः इन्द्रियजयस्ततश्चात्मसाक्षात्कारयोग्यता। – नागोजीभट्टवृत्ति पृ० १०२

३. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/४१

४. बृहद्द्रव्यसंग्रह, ४५, ४६ एवं ब्रह्मदेववृत्ति; प्रवचनसार, १/६ पर तत्त्वदीपिकाटीका

५. बृहद्द्रव्यसंग्रह, ४५, ४६ एवं ब्रह्मदेववृत्ति; प्रवचनसार १/६ पर तत्त्वदीपिकाटीका

६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १६–१७, ४०–४१; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५०

७. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१८; ज्ञानार्णव, ८/२; प्रशमरतिप्रकरण, २२८ पर हरिभद्रटीका

ग्रहण करने के पश्चात् विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेष शुद्धि के निमित्त अहिंसादि व्रतों का जीवन पर्यन्त पालन करने हेतु जो पुनः दीक्षा ग्रहण की जाती है, उसे 'छेदोपस्थापना-चारित्र' कहते हैं। इसमें साधक पूर्वगृहीत व्रतों का छेदन करके पुनः उपस्थापना करता है, इसलिए इसे उक्त नाम दिया गया है।

३. परिहारविशुद्धि-चारित्र

आत्मा की विशिष्ट शुद्धि हेतु जिस विशेष प्रकार के तप का आचरण किया जाता है उसे 'परिहारविशुद्धि-चारित्र' कहते हैं।

४. सूक्ष्मसंपराय-चारित्र

जिसमें क्रोधादि कषाय क्षीण हो जाते हैं, केवल लोभ का अंश अतिसूक्ष्म रूप में अवशिष्ट रहता है, वह 'सूक्ष्मसंपराय-चारित्र' है।

५. यथाख्यात-चारित्र

जिससे सूक्ष्मकषाय भी शान्त हो जाते हैं, वह निर्मल एवं विशुद्ध चारित्र 'यथाख्यात-चारित्र' कहलाता है। इस चारित्र का साधक जिनोपदिष्ट चारित्र का उसी रूप में पालन करता है, इसलिए इसे 'यथाख्यात-चारित्र' कहते हैं। यह पूर्ण वीतरागता की अवस्था है इसलिए इसे 'वीतराग-चारित्र' या 'निश्चय-चारित्र' भी कहा जाता है।

पतञ्जलि के योगसूत्र में इसप्रकार के विभाजन की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई है। इसका कारण सम्भवतः योग-साधना के क्षेत्र में प्रवृत्त साधकों द्वारा स्मृतियों में वर्णित आचार-नियमों का अनिवार्यतः पालन करने का अभ्यास रहा है।

जैन-परम्परा में अधिकारी-भेद से आचार का विभाजन किया गया है। कुछ आचार विषयक नियम श्रावकों के लिए अनिवार्य माने गए हैं और कुछ मुनियों के लिए। जैन-साधना-पद्धति में मुनियों के लिए अत्यन्त कठोर आचार व्यवस्था का विधान है, जबकि श्रावकों के लिए उनकी अपेक्षा सरल आचार विषयक नियम निर्धारित हैं। मूलतः इन आचार-नियमों के निर्धारण का उद्देश्य श्रावक को एक सामान्य व्यक्ति से ऊपर उठाकर अध्यात्म-पथ का पथिक बनाना ही है।

व्युत्पत्ति के आधार पर 'श्रावक' शब्द में तीन पद हैं – श्रा, व और क। 'श्रा' पद से तत्त्वार्थ श्रद्धान, 'व' पद से धर्म क्षेत्र में धन रूप बीज बोने की भावना तथा 'क' पद से क्लिष्टकर्म अर्थात् महापापों से दूर रहने का संकल्प, अर्थ स्वीकृत है।[१] महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में इस प्रकार का कोई विभाजन निर्दिष्ट न होने के कारण श्रावकाचार और श्रमणाचार का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

श्रावकाचार

आ० हरिभद्रसूरि ने श्रावकाचार का विवेचन करते हुए 'श्रावक' अर्थात् गृहस्थ को दो वर्गों में विभाजित किया है 'सामान्य गृहस्थ' अर्थात् 'अविरत सम्यग्दृष्टि' तथा 'विशेष गृहस्थ' अर्थात् 'देशविरत सम्यग्दृष्टि'।[२] सामान्य गृहस्थधर्म का पालन करने के अनन्तर साधक विशेष गृहस्थधर्म के पालन का अधिकारी बनता है और तभी वह पूर्ण श्रावक बन पाता है। सामान्य गृहस्थधर्म के ३५ मार्गानुसारी गुण हैं जिनका वर्णन

---

१. श्रन्ति-पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति गुणवत् सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः, तथा किरन्ति क्लिष्ट-कर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये 'श्रावका' इति भवति। – अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग ७, पृ० ७७६

२. धर्मबिन्दु, १/२

पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। विशेष गृहस्थधर्म में बारह व्रतों का विधान किया गया है।[१] इन व्रतों में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं।[२]

यद्यपि श्रावक इन व्रतों के पालन में पूर्णतः सजग रहता है, तथापि कभी-कभी प्रमादवश या अज्ञानवश उससे कुछ ऐसे कार्य हो जाते हैं जिनसे श्रावक को दोष लगने की संभावना होती है। उन दोनों को जैन-परम्परा में अतिचार की संज्ञा दी गई है। 'अतिचार' का अर्थ है – व्रत में आने वाला मालिन्य या विकार। जैन-परम्परा में प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार बताए गए हैं। अतिचारयुक्त व्रतों का पालन पुण्यकारक नहीं होता। अतः श्रावक को व्रतों के अतिचारों से यथासंभव बचने का प्रयास करना चाहिए।[३] व्रतधारी साधक को चाहिए कि किसी भी प्रयोजन के बिना इन दोषों का कदापि सेवन न करे। परन्तु घर-गृहस्थी का कर्त्तव्य निभाने के लिए विशेष प्रयोजनवश यदि अतिचारों का सेवन करना पड़े तो भी कोमलभाव से ही काम लेना चाहिए।[४]

(क) अणुव्रत

व्रत का अर्थ है – हिंसा आदि (करने, करवाने और अनुमोदन करने) से विरति।[५] अणुव्रत से तात्पर्य है – अहिंसादि व्रतों का स्थूलतः अथवा आंशिक, यथाशक्ति पालन या हिंसादि पापों से आंशिक विरति। श्रावक हिंसादि का पूर्णरूप से परित्याग न करके मर्यादित रूप से अहिंसादि व्रतों का पालन करता है, क्योंकि आरम्भादि गृहकार्यों को करते हुए गृहस्थ के लिए उनका पूर्ण रूप से त्याग शक्य नहीं है, इसलिए सर्वविरति रूप महाव्रतों की अपेक्षा से अहिंसादि व्रतों में 'अणु' विशेषण जोड़कर उन्हें अणुव्रत की संज्ञा दी गई है। मूल आगमग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र में यावज्जीवन के लिए दो करण एवं तीन योग (मन, वचन, काय) से स्थूल हिंसादि के त्याग को 'अणुव्रत' कहा गया है।[६] तत्त्वार्थसूत्र, में हिंसादि पापों के एकदेश-त्याग को 'अणुव्रत' की संज्ञा दी गई है।[७] आ० सोमदेवसूरि ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह के एकदेशत्याग को 'अणुव्रत' कहा है।[८] आ० हेमचन्द्र[९] तथा पं० आशाधर[१०] ने स्थूल हिंसादि दोषों के त्याग को अणुव्रत माना है।

इन्हें अणुव्रत कहने का कारण यह है कि बहुत बार साधक कठोर नियमों का पालन नहीं कर पाता और उस स्थिति में सम्पूर्ण साधना से ही विरत हो जाता है। ऐसा न हो, इस दृष्टि से व्रतों को कुछ लघु रूप दिया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अणुव्रत एक प्रकार से लघुव्रत ही हैं।[११] उदाहरण के लिए अहिंसा (प्राणातिपातविरमण) एक कठोर व्रत है। पतञ्जलि के अनुसार हिंसा के मूल में लोभ,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१५–१६; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६६
२. श्रावकप्रज्ञप्ति, ६
३. योगशास्त्र, ३/८६
४. सुखलाल संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, पृ० ३०३
५. (क) हिंसायामनृते स्तेये मैथुनेऽथ परिग्रहे।
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ।। – ज्ञानार्णव, ८/५
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ७/१, १३–१७
६. उपासकदशांगसूत्र, (संपा० मधुकरमुनि), पृ० २६
७. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२
८. यशस्तिलकचम्पू, ६/३००
९. विरति स्थूलहिंसादेर्द्विविधत्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पंचाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः ।। – योगशास्त्र, २/१३
१०. सागारधर्मामृत, ४/५
११. अणुनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि। – अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग १, पृ० ४१६

क्रोध और मोह रहा करते हैं।[1] अतः उनसे विरति के लिए इनका पूर्ण त्याग अपेक्षित होता है, जबकि अणुव्रत का साधक स्थूल प्राणातिपातविरमण से ही संतोष कर लेता है।[2] इसी प्रकार मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, स्वदारसंतोष और इच्छापरिमाण का भी स्थूल रूप से पालन अणुव्रत में किया जाता है। स्मरणीय है कि प्राणातिपातविरमण आदि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नाम से यमों के रूप में पतञ्जलि के योगशास्त्र में अनिवार्य पालनीय व्रत के रूप में स्वीकृत हैं, इसीलिए इन्हें सार्वभौम महाव्रत कहा गया है।[3]

अणुव्रत संख्या में पांच हैं – १. स्थूल प्राणातिपातविरमण, २. स्थूल मृषावादविरमण, ३. स्थूल अदत्तादानविरमण ४. स्वदारसन्तोष तथा ५. इच्छापरिमाण। इन पांचों अणुव्रतों का पालन तीन योग एवं दो करणपूर्वक होता है।[4] इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :–

१. स्थूल प्राणातिपातविरमण या अहिंसाणुव्रत

प्रथम अणुव्रत में साधक स्थूल हिंसा का त्याग करता है, इसलिए इस व्रत को 'स्थूल प्राणातिपातविरमण' नाम से अभिहित किया गया है। 'स्थूल' शब्द से यहाँ अभिप्रेत है – बड़े अर्थात् स्थावरों की अपेक्षा से त्रस जीवों की हिंसा न करना।[5]

यहाँ स्थूल शब्द से निरपराध और संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का भी त्याग करना अभीष्ट है।[6] वस्तुतः हिंसा चार प्रकार की होती है– आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी।[7] आ० हरिभद्र ने संकल्प और आरम्भ के भेद से हिंसा को दो प्रकार का बताया है।[8] आ० शुभचन्द्र ने संरम्भ, समारम्भ तथा आरम्भ तीन प्रकार की हिंसा का उल्लेख करते हुए हिंसा को तीन योगों (मन, वचन, काय) और चार कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) से गुणित करके हिंसा के एक सौ आठ भेद (३x३x३x४ = १०८) माने हैं।[9] सभी जैनाचार्यों का मत है कि श्रावक केवल संकल्पी हिंसा का त्याग करता है[10] जबकि साधु सब प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है।[11] उपा० यशोविजय ने हिंसा के त्रिविध रूप का निरूपण किया है – १. दूसरों को कष्ट पहुँचाना, २. स्वयं शरीर का नाश करना, ३. दुष्ट भाव रखना।[12] इसप्रकार स्पष्ट है कि शरीर से किसी के प्राणों को आघात पहुँचाना तो हिंसा है ही, साथ ही मन तथा वचन से किसी को दुःख पहुँचाना भी हिंसा ही है। उमास्वाति ने प्रमत्तयोग अर्थात् प्रमाद अथवा राग-द्वेष की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर प्राणों के व्यपरोपण (वध) को हिंसा कहा है।[13] हिंसा की इस परिभाषा से जैनाचार्यों ने हिंसा के दो रूपों की ओर संकेत किया है – द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। मन, वचन और काय में राग-द्वेष

---

१. पातंञ्जलयोगसूत्र, २/३४
२. (क) स्थूलप्राणातिपातादिभ्योः विरतिरणुव्रतानि पंचेति। – धर्मबिन्दु, ३/१६
   (ख) श्रावकप्रज्ञप्ति, १०६ एवं स्वो० वृत्ति
३. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३१
४. धर्मबिन्दु, ३/१६; श्रावकप्रज्ञप्ति, १०६ एवं स्वो० वृत्ति; योगशास्त्र, २/१८
५. योगशास्त्र, २/१८
६. निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसासंकल्पस्त्यजेत् । – योगशास्त्र, २/१९
७. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृ० ५३४
८. श्रावकप्रज्ञप्ति, १०७; योगशास्त्र, २/१९
९. ज्ञानार्णव, ८/९; तत्त्वार्थसूत्र, ६/९
१०. श्रावकप्रज्ञप्ति, १०७; योगशास्त्र, २/१९
११. गोम्मटसार, (जीवकाण्ड) २९; सागारधर्मामृत, २/८२, ४/१०–१२
१२. पीडाकर्तृत्वतो देहव्यापत्त्या-दुष्टभावतः ।
    त्रिधा हिंसागमे प्रोक्ता न हीत्थमपहेतुका ।। – अध्यात्मसार, ४/१२/४१
१३. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। – तत्त्वार्थसूत्र, ७/८

आदि कषायों का प्रवृत्त होना 'भावहिंसा' है और प्राणी के प्राणों का विनाश करना अथवा उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना 'द्रव्यहिंसा' है।[1] दोनों प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग अहिंसा है। परन्त अहिंसाणुव्रती श्रावक पूर्ण रूप से हिंसा का त्याग करने में असमर्थ होता है, वह आंशिक रूप से ही हिंसा का त्याग करता है।

स्थूल प्राणातिपातविरमण या अहिंसाव्रत के अतिचार[2]

१.	**बन्ध**	क्रोधपूर्वक किसी भी प्राणी को बांधना, उसके अभीष्ट स्थान में जाने से रोकना।
२.	**वध**	क्रोधपूर्वक किसी भी प्राणी को प्रताड़ित करना, पीड़ा पहुँचाना, या चाबुक, डंडे अथवा किसी हथियार से मारना।
३.	**छेद या छविच्छेद**	क्रोधपूर्वक किसी भी प्राणी के अंग या चमड़ी आदि को काटना अथवा सिर आदि फोड़ना।
४.	**अतिभारारोपण**	क्रोधपूर्वक बैल, ऊँट, गधा, मनुष्य आदि किसी के भी कंधे, पीठ या सिर पर शक्ति से अधिक बोझ लादना अथवा सामर्थ्य से अधिक काम लेना।
५.	**अन्नपाननिरोध**	क्रोधपूर्वक, अधीनस्थ किसी पशु या मनुष्य को अन्न-पानी या घास-चारा न देना अथवा समय पर या उचित मात्रा में न देना।

२. स्थूल मृषावादविरमण या सत्याणुव्रत

द्वितीय अणुव्रत में असत्य के त्याग रूप सत्य के पालन की चर्चा है। सत्याणुव्रती साधक के लिए मृषावाद (असत्यभाषण) का सर्वथा त्याग करना असम्भव होता है, इसलिए उसके लिए स्थूल मृषावाद के त्याग का विधान प्रस्तुत किया गया है।[3] तत्त्वार्थसूत्र में सत्य के स्वरूप को समझने के लिए असत्य की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि कषायभाव से अयथार्थ भाषण करना 'असत्य' है।[4] जो वचन हितकारी हैं, पाप से रक्षा करते हैं, वे असत्य होते हुए भी बोलने वाले के शुभ विचारों का द्योतक होने से 'सत्य' कहे जाते हैं। इसके विपरीत अप्रिय एवं अहितकारी वचन सत्य होने पर भी असत्य माने जाते हैं। अतः प्रिय, हितकारी और यथार्थवचन बोलना ही सत्य का लक्षण है।[5] इसीलिए आ० शुभचन्द्र ने असत्यवचन को अहितकर और सत्यवचन को हितकर मानते हुए असत्य की निन्दा और सत्य की प्रशंसा की है।[6]

जैन शास्त्रों में झूठी गवाही देना, झूठा दस्तावेज लिखना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, चुगली करना, किसी को झूठ बता कर गलत रास्ते पर ले जाना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा आदि को स्थूल

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४३
२. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२०; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १८३; अमितगतिश्रावकाचार, ७/३, श्रावकप्रज्ञप्ति, २५८; धर्मबिन्दु, ३/२३; योगशास्त्र, ३/६०; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३/८
३. उपासकदशांगसूत्र, १/१४
४ असदभिधानमनृतम् । – तत्त्वार्थसूत्र, ७/६
५. (क) असत्यमपि तत्सत्यं यत्सत्त्वाशंसकं वचः ।
सावद्यं यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि गर्हितम्।। – ज्ञानार्णव, ६/३
(ख) योगशास्त्र, १/२१; तुलना : गीता ७/१५; मनुस्मृति, ४/१३८
६. द्रष्टव्य : ज्ञानार्णव, अध्याय ६

मृषावाद (असत्य) में परिगणित किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त कन्यालीक, गोलीक, भूमिलीक,न्यासापहार, कूटसाक्षी आदि को भी स्थूल मृषावाद के अन्तर्गत रखा गया है।[2] आ० हेमचन्द्र ने इन सब को लोकविरुद्ध विश्वासघात पैदा करने वाले तथा पुण्य के नाशक बताते हुए श्रावक को इनसे बचने का उपदेश किया है।[3]

स्थूल मृषावादविरमण या सत्याणुव्रत के अतिचार[4]

१.	**सहसा-अभ्याख्यान**	बिना विचार किए किसी पर दोषारोपण करना।
२.	**रहस्य-अभ्याख्यान**	दूसरे के द्वारा एकान्त में किए गए व्यवहार को अन्य जनों से कहना, किसी की झूठी प्रशंसा करना या झूठी निन्दा-चुगली करना अथवा स्त्री या पुरुष को एकान्त में एक दूसरे के प्रति भ्रान्तिजनक बातें कहना।
३.	**स्वदार-मन्त्रभेद**	अपनी स्त्री के द्वारा विश्वस्त रूप से कह गये वचनों को दूसरे पर प्रकट करना।
४.	**मृषोपदेश**	असत् अर्थात् शास्त्र व धर्म के विरुद्ध उपदेश देकर विपरीत मार्ग पर प्रवृत्त कराना।
५.	**कूटलेखकरण**	झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज बनाना, दूसरे की मुहर या हस्ताक्षर बनाकर असमीन प्रवृत्ति करना।

३. स्थूल अदत्तादानविरमण या अस्तेयाणुव्रत

श्रावक के लिए निरूपित इस तृतीय अणुव्रत में बिना दी हुई दूसरे की वस्तु को ग्रहण न करने का निर्देश दिया गया है। यह अणुव्रत 'अचौर्याणुव्रत' के नाम से भी प्रसिद्ध है। कषायभाव से दूसरे की वस्तु उसकी आज्ञा के बिना लेना 'स्तेय' या 'चौर्यकर्म' कहलाता है।[5] इसके विपरीत आचरण करना अस्तेय या अचौर्यकर्म माना जाता है। आ० हेमचन्द्र के अनुसार रास्ते में चलते समय गिरी हुई, उसके मालिक के भूल जाने से रखी हुई, खोई अथवा नष्ट हुई, मालिक द्वारा धरोहर के रूप में रखी परन्तु विस्मृत हुई, योग्य जमीन में गाड़ी हुई वस्तु को बिना किसी की अनुमति के न ग्रहण करना 'अस्तेयाणुव्रत' है।[6]

लोक में धन को प्राणों से भी अधिक प्रिय समझा जाता है। धन की रक्षा के लिए लोग अपने प्राण तक देने को तैयार होते हैं। इसलिये शास्त्रकारों ने धन को बाह्य प्राण माना है।[7] दूसरे के धन का हरण करने से इस लोक तथा परलोक (जन्मान्तर) के धर्म, धैर्य, मति, कार्य-अकार्य रूप भावधन का भी हरण हो जाता है।[8] वह स्वयं पाप बंध करके अपने आत्म-गुणों रूप प्राणों का घात करता है। चौर्यकर्म से इस भव में तो राजदण्ड, जातिदण्ड, निन्दादण्ड (अपकीर्ति) आदि भोगने ही पड़ते हैं,[9] साथ ही अगले जन्मों में

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२१
२. सागारधर्मामृत ४/३६; उपासकदशांगसूत्र, १/६, पर अभयदेव वृ०; श्रावकप्रज्ञप्ति, २६०; योगशास्त्र, २/५४
३. योगशास्त्र, २/५५
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२१; उपासकदशांगसूत्र, १/४६; सागारधर्मामृत, ४/४५; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १८४; अमितगतिश्रावकाचार, ७/४, श्रावकप्रज्ञप्ति, २६३; धर्मबिन्दु, ३/२४; योगशास्त्र, ३/६१
५. अदत्तादानं स्तेयं । – तत्त्वार्थससूत्र, ७/१०
६. योगशास्त्र, २/६६
७. ज्ञानार्णव, १०/३; योगशास्त्र, १/२२
८. योगशास्त्र, २/६७
९. ज्ञानार्णव, १०/४–६

भी नीच-गतियों के भयंकर दुःख भी भोगने पड़ते हैं।[१] किसी की कोई वस्तु चुराने से मन भी अशांत रहता है क्योंकि सदा उसे अपने पकड़े जाने का भय रहता है।[२] इतना ही नहीं बन्धु-बान्धव भी उसका साथ छोड़ देते हैं।[३] आ० शुभचन्द्र ने चौर्यकर्म को अनेक प्रकार से अनर्थकार सिद्ध करने का प्रयास किया है।[४] श्रावक को ऐसे दोषयुक्त चौर्यकर्म का त्याग कर देना चाहिए।

स्थूल अदत्तादानविरमण या अचौर्य-अणुव्रत के अतिचार[५]

१.	**स्तेनाहृत**	स्तेन अर्थात् चोर द्वारा चुराई गई मूल्यवान् वस्तुओं को लोभवश ग्रहण करना, खरीदना।
२.	**तस्करप्रयोग**	चोरों को चोरी करने की प्रेरणा देना, या तस्करों को तस्करी से माल लाने की प्रेरणा देना अर्थात् चोरी के उपाय बताना।
३.	**विरुद्धराज्यातिक्रम**	राज्य की ओर से निर्धारित नियमों का उल्लंघन करके चोरी से कर आदि को बचाकर एक राज्य से दूसरे राज्य में वस्तुओं को ले जाना और वहाँ से अपने यहाँ ले आना।
४.	**कूटतुला-कूटमान**	तराजू तथा नापने तोलने के झूठे पैमाने रखना तथा कम तोलना, कम नापना आदि।
५.	**प्रतिरूपक-व्यवहार**	अधिक मूल्य वाली वस्तु में उसी के सदृश अल्प मूल्य वाली वस्तु मिलाकर बेचना।

४. स्वदारसंतोष, परदारत्याग या ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

परस्त्री का त्याग और स्वस्त्रीसंतोष चतुर्थ अणुव्रत है, इसे 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' भी कहा जाता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन अत्यावश्यक है। ब्रह्मचर्यव्रत के बिना अन्य व्रत मोक्ष-प्राप्ति में पूर्णतया सार्थक नहीं हो पाते और न ही ब्रह्मचर्यव्रत के अभाव में अन्य व्रतों की समग्र आराधना की जा सकती है।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रमत्तयोग अर्थात् कषायजनित भावों से मिथुनक्रिया करने को 'अब्रह्म' कहा गया है।[६] अब्रह्म का त्याग 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ आत्मा में रमण करना है। यह आत्मरमण मन, वाणी और काय के द्वारा इन्द्रियों पर संयम करने से ही हो सकता है। श्रावक के ब्रह्मचर्याणुव्रत की मर्यादा परस्त्री के त्याग और स्वस्त्री में संतोष तक सीमित रखी गई है।[७] जैन साहित्य में इस व्रत की पर्याप्त चर्चा हुई है।[८] आ० शुभचन्द्र[९] एवं आ० हेमचन्द्र[१०] ने स्त्री जाति की निन्दा करते हुए स्त्री-संसर्ग से उत्पन्न दोषों का विस्तृत विवेचन किया है।

---

१. योगशास्त्र, २/६६
२. ज्ञानार्णव, १०/१०; योगशास्त्र, २/७०
३. ज्ञानार्णव, १०/१०, ११; योगशास्त्र, २/७१
४. द्रष्टव्य : ज्ञानार्णव, अध्याय १०
५. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२२; श्रावकप्रज्ञप्ति, २६८; योगशास्त्र, ३/६२
६. तत्त्वार्थसूत्र, ७/११
७. उपासकदशांगसूत्र, १/१६; श्रावकप्रज्ञप्ति, २७०
८. सर्वार्थसिद्धि, ७/२०; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३/१३; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११०; सागारधर्मामृत, ४/५२; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३८, ज्ञानार्णव, अध्याय ११; योगशास्त्र, २/७६–७६
९. ज्ञानार्णव, अध्याय १२–१४
१०. योगशास्त्र, २/७८–९६

स्वदारसंतोष, परदारत्याग या ब्रह्मचर्य-अणुव्रत के अतिचार[1]

१.	**इत्वरपरिगृहीतागमन**	किराया देकर कुछ काल के लिए ग्रहण की गई किसी दूसरे की स्त्री या वेश्या के घर गमन।
२.	**अपरिगृहीतागमन**	दूसरे के द्वारा यथाविधि ग्रहण न की गई स्त्री, अर्थात् वेश्या, कुलांगना आदि का उपभोग करना।
३.	**अनंग-क्रीड़ा**	अस्वाभाविक क्रियाओं द्वारा काम-सेवन।
४.	**परविवाहकरण**	अपनी सन्तान को छोड़कर कन्यादान के फल की इच्छा से दूसरों की सन्तान का विवाह कराना।
५.	**कामतीव्राभिनिवेश**	कामभोग में अत्यन्त आसक्ति।

आ० हेमचन्द्र के अनुसार इस व्रत के अतिचार इस प्रकार हैं – १. इत्वरात्तागमन २. अनात्तागमन ३. परविवाहन ४. कामविषयक तीव्र अभिलाषा और ५. अनंगक्रीड़ा।[2] आ० हेमचन्द्र ने इत्वरात्ता (इत्वर-परिग्रहीता) और अनात्तागमन इन दो अतिचारों का निर्देश केवल स्वदार संतोषी के लिए किया है। शेष तीन अतिचार दोनों के लिए कहे हैं।[3]

५. इच्छा-परिमाण या परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत

इच्छाएँ असीम हैं, अनन्त हैं। इच्छा में अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना होती है। मनुष्य के व्यवहारिक जीवन में प्रतिक्षण अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। जैसे आग में घी डालने से वह बुझने की अपेक्षा और अधिक प्रज्ज्वलित हो जाती है, वैसे ही इच्छाओं की पूर्ति करते रहने से वे और अधिक बढती जाती हैं। यदि उन पर नियन्त्रण न लगाया जाए तो वे कदापि तृप्त नहीं हो सकतीं।

मनुष्य स्त्री, पुत्र व दासी-दास आदि द्विपद और हाथी-घोड़ा आदि चतुष्पद, सचित्त वस्तुओं तथा सुवर्ण-चांदी आदि अचित्त पदार्थों की इच्छा को मर्यादित करना 'इच्छा-परिमाण' अणुव्रत है।[4] जब पदार्थों के प्रति इच्छा होती है तो उसको संग्रह करने की प्रवृत्ति भी बलवती होती है। जब इच्छाएँ परिमित हो जाती हैं और उनके प्रति ममत्व या मूर्च्छा कम हो जाती है तो साधक केवल जीवन-निर्वाह हेतु अपनी मर्यादा के अनुसार कम से कम पदार्थों को ग्रहण करता है। इसे अपरिग्रह भी कहते हैं क्योंकि विद्वानों के अनुसार मूर्च्छा ही परिग्रह है।[5] अतः लोभ-कषाय को न्यून करके संतोषपूर्वक अपनी आवश्यकतानुसार इच्छाओं को सीमित करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' कहा जाता है।[6]

आ० हेमचन्द्र ने परिग्रह के दोष बताते हुए परिग्रह को प्राणियों के उपमर्दन रूप संसार के मूल आरम्भों का हेतु बताया है और श्रावक को परिग्रह का परिमाण निश्चित करने का उपदेश दिया है।[7]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२३; श्रावकप्रज्ञप्ति, २७३; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३/१४
२. योगशास्त्र, ३/६३
३. योगशास्त्र, ३/६३ स्वो० वृ०
४. श्रावकप्रज्ञप्ति, २७५
५. मूर्च्छा परिग्रहः । – तत्त्वार्थसूत्र, ७/१२
६. असन्तोषमविश्वासमारम्भंदुःखकारणम् ।
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात् परिग्रह-नियन्त्रणम् ।। – योगशास्त्र, २/१०६
७. संसारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः ।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ।। – वही, २/११०

इच्छा-परिमाणव्रत के अतिचार[1]

१.	**क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम**	क्षेत्र (खुली जमीन, यथा – खेत, बगीचे, भूमि आदि) और वास्तु (मकान, दुकान आदि) दोनों के निश्चित परिमाण का अतिक्रम कर उन्हें बढ़ा लेना।
२.	**हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम**	चांदी और सोना या चांदी और सोने के बने हुए सिक्के, गहने व अन्य उपकरण आदि की जो मात्रा निश्चित की है, उसका अतिक्रम करना।
३.	**धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम**	धन (गणिम – गिनकर दी जाने वाली, धरिम – तोलकर दी जाने वाली, मेय – माप कर दी जाने वाली, परीक्ष्य – परीक्षा करके दी जाने वाली), धान्य(अनाज, दाल आदि) की जितनी मर्यादा निश्चित हो, उससे अधिक स्वयं रखना या दूसरे के यहाँ रखना।
४.	**द्विपद-चुष्पद-प्रमाणातिक्रम**	द्विपद (मनुष्य, पुत्र, स्त्री, दास-दासी आदि), चतुष्पद (गाय, भैंस, बैल, बकरी, हाथी, घोड़ा आदि) के रखने की जितनी संख्या निश्चित की हो, उससे अधिक रखना।
५.	**कुप्य-प्रमाणातिक्रम**	सोने-चांदी के अतिरिक्त हल्की धातुओं (कांसा, तांबा, लोहा, शीशा, जस्ता, गिल्ट, आदि) के बर्तन, चारपाई, पलंग, कुर्सी, सोफासैट, अलमारी, रथ, गाड़ी, मोटर, हल, ट्रैक्टर आदि खेती के साधन तथा घर व व्यापार में उपयोग में आने वाली अन्य वस्तुओं की जो मर्यादा निश्चित हो, उसका उल्लंघन करना।

वस्तुतः ये पांचों ही व्रत गृहस्थ के लिए स्थूल रूप से पालनीय हैं। इनका सूक्ष्म रूप से पालन तो मुनि लोग ही कर सकते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने जैन-परम्परा सम्मत 'अणुव्रत' शब्द का योगसूत्र में कहीं स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया। परन्तु उनका यह कथन कि जाति, देश, कालादि से सर्वथा अनवच्छिन्न होने पर अहिंसादि पांच यम 'महाव्रत' कहलाते हैं, अवच्छिन्न स्थिति में 'अणुव्रत' की स्थिति को स्वीकार करता प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अहिंसादि यमों को योगांगों में प्रथम स्थान देने का तात्पर्य ही है, अणुव्रतों को स्वीकार करना, क्योंकि प्रारम्भ में कोई भी साधक इन व्रतों का सर्वथा पालन करने में समर्थ नहीं होता। वह उनका एकदेश, एककाल तथा एकजाति से पालन करता है। सर्वजाति, सर्वदेश तथा सर्वकाल से अनवच्छिन्न होकर पालन करने की स्थिति तो 'प्रत्याहार' नामक पांचवें योगांग में ही सम्भव है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि प्रथम 'यम' नामक योगांग अणुव्रत का ही द्योतक है।

(ख) शीलव्रत

जैनशास्त्रों में श्रावक के लिए वर्णित बारह व्रतों में से पांच अणुव्रतों की चर्चा पूर्व पृष्ठों में की जा चुकी है। शेष सात व्रतों को 'शीलव्रत' अथवा 'सप्तशील' के नाम से जाना जाता है। शीलव्रत का तात्पर्य है कि इन व्रतों का पालन साक्ष्यपूर्वक करना अनिवार्य होता है।[2] यह शीलव्रत पूर्वोक्त अणुव्रतों की रक्षा में सहायक हुआ करते हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२४; श्रावकप्रज्ञप्ति, २७८; योगशास्त्र, ३/६४

२. अमितगतिश्रावकाचार, १२/४१

शीलव्रतों का विभाजन जैन आचार्यों द्वारा गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के रूप में किया गया है। इनमें गुणव्रत बाह्य आचार को नियमित करते हैं और शिक्षाव्रत आन्तरिक शुद्धि को पुष्ट करते हैं।[१]

गुणव्रत

गुणव्रत तीन हैं – १. दिग्व्रत, २. अनर्थदण्डव्रत एवं ३. भोगोपभोग-परिमाणव्रत।[२] कुछ ग्रन्थों में भोगोपभोग-परिमाणव्रत के स्थान पर 'देशव्रत' का उल्लेख मिलता है।[३]

१. दिग्व्रत

जिस व्रत द्वारा दशों दिशाओं में गमनागमन की सीमा निश्चित कर तदनुसार नियम अंगीकार किया जाता है, वह 'दिग्व्रत' या 'दिशा-परिमाण' नामक प्रथम गुणव्रत है।[४] इस व्रत में देश के दूरस्थ भागों एवं विदेशों में व्यवसाय द्वारा होने वाले शोषण सीमित हो जाते हैं। गमनागमन के मर्यादित हो जाने से चराचर प्राणियों की व्यर्थ हिंसा से भी निवृत्ति हो जाती है।[५] आ० हेमचन्द्र लिखते हैं कि इस व्रत को अंगीकार करने से व्यक्ति लोभ पर नियंत्रण प्राप्त करने में समर्थ होता है।[६]

दिग्व्रत के अतिचार[७]

१.	**ऊर्ध्वदिशा-प्रमाणातिक्रम**	प्रमादवश पर्वत, शिखर या वृक्ष पर मर्यादा से अधिक ऊँचा चढ़ना।
२.	**अधोदिशा-प्रमाणातिक्रम**	भूमिगृह (तलघर), कुएँ आदि में मर्यादा से अधिक नीचे उतरना।
३.	**तिर्यग्दिशा-प्रमाणातिक्रम**	पूर्व आदि दिशाओं में मर्यादा से अधिक गमन।
४.	**क्षेत्रवृद्धि**	प्रमादवश स्वीकृत क्षेत्र की मर्यादा को बढ़ा लेना।
५.	**स्मृत्यन्तराधान**	गमनागमन की मर्यादित सीमा को अतिव्याकुलता या प्रमादवश भूल जाना।

२. भोगोपभोग-परिमाणव्रत

श्रावक का दूसरा गुणव्रत 'भोगोपभोग-परिमाणव्रत' है। इस व्रत में अपनी शारीरिक व मानसिक शाक्ति के अनुसार भोग्य और उपभोग्य वस्तुओं की संख्या की मर्यादा निर्धारित की जाती है।[८] जो पदार्थ एक बार भोगने में आए (जैसे अन्न, जल, फूल आदि) वह 'भोग' कहलाता है और जिसका बार-बार उपभोग किया जा सके (जैसे वस्त्र, आभूषण, घर, बिछौना, आसन, वाहन आदि) उसे 'उपभोग' कहते हैं।[९] भोजन और कर्म की अपेक्षा से उक्त व्रत दो प्रकार का होता है।[१०] आ० हरिभद्र के मतानुसार उक्त व्रतधारी श्रावक को भोजन की अपेक्षा सामान्य से निर्दोष आहार लेना चाहिए।[११] उन्होंने श्रावक को प्रासुक

---

१. भारतीय दर्शनों में योग, पृ० १२४
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३६१–३८६; सागारधर्मामृत, ५/१; श्रावकप्रज्ञप्ति, २८०–२९१; धर्मबिन्दु, ३/१७; योगशास्त्र, ३/१; ४/७३; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३/२१
३. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१, हरिवंशपुराण, १८/४६, वसुनन्दिश्रावकाचार, २/१४–१६; आदिपुराण, १०/६५
४. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८०; योगशास्त्र, ३/१
५. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८१; योगशास्त्र, ३/२
६. योगशास्त्र, ३/२–३
७. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८३, योगशास्त्र, ३/६६
८. योगशास्त्र, ३/४; श्रावकप्रज्ञप्ति, २८४, २८५
९. योगशास्त्र, ३/५
१०. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८५
११. तत्र भोजनतः श्रावकेणोत्सर्गतो निरवद्याहारभोजिना भवितव्यम्। – श्रावकप्रज्ञप्ति, २८५, स्वोपज्ञवृत्ति

(जीव-जन्तुओं से रहित) और एषणीय (ग्रहण करने योग्य) आहार लेने का उपदेश दिया है। प्रासुक एवं एषणीय आहार की प्राप्ति होने पर सचित्त को छोड़कर अनेषणीय आहार को भी ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु अचित्त भोजन के न मिलने पर सचित्त भोजन में अनन्तकाय और बहुबीज वाले पदार्थों को लेने का निषेध किया गया है। आ० हेमचन्द्र ने भोज्य पदार्थों में मांस, मक्खन, मधु, उदूम्बर आदि पांच प्रकार के अनन्तकायिक फल, अज्ञात फल, रात्रि-भोजन, आम और गौरस में मिले हुए मूंग, चने, उड़द, मोठ आदि द्विदल (दालें), फूलन (काई) पड़े हुए चावल, दो दिन बाद का दही, सड़ा बासी अन्न आदि वस्तुओं के सेवन का त्याग करने का उपदेश दिया है।[१]

कर्म के बिना श्रावक जी नहीं सकता, इसलिए उसके त्याग का तो प्रश्न ही नहीं होता। आ० हरिभद्र लिखते हैं कि कर्म की अपेक्षा से श्रावक को अत्यन्त सावद्य कर्मों को छोड़कर निर्दोष कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।[२]

भोगोपभोग-परिमाणव्रत के अतिचार[३]

१.	**सचित्ताहार**	कन्द-मूलादि सचित्त (सजीव, सचेतन) भोज्य पदार्थों का सेवन।
२.	**सचित्त-प्रतिबद्धाहार**	सचित्त वृक्ष से सम्बद्ध गोंद और आम आदि गुठली सहित पके फल, या खजूर, छुहारा आदि मेवे ग्रहण करना।
३.	**अपक्व-भक्षण**	बिना पके फल अथवा कच्चे शाक आदि का भक्षण।
४.	**दुष्पक्वाहार-भक्षण**	अधपके या अधिक पके भोज्य पदार्थों को खाना।
५.	**तुच्छ-औषधि-भक्षण**	जिन पदार्थों में खाने का अंश कम हो और फेंकने का अधिक, उन्हें ग्रहण करना। यथा – मूंगफली, सीताफल आदि।

उक्त पांच अतिचारों में से तीन तत्त्वार्थसूत्र और हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र में वर्णित अतिचारों के समान हैं शेष दो भिन्न हैं। यथा – १. सचित्ताहार २. सचित्त-संबद्धाहार, ३. सम्मिश्राहार, ४. अभिषवाहार और ५. दुष्पक्वाहार।[४] इनमें 'सम्मिश्राहार' (सचित्त-सम्मिश्राहार) का अर्थ है– अचित्त पदार्थ के साथ मिले किसी सचित्त खाद्य पदार्थ को खाना। यथा – गेहूँ के आटे की बनी रोटी में पड़े गेहूँ के अखण्ड दाने को खाना या अचित्त जौ, चावल आदि को सचित्त तेल में मिलाकर लेना अथवा उबाले हुए पानी में कच्चा पानी मिलाना। तथा 'अभिषवाहार' का अर्थ है – अभिषव अर्थात् अनेक द्रव्यों को मिलाकर बनाये हुए मादक पदार्थों जैसे मदिरा, सौवीर, ताड़ी, शराब, दारू आदि तथा भांग, तम्बाकू, जर्दा, गांजा, चरस, आदि नशीले पदार्थों का सेवन करना।

उपर्युक्त भोज्य पदार्थों से संबंधित अतिचार तो त्याज्य हैं ही, इनके अतिरिक्त कर्म में मलिनता पैदा करने वाले उन कठोर कर्मों का त्याग करना भी आवश्यक है, जिन्हें 'कर्मादान' कहा जाता है। कर्मादान उन कार्यों या व्यापारों को कहते हैं, जिनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है। इन कार्यों में

---

१. योगशास्त्र, ३/६,७
२. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८५, स्वोपज्ञवृत्ति
३. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८६
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७/३०; योगशास्त्र, ३/६४

अत्यधिक हिंसा होती है, इसलिए श्रावकों के लिए उनका त्याग करना आवश्यक है।[1] ये कर्मादान संख्या में १५ हैं[2] –

१. **इंगालकम्म (अंगारकर्म)**	अग्नि को प्रज्वलित कर कोयला व लोहे आदि के उपकरण बनाना।
२. **वणकम्म (वनकर्म)**	जंगल के वृक्ष व उनकी पत्तियों को बेचकर आजीविका चलाना।
३. **साडीकम्म (शकटकर्म)**	शकट अर्थात् बैलगाड़ी, रथ, तांगा आदि बनाना, बेचना अथवा चलाकर जीविका चलाना।
४. **भाडीकम्म (भाटी या भाटककर्म)**	गाड़ी आदि के द्वारा बोझा ढोकर भाड़े के आश्रय से जीविका चलाना अथवा बैल, अश्व आदि पशुओं को भाड़े पर देकर जीविकोपार्जन करना।
५. **फोडीकम्म (स्फोटककर्म)**	सुरंग बनाना, खान खोदना और पत्थर तोड़ना, हलादि के द्वारा भूमि जोतना।
६. **दंतवाणिज्ज (दन्तवाणिज्य)**	हाथी के दांत या अन्य पशु के बहुमूल्य दांतों, हड्डियों एवं चमड़े आदि का व्यापार करना।
७. **लक्खाणिज्ज (लाक्षवाणिज्य)**	वृक्षों से निकाली गई लाख द्वारा व्यापार करना।
८. **रसवाणिज्ज (रसवाणिज्य)**	विभिन्न प्रकार के मद्य-मदिरा आदि रसों को खरीद-बेचकर व्यापार करना।
९. **विसवाणिज्ज (विषवाणिज्य)**	विषैली वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर व्यापार करना।
१०. **केसवाणिज्ज (केशवाणिज्य)**	बालों या बाल वाले प्राणियों का व्यापार करना।
११. **जन्तपीलणकम्म (यन्त्रपीड़नकर्म)**	कोल्हू, ईख के यन्त्र, चक्र आदि द्वारा तेल व ईख का रस निकालना।
१२. **निल्लंछणकम्म (निर्लाञ्छणकर्म)**	बैल, बकरे आदि पशुओं को नंपुसक बनाना, उनको नियन्त्रण में रखने के लिए नासिका में रस्सी डालना, कान आदि अवयवों में छेद करना इत्यादि।
१३. **दवग्गिदावणया या दवदाणवणिज्जा (दावाग्निदापनता या दवदानव्यापार)**	जंगल अथवा खेतों में आग लगाना।
१४. **सरदहतलायसोसं**	झील, सरोवर, तालाब आदि जलाशयों के पानी को **(सरद्रह-तडागशोषण)** निकालकर उन्हें सुखाना।

---

१. अमी भोजनतस्त्याज्याः, कर्मतः खरकर्म तु।
तस्मिन् पंचदशमलान् कर्मादानानि संत्यजेत्।। – योगशास्त्र, ३/६८

२. (क) इंगाली-वण-साडी-भाडी-फोडीसु वज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विसविसयं।।
एवं खु जंतपीलणकम्मं निल्लंघणं च दवदाणं ।
सर-दह-तलायसोसं असईपोसं च वज्जिज्जा।। – श्रावकप्रज्ञप्ति, २८७,२८८

(ख) अंगार-वन-शकट-भाटक-स्फोटजीविका।
दन्त-लाक्षा-रस-केश-विषवाणिज्यकानि च ।।
यंत्रपीडा-निर्लाछनमसतीपोषणं तथा।
दवदानं सरः शोष इति पञ्चदश त्यजेत्।। – योगशास्त्र, ३/६६, १००

१५. **असईपोसं (असतीपोषण)** भाड़ा ग्रहण करने की इच्छा से दुराचारिणी स्त्रियों का पोषण करना।[1]

इस प्रकार भोगोपभोग-परिमाणव्रत के जितने भी अतिचार हैं, चाहे वे भोजन सम्बन्धी हों अथवा कर्म-सम्बन्धी, सभी जीवहत्या के प्रेरक-प्राणघातक होने से श्रावक के लिए त्याज्य हैं।

३. अनर्थदण्डव्रत

श्रावक के लिए निर्धारित व्रतों में तीसरा गुणव्रत 'अनर्थदण्डव्रत' है। आ० उमास्वाति ने अनर्थदण्ड में अर्थ-अनर्थ शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिससे उपभोग-परिभोग होता हो, वह श्रावक के लिए 'अर्थ' है और इसके विपरीत जिससे उपभोग-परिभोग न होता हो, वह 'अनर्थ' है।[2] आ० हेमचन्द्र के शब्दों में, शरीर आदि के लिए अनिवार्य रूप से की जाने वाली आरम्भ या सावद्य रूप प्रवृत्ति 'अर्थदण्ड' है और जिसमें किसी का भी लाभ न हो तथा जिस पाप से अकारण ही आत्मा दण्डित हो वह 'अनर्थदंड' है।[3] इस व्रत के चार भेद हैं[4] – १. अपध्यान, २. पापोपदेश, ३. हिंसादान और ४. प्रमादाचरित। श्रावक को इन चारों प्रकार के अनर्थदंड से बचना चाहिए।

अनर्थदंडव्रत के अतिचार[5]

१.	**कंदर्प**	कामोद्दीपक, विषयवर्धक अशिष्ट वचन बोलना।
२.	**कौत्कुच्य**	कुत् का अर्थ है – कुत्सित और कुच् का अर्थ है – चेष्टा। विदूषक या भांड के सदृश शारीरिक कुचेष्टाएँ करना।
३.	**मौखर्य**	मूर्खता से बिना सोचे विचारे धृष्टतापूर्वक वचन बोलना।
४.	**संयुक्ताधिकरण**	आत्मा को दुर्गति का अधिकारी बनाने वाले ऊखल, मूसल, हल आदि उपकरणों को जोड़कर रखना। जैसे – ऊखल के साथ मूसल, हल के साथ फाल, धनुष के साथ बाण आदि।
५.	**उपभोग परिभोगातिरेकता**	उपभोग और परिभोग की वस्तुओं को आवश्यकता से अधिक एकत्रित करना।

उपर्युक्त गुणव्रतों में 'दिग्व्रत' के पालन का उद्देश्य मोह पर नियन्त्रण पाना और 'भोगोपभोग-परिमाण-व्रत' का उद्देश्य लोभ पर विजय पाना तथा 'अनर्थदण्डव्रत' का उद्देश्य लोभ, मोहादि किसी विशेष भाव का नियमन है, किन्तु हिंसा के कुछ अन्य प्रकार, जिन्हें प्रायः लोग हिंसा में नहीं गिनते, उनसे बचना है। उक्त तीनों व्रतों में से 'दिग्व्रत' नामक गुणव्रत को पतञ्जलि द्वारा नियमों के अन्तर्गत परिगणित संतोष के पर्याप्त निकट देखा जा सकता है।

---

१. योगशास्त्र, ३/१०१–११३
२. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१६
३. योगशास्त्र, ३/७४
४. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८६; योगशास्त्र, ३/७३
५. श्रावकप्रज्ञप्ति, २६१; योगशास्त्र, ३/११५

शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत चार माने गये हैं – १. सामायिकव्रत, २. देशावकाशिकव्रत ३. पौषधव्रत और ४. अतिथिसंविभाग-व्रत।[१] इन चारों ही शिक्षाव्रतों का उद्देश्य वैराग्य भावना को पुष्ट करना है क्योंकि वैराग्य की पुष्टि के बिना किया गया अभ्यास साधना की पूर्णता तक नहीं पहुँच पाता। पतञ्जलि ने भी इसीलिए चित्तवृत्ति के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य को रथ के दो पहिए के समान सहचारी माना है।[२] शिक्षाव्रतों को अन्य व्रतों से भिन्न रूप में परिगणित करने का एक कारण यह भी है कि अणुव्रत और गुणव्रत यावज्जीवन पालनीय होते हैं, जबकि शिक्षाव्रत अल्पकाल तक ही अभ्यास योग्य माने गये हैं।[३] आ० हरिभद्र ने शिक्षाव्रतों को मोक्ष प्राप्त कराने का मुख्य साधन माना है।[४]

१. सामायिक

मन, वचन, काय से, एक नियत समय तक हिंसादि पांच अशुभ प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग करना, रागद्वेष रहित होना, सर्वजीवों में समता भाव रखना, आर्त्त व रौद्र ध्यान का त्याग करना 'सामायिक शिक्षाव्रत' है।[५] अनेक ग्रन्थों में सावद्ययोग के परित्याग और निरवद्ययोग के आसेवन को 'सामायिक' कहा गया है।[६]

'सामायिक' शब्द सम, आय और इक – इन तीन पदों से मिलकर बना है। 'सम' का अर्थ है – समता और 'आय' का अर्थ है – ज्ञानादि का लाभ। इस प्रकार 'समाय' का अर्थ हुआ – समभाव या समत्ववृत्ति की प्राप्ति। वह क्रिया जिससे समभाव की प्राप्ति होती है वह 'सामायिक' है। राग-द्वेष को नष्ट कर सब प्राणियों को आत्मवत् समझने से ही समत्वभाव की उपलब्धि होती है।[७] अतः सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समत्व का व्यवहार करना अर्थात् प्रत्येक प्राणी के प्रति समभाव रखना है।[८] आगमों में सामायिक के लक्षण का निर्देश निरुक्तिपूर्वक अनेक प्रकार से किया गया है। यथा– 'सम' का अर्थ राग द्वेष से रहित और 'अय' का अर्थ गमन है। इसप्रकार समगमन का नाम 'समाय' है और यह समाय ही 'सामायिक' है। अथवा उक्त 'समाय' में होने वाली, उससे निर्वृत्त, तन्मय अथवा उक्त प्रयोजन के साधक की प्रवृत्ति को 'सामायिक' जानना चाहिए। अथवा 'सम' से सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र अभिप्रेत हैं, उनके विषय में या उनके द्वारा जो अयगमन या प्रवर्तन है, उसका नाम 'समय' और उस समय को ही 'सामायिक' कहा जाता है। अथवा सम के राग-द्वेष से रहित जीव के जो आय-गुणों की प्राप्ति होती है उसका नाम समय है, अथवा समों का अर्थात् सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र का जो आय (लाभ) है उसे सामायिक समझना चाहिए। अथवा साम का अर्थ मैत्रीभाव और 'अय' का अर्थ गमन है, इस प्रकार मैत्रीभाव में या उसके द्वारा जो प्रवृत्ति होती है, वह 'सामायिक' है। अथवा उक्त मैत्रीभाव रूप जो साम है उसके आय (लाभ) को सामायिक समझना चाहिए।[९] केवली भगवान ने उस साधक की सामायिक को

---

१. श्रावकप्रज्ञप्ति, २६२
२. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१२
३. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२८
४. श्रावकप्रज्ञप्ति, २६२ पर स्वो० वृत्ति
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४८; योगशास्त्र, ३/८२; श्रावकप्रज्ञप्ति, २६२ पर स्वो० वृत्ति
६. श्रावकप्रज्ञप्ति, २६२; आवश्यकसूत्र, ६/६; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४/७; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ६/८ एवं हरिभद्रवृत्ति
७. श्रावकप्रज्ञप्ति, २६२ पर स्वोपज्ञवृत्ति
८. पंचाशक, ५/१५,१७
९. विशेषावश्यकभाष्य, ४२२०–२६, अनुयोगद्वार, हरिभद्रवृत्ति, पृ० २६, आवश्यकसूत्र, ६/६ हरिभद्रवृत्ति, पृ० ८३१, पंचाशकं, १/२५ पर अभयदेव वृत्ति

ही सच्चे अर्थों में सामायिक माना है जो, त्रस और स्थावर सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखता है।[1]

सामायिकव्रत के अतिचार[2]

१.	**मनोदुष्प्रणिधान**	अशुभ प्रवृत्तियों में मन को लगाना, मन में अशुभ विचार आना।
२.	**वचन-दुष्प्रणिधान**	सामायिक करते समय कटु, कर्कश, निष्ठुर या असभ्य अथवा अपशब्द बोलना।
३.	**काय-दुष्प्रणिधान**	सामायिक में बार-बार शरीर को हिलाना, अशुभ व्यापारों में प्रवृत्त होना, अकारण शरीर को सिकोड़ना, फैलाना इत्यादि।
४.	**स्मृत्यकरणता**	सामायिक का समय, पाठ अथवा पाठ की पूर्णता या अपूर्णता की स्मृति का अभाव होना (भूल जाना) अथवा स्मृतिभंग होना।
५.	**अनवस्थितकरण**	सामायिक के प्रति अनादर भाव रखते हुए सामायिक को समय से पूर्व ही समाप्त कर देना, यथावस्थित सामायिक न करना।

२. देशावकाशिकव्रत

'देश' का अर्थ है – दिग्व्रत में गृहीत देश का एक अंश। उसमें अवकाश होने से इस व्रत की 'देशावकाशिक' संज्ञा सार्थक है। दिग्व्रत नामक प्रथम गुणव्रत में दशों दिशाओं में गमनागमन की जो सीमा निर्धारित की गई है, वह कुछ विस्तृत प्रमाण में और यावज्जीवन अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए है। उस निश्चित मर्यादा को एक दिन-रात के लिए, उपलक्षण से पहर आदि से घटा कर आवागमन के क्षेत्र और भोग्योपभोग्य पदार्थों की मर्यादा को संकुचित कर देना 'देशावकाशिकव्रत' है।[3]

देशावकाशिकव्रत के अतिचार[4]

१.	**आनयन**	मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तुएँ मंगवाना।
२.	**प्रेष्य-प्रयोग**	स्वयं नियम का पालन करते हुए मर्यादित क्षेत्र के बाहर कार्य करने की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न जाकर दूसरे को भेजना।
३.	**शब्दानुपात**	मर्यादित क्षेत्र के बाहर प्रयोजन के उपस्थित होने पर स्वयं न जाकर छींकना, खांसी आदि शब्द संकेतों द्वारा काम निकालना।
४.	**रूपानुपात**	मर्यादित क्षेत्र के बाहर खड़े व्यक्ति को अपना रूप दिखाकर बुलाना।
५.	**पुद्गल-क्षेपण**	मर्यादित क्षेत्र के बाहर कंकड़ आदि फेंक कर अपना प्रयोजन प्रकट करना।

३. पौषधोपवासव्रत या पौषधव्रत

पौषध का अर्थ है – अपनी आत्मा को पुष्ट करना। उपवास का अर्थ है – भोजन का त्याग। आ० हेमचन्द्र के अनुसार चार पर्व तिथियों (अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या) में उपवास करके अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन एवं स्नान-श्रृंगारादि का त्याग करना 'पौषध' या 'पौषधोपवासव्रत'

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ७६७
२. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३१२; योगशास्त्र, ३/११५
३. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३१८; योगशास्त्र, ३/८४
४. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२०; योगशास्त्र, ३/११६

है।[1] उक्त लक्षणानुसार पौषधव्रत में श्रावक चार प्रकार का त्याग करता है – १. आहार, २. शरीर-सत्कार अर्थात् श्रृंगार-प्रसाधन, ३. अब्रह्मचर्य और ४. सभी सांसारिक क्रियाकलाप।[2]

पौषधोपवासव्रत के अतिचार[3]

१.	**अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या-संस्तारक**	पाट-चौकी, शय्या, आसन आदि को देखे और प्रमाणित किए बिना रखना और उठाना।
२.	**अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार-प्रसवणभूमि**	भूमि को देखे और प्रमार्जित किए बिना मल-मूत्र का उत्सर्ग करना।
३.	**अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक**	झाड़े-पोछे बिना अथवा व्याकुलचित्त से झाड़-पोंछकर शय्या व आसन बिछाना।
४.	**अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारादिभूमि**	मल-मूत्रादि के विसर्जन के समय भूमि को बिना देखे ही (बिना प्रमार्जित किए) अथवा अधीरता से देखकर उनका विसर्जन करना।
५.	**सम्यक् अननुपालनता**	समस्त आहारादि विषयक पौषधोपवासव्रत का भली-भांति पालन न करना।

४. अतिथि-संविभागव्रत

श्रावक के लिए निर्धारित १२ व्रतों में अन्तिम तथा शिक्षाव्रतों में चतुर्थ व्रत 'अतिथि-संविभागव्रत' है। न्याय से उपार्जित अपने आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि कल्पनीय देय पदार्थों में से यथोचित अंश निर्दोष भिक्षा के रूप में साधु-साध्वियों को दान देना, 'अतिथि-संविभागव्रत' है।[4]

अतिथि का अर्थ है – जिसके आगमन की कोई निश्चित तिथि न हो, जिसके कोई पर्व या उत्सव आदि नियत न हों। ऐसे व्यक्तियों के लिए यथायोग्य अपने भोज्य पदार्थ के समुचित विभाग करना 'यथासंविभाग' या 'अतिथि-संविभागव्रत' कहलाता है। इस प्रकार अतिथि-संविभागव्रत के कारण गृहस्थ-आश्रम मुनि-संस्था के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

अतिथि-संविभागव्रत के अतिचार[5]

१.	**सचित्तनिक्षेप**	अतिथि को देने योग्य पदार्थ सचित्तपात्र में रखना।
२.	**सचित्तपिधान**	अतिथि को देय भोज्य वस्तु को सचित्त फल या पत्ते आदि से ढ़ककर रखना।
३.	**कालातिक्रमदान**	दान देने के समय का उल्लंघन करना।
४.	**परव्यपदेश**	दान न देने की भावना से अपनी वस्तु को दूसरे को बताना।
५.	**मात्सर्य**	ईर्ष्यावश अथवा अहंकार से युक्त होकर दान देना अथवा दान के प्रति आदरभाव न रखना।

---

१. योगशास्त्र, ३/८५
२. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२१
३. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२३; योगशास्त्र, ३/११७
४. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२३, ३२६; योगशास्त्र, ४/८७
५. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२७; योगशास्त्र, ३/११८

आ० हेमचन्द्र के अनुसार जो श्रावक उक्त बारह व्रतों का निरतिचार पालन करता हुआ अपने धन को सात क्षेत्रों (जिनप्रतिमा, जिनमंदिर, जिनआगम, साधु-क्षेत्र, साध्वी-क्षेत्र, श्रावक-क्षेत्र, श्राविका-क्षेत्र) में भक्तिपूर्वक तथा अति दीनजनों में दयापूर्वक लगाता है, वह महाश्रावक कहलाता है।[१]

(ग) गृहस्थ योगी की विशिष्ट साधना : प्रतिमा

श्रावक द्वारा सम्यकत्वपूर्वक उपरोक्त बारह व्रतों को ग्रहण किये जाने पर भी विशिष्ट साधना के रूप में जैन आगमों तथा उत्तरवर्ती साहित्य में कुछ विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ लेने का विधान प्रस्तुत किया गया है। शास्त्रों में इन विशिष्ट प्रतिज्ञाओं को प्रतिमा (पडिमा) कहा गया है।

प्रतिमा का अर्थ है – विशिष्ट साधना की प्रतिज्ञा,[२] जिसमें श्रावक संकल्पपूर्वक अपने स्वीकृत यम-नियमों (श्रावकाचार) का दृढ़ता से पालन करता है। श्रावक में जब श्रमण के सदृश जीवन व्यतीत करने की इच्छा उत्पन्न होती है तब वह इन प्रतिमाओं का आश्रय लेता है। चूँकि प्रतिमाओं की आराधना करने वाले श्रावक का जीवन एक प्रकार से श्रमण-जीवन की ही प्रतिकृति होता है, इसलिए उसके द्वारा स्वीकृत व्रतविशेष 'प्रतिमा' कहे जाते हैं।[३] शास्त्रों में श्रावक के लिए ग्यारह प्रतिमाओं का विधान किया गया है।[४] हेमचन्द्र के योगशास्त्रानुसार इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है[५] –

१.	**दर्शन-प्रतिमा**	शंकादि दोषरहित, प्रशमादि लक्षणों से युक्त स्थैर्यादि भूषणों से भूषित, मोक्षमार्ग में महल की नींव के समान सम्यग्दर्शन का विशुद्ध रूप से निरन्तर एक मास तक पालन करना।
२.	**व्रत-प्रतिमा**	पूर्वप्रतिमा सहित बारह व्रतों का निरंतर निरतिचार एवं अविराधित रूप से पालन करना।
३.	**सामायिक-प्रतिमा**	पूर्वप्रतिमाओं की साधना करते हुए दोनों समय अप्रमत्त रूप से ३२ दोषों से रहित निरन्तर शुद्ध सामायिक (समताभाव) की साधना करना।
४.	**पौषध-प्रतिमा**	पूर्वप्रतिमाओं का अनुष्ठान करते हुए निरतिचार रूप से चार मास तक प्रत्येक चतुष्पर्वी पर पौषध का पालन करना। पौषधव्रत में श्रावक देशतः प्रवृत्ति कर सकता है, परन्तु पौषध-प्रतिमा में उसका पूर्णतः पालन अपेक्षित है।
५.	**कायोत्सर्ग-प्रतिमा**	पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का पालन करते हुए पांच मास तक प्रत्येक चतुष्पर्वी में घर के अन्दर, घर के द्वार पर अथवा चौक में परीषह-उपसर्ग में रात भर बिना हिले-डुले काया के व्युत्सर्ग रूप में कायोत्सर्ग करना।
६.	**ब्रह्मचर्य-प्रतिमा**	पूर्व प्रतिमाओं का अनुष्ठान करते हुए छह महीने तक त्रिकरणयोग से निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करना।

---

१. योगशास्त्र, ३/११६
२. (क) प्रतिमाप्रतिपत्तिः प्रतिज्ञेति यावत्। – स्थानांगवृत्ति, पत्र, ६४, पृ.४३
(ख) प्रतिमा अभिग्रहाः । – वही, पत्र, ३५१, पृ.१६८
३. जैन आचार, पृ० १२५
४. समवायांगसूत्र, ११/७१, पृ० २६–३०; सागारधर्मामृत, १/१७, ७/१–४६; योगशास्त्र, ३/१४७ पर स्वो० वृति
५. द्रष्टव्य : योगशास्त्र, ३/१४७ पर स्वो० वृ०

७.	**सचित्तवर्जन-प्रतिमा**	नौ महीने तक सचित्त पदार्थ के सेवन का त्याग करना।
८.	**आरम्भवर्जन-प्रतिमा**	आठ मास तक स्वयं हिंसात्मक क्रियाओं का त्याग करना।
९.	**प्रेष्यवर्जन-प्रतिमा**	नौ मास तक दूसरे से भी हिंसात्मक क्रियाओं का त्याग कराना।
१०.	**उद्दिष्टभक्तवर्जन (त्याग)-प्रतिमा**	दस मास तक अपने लिए तैयार किये हुए आहार का त्याग करना।
११.	**श्रमणभूत-प्रतिमा**	ग्यारह मास तक स्वजन आदि की संगति छोड़कर रजोहरण, पात्र आदि साधुवेश धारण कर साधु के समान चर्या करना, सिर के बालों का लोच या मुंडन करना तथा अन्य क्रियाएँ भी सुसाधु के सदृश करना।

गृहस्थ उक्त ११ प्रतिमाओं को क्रमशः धारण करता हुआ आत्मिक विकास करते-करते उत्कृष्ट श्रावक बन जाता है। उत्तर-उत्तर की प्रतिमा को धारण करता हुआ श्रावक पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करता हुआ साध्वाचार की ओर बढ़ने का निरन्तर प्रयत्न करता है।[१]

(घ) श्रावक के छह कर्म

जैन परम्परा में उपर्युक्त बारह व्रत तथा ग्यारह प्रतिमाओं के साथ-साथ श्रावक के लिए छह नित्य कर्मों का विधान भी प्रस्तुत किया गया है। इनके नाम हैं– १. देवपूजा, २. गुरुसेवा, ३. स्वाध्याय, ४. संयम, ५. तप एवं ६. दान।[२]

आ० हेमचन्द्र ने महाश्रावक की दिनचर्या की प्ररूपणा करते हुए उक्त छः आवश्यक कर्मों को उसी में अन्तर्भूत कर दिया है। उन्होंने स्वाध्याय से पूर्व आवश्यक कर्मों (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान की साधना अनिवार्य मानी है।[३] आवश्यक कर्मों के संबंध में उन्होंने आगमवचनानुसार श्रावकों के लिए भी प्रतिक्रमण करने का विधान प्रस्तुत किया है।[४]

श्रावक के लिए निर्धारित उक्त छह आवश्यक कर्म आ० हरिभद्र द्वारा निरूपित 'पूर्वसेवा' तथा आ० हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित 'महाश्रावक की दिनचर्या' में परिगणित किए गए हैं। शैली में भिन्नता होने पर भी इनका मूल उद्देश्य समान है। इन सबका मूल उद्देश्य श्रावक के जीवन को व्यवस्थित एवं नियमित बनाना है। इन कर्त्तव्य-कर्मों के अनुकूल आचरण करने से ही श्रावक जीवन-ध्येय में सफलता प्राप्त कर कल्याण और निर्वाण का अधिकारी होता है।

गृहस्थ के छह आवश्यकों (नित्यधर्मों) का निरूपण पीछे किया जा चुका है। उन छः आवश्यकों में संयम और तप का परिगणन है। श्रावक यथाशक्ति अपने जीवन में संयम व तप की आराधना करता है। मृत्यु के समय प्राण-हानि की संभावना से आकुलता होती है जिससे श्रावक का संयमपथ से विचलित हो जाना स्वाभाविक है। जैन आचारशास्त्र के अनुसार सल्लेखना-विधि का निर्देश दिया गया है जो साधक के पूर्व संयममय जीवन को प्रमाणित करने वाली एक कसौटी है। यदि साधक सल्लेखना-विधि के अनुसार शांतिपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करता है तभी उसके संयममय जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २३६

२. देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।। – यशस्तिलकचम्पू ८/६५४; उपासकाध्ययन, ४६/६११

३. ततश्च सन्ध्यासमये, कृत्वा देवार्चनं पुनः।
कृतावश्यककर्मा च, कुर्यात् स्वाध्यायमुत्तमम्।। – योगशास्त्र, ३/१२६

४. योगशास्त्र, ३/१२६ पर स्वोपज्ञवृति

(ङ) सल्लेखना

'सल्लेखना' जीवन के अन्तिम समय में लिया जाने वाला भाव है,[१] जो श्रावक एवं श्रमण दोनों की आत्मा एवं शरीर को समान रूप से शुद्ध करता है।[२] सम्यक् रूप से काय और कषाय का लेखन करना अर्थात् कृश करना 'सल्लेखना' कहलाता है। दूसरे शब्दों में बाहरी शरीर एवं भीतरी कषायों का, उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करने वाले कारणों को न्यून करते हुए सम्यक् प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना 'सल्लेखना' है।[३]

गृहस्थ के समान भिक्षु के लिए भी इसका विधान किया गया है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जिस समय भिक्षु को यह प्रतीत होने लगे कि वह आचार-धर्म का पालन करने में असमर्थ है, उसी समय उसे संकल्पपूर्वक आहार-त्याग करते हुए कषायों को क्षीण करने का व्रत ले लेना चाहिये।[४] यही जैन शास्त्रों की परिभाषा में 'सल्लेखना' है।

आ० हेमचन्द्र के मतानुसार श्रावक को सल्लेखना व्रत के लिए अरिहन्तों के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान अथवा निर्वाण-कल्याणक की पवित्र भूमि पर जाना चाहिये। यदि कल्याणभूमि निकट न हो तो किसी घर, उपाश्रय, वन या जीव-जन्तु से रहित एकान्त, शांत भूमि में सल्लेखना करनी चाहिये।[५]

सल्लेखना व्रत के अतिचार[६]

१.	**इहालोकाशंसा प्रयोग**	लौकिक सुख की प्राप्ति की इच्छा।
२.	**परलोकाशंसा प्रयोग**	परलोक में स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति की इच्छा।
३.	**जीविताशंसा प्रयोग**	अधिक काल तक जीने की इच्छा।
४.	**मरणाशंसा प्रयोग**	सल्लेखना की कठिनाईयाँ सहन न होने पर जल्दी मरने की इच्छा करना।
५.	**भोगाशंसा प्रयोग**	सल्लेखना के फलस्वरूप काम-भोगादि की अभिलाषा करना।

उक्त व्रत में सफलता प्राप्त करने हेतु साधक को अपनी वासनाओं एवं तृष्णाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

सल्लेखना और आत्महत्या

सल्लेखना का सम्बन्ध मृत्यु की अवस्था से संबंधित है, इसलिए कुछ विद्वान् सल्लेखना, को एक प्रकार की आत्महत्या मानते हैं।[७] परन्तु उनकी यह धारणा अनुचित है क्योंकि सल्लेखना का मूल आधार आत्मा और शरीर के पार्थक्य की दृढ़ भावना है। सल्लेखना शरीर के व्यर्थ हो जाने पर उसके प्रति राग छोड़ने की एक प्रक्रिया है। आत्महत्या और सल्लेखना में निम्नलिखित भेद द्रष्टव्य हैं –

---

१. मारणान्तिकी संलेखनां जोषिता। – तत्त्वार्थसूत्र, ७/१७
२. न इमं सव्वेसु भिक्खसु, न इमं सव्वेसुगारिसु। – उत्तराध्ययनसूत्र, ५/१६
३. सर्वार्थसिद्धि, ७/२२/७०५; श्रावकप्रज्ञप्ति, ३७८ पर स्वोपज्ञवृत्ति; योगशास्त्र, ३/१५७ पर स्वोपज्ञवृत्ति
४. आचारांगसूत्र, १/८/६/१०५ ; योगशास्त्र, ३/१४८
५. जन्म-दीक्षा-ज्ञान-मोक्षस्थानेषु श्रीमदर्हताम्।
तदभावे गृहेऽरण्ये, स्थण्डिले जन्तुवर्जिते।। – योगशास्त्र, ३/१४६
६. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३८५
७. **The Heart of Jainism, p. 168**

१. आत्महत्या (आत्मघात) का मूल कारण है – कषाय, जबकि सल्लेखना में शरीर का त्याग गौण है और कषायों का त्याग प्रधान है।[१]
२. सल्लेखना का मूल आधार है – शरीर और आत्मा में आने वाले विकारों को कृश करना। इस कारण सल्लेखना कालमृत्यु है, अकालमृत्यु नहीं। इसमें मोह का अभाव होता है।[२]
३. सल्लेखना के अन्तर्गत कषायों को कृश करने पर अधिक बल दिया गया है।[३] अतः सल्लेखना में राग-द्वेषात्मक वृत्ति का अभाव होता है, जबकि आत्मघात तो राग-द्वेषात्मक वृत्ति की प्रबलता होने पर किया जाता है।
४. आत्मघात में मृत्यु की इच्छा की जाती है, किन्तु सल्लेखना में जीवन या मरण की इच्छा नहीं होती।[४] अपितु वह तो मृत्यु या अन्य कोई दुःसाध्य आपत्ति आ जाने पर प्रसन्नतापूर्वक शरीर-त्याग करने की एक प्रक्रिया है।
५. सल्लेखना में किसी प्रकार के भोगों की इच्छा नहीं होती, जबकि आत्मघात करने वाला व्यक्ति इच्छित भोगों के न मिलने के कारण आत्महत्या करता है। इसके विपरीत सल्लेखना करने वाला व्यक्ति किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता।[५]

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि आत्मघात में एक प्रकार का तनाव होता है जबकि सल्लेखना में शान्ति। आत्मघात डरकर पलायनवादी प्रकृति के कारण बिना किसी विचार के छिपकर किया जाता है, जबकि सल्लेखना का आधार पराक्रम है, आध्यात्मिक निर्भीकता है। इसमें परिस्थिति से पलायन न करके समझौता किया जाता है। इसे एक जीवन दर्शन के आधार पर घोषणापूर्वक सबके सम्मुख किया जाता है, छुपकर नहीं।[६] इसलिए सल्लेखना को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता।

इसप्रकार स्पष्ट है कि जैन-परम्परा में वर्णित सल्लेखना प्रयत्नपूर्वक मरण (आत्महत्या) नहीं है, बल्कि आई हुई मृत्यु का वीरतापूर्वक वरण है अर्थात् जब शरीर अपने उपयोग का न रह जाए और उसके पालन-पोषण के लिए किया जाने वाला प्रयत्न निरर्थक प्रतीत हो रहा हो, तब उस स्थिति में सल्लेखना-व्रत द्वारा शरीर-त्याग को उचित माना गया है, जबकि वैदिक-परम्परा में अपनी इच्छानुसार प्राणोत्सर्ग को पाप के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि ईशोपनिषद् के अनुसार आत्महनन करने वाले लोग असूर्य लोकों को प्राप्त करते हैं।[७] इससे स्पष्ट होता है कि जैन आचार के नियम अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एवं कठोर हैं।

श्रमणाचार

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान है और निवृत्ति का मार्ग साधुमार्ग है। जैन-परम्परा में साधु के लिए 'श्रमण' शब्द का प्रयोग हुआ है। धर्म का मूल आधार और केन्द्रबिन्दु 'साधु' यानि 'श्रमण' ही है। उसी के नाम

---

१. कसाए पयणुए किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाए भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे। – आचारांगसूत्र, १/८/६/१०५
२. सम्यक्काय-कषायलेखना सल्लेखना। – सर्वार्थसिद्धि, ७/२२
३. रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशास्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः – सर्वार्थसिद्धि, ७/२२
४. जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णो विपत्थए।
दुहतोवि ण सज्जेज्जा, जीविते मरणे तहा।। – आचारांगसूत्र, १/८/८/४
५. भेउरेसु न रज्जेज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छालोभं ण सेवेज्जा, सुहुमं वण्णं सपेहिया।। – आचारांगसूत्र, १/८/८/२३
६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १६८
७. ईशोपनिषद्, (उपनिषत्संग्रह), ३

पर जैनधर्म को श्रमणधर्म तथा जैन संस्कृति को श्रमणसंस्कृति कहा जाता है। श्रमणधर्म को ही उत्सर्ग माना जाता है, क्योंकि वही मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् मार्ग है। श्रमणधर्म धारण किये बिना मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती। जो श्रमणधर्म धारण करने में असमर्थ होते हैं, किन्तु उसमें आस्था रखते हैं, वे भविष्य में श्रमण बनने की भावना से ही श्रावकधर्म को अंगीकार करते हैं। अतः श्रावकधर्म अपवादधर्म है और श्रमणधर्म यथार्थधर्म है।[१]

'श्रमण' शब्द 'श्रम्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है – परिश्रम करना। इस व्युत्पत्ति के आधार पर मोक्षमार्ग अथवा आत्मशुद्धि में परिश्रम करने वाले को 'श्रमण' कहा जाता है। आ० हरिभद्र ने दशवैकालिक वृत्ति में तप और परिश्रम को पर्यायवाची मानते हुए श्रम यानि परिश्रम करने वाले और तप करने वाले दोनों को 'श्रमण' कहा है।[२] दूसरे शब्दों में जो साधक परिश्रम करता है, तप से शरीर को कष्ट पहुँचाता है, वह 'श्रमण' कहलाता है।[३]

जैन-परम्परा में श्रमण के लिए २८ मूलगुण[४] और सत्तर उत्तरगुणों[५] का विधान प्रस्तुत किया गया है। मूलगुणों में पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों का निरोध (त्रिविध गुप्ति), छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षिति, अदन्त-धावन, स्थिति-भोजन और एक भुक्ति परिगणित हैं।

उक्त २८ मूलगुण दिगम्बर-परम्परा में वर्णित हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में इससे भिन्न २७ मूलगुणों का उल्लेख मिलता है। समवायांग सूत्र[६] के अनुसार २७ मूलगुण इस प्रकार हैं – पांच महाव्रत, पांच इन्द्रियों का संयम, चार कषायों का परित्याग, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मन-वचन-काय का निरोध, ज्ञान, दर्शन और चारित्र से संपन्नता, कष्ट-सहिष्णुता और मरणान्त-कष्ट को सहना। शुभचन्द्र ने श्रमणाचार के अन्तर्गत पंच महाव्रत, पांच समिति और त्रिविध गुप्ति को ही समाविष्ट किया है।[७]

(क) महाव्रत

'महाव्रत' में महान् शब्द महत्व और प्राधान्य अर्थ में गृहीत है। जो महान् व्रत हैं वे महाव्रत कहलाते हैं। ज्ञानार्णव में कहा गया है कि महाव्रत अनन्त ज्ञानादि रूप महाफल को प्रदान करते हैं अर्थात् उनको धारण करने पर ही अनन्त ज्ञानादि रूप महाफल की प्राप्ति होती है। महाफल की प्राप्ति के हेतुभूत होने से ये महाव्रत कहे जाते हैं। दूसरे ये गणधर अथवा इन्द्र आदि महापुरुषों द्वारा आचरित हैं। तीसरे ये स्वयं महान् हैं, क्योंकि इनमें स्थूल और सूक्ष्म सब प्रकार की हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्म और परिग्रह का सर्वथा त्याग किया जाता है।[८] वस्तुतः इन महाव्रतों में लोभ, मोह और क्रोध की पूर्णतः निवृत्ति हो जाती है। जिसप्रकार विविध भावनाओं से भावित करने से औषधियाँ रसायन बनकर पुष्टिदायक बन जाती है, उसीप्रकार शास्त्रों में महाव्रतों की पुष्टि तथा शुद्धि हेतु पांच-पांच भावनाओं का विवेचन किया गया है[९] और कहा गया है कि ये भावनाएँ मुक्ति-प्राप्ति में सहायक सिद्ध होती हैं।[१०] पांच महाव्रतों के नाम इस

---

१. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रस्तावना, अनगारधर्मामृत, (आशाधर) पृ० १४
२. श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः। – दशवैकालिकसूत्र १/३ पर हरिभद्र वृत्ति
३. श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणः। – सूत्रकृतांगसूत्र, १/१६/१ पर शीलां० टीका, पृ० २६३
४. मूलाचार २–३; योगसारप्राभृत, ८/६–७; प्रवचनसार ३/८–६
५. पिंडविसोही समिई भावण पडिमा य इन्दिअनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेवकरणं तु।। – धर्मसंग्रह (उत्तर भाग), अधिकार ३, गा० ४७ पर यशो० कृत व्याख्या, पत्र १३०
६. समवायांगसूत्र, २७ वाँ समवाय।
७. ज्ञानार्णव, ८/२ (१, ३, ४)
८. ज्ञानार्णव, १८/१, (१), २
९. ज्ञानार्णव, १८/२; योगशास्त्र, १/१९
१०. योगशास्त्र, १/२५

प्रकार हैं – १. अहिंसा-महाव्रत, २. सत्य-महाव्रत, ३. अस्तेय-महाव्रत, ४. ब्रह्मचर्य-महाव्रत और ५. अपरिग्रह-महाव्रत।[१]

१. अहिंसा-महाव्रत

अहिंसा-महाव्रत सभी व्रतों में प्रधान एवं महत्वपूर्ण है। इसे समस्त व्रतों का सरताज तथा व्रत-रत्नों की खान कहा गया है।[२] आ० शुभचन्द्र ने इसे सत्यादि उत्तरवर्ती व्रत समूह का कारण बताते हुए लिखा है कि सत्यादि सब व्रतों की स्थिति अहिंसा-महाव्रत पर टिकी हुई है।[३] जीवन पर्यन्त त्रस और स्थावर सभी प्रकार के जीवों की मन, वचन और काय रूप तीन योगों से तथा कृत, कारित और अनुमोदन रूप तीन करणों से किसी प्रकार की हिंसा न करना 'अहिंसा महाव्रत' है।[४]

अहिंसा-महाव्रत की भावनाएँ[५] –

जैन शास्त्रों के अनुसार अहिंसा-महाव्रत की निम्नलिखित पांच भावनाएँ हैं –

१.	**मनोगुप्ति भावना**	मन को शुभ और शुद्ध ध्यान में लगाए रखना, राग-द्वेष के सूचक संकल्प-विकल्पों को छोड़कर मन को समताभाव में स्थापित करना।
२.	**एषणासमिति भावना**	वस्त्र, पात्र, आहार, स्थान आदि वस्तुओं का गवेषण, ग्रहण या उपयोग रूप तीन एषणाओं में दोष न लगने देना, निर्दोष वस्तु का ग्रहण या उपयोग करना।
३.	**आदानसमिति भावना**	पाद, पादपीठ, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को लेते व छोड़ते समय सावधानी बरतना, ताकि किसी जीव की विराधना न हो।
४.	**ईर्यासमिति भावना**	प्रमादरहित होकर सावधानीपूर्वक मार्ग पर सम्यक् दृष्टि रखते हुए, किसी जीव की विराधना किए बिना गमनागमन करना।
५.	**दृष्टान्नपान ग्रहण या आलोकित पान भोजन भावना**	आहार-पानी को भली-भांति देखकर लेना और उपलक्षण से आहार के समय भी अहिंसा-भाव रखना।

ये पांचों भावनाएँ 'अहिंसा-महाव्रत' को पुष्ट करती हैं और उसे स्थिरता प्रदान करती हैं। पतञ्जलि के योगसूत्र में भी 'अहिंसा-महाव्रत' की चर्चा मिलती है। भाष्यकार व्यास एवं अन्य टीकाकारों ने समस्त प्राणियों के प्रति द्रोह न करने, उन्हें पीड़ा न पहुचाँने को 'अहिंसा महाव्रत' कहा है।[६]

२. सत्य-महाव्रत

जैनागमोक्त भाषा में इसे 'सर्वमृषावाद-विरमण' कहते हैं। इस महाव्रत में श्रमण साधक तीन करण एवं

---

१. मूलाचार, ४; उत्तराध्ययनसूत्र, २१/१२; ज्ञानार्णव, ८/५; योगशास्त्र, १/१८,१६
२. अनगारधर्मामृत, ४/३५
३. ज्ञानार्णव, ८/६
४. ज्ञानार्णव, ८/७
५. योगशास्त्र, १/२६; मूलाराधना, ३३७; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ७/३३
६. व्यासभाष्य, पृ० २७५ ; नागोजीभट्टवृत्ति, पृ० ६२; भावागणेशवृत्ति, पृ० ६२

तीन योग से असत्य वचनों का त्याग करता है।[1] यह महाव्रत, आगम-ज्ञान एवं यम का आधार, विद्या व विनय का भूषण तथा चारित्र और ज्ञान का बीज है।[2] इसलिए श्रमणधर्म को स्वीकार करने वाले व्यक्ति को 'सत्य-महाव्रत' का पालन अवश्य करना चाहिए।[3] जैन शास्त्रों में कहा गया है कि सत्य-महाव्रत के आराधक श्रमण को सदा मौन ही रहना चाहिए। परन्तु यदि बोलना आवश्यक हो तो ऐसे वचन बोलने चाहिएँ, जो प्रिय, सत्य और सर्वहितकारी हों।[4] यदि धर्म का नाश होता हो, क्रियाकांड विध्वंस होता हो, स्वसिद्धान्तों का अर्थ नष्ट होता हो, तो उनका स्वरूप प्रकाशित करने के लिए बिना पूछे भी बोलना चाहिए।[5]

सत्य-महाव्रत की भावनाएँ[6]

जैन शास्त्रकारों के अनुसार सत्य-महाव्रत को पुष्ट करने में निम्नलिखित पांच भावनाएँ सहायक हैं –

१. **हास्य-प्रत्याख्यान** हंसी-मजाक में भी असत्य भाषण का त्याग करना।
२. **लोभ-प्रत्याख्यान** लोभ के वशीभूत होकर धन की आकांक्षा से असत्य वचन न बोलना।
३. **क्रोध-प्रत्याख्यान** क्रोध के आवेश में आकर कठोर वचनों या असत्य वचनों को न बोलना।
४. **भय-प्रत्याख्यान** प्राणों की रक्षा या प्रतिष्ठा आदि जाने के भय से असत्य-भाषण का त्याग करना।
५. **आलोच्य-भाषण** अज्ञानतापूर्वक कटु सत्य अथवा शीघ्रता और चपलता से बिना विचार किए न बोलना, विचारपूर्वक बोलना।

पातञ्जलयोगसूत्र के अनुसार सत्य को द्वितीय महाव्रत मानते हुए वाणी तथा मन के यथार्थत्व को 'सत्य' कहा गया है। भाष्यकार व्यास इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जैसा प्रत्यक्ष देखा गया, सुना गया और तर्क द्वारा अनुमान किया गया हो, वैसा ही मन और वाणी का होना सत्य है। यदि मन में कुछ अन्य हो और वाणी से कुछ अन्य बोला जाए तो वह सत्य नहीं कहलाता। जो वंचित, भ्रान्त तथा प्रतिपत्तिवन्ध्य न हो, वही वाक्य 'सत्य' कहा जाता है।[7]

३. अस्तेय-महाव्रत

आगमोक्त भाषा में इस महाव्रत को 'सर्व अदत्तादान-विरमण' कहा जाता है। मन, वचन, काय रूप तीन योगों तथा तीन करणों से चौर्यकर्म का त्याग करना 'अस्तेय' या 'अचौर्य-महाव्रत' है। मोक्षमार्ग में स्थिरता प्राप्त करने के लिए गुणों के भूषण स्वरूप अचौर्य व्रत का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।[8] इस महाव्रत में श्रमण को सूक्ष्म से सूक्ष्म चोरी का भी परित्याग करना पड़ता है। उसके अचौर्य और अदत्तादान की सीमा बहुत विस्तृत होती है।

---

१. दशवैकालिकसूत्र, अध्ययन ४
२. ज्ञानार्णव, ६/२७
३. ज्ञानार्णव, ६/१
४. वही, ६/६; अनगारधर्मामृत, ४/४४
५. ज्ञानार्णव, ६/१५
६. योगशास्त्र, १/२७
७. सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे। यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। – व्यासभाष्य, पृ० २७६
८. ज्ञानार्णव, १०/१

अस्तेय-महाव्रत की भावनाएँ[1]

जैन शास्त्रों के अनुसार निम्नलिखित भावनाएँ अस्तेय-महाव्रत को पुष्ट करती हैं –

१.	**आलोच्य-अवग्रहयाचन**	मन से विचार करके ही स्वामी से अवग्रह (रहने के स्थान) की याचना करना।
२.	**अभीक्ष्ण-अवग्रहयाचन**	मालिक से बार-बार अवग्रह की याचना करना।
३.	**परिमित-अवग्रहयाचन**	जितने स्थान की आवश्यकता हो, उतने ही स्थान की याचना करना, आवश्यकता से अधिक की नहीं।
४.	**साधर्मिक-अवग्रहवाचन**	स्वधर्मी साधु से भी अवग्रह की याचना करके रहना या ठहरना।
५.	**अनुज्ञापित पान-अन्न-अशनग्रहण**	गुरु की आज्ञा से आहार-पानी का उपयोग करना।

उपरोक्त भावनाओं से श्रमणयोगी की वृत्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक संकुचित हो जाती हैं। याचना से विनम्रता और निरभिमानता का भाव उत्पन्न होता है तथा आसक्ति-भाव कम होता है। अनासक्त योगी को संसार की समस्त वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं।

पातञ्जलयोगसूत्र में भी 'अस्तेय' को तीसरा महाव्रत माना गया है। भाष्यकार व्यास के अनुसार शास्त्रोक्त विधि के बिना किसी अन्य के द्रव्यों को ग्रहण करना 'स्तेय' है और उसके प्रतिषेध (अभाव) एवं मन से भी अन्य के द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा के अभाव को 'अस्तेय' कहा जाता है।[2]

४. ब्रह्मचर्य-महाव्रत

शास्त्रोक्त भाषा में इस व्रत को 'सर्वमैथुन-विरमण' कहते हैं। मन, वचन और काय से सर्वथा मैथुन-वृत्ति का त्याग करना 'ब्रह्मचर्य-महाव्रत' है। आ० हेमचन्द्र के अनुसार दिव्य अर्थात् देवताओं के वैक्रिय-शरीर तथा मनुष्य और तिर्यञ्च जाति के औदारिक शरीर से संबंधित कामभोगों (मैथुनवृत्ति) का मन, वचन और काय से सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग करना 'ब्रह्मचर्य' है। आ० हेमचन्द्र ने १८ प्रकार के मैथुन त्याज्य होने से ब्रह्मचर्य महाव्रत को भी १८ प्रकार का माना है।[3] देवता-संबंधी रतिसुख मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदन के भेद से त्रिविध–त्रिविध (३ x ३ = ६) विरति रूप होने से ६ प्रकार का होता है। इसी तरह औदारिक संबंधी काम के भी ६ भेद होते हैं। इस प्रकार १८ प्रकार का ब्रह्मचर्य-महाव्रत होता है।[4] जैनागमों में ब्रह्मचर्य-महाव्रत की महिमा का गुणगान करते हुए पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[5]

जैन-परम्परा में ब्रह्मचर्य-व्रत का अत्यन्त कठोरता से पालन करने का आदेश दिया गया है। श्रमण के लिए इस व्रत में किसी प्रकार का अपवाद स्वीकार्य नहीं है।

ब्रह्मचर्य-महाव्रत की भावनाएँ[6]

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हेतु जैन शास्त्रों में निम्नलिखित पांच भावनाओं का निरूपण किया गया है –

---

१. योगशास्त्र, १/२८, २६; मूलाराधना ३३६; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ७/३
२. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ।। – व्यासभाष्य, पृ० २७७–७८
३. योगशास्त्र, १/२३
४. योगशास्त्र, १/२३ पर स्वोपज्ञवृत्ति पृ० १२०
५. आचारांगसूत्र, १/५/२/१०७; दशवैकालिकसूत्र, अ० ४
६. योगशास्त्र १/३०, ३१; मूलाचार ३४०; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ७/३

१.	**स्त्री-षण्ढ-पशुमद्वेश्मासनकुड्यान्तरत्याग**	ब्रह्मचारी साधक द्वारा स्त्री, नपुंसक और पशुओं के रहने के स्थान तथा उनके बैठे हुए आसन या आसन वाले स्थान का त्याग करना। इसी प्रकार जहाँ कामोत्तेजक या रतिसहवास के शब्द सुनाई दें, बीच में केवल एक पर्दा, टट्टी या दीवार हो, ऐसे स्थान का भी त्याग करना।
२.	**सरागस्त्रीकथात्याग**	राग उत्पन्न करने वाली स्त्री-कथाओं का त्याग करना अथवा रागपूर्वक स्त्रियों के साथ बातें करने का त्याग करना।
३.	**प्राग्रतिस्मृतिवर्जन (पूर्वरतिविलासस्मरणत्याग)**	ब्रह्मचर्य अवस्था स्वीकार करने से पूर्व अनुभव की हुई रतिक्रीड़ा के स्मरण का त्याग करना।
४.	**स्त्रीरम्यांगेक्षण-स्वाङ्ग-संस्कारपरिवर्जन**	स्त्री के कामवर्धक और मनोहर अंगों की ओर देखने तथा अपने शरीर पर शोभावर्द्धक श्रृंगार प्रसाधन या सजावट का त्याग करना।
५.	**प्रणीतात्यशनत्याग या प्रणीतरसभोजनत्याग**	अति स्वादिष्ट, प्रमाण से अधिक आहार का त्याग करना।

पतञ्जलि के योगसूत्र में भी 'ब्रह्मचर्य' को चतुर्थ महाव्रत माना गया है। भाष्यकार व्यास के अनुसार गुप्तेन्द्रिय अर्थात् उपस्थ का संयम 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है।[१] भावागणेश[२] एवं नागोजीभट्ट[३] ने अष्टविध मैथुन के त्याग को 'ब्रह्मचर्य' कहा है।

५. अपरिग्रह-महाव्रत

इसका जैन आगमोक्त नाम 'सर्वपरिग्रह-विरमण' है। महाव्रती साधक को संयम की सिद्धि हेतु मन, वचन और काय से बाह्य एवं आभ्यन्तर सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए। अविद्यमान पदार्थों में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मूर्च्छा होने से मन में अशांति बनी रहती है और मन में अनेक प्रकार के विकल्पजाल अथवा विकार उठते रहते हैं।

इसलिए आ० हेमचन्द्र ने पदार्थों के त्याग की अपेक्षा उन पर होने वाली मूर्च्छा के त्याग को अपरिग्रह की कोटि में परिगणित किया है।[४] अपरिग्रह की महत्ता का वर्णन करते हुए आ० शुभचन्द्र लिखते हैं कि मन व इन्द्रियों को स्वाधीन करके समस्त परिग्रह से निर्मुक्त साधक ही ध्यान की धुरा को धारण कर सकता है।[५]

---

१. ब्रह्मचर्यगुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । – व्यासभाष्य, पृ० २७८
२. ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुननिवृत्तिः । भावागणेशवृत्ति, पृ० ६२
३. ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुनत्यागः । नागेशभट्टवृत्ति, पृ० ६२
४. योगशास्त्र, १/२४
५. ज्ञानार्णव, १६/४१

अपरिग्रह-महाव्रत की भावनाएँ[1]

अपरिग्रह-महाव्रत की सुरक्षा एवं पुष्टि हेतु जैन ग्रन्थों में पांच भावनाओं का निरूपण हुआ है –

१.	**स्पर्शनेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन**	मनोहर स्पर्शनेन्द्रिय विषयों में राग तथा अप्रिय स्पर्शनेन्द्रिय विषयों में द्वेष का त्याग करना।
२.	**रसनेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन**	रसनेन्द्रिय विषयों में (विभिन्न प्रकार के रसों में) राग-द्वेष का त्याग करना।
३.	**घ्राणेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन**	घ्राणेन्द्रियविषयों में (सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि में) राग-द्वेष का त्याग करना।
४.	**चक्षुरिन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन**	चक्षुरिन्द्रियविषयों (चक्षुरिन्द्रियों से देखे जाने वाले विभिन्न प्रकार के रूपों) में रागद्वेष का त्याग करना।
५.	**श्रोत्रेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन**	श्रोत्रेन्द्रियविषयों (प्रिय-अप्रिय, कोमल-कठोर, सत्य-असत्य वचनों के श्रवण) में रागद्वेष का त्याग करना।

पतञ्जलि के योगसूत्र में भी अपरिग्रह पांचवें महाव्रत के रूप में स्वीकृत है। भाष्यकार व्यास के अनुसार विषयों के अर्जन, रक्षण और क्षय में संगदोष आदि दोषों को देखते हुए उन्हें अस्वीकार करना अपरिग्रह है।[2]

यद्यपि जैन परम्परागत पांच महाव्रत पातञ्जलयोगसूत्रोक्त पांच महाव्रतों के सदृश हैं तथापि जैन परम्परा में उनका व्यापक वर्णन प्रस्तुत हुआ है।

(ख) समिति-गुप्ति (अष्टप्रवचनमाता)

पांच महाव्रतों रूप मूलगुणों की रक्षा एवं विशुद्धि के लिए अशुभभावों की निवृत्ति एवं शुभभावों में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य की सिद्धि हेतु जैन शास्त्रों में मूलगुणों के पश्चात् उत्तरगुणों का विवेचन किया गया है।[3] उत्तरगुणों के अन्तर्गत गुप्तियाँ अशुभ भावों से निवृत्ति की तथा समितियाँ शुभ भावों में सम्यक् प्रवृत्ति की द्योतक हैं।[4] इनसे साधु का चरित्र पवित्र होता है, इसलिए इनको सम्यक्चारित्र कहा जाता है।[5] समितियों एवं गुप्तियों का पालन करने वाला साधु ही गुरु-परम्परा से प्राप्त जैनागमों के सूक्ष्म ज्ञान को माता के समान सुरक्षित रखने में समर्थ हो सकता है, इसलिए शास्त्रों में इन्हें 'अष्टप्रवचनमाता' के नाम से सम्बोधित किया गया है।[6]

१. गुप्ति

'गुप्ति' का अर्थ है – गोपन करना, खींचना या दूर करना। इसलिए मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों का निरोध या निग्रह करना 'गुप्ति' का लक्षण बताया गया है।[7] अशुभ भावों की निवृत्ति का अर्थ

---

१. योगशास्त्र, १/३२, ३३; मूलाराधना, ३४१; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ७/३
२. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। – व्यासभाष्य पृ० २७८
३. पिण्डस्स जा विसोही, समिईओ, भावणा तवो दुविहो।
पडिमा अभिग्गहा विय उत्तरगुणओ वियाणाहि।। – पंचाशकवृत्ति, १५/३१
४. एयाओ पंचसमिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो।। – उत्तराध्ययनसूत्र, २४/२६
५. ज्ञानार्णव, १८/१६; योगशास्त्र, १/३४
६. योगशास्त्र, १/४५; उत्तराध्ययनसूत्र, २४/१
७. (क) पञ्चाहुः समितीस्तिस्त्रो गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात्। – योगशास्त्र, १/३५
(ख) सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। – तत्त्वार्थसूत्र, ६/४

है – शुभ भावों में प्रवृत्ति। शुभभावों में प्रवृत्ति का अर्थ है – अशुभ भावों से निवृत्ति। इसीलिए मन आदि के कुशल भावों के प्रवर्तन एवं अकुशल भावों के निवर्तन को 'गुप्ति' कहा गया है।[१] सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है, वह 'गुप्ति' है।[२] राग-द्वेषादि कषाय संसार के मूल कारण हैं। इसलिए इनसे आत्मा की रक्षा करने के लिए आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र प्रभृति विद्वानों ने मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों के निग्रह (निरोध) को गुप्ति कहा है।[३]

किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति मन, वचन एवं काय द्वारा संभव होने से गुप्ति के भी तीन भेद किये गए हैं – मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।[४]

२. समिति

जहाँ गुप्तियों के द्वारा साधना के निषेधात्मक पक्ष को प्रस्तुत किया गया है, वहाँ समितियाँ साधना के विधेयात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। समितियाँ साधु में दृढ़ता और चारित्रिक विकास लाने के लिए महाव्रतों की रक्षा करती हैं, इसलिए साधुओं के लिए आवश्यक रूप से पालनीय हैं। 'समिति' का अर्थ है – सम्यक् प्रवृत्ति। पाप से बचने के लिए मन की प्रशस्त एकाग्रता 'समिति' कहलाती है। अभयदेवसूरि के अनुसार एक निष्ठा के साथ की जाने वाली शुभ प्रवृत्तियाँ 'समिति' कहलाती हैं।[५] आ० हेमचन्द्र के शब्दों में *पांच प्रकार की चेष्टाओं की तांत्रिक संज्ञा अथवा अर्हत्प्रवचनानुसार की जाने वाली प्रशस्त चेष्टा* 'समिति' है।[६]

समितियों के प्रकार

पांच प्रकार की चेष्टाओं से सम्बद्ध होने से समितियाँ भी पांच प्रकार की मानी गई हैं – १. ईर्यासमिति, २. भाषासमिति, ३. एषणासमिति, ४. आदाननिक्षेपसमिति और ५. उत्सर्ग या व्युत्सर्गसमिति।[७] इनका विवरण इस प्रकार है –

१.	**ईर्यासमिति**[८]	'ईर्या' का अर्थ है – चर्या(गति) और समिति का अर्थ है – सम्यक् प्रवृत्ति करना। अर्थात् गमन-क्रिया में सम्यक् प्रवृत्ति करना।
२.	**भाषासमिति**[९]	विवेकपूर्वक स्वपर के लिए हितकारी, परिमित ओर असंदिग्ध अर्थ को बताने वाली दोषरहित भाषा का प्रयोग करना।
३.	**एषणासमिति**[१०]	एषणा का सामान्य अर्थ है – आवश्यकता या इच्छा तथा विशिष्ट अर्थ है – खोज या गवेषणा। संयतमुनि द्वारा अपनी आवश्यकताओं को सीमित करते हुए विवेकपूर्ण आहारादि ग्रहण करना।

---

१. स्थानांगसूत्र, अभयदेववृत्ति, ११२, पृ० ७५
२. सर्वार्थसिद्धि, ६/२/७८६
३. ज्ञानार्णव, १८/४; योगशास्त्र, १/३४ पर स्वोपज्ञवृत्ति; उत्तराध्ययनसूत्र, ६/२०; तत्त्वार्थसूत्र, ६/४
४. योगशास्त्र, १/४१–४३
५. स्थानांगसूत्र, अभयदेववृत्ति, पत्र ३४३, पृ० २२६
६. योगशास्त्र, १/३४ पर स्वोपज्ञवृत्ति
७. ज्ञानार्णव, १८/३, योगशास्त्र, १/३५
८. ज्ञानार्णव, १८/५–७; योगशास्त्र, १/३६ एवं स्वो० वृ०
९. ज्ञानार्णव, १८/८,९; योगशास्त्र, १/३७
१०. ज्ञानार्णव, १८/१०,११; योगशास्त्र, १/३८

४.	**आदाननिक्षेप-समिति**[१]	शय्या व आसनादि उपकरणों तथा शास्त्र के उपकरणों को आंखों से प्रतिलेखन (देखकर) तथा प्रमार्जन करके सावधानीपूर्वक लेना अथवा रखना।
५.	**उत्सर्ग या व्युत्सर्ग-समिति**[२]	जीव-जन्तुओं से रहित जमीन पर कफ, मलमूत्रादि का सावधानी-पूर्वक त्याग करना।

पतञ्जलि ने महाव्रतों के पालन के मूल में लोभ, क्रोध और मोह के सभी प्रकारों (२७-२७-२७) के प्रति प्रतिपक्ष भावना को समृद्ध करने की चर्चा की है। उसी के समानान्तर जैन-परम्परा में इन गुप्तियों और समितियों की चर्चा स्पष्टीकरण की दृष्टि से की गई है।

(ग) द्वादशानुप्रेक्षा या द्वादशभावना

मोक्षमार्ग में प्रवृत्त साधक को शिथिलता, श्रान्ति अथवा क्लान्ति का अनुभव न हो, उसमें सदा स्फूर्ति बनी रहे, इस दृष्टि से जैन शास्त्रकारों ने अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन की प्ररूपणा की है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है – गहन चिन्तन करना और मन, चित्त तथा चैतन्य को उस विषय में लीन करना, उन संस्कारों को दृढ़ करना।[३] अनुप्रेक्षाओं का बार-बार चिन्तन-मनन करके साधक संस्कारों से अपनी आत्मा को भावित करता है, इसलिए अनुप्रेक्षाओं को भावना भी कहा जाता है।[४] अनुप्रेक्षा और भावना दोनों शब्द एकार्थवाची हैं।

आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र के मतानुसार समत्व के उपायभूत निर्ममत्व को जागृत करने के लिए भाव-शुद्धि होनी आवश्यक है। अतः आत्म-परिणामों को विशुद्ध रखने के लिए वीतराग प्ररूपित भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए।[५] जिसप्रकार महावत उपद्रव से रक्षा करने के लिए बलवान हाथी को आलानस्तम्भ (हाथी को बांधने का खम्भा) से बांध कर रखता है, उसीप्रकार मुनिजन विषयों आदि से मन का संरक्षण करने तथा धर्मानुराग की वृद्धि हेतु भावनाओं को मन में बांधकर रखते हैं। अर्थात् मन से निरन्तर उनका चिन्तन करते हैं।[६] आ० शुभचन्द्र ने अनित्यादि बारह भावनाओं को मोक्ष रूप प्रासाद की सोपान पंक्ति के समान मानते हुए इनकी प्रशंसा की है।[७]

द्वादशभावनाओं का स्वरूप इस प्रकार है[८] –

१.	**अनित्य-भावना**	तीनों लोकों में विद्यमान चेतन और अचेतन सभी पदार्थ अनित्य हैं। धन, वैभव, सत्ता, परिवार आदि सब क्षणभंगुर हैं, ऐसा पुनः-पुनः चिंतन करना।

---

१. ज्ञानार्णव, २८/१२,१३; योगशास्त्र, १/३६
२. ज्ञानार्णव, १८/१४; योगशास्त्र, १/४०
३. (क) अणुप्पेहा णाम जो मणसा परियट्टेइ णो वायाए। – दशवैकालिकचूर्णि, पृ० २६
(ख) शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। – सर्वार्थसिद्धि, ६/२/४०६
(ग) परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनः अभ्यसनं अनुशीलनं सानुप्रेक्षा। – कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, ४६६
४. पासनाहचरियं, ५/४६०
५. ज्ञानार्णव, २/४,५; योगशास्त्र, ४/५५
६. ज्ञानार्णव, २/६
७. ज्ञानार्णव, २/७
८. ज्ञानार्णव, २/८–१६०; योगशास्त्र, ४/५७–१०६

२. **अशरण-भावना** अनित्य संसार में अनेक कारणों से उत्पन्न दुःखों से आक्रान्त जीव को शरण देने वाला कोई नहीं है। मृत्यु के अनिवार्य चंगुल से उसे कोई नहीं बचा सकता, केवल शुभ धर्म ही शरण दे सकता है, इसप्रकार अशरणता का विचार करते हुए संसार से विरक्त हो जाना।

३. **संसार-भावना** सागर में गोते खाते हुए इस आत्मा ने सम्पूर्ण भवों को भोगा है। इसमें से मैं कब छूटूँगा ? यह संसार मेरा नहीं है। मैं मोक्षमय हूँ। इस प्रकार संसार के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन।

४. **एकत्व-भावना** इस दुर्गम संसार रूप मरुस्थल में यह जीव अकेला ही परिभ्रमण करता है, अकेला ही पैदा होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्मों को भोगता है। परलोक की महायात्रा उसे अकेले ही करनी पड़ती है, ऐसा चिन्तन करना।

५. **अन्यत्व-भावना** आत्मा स्वभाव से शरीरादि से भिन्न है। शरीर से भिन्न आत्मा का बन्धु-बान्धव, मित्र आदि से भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार जगत के समस्त पदार्थों व शरीरादि से आत्मा को भिन्न मानते हुए उसका बार-बार चिन्तन करना।

६. **अशुचि-भावना** स्वभाव से मलिन यह शरीर अनेक दुर्गन्धित, अपवित्र अथवा निन्दनीय पदार्थों से बना है। अतः शरीर-संबंधी मोह को नष्ट करने के लिए शरीर की अशुचिता का पुनः चिन्तन करना।

७. **आस्रव-भावना** मन, वचन, काय के व्यापार रूप योग को आस्रव कहते हैं, क्योंकि इन्हीं तीन योगों से कर्म आत्मा में प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् कर्मों का आस्रव होता है। शुभ एवं अशुभ कर्मास्रव के कारणों का चिन्तन करना।

८. **संवर-भावना** जैसे आस्रव-भावना में कर्मों के आने के कारणों पर विचार किया जाता है उसीप्रकार संवर-भावना में कर्मों के आगमन को रोकने के उपायों का विचार किया जाता है। आस्रव के निरोध रूप संवर का बार-बार चिन्तन करना।

९. **निर्जरा-भावना** पूर्वसंचित कर्मों को नष्ट करना निर्जरा है। जिसका मुख्य हेतु तप है। निर्जरा के हेतुभूत तप तथा उसके परिणाम रूप आत्मा के शुद्ध-निर्मल स्वरूप का चिन्तन करना।

१०. **धर्म-भावना** जो विश्व को पवित्र करता है, व उसे धारण करता है, वह धर्म है। धर्म के स्वरूप और उसकी महिमा का चिन्तन करना।

११. **लोक-भावना** लोक के स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति एवं विनाश के विषय में चिन्तन करना।

१२. **बोधि-दुर्लभ-भावना** संसार में भटकते हुए आत्मा को सम्यक् ज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ है और यदि सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो भी जाए तो सर्वविरति रूप चारित्र की प्राप्ति कठिन है। इस प्रकार सम्यक्ज्ञान अर्थात् बोधि की दुर्लभता का बार-बार चिन्तन करना।

इन बारह भावनाओं से जिसका मन निरन्तर भावित रहता है, वह सभी भावों पर ममतारहित होकर समभाव का अवलम्बन लेता है।[१] जब जीव समताभाव से युक्त हो जाता है, तब जीव के समस्त कषाय नष्ट हो जाते हैं। कषाय रूपी अग्नि के विलीन हो जाने से ज्ञान रूपी दीपक विकसित हो जाता है।[२] अतः जीव को निराकुल, अविनश्वर, अतीन्द्रिय सुख प्रदान करने वाली इन भावनाओं का चिन्तन अवश्य करना चाहिए।[३]

जैन-परम्परा में वर्णित द्वादश अनुप्रेक्षाओं/भावनाओं के समकक्ष पातञ्जलयोगसूत्र में यम-नियम की प्रतिपक्षी विघ्न (विरोधी) भावनाओं का अवलम्बन लेने की चर्चा मिलती है।[४] विशेषता इतनी है कि पतञ्जलि ने भावनाओं के नाम, संख्या आदि का निरूपण नहीं किया, जबकि जैनयोग-साधना में इन्हें विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है।

जैन-परम्परा के सदृश पातञ्जलयोगदर्शन में भी भावना और जीव का घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया गया है। उसके अनुसार भावनाओं का चिन्तन करने से आत्म-शुद्धि होती है, चित्त प्रसन्न रहता है।[५] चित्त के प्रसन्न रहने से बुद्धि स्थिर होती है और चित्त की एकाग्रता बनी रहती है।[६] इसलिए वहाँ ईश्वर का बार-बार जप करने का विधान प्रस्तुत किया गया है।[७] वहाँ कहा गया है कि जप के पश्चात् ईश्वर की भावना करनी चाहिए और ईश्वर-भावना के पश्चात् पुनः जप, इस प्रकार बार-बार आवृत्ति करते रहने से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।[८]

(घ) षडावश्यक

'आवश्यक' जैन साधना का मुख्य अंग है। जिस प्रकार श्रावक के लिए देव-पूजा, गुरु-सेवा आदि छः नित्य कर्मों का विधान किया गया है, उसी प्रकार श्रमण के लिए छः आवश्यक क्रियाओं का विधान प्रस्तुत हुआ है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'षडावश्यक'[९] कहा गया है। 'आवश्यक' शब्द 'अवश' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है – 'कषायों से स्वतन्त्रता'।[१०] जो साधु दूसरों के अधीन रहता है, वह इन आवश्यक कर्मों का पालन नहीं कर सकता।[११] परन्तु जो यथार्थतः साधु है, उसके लिए इन कर्मों का पालन करना आवश्यक होता है। गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से पूर्ण रूप से वासित करे अर्थात् गुणों से युक्त करे, वह भी 'आवश्यक' कहलाता है।[१२] जैन शास्त्रों में आवश्यक के छः अंग माने गये हैं, जिनके नाम व स्वरूप इस प्रकार हैं –

---

१. भावनाभिर्विश्रान्तिमिति भावितमानसः।
निर्ममः सर्वभावेषु, समत्वमवलम्बते।। – योगशास्त्र, ४/११०
२. ज्ञानार्णव, २/१६२; योगशास्त्र, ४/११
३. ज्ञानार्णव, २/१६१
४. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३३
५. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम् सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/३३
६. प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते। – व्यासभाष्य, पृ० ११३
७. तज्जपस्तदर्थभावनम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/२८
८. प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रम् संपद्यते। तथा चोक्तम् –
स्वाध्यायात् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।। – व्यासभाष्य, पृ० ६५–६६
९. मूलाचार, २२; उत्तराध्ययनसूत्र, २६/२–४; नियमसार, १४१
१०. नियमसार, १४२; मूलाचार, ५१५; अनगारधर्मामृत, ८/१६
११. नियमसार, १४३
१२. ज्ञानादिगुण-कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्यं क्रियतेऽनेनेत्यावश्यकम्। – आवश्यकसूत्र, मलयगिरिटीका, पृ० ८६

१. सामायिक

सम् उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक 'इण्' धातु से 'समय' शब्द की निष्पत्ति मानी गई है। सम् अर्थात् एकीभाव, अय अर्थात् गमन यानि एकीभाव द्वारा बाह्याभिमुखता से अन्तर्मुखता की ओर गमन करना 'समय' है और समय का भाव 'सामायिक' है।[१] 'सम' का अर्थ राग-द्वेष में मध्यस्थ रहना भी है। अतः मध्यस्थ भावयुक्त साधक की मोक्ष के प्रति जो अभिमुखता है, वह सामायिक है।[२] आ० हेमचन्द्र के अनुसार आर्त्त एवं रौद्रध्यान का त्याग करके धर्मध्यान का अवलम्बन लेकर शत्रु-मित्र, तृण-स्वर्ण आदि में समभाव रखना 'सामायिक' है। चूँकि सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र द्वारा ही समभाव में स्थिर रहा जा सकता है इसलिए शास्त्रों में सामायिक के तीन भेद किये गये हैं – १. सम्यक्त्व सामायिक, २. श्रुत सामायिक, ३. चारित्र सामायिक।[३] सामायिक से जीव सब प्रकार की पापात्मक वृत्तियों से विरक्त हो जाता है।[४]

२. चतुर्विंशतिस्तव

सावद्ययोग से निवृत्त होकर समभाव में स्थिर होने के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है, इसीलिए जैन शास्त्रों में 'चतुर्विंशतिस्तव' नामक द्वितीय आवश्यक का विधान किया गया है। जैनधर्म के प्रवर्त्तक एवं उपदेशक २४ तीर्थंकरों एवं सिद्धों की स्तुति करना 'चतुर्विंशतिस्तव' कहलाता है।[५] आ० हेमचन्द्र लिखते हैं कि चूँकि ये चौबीस तीर्थंकर एक ही क्षेत्र में और वर्तमान अवसर्पिणी रूपी एक काल में हुए हैं, अतः आसन्न (निकट) उपकारी होने से उनकी स्तुति करना परम आवश्यक है।[६] वीतराग तीर्थंकरों की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है।[७] जीव को आध्यात्मिक बल मिलता है तथा साधना का मार्ग प्रशस्त होता है, आन्तरिक चेतना जागृत होती है।

३. वन्दना

तीर्थंकर के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का माना गया है, इसलिए तीर्थंकर की स्तुति के साथ-साथ गुरुत्व को भी आवश्यक माना गया है। मन, वचन एवं काय की शुद्धिपूर्वक सर्वात्मना सद्गुरु को अभिवादन करना 'वन्दना' कहलाता है। गुरुवन्दना से नीच गोत्रकर्म का क्षय और उच्च गोत्रकर्म का बन्ध होता है तथा जीव को अप्रतिहत सौभाग्य व सर्वत्र आदरभाव प्राप्त होता है।[८]

४. प्रतिक्रमण

प्रति उपसगपूर्वक 'क्रम्' धातु के साथ भाव अर्थ में अनट् प्रत्यय लगने से व्युत्पन्न 'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ है वापिस लौटना। आ० हेमचन्द्र के शब्दों में शुभयोग से अशुभयोग में गए हुए आत्मा का फिर से

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१

२. (क) समोराग-द्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः, 'इण् गतौ', अयनं अयो, गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः, समाय एव सामायिकम्। – आवश्यकसूत्र, गा० ८५४ पर मलयगिरिटीका, पृ० ४७४
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, ३४७७

३. आवश्यकनिर्युक्ति गा० ७६६

४. सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ। – उत्तराध्ययनसूत्र, २६/८

५. (क) चतुर्विंशतीनां तीर्थकृतामप्यन्येषां च स्तवाभिधायी चतुर्विंशतिस्तवः। – तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, हरिभद्रवृत्ति, १/२०
(ख) चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणां नामोत्कीर्तनपूर्वकं स्तवो गुणकीर्तनम्, तस्य च कायोत्सर्गे मनसाऽनुध्यानं शेषकालं व्यक्तवर्णपाठः। – योगशास्त्र, ३/१३० पर स्वो० वृ०

६. योगशास्त्र, ३/१२३ पर स्वो० वृ०

७. चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ। – उत्तराध्ययनसूत्र, २६/६

८. उत्तराध्ययनसूत्र, २६/१०

शुभयोग में वापिस लौट आना 'प्रतिक्रमण' है।[1] वस्तुतः धार्मिक क्रियाओं में प्रमाद आदि के कारण या शुद्धोपयोग के अभाव में असावधानी के कारण दोष लगने पर उनकी निवृत्ति के लिए दिन में दो या तीन बार प्रतिक्रमण करने का विधान है, परन्तु आ० हरिभद्र लिखते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण किया जाये। दोषों के अभाव में भी प्रतिक्रमण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि आत्मगुणों की वृद्धि होती है।[2] उन्होंने प्रतिक्रमण को अध्यात्म के अन्तर्गत परिगणित किया है।

५. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग का सामान्य अर्थ है – काय यानि शरीर का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना। लेकिन जीवित रहते हुए शरीर का त्याग करना उचित नहीं, इसलिए यहाँ इसका अर्थ भिन्न है। यहाँ शरीर-त्याग का अर्थ है – शारीरिक चंचलता का त्याग। शरीर से जिनमुद्रा में खड़े होकर अथवा एकाग्रतापूर्वक स्थिर होकर बैठना, शब्द से मौन रहना और मन से शुभ ध्यान करना तथा मन, वचन, काय की समग्र प्रवृत्तियों का त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है।[3] जैन शास्त्रों में कायोत्सर्ग को अत्यन्त महत्ता प्रदान की गई है। इसके द्वारा अतीत और वर्तमान काल के प्रायश्चित्त योग्य दोषों की शुद्धि होती है और जीव प्रशस्त-ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।[4] आ० हेमचन्द्र के अनुसार कायोत्सर्ग से कर्मों की निर्जरा होती है।[5]

६. प्रत्याख्यान

प्रति+आ+ख्यान, इन तीन शब्दों के योग से 'प्रत्याख्यान' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। प्रति – प्रतिकूल प्रवृत्ति, आ – मर्यादापूर्वक और ख्यान – कथन करना, अर्थात् अनादिकाल से विभावदशा में रहे हुए आत्मा के द्वारा वर्तमान स्वभाव से प्रतिकूल मर्यादाओं का त्याग करके अनुकूल मर्यादाओं को स्वीकार करना, प्रत्याख्यान या पच्चक्खाण कहलाता है।[6] प्रत्याख्यान से कर्मास्रव का निरोध होता है, संयम की वृद्धि होती है, विषय-तृष्णा का उच्छेद होता है और पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा होती है। अन्त में साधक एक दिन केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। केवलज्ञान से शाश्वत सुख मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार परम्परा से 'प्रत्याख्यान' मोक्ष फलदाता है।[7]

साधना की दृष्टि से विचार करने पर 'षडावश्यक' को एक सम्पूर्ण अध्यात्मयोग-साधना की भूमिका कहा जा सकता है। इसमें हरिभद्र के अध्यात्मादि पांच योग एवं पतञ्जलि के अष्टांगयोग का समावेश हो जाता है। षडावश्यक का प्रथम अंग सामायिक समतायोग है। चतुर्विंशतिस्तव और गुरुवंदन अध्यात्म-योग के ही प्रकार हैं। प्रतिक्रमण से दोषों का परिमार्जन होता है। कायोत्सर्ग भावना और ध्यान का ही प्रकार है। प्रत्याख्यान 'वृत्तिसंक्षययोग' है।

इसीप्रकार षडावश्यक-साधना में ही पतञ्जलि के अष्टांगयोग की साधना भी समाहित हो सकती है। यही कारण है कि जैन-साधना-पद्धति में प्रतिदिन षडावश्यक-साधना का विधान प्रस्तुत किया गया है।

---

१. योगशास्त्र, ३/१२६ पर स्वो० वृ०
२. प्रतिक्रमणमप्येव सति दोषे प्रमादतः।
तृतीयौषधकल्पत्वाद् द्विसन्ध्यमथवाऽसति।। – योगबिन्दु, ४००
३. योगशास्त्र, ३/१२६ पर स्वो० वृ०
४. उत्तराध्ययनसूत्र, २६/१२
५. योगशास्त्र, ३/१२६ पर स्वो० वृ०
६. वही,
७. वही,

(ङ) दशविध धर्म

जैनाचार्यों ने श्रमण की संयम-साधना को स्थिरता प्रदान करने एवं आत्मविकास हेतु दशविध धर्मों का उल्लेख किया है,[१] जिन्हें तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने 'उत्तमधर्म'[२] कहा है। इस विशेषण के लगाने का एक मुख्य अभिप्राय है – इन धर्मों का विशिष्ट भाव से आचरण करना। आचार्य उमास्वाति के अनुसार उत्तमगुणों से युक्त ये दशविध धर्म अनगार साधु में प्रकर्षतया पाए जाते हैं।[३] ये दशधर्म इस प्रकार हैं –

१.	**क्षमा**	क्रोध का त्याग करना, समभाव रखना।
२.	**मार्दव**	मान-कषाय का निग्रह करना, नम्रता धारण करना।
३.	**आर्जव**	कपटभाव न रखना, सरलभाव से रहना।
४.	**शौच**	लोभ-कषाय का त्याग।
५.	**सत्य**	कष्ट पड़ने पर भी असत्य भाषण न करना।
६.	**संयम**	छः काय के जीवों की रक्षा करना, मन, वचन और काय को वश में करना।
७.	**तप**	१२ प्रकार के तप का आचरण करना तथा अज्ञानतप का त्याग करना।
८.	**त्याग**	भाव-दोषों का परित्याग।
९.	**अकिंचन्य**	शरीर और संयमोपकरण में भी ममत्वभाव न रखना।
१०.	**ब्रह्मचर्य**	कामोत्तेजक वस्तुओं का त्याग करते हुए शीलव्रत का पालन करना।

वस्तुतः उक्त दशधर्मों का व्रतों एवं समिति, गुप्ति आदि के अन्तर्गत समावेश हो जाता है, तथापि समिति, गुप्ति और महाव्रतों में दोष न लगे, इसलिए इनका पृथक् कथन किया गया है। इन दशविध उत्तम धर्मों के पालन से पूर्वसंचित राग-द्वेष, मोहादि का अल्पकाल में ही उपशमन हो जाता है तथा अहंकार, परीषह, कषाय का भी भेदन हो जाता है।

इसप्रकार ये दशविध धर्म बाह्याचरण की अपेक्षा आभ्यंतर परिमाणों एवं भावों की शुद्धता पर अत्यधिक बल देते हैं, जो योग-साधना में भी अपेक्षित हैं। अतः योग-साधना की दृष्टि से इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

(च) परीषहजय

परीषह शब्द अन्वर्थ है। 'परिषह्येते इति परीषहाः' अर्थात् जो सहन करने योग्य हैं, वे परीषह कहलाते हैं। साधना के समय साधक के समक्ष अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिन्हें 'परीषह' कहा जाता है।

साधना-मार्ग में उपस्थित विघ्नों को पार किये बिना जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह पुनः विघ्नों के उपस्थित होने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए जैन-साधना-पद्धति में मुनि को यथाशक्ति दुःख सहन करने अथवा विघ्नों को झेलने की सामर्थ्य उत्पन्न कराने के लिए परीषहों पर विजय प्राप्त करने का विधान है। जैनशास्त्रों में कहा गया है कि मोक्ष-मार्ग से च्युत (पतित) न होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए परीषहों को सहना आवश्यक है।[४] परीषहों को सहन किये बिना न तो आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है और न ही चित्त को स्थिर किया जा सकता है। परिणामस्वरूप साधक ध्यान करने में भी समर्थ नहीं हो पाता।

---

१. स्थानांगसूत्र, १०/१४; समवायांगसूत्र, १०/१; विंशतिविंशिका ११/२
२. उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः। – तत्त्वार्थसूत्र, ९/६
३. इत्येष दशविधोऽनगारधर्मः उत्तमगुणप्रकर्षयुक्तो भवति। – तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ९/६, पृ० ३८४
४. तत्त्वार्थसूत्र, ९/८

अतः साधक को मोक्षमार्ग में उपस्थित होने वाले परीषहों को निभर्यतापूर्वक, जिनभगवान् की भक्ति में तल्लीन होकर आनन्दपूर्वक सहन करना चाहिए।

यद्यपि परीषहों की संख्या के संबंध में संक्षेप में कम और विस्तार में अधिक की कल्पना की जा सकती है, तथापि त्याग के विकास के लिए जैन आगम एवं आगमोत्तरवर्ती साहित्य में विशेष रूप से बाईस परीषह बताए गये हैं, जिनके नाम हैं – १. क्षुधा २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. अचेलकत्व, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५ अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार, २०.प्रज्ञा, २१. अज्ञान और २२ अदर्शन।[१]

उक्त परिषहों को जानकर जो मुनि समत्वभाव से इनको सहन करता है, वही संवर-धर्म का आराधक होता है और कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है।

जिस प्रकार जैन परम्परा में परीषहों को साधनामार्ग में विघ्न स्वरूप माना है, उसीप्रकार पातञ्जलयोग में भी योगसाधना के मार्ग में बाधक अन्तरायों का उल्लेख किया गया है। पतञ्जलि के अनुसार ये अन्तराय चित्तविक्षेप रूप हुआ करते हैं तथा संख्या में ९ हैं – व्याधि, स्त्यान (चित्त की अकर्मण्यता), संशय, प्रमाद, आलस्य, विरति, भ्रान्ति-दर्शन (अविवेक), अलब्ध भूमिकत्व (समाधि की पूर्व भूमिकाओं की अप्राप्ति) और अनवस्थितत्व (चित्त की स्थिरता का अभाव)।[२] कभी-कभी इन नौ अन्तरायों के साथ-साथ विविध दुःख, इच्छाओं की अपूर्णता के कारण चित्त में विक्षोभ, शरीर में कम्पन एवं श्वास-प्रश्वास की अस्थिरता भी अन्तराय के रूप में उपस्थित होते हैं।[३] ये सभी अन्तराय समाधि-साधना के विरोधी हैं, इसलिए अभ्यास और वैराग्य द्वारा इन पर विजय पाने अर्थात् निरोध करने का उपदेश दिया गया है।[४]

इ. जैनयोग और आचार का आधार : कर्मसिद्धान्त

कर्म का अर्थ

कर्म का शाब्दिक अर्थ काय, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी जीव द्वारा किया जाता है वह 'कर्म' है। योगदर्शन में संस्कार के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन-परम्परा में 'कर्म' का क्रिया रूप अर्थ भावकर्म के रूप में मान्य है, किन्तु द्रव्य रूप में क्रिया द्वारा अजीव द्रव्य पुद्गल का आत्मा के संसर्ग में आकर आत्मा को बंधन में डालना है। जीव आत्मा के द्वारा कृत होने से वह 'कर्म' कहा जाता है।[५] जैन-परम्परानुसार 'कर्म' केवल मनुष्यकृत प्रयत्न ही नहीं है अपितु निःस्वभाव नियमन मात्र भी है। 'कर्म' वस्तुतः जड़ पदार्थ है और आत्मा के समान ही स्वाधीन एवं जीव-विरोधी द्रव्य है। जैनमतानुसार कर्म एक ऐसा विश्वव्यापी-जागतिक व्यापार है, जिसके कारण संसार चक्र प्रवाहित है।

जगत की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण कर्म-सिद्धान्त है, जिसे प्रत्येक दर्शन स्वीकार करता है। जीव द्वारा जो कुछ भी कार्य किया जाता है उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है,[६] उसका नाश कथमपि नहीं होता और जिस फल का हम वर्तमान में भोग कर रहे हैं, वह पूर्व जन्म के किए गए कर्म का ही परिणाम है।[७] योग का आधार आचार है और आचार कर्म-सिद्धान्त पर आधृत है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९/२; उत्तराध्ययनसूत्र, २; योगशास्त्र, ३/१५२ पर स्वोपज्ञ वृ०
२. पातञ्जलयोगसूत्र, १/३०
३. दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/३१
४. अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। – व्यासभाष्य १/३२ की अवतरणिका
५. कर्मग्रन्थ, देवेन्द्रसूरि, भा० १, गा० १
६. उत्तराध्ययनसूत्र, ४/३
७. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० २२–२३ (उपोद्घात)

जैन आचार का प्रमुख आधार भी कर्म-सिद्धान्त ही है। आचार के लिए कर्मसिद्धान्त उतना ही आवश्यक है जितना विज्ञान का कार्य-कारण-सिद्धान्त। कर्म मनुष्य को भाग्यवादी एवं निराश बनने से रोकता है, और उसे शुभकर्म की ओर प्रेरित करता है। शुभ धार्मिक क्रियाओं के आचरण से मनुष्य दुःख तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाने में सफल होता है। इस दृष्टि से कर्म-सिद्धान्त का ज्ञान शुद्ध आत्मा की उपलब्धि में सहायक है।[१]

पातञ्जलयोगसूत्र के अनुसार संसार के समस्त बन्धनों का एक मात्र कारण अविद्या है। अविद्या के कारण ही इस जगत में प्राणी मात्र का जन्म-मरण हुआ करता है। अविद्या ही समस्त क्लेशों की जननी है। अविद्या के कारण ही प्राणी कर्म-चक्र में फंसता है। कर्म-चक्र का नियमन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार होता है।

जीव और कर्म

आ० हरिभद्र के अनुसार कर्म-पुद्गल को आकृष्ट करना, उनसे सम्बद्ध होना आत्मा की योग्यता है।[२] आत्मा और पुद्गलों के संयोग की परम्परा भी प्रवाह रूप में अनादि है, क्योंकि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध स्वर्ण तथा मृत्तिका-पिण्ड के सम्बन्ध के समान अनादि है।[३] आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन होने पर भी दोनों स्वभाव से सर्वथा एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं।[४]

जीव यथार्थतः शुद्ध वस्त्र के समान निर्मल एवं निर्दोष है, परन्तु कर्मों के संयोग से उसका यथार्थ स्वरूप आच्छादित हो जाता है और वह बन्धन में पड़ जाता है। जैसे ही कर्मों का आवरण हट जाता है सांसारिक जीव मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव की संसारावस्था और मुक्तावस्था आत्मा और कर्म-पुद्गलों के स्वभाव पर आश्रित है।[५]

कर्मों के भेद

योगसूत्र के अनुसार कर्म चार होते हैं – कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्ल-अकृष्ण। 'कृष्णकर्म' तमोवर्धक होते हैं। केवल दुःख देने से दुरात्माओं के कर्म 'कृष्णकर्म' कहलाते हैं। 'शुक्लकर्म' सत्त्ववर्धक होते हैं। स्वाध्याय एवं तप में संलग्न साधकों के वाक् और मनस् द्वारा किए गए पुण्य कर्मों को 'शुक्लकर्म' कहते हैं। दक्षिणा, दानादि कर्म 'शुक्ल-कृष्ण' कहलाते हैं जो अच्छे उद्देश्य से किए जाने पर भी बाह्य साधनों का आश्रय लेने से दूसरे प्राणियों को कुछ न कुछ हानि पहुँचाते ही हैं। चूँकि योगियों के कर्म बाह्य साधनों से संपादित नहीं होते, इसलिए कृष्ण नहीं होते और योगी अपने कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर या कर्मों के फल को ईश्वर में समर्पित कर कर्म करते हैं, इसलिए उनके कर्म शुक्ल भी नहीं होते। इस प्रकार उनके कर्म अशुक्ल-अकृष्ण हुआ करते हैं।[६] पतञ्जलि का उक्त कर्म-विभाजन जैन-परम्परा के लेश्या वर्णन से प्रभावित प्रतीत होता है।

जैनशास्त्रों में कर्म की आठ मूल प्रकृतियों का निर्देश[७] किया गया है जो प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। उनके नाम हैं – १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय ३. वेदनीय,

---

१. प्रवचनसार, २/३४
२. योगशतक, ११
३. योगशतक, ५७; योगबिन्दु, १६४; पंचाध्यायी, २/५५
४. योगशतक, ५४
५. योगबिन्दु, ६
६. पातञ्जलयोगसूत्र, ४/७
७. पंचाध्यायी, २/६६६

४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय।[1] इनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और नाम – ये चार घातीकर्म हैं, क्योंकि वे आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं।[2] शेष चार अघातीकर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे आत्मा के गुणों का घात नहीं करते।[3]

कर्म-विपाक

पातञ्जलयोगसूत्र के अनुसार कर्मप्रकृति की विशिष्ट अथवा विविध प्रकार की शक्ति और फल देने में अभिमुख होने को 'विपाक' कहते हैं।[4] जैनमतानुसार विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक का नाम 'विपाक' है। क्रोध, लोभ, मोह आदि कषायों के तीव्र, मन्द आदि रूप भावास्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होना 'विपाक' है, अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण के निमित्त से उत्पन्न हुआ वैश्य रूप नाना प्रकार का पाक 'विपाक' है।[5]

कर्म-विपाक के प्रकार

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार शुभाशुभकर्म का फल केवल सुख या दुख की अनुभूति रूप में प्रतीत होता है। देव, मनुष्य, पशु, तिर्यक्, आदि नानाविध योनियों में से उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट योनि को दीर्घकाल अथवा अल्पकाल पर्यन्त धारण करना भी कर्माधीन है, क्योंकि कर्म के मुख्य फल सुख-दुःख के भोगार्थ भोगायतन शरीर की निश्चित काल पर्यन्त स्थिति मानी गई है। इस दृष्टि से पातञ्जलयोगदर्शन में कर्म-विपाक के तीन भेद किए गए हैं – जातिविपाक, आयुर्विपाक तथा भोगविपाक।[6] 'जाति' शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने जन्म अथवा देवादि योनि किया है। वस्तुतः देवादि कोटि के शरीरों के पुरुष का औपाधिक सम्बन्ध 'जन्म' है। इस प्रकार के औपाधिक सम्बन्ध की निश्चित काल पर्यन्त स्थिति 'आयु' है। सुख-दुःखात्मक शब्दादि वृत्ति 'भोग' है।[7]

जैनमत में कर्म प्रकृतियों की संख्या आठ होने से कर्म-विपाक के प्रकारों की संख्या भी आठ मानी गई है। उपा० यशोविजय पतञ्जलि द्वारा कर्म-विपाक को तीन की संख्या में नियत करने पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि केवल जाति (जन्म) का ही नहीं अपितु मरण का भी विपाक होता है। उनके मत में विपाक रूप जन्म से अभिप्रेत है – गतिनाम, जातिनाम, आदि नामकर्मों द्वारा उत्पादित जीव पर्याय।[8] आयु जीवन का पर्याय है जो मनुष्य, नारक, देव, तिर्यंच – चार प्रकार से फलित होता है, इसलिए इन चार गतियों के उत्पादक 'आयुकर्म' को भी चार प्रकार का मानना चाहिए। जाति व आयु को छोड़कर शेष छः कर्म के विपाक रूप फल भोग कहे जाते हैं।[9] इसलिए कर्म-विपाक भी कर्म-प्रकृतियों के आधार पर आठ प्रकार के माने जाने चाहिये।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, ३३/२, ३
२. पंचाध्यायी, २/६६८
३. वही, २/६६६
४. सत्सु कुशलेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति। .....कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति। – व्यासभाष्य, पृ० १६५
५. सर्वार्थसिद्धि, ८/२१/३६८
६. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/१३
७. भोजवृत्ति, पृ० ७३
८. पातञ्जलयोगसूत्र, २/१३ पर यशोविजयवृत्ति, पृ० २२–२३
९. पातञ्जलयोगसूत्र, २/१३ पर यशोविजयवृत्ति, पृ० २३

कर्मों की अवस्थाएँ

जैन-परम्परा में कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं पर गहनता से विचार हुआ है। प्रमुख रूप से इन अवस्थाओं की संख्या दश मानी गई है[1] –

१.	**बन्ध**	कषाय एवं योग के फलस्वरूप कर्म-परमाणुओं के आत्म-प्रदेश से होने वाला सम्बन्ध।
२.	**संक्रमण**	जैन-कर्म-सिद्धान्तानुसार एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्मप्रकृति में परिवर्तित होना।
३.	**उद्वर्तना**	आत्मा द्वारा नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की प्रक्रिया।
४.	**अपवर्तना**	नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा और तीव्रता को घटाना।
५.	**सत्ता**	बन्धने के बाद कर्म का फल तुरन्त नहीं मिलता, कुछ समय पश्चात् मिलता है। कर्म जब तक फल न देकर अस्तित्व रूप में रहता है तब तक की स्थिति।
६.	**उदय**	वह अवस्था, जब कर्म अपना फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।
७.	**उदीरणा**	नियत काल के पूर्व ही प्रयासपूर्वक उदय में लाकर कर्मों के फलों को भोग लेना।
८.	**उपशमन**	कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उनके फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना।
९.	**निधत्ति**	कर्मों की वह अवस्था, जिसमें उद्वर्तन-अपवर्तन के अतिरिक्त संक्रमण आदि नहीं हो सकते।
१०.	**निकाचना**	जिन कर्मों का फल निश्चित स्थिति और अनुभाग के आधार पर भोगा जाता है, जिसके विपाक के भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता।

जैन-परम्परा सम्मत उक्त अवस्थाओं में सत्ता, उपशम, क्षयोपशम विरोधी प्रकृति के उदयादिकृत व्यवधान और उदयावस्था के भाव पतञ्जलि के योगसूत्र में वर्णित क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार – इन चार अवस्थाओं के समकक्ष हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि समस्त कर्मों में 'मोहनीयकर्म' अत्यधिक बलवान होता है। उसी के कारण कर्म-बन्ध का प्रवाह सतत बना रहता है। जब तक मोहनीयकर्म प्रबल और तीव्र रहता है, तब तक अन्य कर्मों का बन्धन भी प्रबल और तीव्र रहता है। जैसे ही मोहनीयकर्म का दबाव कम होना प्रारम्भ होता है, वैसे ही आत्मा पर से अन्य कर्मों का आवरण भी क्षीण होता जाता है और आत्मा का यथार्थ स्वरूप विकसित होने लगता है।[2]

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार विकास की सर्वोच्च सीमा को प्राप्त करने वाला जीव ही ईश्वर है, परमात्मा है। जैन-परम्परानुसार कर्मावरणों से मुक्त जीव सर्वज्ञ है और सर्वज्ञ ही ईश्वर है।[3] पातञ्जलयोगसूत्र में भी क्लेशों, कर्मों एवं संस्कारों से पूर्णतया अलिप्त रहने वाले सर्वज्ञ, अनन्त शक्ति-सम्पन्न पुरुष विशेष को

---

१. गोम्मटसार, (कर्मकाण्ड), गा० ४३७
२. कर्मग्रन्थ, भाग ४, प्रस्तावना, पृ० ११
३. जिनवाणी, पृ० ४३

ही ईश्वर की संज्ञा दी गई है।[1] जीव या पुरुष ही अपनी कर्मों से आवृत्त तथा अविकसित शक्तियों को आत्म-बल के द्वारा क्षीण कर आत्म-शक्तियों को विकसित करने में समर्थ होता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर जीव ही परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। अतः प्रत्येक आत्मा अपने प्रयत्न विशेष (पुरुषार्थ) से परमात्मा बन सकता है।

ई. भाग्य, पुरुषार्थ और कर्म

जैनदर्शन के इस कर्म-सिद्धान्त में कर्म की प्रधानता के साथ-साथ भाग्य और पुरुषार्थ दोनों को महत्ता प्रदान की गई है। आ० हरिभद्र एवं उपा० यशोविजय ने जीव को कर्म करने के लिए प्रेरित करते हुए भाग्य, पुरुषार्थ और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को सरल व सुबोध भाषा में समझाने का प्रयास किया है। अतीत में किये गये शुभ या अशुभकर्म ही भाग्य कहलाते हैं और वर्तमान में किये जाने वाले कर्म पुरुषार्थ कहे जाते हैं।[2] भाग्य वस्तुतः पुरुषार्थ की ही सन्तान है। अतीत में किए गए कर्म उस समय के पुरुषार्थ ही तो हैं। पुरुषार्थ से ही वर्तमान में नए जीवन का सूत्रपात किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं।[3] व्यक्ति का वर्तमान जीवन समग्र रूप से पूर्व संचित कर्मों द्वारा निर्धारित है। पूर्व संचित कर्मों के बिना उसका जीवन-व्यापार नहीं हो सकता और वर्तमान में जब तक मनुष्य पुरुषार्थ नहीं करता, तब तक उसे संचित कर्मों का फल भी नहीं मिलता।[4] भाग्य जब दुर्बल होता है तो वह पुरुषार्थ द्वारा उसकी दुर्बलता को प्रभाव-शून्य कर देता है। और जब पुरुषार्थ दुर्बल होता है तो भाग्य उसी दुर्बलता को प्रभाव-शून्य कर देता है।[5] इस प्रकार भाग्य और पुरुषार्थ दोनों की स्थिति प्रधान-गौण भाव से अपने-अपने स्वभाव पर टिकी हुई है। जब जो प्रधान होता है, तब वह दूसरे को उपहृत करता है।[6] अन्तिम पुद्गलपरावर्त में भाग्य पुरुषार्थ द्वारा उपहृत होता है जबकि उससे पूर्ववर्ती पुद्गलावर्तों में पुरुषार्थ भाग्य द्वारा उपहृत रहता है।[7] अन्तिम पुद्गलपरावर्त में पुरुषार्थ करके ग्रन्थि-भेद की स्थिति प्राप्त होती है।[8] इस स्थिति में नियमपूर्वक धर्मसाधनोचित प्रवृत्ति से जीव के संचित कर्मों का क्षय हो जाता है।[9] कर्मों का सम्बन्ध अतीत और वर्तमान दोनों के व्यापारों से होता है। अतः एकान्ततः भाग्य पर या पुरुषार्थ पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। वर्तमान में केवल भाग्य पर निर्भर न रहकर पुरुषार्थ को अधिक महत्ता दी जानी चाहिए क्योंकि पुरुषार्थ में वह शक्ति है, जो भाग्य को भी परिवर्तित कर देती है। अतः कर्मों से मुक्ति पाने के लिए पुरुषार्थ आवश्यक है।

चूँकि योग का आधार आचार है, और आचार से ही साधक आध्यात्मिक विकास करता हुआ परम लक्ष्य तक पहुँचता है, इसलिए पातञ्जल एवं जैन – दोनों योग-परम्पराओं में आचार को प्रमुखता प्रदान की गई है।

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। सः एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/२४–२६

२. दैवं नामेह तत्त्वेन कर्मैव हि शुभाशुभम्।
तथा पुरुषकारश्च स्वव्यापारो हि सिद्धिदः ।।
दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम्।। – योगबिन्दु, ३१६, ३२५

३. योगबिन्दु, ३२०, ३२४; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १७/,११,१२

४. योगबिन्दु, ३२१, ३२६; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १७/५,६,१३

५. योगबिन्दु, ३२७

६. योगबिन्दु, ३३६; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १७/२६

७. योगबिन्दु, ३३७

८. योगबिन्दु, ३३८; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, १७/२७

९. योगबिन्दु, ३४०

पातञ्जलयोगसूत्र में कैवल्य की प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य, क्रियायोग तथा अष्टांगयोग का विधान प्रस्तुत है, जबकि मोक्ष-प्राप्ति के साधनों के सम्बन्ध में जैन-परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप त्रिविध आयामी योग का विवेचन किया गया है।

जैन-परम्परा की यह विशेषता है कि इसमें ज्ञानयोग एवं क्रियायोग का सुन्दर समन्वय है। एकांगी ज्ञान और एकांगी सदाचार अर्थात् अविवेकपूर्ण आचार और सदाचार-विहीन ज्ञान दोनों को ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए अयोग्य समझा गया है।

जैन-परम्परा सम्मत सम्यग्दर्शन का स्वरूप पातञ्जलयोगसूत्र में उल्लिखित 'विवेकख्याति' में देखा जा सकता है। पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों में वर्णित ईश्वर-प्रणिधान एवं स्वाध्याय की चर्चा में सम्यग्दर्शन की ही भावना बीज रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देती है।

सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्षी भाव 'मिथ्यात्व' का स्वरूप पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित 'अविद्या' के समकक्ष है। जैन-परम्परा की मान्यता है कि मिथ्यात्व के घोर अंधकार में डूबे सभी व्यक्ति सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते। इस मान्यता के विरुद्ध पातञ्जलयोगसूत्र में सभी व्यक्ति समान रूप से योग-साधना के अधिकारी माने गये है।

जिसप्रकार जैनदर्शन में जीव और अजीव दो तत्त्व प्रमुख माने गये हैं उसीप्रकार पुरुष और प्रकृति तथा चेतन और जड़ ये दो तत्त्व पातञ्जलयोगसूत्र में भी स्वीकृत हैं। जैनदर्शन का जीव तो पातञ्जलयोगसूत्र के पुरुष के सदृश है परन्तु अजीव तत्त्व को पातञ्जलयोग सम्मत प्रकृति के सदृश मानना अनुचित है। यद्यपि अजीव तत्त्व, प्रकृति के समान ही स्वाधीन, स्वतन्त्र, अनादि और अनन्त है, तथापि उनमें भेद एकत्व-अनेकत्व को लेकर है। अजीव अनेक हैं परन्तु प्रकृति एक ही है। जैन मतानुसार अजीव के पांच भेद – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल की चर्चा पातञ्जलयोगसूत्र में नहीं मिलती। वहाँ व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। जैनदर्शन तत्त्व अर्थात् द्रव्य को परिणामी नित्य मानता है जबकि योगदर्शन में पुरुष (नामक तत्त्व) की कूटस्थ नित्यता स्वीकार की गई है। जैनदर्शन सम्मत वस्तु की त्रिगुणात्मकता पातञ्जलयोगसूत्र के धर्म-धर्मी के स्वरूप विवेचन में दृष्टिगोचर होती है। जैन-परम्परा में सम्यग्ज्ञान को मोक्ष का द्वितीय एवं अनिवार्य साधन माना गया है, जबकि पातञ्जलयोगसूत्र में कैवल्य-प्राप्ति के उपायों में ज्ञान का स्पष्टतः कहीं उल्लेख नहीं हुआ।

जैन-परम्परा का साधना-मार्ग साधक की योग्यता के अनुसार कई सोपानों में विभाजित है। सबसे निम्न भूमिका संसारी जीव की है। उनमें भी मनुष्यों में गृहस्थ की भूमिका निम्न है। सबसे उच्च भूमिका मुनि की है। जैन-परम्परा में गृहस्थ एवं मुनि के लिए पृथक्-पृथक् आचार का विधान है। मुनि अथवा श्रमण का आचार पूर्णतः त्यागमय होता है, जबकि गृहस्थ अथवा श्रावक का आचार आंशिक। श्रमण का ध्येय पूर्ण रूप से आध्यात्मिक विकास होता है, जबकि श्रावक व्यावहारिक जीवन में ही अपनी समस्याओं के आध्यात्मिक समाधान की इच्छा करता है। गृहस्थ के साधना-मार्ग को भी अनेक प्रतिमाओं के रूप में कई सोपानों में विभाजित किया गया है। मुनि का साधना-मार्ग भी गुणस्थानों और उनमें आचरणीय चारित्रों की विविधता के कारण कई सोपानों में विभाजित है। साधना-मार्ग के सभी सोपानों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन पाँच मूलभूत व्रतों को विशेष स्थान दिया गया है। इसप्रकार जैनाचार अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

जैन-परम्परा में श्रावक के लिए अणुव्रतों एवं श्रमण के लिए महाव्रतों का जो विधान प्रस्तुत हुआ है, वह पातञ्जलयोग-परम्परा में वर्णित यम-नियम के अनुरूप ही हैं। जैन-साधना में वर्णित दश धर्मों में संयम और तपधर्म पातञ्जलयोगसूत्र में स्वीकृत प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि से साम्य रखते हैं। इस प्रकार दोनों का लक्ष्य एक ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

जैनयोग में मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण कर्मों का नाश अनिवार्य माना गया है, क्योंकि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादिकालीन और प्रगाढ़ है। कर्म के कारण ही आत्मा संसार में भटकती है। जैनयोग के अनुसार कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता आत्मा ही है। अतः कर्म और आत्मा का वियोग नितान्त आवश्यक है। जैनयोग के समान पातञ्जलयोग-परम्परा में भी बन्ध और मोक्ष पुरुष के ही माने गये हैं।

कर्म-सिद्धान्त का सम्बन्ध भाग्य और पुरुषार्थ दोनों से है। जैनयोग-परम्परा में स्पष्ट रूप से साधक को निर्देश दिया गया है कि केवल भाग्य पर निर्भर रहने से न ही जीवन रूपी गाड़ी चलती है और न ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है, जो आचार अथवा चारित्र के रूप में वर्णित है। इसप्रकार स्पष्ट है कि जैन-परम्परा पातञ्जलयोग-परम्परा की अपेक्षा वैशिष्ट्य रखती है।

पंचम अध्याय

आध्यात्मिक विकासक्रम

योग मोक्ष का हेतु है। मोक्ष से तात्पर्य है – आत्म-विकास की पूर्णता। दूसरे शब्दों में विशुद्ध आत्म-स्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष है, जो कर्मों के क्षय से प्राप्त होती है।[१] जिसप्रकार खान में स्थित स्वर्ण बाह्य एवं आन्तरिक मल से युक्त होने के कारण अपनी वास्तविक चमक-दमक से विरहित होता है, उसी प्रकार आत्मा जब तक संसारावस्था में है, तब तक वह अनेकविध आवरणों से आवेष्टित रहता है।[२] अतः उसका वास्तविक, सहज स्वरूप भी व्यक्त नहीं हो पाता। उसके ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य आदि गुण विकृत, मलिन और अपूर्ण रहते हैं। इन गुणों का पूर्णतया प्रकट होना ही मोक्ष है। ज्यों-ज्यों आत्मा पर से कर्मावरण हटते जाते हैं त्यों-त्यों आत्मा का स्वरूप उज्ज्वल होता जाता है तथा उसके स्वाभाविक गुण विकसित होने लगते हैं। आत्मा के स्वरूप की उज्ज्वलता एवं उसके गुण के विकास का परम प्रकर्ष ही मोक्ष है।

जीव को आत्मिक विकास की यह पूर्णता सहसा तथा एक ही प्रयास में अधिगत नहीं होती। इसके लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। अनेक जन्मों की साधना से जीव उस पूर्ण विकास को पाने में समर्थ बनता है। अतः आध्यात्मिक विकास को व्यावहारिक भाषा में चारित्र विकास कहा जा सकता है। विकास के क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्भावित साधनों को सोपान-परम्परा की तरह प्राप्त करता हुआ जीव अन्त में चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। आध्यात्मिक विकासक्रम में ही वैराग्य तथा समता का भाव उदित होता है, जो योग का प्रमुख अंग है।[३] अतः मोक्ष के साधन के रूप में जब योग का विचार किया जाता है तब उसमें आध्यात्मिक विकास की झलक स्वतः ही दृष्टिगत होने लगती है। आध्यात्मिक विकासक्रम में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की सभी अवस्थाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। इस विषय के सम्बन्ध में भारत के प्रायः सभी दर्शनों ने पृथक्-पृथक् ढंग से विचार किया है। परिभाषा तथा वर्णनशैली भिन्न होने पर भी उनके विचारों में प्रायः समानता ही दृष्टिगोचर होती है।

अ. पातञ्जलयोग-मत

पातञ्जलयोगसूत्र में योग की परिभाषा देते हुए चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग को साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि चित्त-विकल्प ही समस्त दुःखों का मूल है, जो राग या आसक्ति जनित है। राग या आसक्ति होने पर ही चित्त-विकल्प होते हैं। समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिए चित्त का निर्विकल्प होना आवश्यक है। पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य में आध्यात्मिक विकासक्रम में चित्त की पाँच भूमिकाओं का वर्णन हुआ है – क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।[४] इनमें पहली (क्षिप्त) और दूसरी

---

१. कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। – तत्त्वार्थसूत्र, १०/२
२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ८
३. योगस्य पन्थाः परमस्तितिक्षा ततो महत्यात्म-बलस्य पुष्टिः। – अध्यात्मतत्त्वालोक, ४/११
४. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः। – व्यासभाष्य, पृ० २

(मूढ़) अवस्था अविकास की भूमिकाएँ हैं। तीसरी विक्षिप्त भूमिका विकास और अविकास दोनों का संयुक्त रूप है क्योंकि इस अवस्था में विकास प्रारम्भ होने पर भी मुख्यतः अविकास ही होता है। इसलिए इन तीनों अवस्थाओं में योग नहीं होता। चौथी एकाग्रभूमि एवं पांचवी निरुद्धभूमि विकासकालीन अवस्था की सूचक हैं। एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञातयोग और निरुद्धभूमि में असम्प्रज्ञातयोग माना गया है। सम्प्रज्ञातयोग में स्थूल अथवा सूक्ष्म आलम्बन होता है, जबकि असम्प्रज्ञातयोग निरालम्ब होता है इसलिए उसे निर्बीज व संस्कारशेष कहा गया है।[1] उक्त पांच अवस्थाओं के लक्षण इस प्रकार हैं :-

१. क्षिप्तचित्त

'क्षिप्त' का अर्थ है, फेंका हुआ अर्थात् विषयों में फेंका गया चित्त। यह चित्त की रजोगुण प्रधान अवस्था है। इस अवस्था में चित्त रूप, रस, गन्ध आदि विषयों में रमण करने से अत्यन्त अस्थिर होता है इसलिए यह अवस्था 'क्षिप्त' कहलाती है।

२. मूढ़चित्त

यह चित्त की तमोगुण प्रधान अवस्था है। जिस अवस्था में चित्त मूर्खवत् हो जाए अर्थात् कृत्याकृत्य को भूल जाए उसे 'मूढ़' कहते हैं। इस अवस्था में चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की ओर आसक्त होकर उनमें ही रमण करने लगता है। इसमें आत्माभिरुचि और ज्ञानाभिरुचि का अभाव रहता है तथा जीव आलस्य एवं निद्रावृत्ति वाला हो जाता है।

३. विक्षिप्तचित्त

'विक्षिप्त' का अर्थ है – क्षिप्त से विशिष्ट। क्षिप्तभूमि में रजोगुण की प्रबलता के कारण चित्त कभी भी समाहित नही हो सकता, परन्तु विक्षिप्त अवस्था में सत्त्वगुण की प्रबलता के कारण कभी-कभी वह समाहित भी हो जाता है। इस अवस्था की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें सत्त्वगुण का आधिक्य होने पर भी रजोगुण और तमोगुण की उपस्थिति रहती है। परिणामस्वरूप उसमें शुभ और अशुभ के बीच संघर्ष चलता रहता है। इसलिए इस अवस्था में चित्त व्याकुल या व्यग्र हो जाता है। तथापि कभी-कभी प्रशस्त विषयों का अनुभव करने के कारण चित्त की इस अवस्था को 'विक्षिप्त' कहा जाता है।

४. एकाग्रचित्त

'एकाग्र' शब्द का अर्थ है – चित्त के अग्रभाग पर एक ही विषय में लगा होना। आत्मचेतना के पूर्णतः जागरूक होने पर जब चित्त विषयों से विमुख होकर सतत एक ही ध्येय में लगा रहता है तो चित्त की वह अवस्था 'एकाग्र' कहलाती है।

५. निरुद्धचित्त

'निरुद्ध' का अर्थ है – रोका गया चित्त, अर्थात् जो अपनी वृत्तियों से पृथक् कर दिया गया हो। एकाग्रभूमि में अन्य वृत्तियों के हटने से चित्त में एक ही ध्येय की वृत्ति रहती है, परन्तु निरुद्धभूमि में वह वृत्ति तथा उसके संस्कार भी लय कर दिये जाते हैं। इसलिए एकाग्र और निरुद्ध, दो ही भूमियों में योग (समाधि) हो सकता है, आरम्भिक तीन भूमियों में नहीं। निरुद्धावस्था में चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है, केवल संस्कार मात्र शेष रहते हैं।

---

१. क) विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः । – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१८
ख) सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः। .....तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः। – व्यासभाष्य, पृ० ६४–६५

आ. जैनयोग-मत

प्राचीन जैन आगमों में आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्धित विचार व्यवस्थित रूप में उपलब्ध होते हैं। उनमें जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान और भाव नाम से जीवों की विविध अवस्थाओं का वर्णन हुआ है। 'जीवस्थान' के वर्णन से यह जाना जा सकता है कि जीवस्थान रूप चौदह अवस्थाएँ जाति सापेक्ष हैं अर्थात् शारीरिक रचना के विकास या इन्द्रियों की न्यूनाधिक संख्या पर निर्भर हैं। 'मार्गणास्थान' के बोध से यह विदित होता है कि सभी मार्गणाएँ जीव की स्वाभाविक अवस्था रूप नहीं हैं। 'गुणस्थान' आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने वाले आत्मा की उत्तरोत्तर विकाससूचक भूमिकाएँ हैं। 'भावों' की जानकारी से यह निश्चय हो जाता है कि 'क्षायिक' भावों को छोड़कर अन्य सब भाव, चाहे वे उत्क्रान्ति काल में उपादेय क्यों न हों, पर अन्त में हेय ही हैं।[1]

आध्यात्मिक विद्या के प्रत्येक साधक की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आत्मा किस प्रकार और किस क्रम से आध्यात्मिक विकास करता है तथा उसे विकास काल में किस-किस प्रकार की अवस्था का अनुभव होता है। इस दृष्टिकोण से अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा 'गुणस्थान' का महत्व अधिक है।[2]

मूल आगम तथा आगमोत्तर साहित्य में आत्मविकास का क्रमिक, व्यवस्थित एवं स्पष्ट वर्णन मिलता है। जैनदर्शन में आत्मविकास का गहरा तथा सूक्ष्मतम चिन्तन किया गया है। जैन दार्शनिक भाषा में विकास की इन भूमिकाओं को 'गुणस्थान' कहा जाता है, जिनकी संख्या चौदह है। पहली भूमिका एकान्त अविकास की है। दूसरी-तीसरी अवस्था में अल्पतम विकास योग्यता (जिसमें प्रबलता अविकास की ही है) होती है। चौथी अवस्था आत्मा के विकास की दृष्टि से प्रथम सोपान मानी जाती है। इसके आगे के गुणस्थान आत्मा के क्रमिक विकास के सूचक हैं। अन्तिम १४वीं अवस्था में विकास पूर्ण हो जाता है और जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

कुछ स्वतन्त्र चिन्तकों ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा[3] या अशुभोपयोग, शुभोपयोग व शुद्धोपयोग[4] इन तीनों सोपानों में आध्यात्मिक विकास के क्रम को निरूपित किया है। आगमोत्तर साहित्य में आ० हरिभद्र, आ० शुभचन्द्र, आ० हेमचन्द्र तथा उपा० यशोविजय आदि विद्वानों ने इस पर पर्याप्त रूप से लिखा है। आ० हरिभद्र ने उक्त विविध निरूपणों से पृथक् स्वतन्त्र रूप से आध्यात्मिक विकास व योगसाधना के क्रमिक सोपानों का निरूपण किया है। उन्होंने अविकास को ओघदृष्टि और विकास को सद्दृष्टि के नाम से अभिहित कर सद्दृष्टि के आठ भेद किये हैं। इन आठ योगदृष्टियों में से प्रथम चार दृष्टियों में विकास होने पर भी अज्ञान तथा मोह की प्रबलता रहती है। पश्चात्वर्ती चार दृष्टियों में ज्ञान तथा चारित्र की प्रबलता और अज्ञान तथा मोह की क्षीणता होती जाती है। यह रूपान्तर से गुणस्थानों का ही वर्णन है। इसके अतिरिक्त आ० हरिभद्र ने योगबिन्दु में अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय, इन पांच भागों का; योगविंशिका में स्थान, ऊर्ण, वर्ण, आलम्बन और अनालम्बन, इन पांच साधनों का तथा योगशतक व योगबिन्दु में अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति एवं सर्वविरति से पूर्णता तक जीव की अवस्थाओं का वर्णन किया है।

आ० शुभचन्द्र ने प्राचीन जैन आगमों तथा पूर्ववर्ती आगमोत्तर ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्धित जीव की विविध अवस्थाओं के सूचक जीवस्थान, मार्गणास्थान,

---

१. चौथा कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना, पृ० ८, ६
२. चौथा कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना, पृ० ८, ६
३. मोक्षप्राभृत, ४; समाधितंत्र १४; द्रव्यसंग्रह, टीका, १४/४६; कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, १६२; ज्ञानार्णव, २६/५; योगशास्त्र, १२/७; अध्यात्मसार, ७/२०/२०,२१; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २०/१७, १८
४. भावप्राभृत, ७६; प्रवचनसार, २/६३; ज्ञानार्णव, ३/२८

गुणस्थान और भावों का उल्लेख तो किया है, परन्तु 'ध्यान' प्रधान अपने ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' में ध्यान के अधिकारियों के प्रसंग में गुणस्थान-परम्परा का विशेष ध्यान रखा है। साथ ही आगमोत्तरवर्ती स्वतन्त्र चिन्तकों के मतानुकूल बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तथा अशुभोपयोग, शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग का वर्णन भी किया है।

आ० हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में यद्यपि प्राचीन जैनागमों की गुणस्थान-परम्परा के अनुकूल ही विषय का वर्णन किया है, तथापि स्वानुभव के आधार पर मन की चार अवस्थाओं – १. विक्षिप्त, २. यातायात, ३. श्लिष्ट, और ४. सुलीन का निरूपण भी किया है। यह उनकी निजी व स्वतन्त्र कल्पना है। उपा० यशोविजय ने भी गुणस्थान-परम्परा का ही आश्रय लेते हुए हरिभद्र के ग्रन्थों में वर्णित आध्यात्मिक विकास के विविध वर्गीकरण को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनकी यह विशेषता है कि उन्होंने पातञ्जलयोग-परम्परा में वर्णित चित्त की पांच भूमिकाओं का जैन परम्परानुसार वर्णन कर दोनों में साम्य दर्शाने का प्रयास भी किया है।

(क) गुणस्थान - अर्थ और स्वरूप

गुण' शब्द से तात्पर्य है – आत्मा की दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप स्वाभाविक विशेषताएँ (शक्तियाँ)।[१] 'स्थान' का अर्थ है – इन शक्तियों की शुद्धता की तरतमभावयुक्त अवस्थाएँ।[२] सांसारिक अवस्था में आत्मा के सहज गुण विविध आवरणों से आवृत्त होते हैं। जितनी अधिक मात्रा में आवरणों का क्षय होगा, उतने ही अधिक परिमाण में उनके गुणों में अभिवृद्धि होगी। आवरण जितनी कम मात्रा में क्षीण होंगे, उतनी ही कम मात्रा में उनके गुणों की वृद्धि होगी। इसप्रकार आत्मिक गुणों की शुद्धि के प्रकर्ष या अपकर्ष के असंख्य प्रकार सम्भव हैं। परन्तु जैनाचार्यों ने उन्हें चौदह भागों में विभक्त किया है, जिन्हें 'गुणस्थान' कहा जाता है। आ० नेमिचन्द्र ने जीवों को ही 'गुण' कहा है।[३] विद्वानों के मत में 'गुणस्थान' यह अन्वर्थ संज्ञा है, क्योंकि कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा उदयादि के बिना केवल स्वभाव मात्र की अपेक्षा से होने वाले भाव 'गुण' शब्द से व्यवहृत किये गये हैं। चौदह जीवस्थान इन पांच भावों के आधार पर निष्पन्न हैं, इसलिए जीवस्थान को ही 'गुणस्थान' भी कहा गया है।[४] गोम्मटसार में 'गुणस्थान' के लिए 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।[५]

गुणस्थान-परम्परा

प्राचीन श्वेताम्बर जैनागमों में कहीं भी 'गुणस्थान' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। केवल समवायांगसूत्र में कर्मविशुद्धि के तारतम्य के आधार पर चौदह जीवट्ठाणों (जीवस्थानों) का व्यवहार हुआ है।[६] समवायांगसूत्र के पश्चात्वर्ती साहित्य में 'जीवस्थान' के स्थान पर 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग करने की परम्परा प्रारम्भ हुई। 'समवायांगसूत्र में वर्णित 'जीवस्थान' को ही कर्मग्रन्थों में 'गुणस्थान' कहा गया है।[७]

---

१. क) तत्र गुणः ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाः जीवस्वभावविशेषाः। – कर्मग्रन्थ टीका, भाग २, गा० २
   ख) **Here the word 'virtue' does not mean an ordinary moral quality but it stands for the nature of the soul, i.e. the knowledge, belief and conduct. — Jain Philosophy, 205**
२. जैन धर्म का प्राण, पृ० ८७
३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ७
४. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ८; प्राकृतपंचसंग्रह, १/३
५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १०; द्रव्यसंग्रह, १३
६. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता। – समवायांगसूत्र, १४/४/६५
७. समयसार, ५५; प्राकृतपंचसंग्रह, १/३–५; कर्मग्रन्थ ४/१; गोम्मटसार (जीवकाण्ड), २; द्रव्यसंग्रह, १३

दिगम्बर जैन-परम्परा में प्रथम आगम के रूप में मान्य षट्खण्डागम में भी चौदह गुणस्थानों का वर्णन मिलता है।[१] षट्खण्डागम की धवला टीका में 'गुणस्थान' के स्थान पर 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग देखने में आता है। तदानुसार जीव चूंकि गुणों में रहता है, इसलिए उसे 'जीवसमास' कहते हैं।[२] संक्षेप और ओघ गुणस्थान के पर्यायवाची शब्द माने गये हैं।[३]

औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक गुण तो जीव में कर्म की अवस्थाओं से सम्बन्धित होते हैं किन्तु पारिणामिक एक ऐसा गुण है जिसमें किसी कर्म की अपेक्षा नहीं होती, वह स्वाभाविक है। अतः इस गुण के कारण जीव को भी गुण कहा जाता है। सम्भव है कि गुण की मुख्यता से ही पश्चात्वर्ती साहित्य में 'जीवस्थान' की अपेक्षा 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग हुआ हो। इसप्रकार आगमों और पश्चात्वर्ती साहित्य में शाब्दिक भेद होने पर भी 'गुणस्थान' शब्द आगमों के 'जीवस्थान' के आशय को ही प्रकट करता है।

गुणस्थान क्रमारोहण का मुख्य आधार

आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय – ये चार आत्मशक्ति को आच्छादित करने वाले (घाती) कर्म हैं[४] और इनमें भी मोहनीयकर्म प्रधान एवं सघनतम है। जब तक मोहकर्म बलवान और तीव्रतम रहता है तब तक अन्य सभी कर्मावरण सबल एवं तीव्र बने रहते हैं। जैसे ही मोहनीयकर्म निर्बल होने लगता है वैसे ही अन्य कर्मावरणों की स्थिति भी निर्बल होती जाती है।[५] अतः आत्मा के विकास में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता है। मोहनीयकर्म की प्रबलता ही जीव की अज्ञानता का कारण है, जिसके परिणामस्वरूप जीव अपने यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ होता है।[६] मोह के नष्ट होते ही सब घातीकर्म नष्ट हो जाते हैं और जीव को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा वह मुक्त हो जाता है। इसलिए आत्मा के विकास की क्रमागत अवस्थाएँ (गुणस्थानों का क्रम) मोह शक्ति की उत्कटता और मंदता तथा क्षीणता पर आधारित हैं। मोहनीयकर्म के कारण आत्मा तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) और तदनुकूल प्रवृत्ति (सम्यक्चारित्र) नहीं कर पाता। मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं, जिन्हें दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कहते हैं।[७] दर्शनमोहनीय के कारण स्व-पर रूप का निर्णय (विवेक) नहीं हो सकता[८] और चारित्रमोहनीय कर्म आत्मा को विवेक प्राप्त हो जाने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करने देता।[९]

व्यवहारतः वस्तु का यथार्थ बोध (दर्शन) होने पर उस वस्तु को प्राप्त करने या त्याग करने का प्रयास किया जाता है। आध्यात्मिक विकासगामी आत्मा भी इन दोनों मुख्य कार्यों में प्रवृत्त होता है -- स्वरूपदर्शन और तदनुसार प्रवृत्ति। दर्शनमोह रूप प्रथम शक्ति के प्रबल होने पर चारित्रमोह रूप दूसरी शक्ति भी

---

१. षट्खण्डागम, १/१/६.२२, १/१/२७
२. जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः। क्वासते (?) गुणेषु। – धवला, पुस्तक, १, पृ० १६१
३. (क संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा.....। – गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), गाथा २ पृ० ३
(ख) ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी। – षट्खण्डागम, १/१/६
४. धवला, पुस्तक, ७ पृ० ६२; पंचाध्यायी, २/६६८
५. तत्त्वार्थसूत्र, १०/१; ज्ञानार्णव, २१/३७; दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, ५/१२
६. **It should be noted that the limitation of the self consists primarily in its forgetfulness of its true nature, which is due to the influx of the Mohniya or the deluding Karma in it. The inflow of the Mohniya prepares the self for the further absorption of other form of the Karma. — Jain Moral Doctrine, p. 68**
७. तत्त्वार्थसूत्र, ८/६
८. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, ८/६/२
९. वही, ८/६/३

प्रबल रहती है, निर्बल नहीं होती। दर्शनमोह के मंद, मंदतर और मंदतम होने के साथ ही दूसरी शक्ति चारित्रमोह भी तदनुरूप ही हो जाती है। स्वरूपबोध होने पर स्वरूप-लाभ की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इसप्रकार गुणस्थान-क्रमारोहण में मोहनीयकर्म का मन्द, मंदतर, मंदतम और क्षय होना मूल आधार है और इसी आधार पर गुणस्थानों का क्रम निर्धारित किया गया है।[१] आ० नेमिचन्द्र के शब्दों में मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योग गुणस्थानों की उत्पत्ति का मुख्य आधार है।[२] संसार-बन्ध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कहे गये हैं,[३] जिनका गुण-श्रेणी-आरोहण में संवर (निरोध) हो जाता है। इसलिए कुछ जैनाचार्यों ने संवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिए चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया है।[४] प्रथम गुणस्थान (मिथ्यात्व) में बंध के सभी हेतु विद्यमान होते हैं। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व का, छठे में अविरति का, ७वें में प्रमाद का, १०वें में कषाय का तथा १४वें में योग का अभाव हो जाता है।[५] अतः स्पष्ट है कि गुणस्थान में बन्ध के हेतुओं का क्रमशः नाश होकर उत्तरोत्तर जीव के चारित्र की विशुद्धि होती है। जीव धीरे-धीरे चारित्र का विकास करते हुए निम्नश्रेणी से उच्च श्रेणी की ओर अर्थात् मिथ्यात्व की स्थिति से मोक्ष की ओर प्रयाण करता है। कुछ विद्वानों ने 'गुणस्थानों को एक ऐसे थर्मामीटर' की उपमा दी है, जो आत्मा के विकास एवं मोह की तरतमता का दिग्दर्शन कराता है।[६] इन गुणस्थानों के आधार पर प्रत्येक चिन्तनशील प्राणी यह जान सकता है कि वह विकास के किस चरण पर खड़ा है।

जैनशास्त्रों में जीव की विविध अवस्थाओं को जिन १४ भागों/गुणस्थानों में विभाजित किया गया है, उनके नाम इसप्रकार हैं – १. मिथ्यादृष्टि, २. सासादनसम्यग्दृष्टि, ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४. अविरतसम्यग्दृष्टि, ५. देशविरति (विरताविरत सम्यग्दृष्टि), ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिबादर, १०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगकेवली, १४. अयोगकेवली।[७] इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान[८]

जिस अवस्था में दर्शनमोहनीयकर्म की प्रबलता के कारण सम्यक्त्व गुण आवृत्त होने से आत्मा की तत्त्वरुचि प्रकट नहीं हो पाती, सत्य के विरुद्ध या अयथार्थ ही रहती है, उस अवस्था को मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। जिसप्रकार पित्त ज्वर से पीड़ित जीव को मधुर रस अच्छा नहीं लगता, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि

---

१. क) कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता। – समवायांगसूत्र, १४/१
   ख) कर्मविशोधिमार्गणां प्रतीत्य-ज्ञानावरणादिकर्मविशुद्धिगवेषणामाश्रित्य चतुर्दशजीवस्थानानि। – समवायांगसूत्रवृत्ति,पत्र २७
२. गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। – गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), २
३. तत्त्वार्थसूत्र, ८/१
४. तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं क्रियते। – तत्त्वार्थराजवार्तिक, ६/१/१०
५. वही, ६/१/२४
६. दर्शन और चिन्तन, पृ० २५२
७. समवायांगसूत्र, २७; षटखण्डागम, १/१/६; प्राकृतपंचसंग्रह, १/३; गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), १६; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३; पृ० ३६; गुणस्थानक्रमारोह, २–५
८. षट्खण्डागम, २/१/८०–८१; गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १७; गुणस्थानक्रमारोह, ६; प्राकृतपंचसंग्रह, १/६; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३ पृ. ३६. योगशास्त्र, स्वो० वृत्ति १/१६

जीव की रुचि भी सत्य में नहीं होती,[१] अपितु असत्य में होती है।[२] उसे धर्म और अधर्म का ज्ञान नहीं होता।[३] निमित्त पाकर जब भव्य जीव मिथ्यात्व को दूर कर लेते हैं, तब वे प्रथम गुणस्थान से ऊँचे उठकर सीधे चतुर्थ गुणस्थान में पहुँच जाते हैं और जब पतित होते हैं तब पुनः इस गुणस्थान में आ जाते हैं।

२. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान[४]

जीव प्रथम गुणस्थान से द्वितीय गुणस्थान की ओर नहीं बढ़ता, अपितु आध्यात्मिक विकास की उच्चतर श्रेणियों से प्रथम श्रेणी की ओर पतित होने पर कुछ समय तक इस गुणस्थान में रुकता है। इसीलिए इस गुणस्थान को विकासावस्था न कहकर पतनावस्था का सूचक कहा गया है।[५]

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव तो पतित होने पर इस गुणस्थान से होकर गुजरता ही है, कभी-कभी 'उपशम श्रेणी' पर चढ़ने वाला जीव भी इस अवस्था में आ गिरता है। जो जीव इस गुणस्थान में आता है वह प्रथम गुणस्थान में अवश्य वापिस जाता है।[६]

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान[७]

तृतीय गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन दोनों के मिले जुले भाव रहते हैं, इसलिए इस अवस्था को 'मिश्र गुणस्थान' या 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि' गुणस्थान कहते हैं।[८] शास्त्रों में कहा गया है कि प्रथम बार उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करते हुए जीव मिथ्यात्व कर्म के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति रूप तीन विभाग करता है। इनमें से उपशम सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होते ही यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाता है तो वह अर्ध सम्यक्त्वी या अर्धमिथ्यात्वी जैसी दृष्टि वाला हो जाता है। यही 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि' नामक गुणस्थान है।[९]

इस गुणस्थान को संशय और तनाव की स्थिति भी कहा जा सकता है, क्योंकि जीव के परिणाम मिश्र मोहनीयकर्म के उदय से सत्य के प्रति उदासीन होते हैं। वे न तो केवल सम्यक्त्व रूप ही होते हैं और न केवल मिथ्यात्व रूप ही।[१०] इस प्रकार जीव की विवेकशक्ति विकसित न होने के कारण सन्देहशील बनी रहती है। वह तत्त्व और अतत्त्व का विवेक करने में समर्थ नहीं होती। यह अवस्था लम्बे समय तक नहीं चलती। इसका काल एक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) माना जाता है।[११] इतना अल्प समय बीत जाने के बाद संशय के नष्ट हो जाने से या तो पुनः विकसित होकर सम्यक्त्व रूप हो जाते हैं या पतित होकर प्रथम गुणस्थान में पहुँच जाते हैं।[१२] जो जीव चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व को प्राप्त कर पुनः पतित होकर प्रथम गुणस्थान में आ जाते हैं, वे ही उत्क्रान्ति काल में प्रथम गुणस्थान से सीधे तृतीय गुणस्थान में पहुँचते

---

१. धवला, पुस्तक, १, पृ० १६३; प्राकृतपंचसंग्रह, १/६; गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १७
२. **Sogani, K.C. Ethical Doctrine in Jainism, p. 172**
३. गुणस्थानक्रमारोह, ८
४. षट्खण्डागम, १/१/१०; गोम्मटसार (जीवकाण्ड) १९–२०; बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, १३; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/४; गुणस्थानक्रमारोह, १०–१२; योगशास्त्र, स्वो० वृत्ति १/१६
५. **Studies in Jain Philosophy, p. 276; Jain Philosophy, p. 209, 210; Jain Ethics, p. 213**
६. **Studies in Jain Philosophy, p. 277**
७. षट्खण्डागम, १/१/११; गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), २१; गुणस्थानक्रमारोह, १३–१७; प्राकृतपंञ्चसंग्रह, १/१०
८. तत्त्वार्थसार, २/२१
९. समवायांगसूत्र, व्याख्या, पृ० ४२
१०. बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, गा० १३, पृ० ४१
११. **Jain Philosophy, p. 210**
१२. समवायांगसूत्र, व्याख्या, पृ० ४२

हैं। परन्तु जिन जीवों ने कभी सम्यक्त्व प्राप्त ही नहीं किया, वे अपने विकास काल में प्रथम गुणस्थान से सीधे चतुर्थ गुणस्थान में पहुँच जाते हैं, क्योंकि यथार्थता का अनुभव किये बिना संशय अथवा अनिश्चय नहीं होता और संशय होने पर वे इसी गुणस्थान में गिरते हैं।[१] इसीलिए इसे विकास और पतन दोनों अवस्थाओं का सूचक माना गया है।[२] प्राचीन ग्रन्थकारों ने इस अवस्था की तुलना दही और गुड़ के मिश्रित स्वाद से की है।[३]

४. अविरत सम्यग्दृष्टि या असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान[४]

आध्यात्मिक विकास की चतुर्थ अवस्था संयम रहित सम्यग्दर्शन की अवस्था कही जाती है। जिस जीव को सत्य या यथार्थ में दृढ़ विश्वास हो जाता है वही इस गुणस्थान में प्रवेश करता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार जो इन्द्रिय-विषयों से विरत नहीं है, त्रस व स्थावर जीवों का रक्षण भी नहीं करता, किन्तु जिनोक्त तत्त्वों पर श्रद्धा रखता है वह 'अविरत सम्यग्दृष्टि' नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहा जाता है।[५] कुछ ग्रन्थकारों ने इसे 'असंयत सम्यग्दृष्टि' नाम भी दिया है।[६] आत्मा की इस अवस्था में मोहनीय कर्म की शिथिलता के कारण जीव को सम्यग्दर्शन तो प्राप्त हो जाता है परन्तु चारित्र मोहनीयकर्म का उदय होने से वह सत्य मार्ग पर चलने में समर्थ नहीं हो पाता।[७] यद्यपि उसमें संयमादि का पालन करने की इच्छा होती है परन्तु वह उनका लेशमात्र भी पालन नहीं कर पाता।[८] चूँकि इस अवस्था में क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है और जीव इन्द्रिय-सुख का भोग करता है इसलिए उसे 'अविरत सम्यग्दृष्टि' नाम दिया गया है।[९]

चतुर्थ गुणस्थान की यह विशेषता है कि इससे आगे की सभी भूमिकाएँ सम्यग्दृष्टि युक्त होती हैं क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है।[१०] एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर विकासोन्मुख आत्मा यदि ऊपर की किसी भूमिका से पतित भी हो जाये तथापि वह पुनः कभी न कभी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेती है। अतः जैनदर्शन में इस गुणस्थान को अत्यन्त महत्वपूर्ण पद प्राप्त है।

५. देशविरति, विरताविरत या संयतासंयत गुणस्थान[११]

चतुर्थ गुणस्थान में जिस अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है, पंचम गुणस्थान में उसका

---

१. दर्शन और चिंतन, पृ० २६४
२. **Jain Ethics, p. 214**
३. गोम्मटसार(जीवकाण्ड), २२; गुणस्थानक्रमारोह, १४; तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, ६/१/१४; तत्त्वार्थसार, २/२०; पञ्चसंग्रह, १/१०/१६६; द्रव्यसंग्रह, टीका, १३/३३/२
४. षट्खण्डागम, १/१/१२; गोम्मटसार(जीवकाण्ड), २७–२६; गुणस्थानक्रमारोह, १६; प्राकृतपंचसंग्रह, १/११; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३ पृ० ४१; योगशास्त्र, स्वो० वृत्ति, १/१६
५. गोम्मटसार(जीवकाण्ड), २६; प्राकृतपञ्चसंग्रह, ११; धवला, पुस्तक, १ पृ० १७३; गुणस्थानक्रमारोह, १६; पृ० १२; भावसंग्रह, २६१; लोकप्रकाश, ६–३/११५७
६. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, ६/१/१५/१८६; धवला, पुस्तक, १, पृ० १७२; तत्त्वार्थसार, २१
७. तत्त्वार्थसार, २/२१
८. समवायांगसूत्र, व्याख्या, पृ० ४२
९. बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, गा० १३, पृ० ४१; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६
१०. दर्शन और चिंतन, पृ० २७१
११. षट्खण्डागम, १/१/१३; गोम्मटसार(जीवकाण्ड), ३०–३१; गुणस्थानक्रमारोह, २०; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/१२; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३ पृ० ४१; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६

उपशम हो जाने से कर्मों की निर्जरा का प्रारम्भ होता है।[1] इस अवस्था में दर्शनमोहनीयकर्म भी शिथिल हो जाते हैं। अतः साधक आंशिक रूप से व्रतों का पालन करता है[2] अर्थात् जीव के परिणाम अणुव्रतों को धारण करने के योग्य हो जाते हैं। इसलिए शास्त्रों में पंचम गुणस्थानवर्ती जीव को विरताविरत, देशविरति अथवा संयतासंयत कहा गया है।

६. सर्वविरति-प्रमत्तसंयत गुणस्थान[3]

छठे गुणस्थान में जीव देशविरत से सर्वविरत हो जाता है। वह घर छोड़कर मुनि बन जाता है तथा अणुव्रतों के स्थान पर महाव्रतों का पालन करने लगता है। दूसरे शब्दों में वह पूर्णरूपेण सम्यक्चारित्र का पालन करना प्रारम्भ कर देता है।

चूंकि इस गुणस्थान में जीव संयमी होते हुए भी प्रमादी होता है इसलिए इसे 'प्रमत्तसंयत गुणस्थान' के नाम से भी अभिहित किया गया है।[4] साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस गुणस्थान से नीचे भी गिर सकता है और ऊपर भी चढ़ सकता है।[5] जब साधक 'एक समय' के पश्चात् उक्त अवस्था से नीचे गिरता है, तब वह अविरत बन जाता है अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में पहुँच जाता है और यदि अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् पतित होता है तो वह पंचमगुणस्थान में पहुँचकर देशविरति बन जाता है। अन्तर्मुहूर्त का समय बिना किसी घटना के व्यतीत हो जाने पर साधक सातवीं अवस्था में पहुँच जाता है।[6]

७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान[7]

आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ते-बढ़ते साधक 'अप्रमत्तसंयत' नामक सप्तम गुणस्थान पर आरोहण करता है। जब षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव के संज्वलन और नोकषायों का मंद उदय होता है, तब वह इन्द्रिय-विषय, विकथा, निद्रादि रूप सर्व प्रमादों[8] से रहित होकर प्रमादहीन संयम का पालन करता है।[9] इसीलिए इस अवस्था को 'अप्रमत्तगुणस्थान' नाम दिया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि सप्तम् गुणस्थानवर्ती साधक को प्रमादजन्य वासनाएँ एकदम नहीं छोड़ देतीं। वे यदा-कदा उसे परेशान करती रहती हैं। अतः जहाँ एक ओर अप्रमादजन्य उत्कट सुख का अनुभव आत्मा को उस स्थिति में स्थित रहने के लिए उत्तेजित करता है वहाँ दूसरी ओर प्रमादजन्य वासनाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। ऐसी स्थिति में विकासगामी आत्मा की प्रमादजन्य वासनाएँ कभी-कभी उदित हो जाती हैं। परिणामस्वरूप कभी साधक प्रमादावस्था में विद्यमान रहता है तो कभी अप्रमादावस्था में। इसप्रकार उसकी नाव छठे और सातवें गुणस्थान के बीच डोलती रहती है।[10]

---

१. **Jain Ethics, p. 214.**
२. तत्त्वार्थसार, २/२२
३. षट्खण्डागम, १/१/१४; गोम्मटसार(जीवकाण्ड), ३२–३३; गुणस्थानक्रमारोह, २१; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/१४; बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका,१३ पृ० ४२; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६
४. तत्त्वार्थसार, २/२३; समवायांगसूत्र, व्याख्या, पृ० ४२
५. जैनधर्मदर्शन, पृ० ४६७
६. **Jain Philosophy, p. 211**
७. षट्खण्डागम, १/१/१५; गोम्मटसार(जीवकाण्ड), ५०–५४; गुणस्थानक्रमारोह, २२; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/१६; बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका,१३, पृ० ४२; योगशास्त्र स्वो० वृ०, १/१६
८. गोम्मटसार(जीवकाण्ड), ३४; प्राकृतपंचसंग्रह, १/३३
९. जैनधर्म, कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ० २३६
१०. दर्शन और चिंतन, पृ० २७२

८. अपूर्वकरण अथवा निवृत्तिबादर गुणस्थान[१]

सातवें गुणस्थान तक आत्मा क्षयोपशम भाव का अनुसरण करता है अर्थात् अनन्तानुबन्धी चार कषायों और दर्शनमोह की तीन – इन सात प्रकृतियों का न तो पूर्ण रूप से उपशम कर पाता है और न ही क्षय। अग्रिम गुणस्थान में आत्मा प्रमादजन्य इन अन्तर्द्वन्द्वों को जीतने के लिए एक विशेष शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करता है, जिससे पूर्व गुणस्थानों में अवशिष्ट मोहबल को नष्ट किया जा सके।[२] चूंकि इस अवस्था में साधक निरन्तर शुद्धतर होने वाली अभूतपूर्व आत्म-परिणाम रूप विशुद्धि को प्राप्त करता है इसलिए इसको 'अपूर्वकरण' नामक गुणस्थान कहा गया है। यह एक ऐसी अवस्था है जहाँ से जीव पतित नहीं होता, अपितु उसका स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होता जाता है।

विशुद्धता के तारतम्य की दृष्टि से आत्मा के परिणामों की तीन स्थितियाँ होती हैं जिन्हें जैन परिभाषा में तीन करण कहा गया है। ये तीन करण हैं – १. यथाप्रवृत्तिकरण, २. अपूर्वकरण और ३. अनिवृत्तिकरण।[३] यथाप्रवृत्तिकरण को प्रयास और साधना का परिणाम न समझते हुए एक संयोग, प्राकृतिक उपलब्धि माना गया है।[४] यथाप्रवृत्तिकरण की पूर्व अवस्था अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान में होती है, जबकि आठवें गुणस्थान में यह प्रक्रिया बदल जाती है। 'अपूर्वकरण' आठवें गुणस्थान में होता है। इस अवस्था में मानसिक तनाव और संशय पूर्णरूपेण समाप्त हो जाते हैं और आत्मा को अनुपम शान्ति का अनुभव होता है। यहीं से आत्मा की अनात्मा पर विजय यात्रा प्रारम्भ होती है। विकासगामी आत्मा को यहाँ प्रथम बार अपूर्व शान्ति की अनुभूति होती है, इसलिए यह प्रक्रिया 'अपूर्वकरण' कहलाती है। इसी प्रकरण के आधार पर ही इस गुणस्थान का नाम रखा गया है।

आठवें गुणस्थान का अपर नाम 'निवृत्तिबादर गुणस्थान' भी है। 'निवृत्ति' शब्द का अर्थ है – भेद।[५] इस अवस्था में समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में भिन्नता रहती है और बादर संज्वलन कषायों का उदय होता है, अतः इसे 'निवृत्तिबादर गुणस्थान', कहा जाता है।[६]

जैन-परम्परा के अनुसार आठवें गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले जीवों की दो श्रेणियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं – उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी।[७] चारित्रमोहनीयकर्म का उपशम या क्षय करने के लिए परिणामों की जो सन्तति होती है उसे 'श्रेणी' कहते हैं। 'श्रेणी' का अर्थ है – पंक्ति या कतार। जिस श्रेणी पर जीव कर्मों का उपशम करता हुआ चढ़ता है, उसे 'उपशमश्रेणी' कहते हैं और जिस श्रेणी पर जीव कर्मों का क्षय करता हुआ चढ़ता है उसे 'क्षपकश्रेणी' कहते हैं।[८] कहा जाता है कि दर्शन-मोह का क्षय करने वाला जीव ही 'क्षपकश्रेणी' पर चढ़ सकता है और दर्शनमोह का उपशम या क्षय करने वाला जीव ही 'उपशमश्रेणी' पर चढ़ सकता है।[९] जिसप्रकार जल के तल में बैठा हुआ मल थोड़ा सा क्षोभ पाते ही ऊपर

---

१. षट्खण्डागम, १/१/१६; गोम्मटसार(जीवकाण्ड), ५०–५४; गुणस्थानक्रमारोह, २३; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/२०–२१; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३, पृ० ४२; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६
२. दर्शन और चिंतन, पृ० २७२
३. क) करणं त्वात्मपरिणामो भव्यते। तच्च त्रिविधमिति.....। – विशेषावश्यकभाष्य १२०२, पृ० ३०२
   ख) करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टिमेव भव्वाणं। – वही, १२०२
   ग) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० ४
   घ) योगबिन्दु, २६४
४. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ४५१
५. निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः। – धवला, पुस्तक, १, पृ० १८७
६. समवायांगसूत्र, व्याख्या, पृ० ४३
७. तत्त्वार्थसार, २/२३
८. धवला, पुस्तक, ६, पृ० ३१७
९. जैनसिद्धान्त, पृ० ८१–८२

उठकर जल को मलिन कर देता है उसीप्रकार पहले उपशान्त किया हुआ मोह भी साधना की शक्ति को पराजित कर देता है अर्थात् प्रथम श्रेणी (उपशमश्रेणी) वाले आत्माओं को अपने वेग से नीचे गिरा देता है। इस श्रेणी पर आरूढ़ आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान से आगे नहीं जा सकता।[१] जबकि दूसरी (क्षपक) श्रेणी पर आरूढ़ आत्मा मोह को क्रमशः क्षीण करते-करते अन्त में सर्वथा निर्मूल कर देता है।[२] ऐसा जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करके सब प्रकार के कर्मबन्धनों से छूट कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था बारहवें गुणस्थान की है। यद्यपि उपशम एवं क्षपक दोनों श्रेणियों के जीवों को नवाँ और दसवाँ गुणस्थान पार करना पड़ता है परन्तु आत्मशुद्धि व आत्मबल में तरतमता के कारण प्रथम श्रेणी वाले जीव दसवें गुणस्थान को पारकर अन्त में ग्यारहवें गुणस्थान में मोह से हार जाते हैं और पतित होकर निम्न श्रेणियों में पहुँच जाते हैं जबकि दूसरी श्रेणी वाले जीव दसवें गुणस्थान में इतना आत्मबल प्रकट कर लेते हैं कि अन्त में मोह को सर्वथा क्षीण कर बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं।[३] आठवें गुणस्थान में यद्यपि न तो मोह का उपशम होता है और न ही क्षय होता है, तथापि आगे किये जाने वाले कर्मों के उपशम और क्षय की अपेक्षा उपचार से इसे 'उपशमक' और 'क्षपक' कहते हैं।[४] इस गुणस्थान में क्रोध और मान का लोप हो जाता है। कहा जाता है कि आठवें गुणस्थान में जीव 'शुक्लध्यान' रूप व्रत का पालन करता है।[५]

६. अनिवृत्ति-सम्पराय गुणस्थान[६]

साधक किसी भी श्रेणी पर आरूढ़ होकर 'अनिवृत्तिकरण' की प्रक्रिया कर सकता है। विकास की ओर बढ़ते-बढ़ते जब साधक निर्विकल्पसमाधि के अभिमुख होता है तो उसकी संज्ञा 'अनिवृत्तिकरण गुणस्थान' कही जाती है। इस अवस्था को प्राप्त सभी जीवों के परिणाम तरतमता रहित सदृश होते हैं।[७] इस गुणस्थान में परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती, अर्थात् वे कभी नहीं छूटते।[८] दूसरे शब्दों में इस गुणस्थान में प्रतिसमय (एक-एक समय) में एक-एक ही परिणाम होता है, क्योंकि इस एक समय में परिणामों के जघन्य व उत्कृष्ट भेद नहीं होते।[९] अग्रिम गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में कषायों का उपशम अथवा क्षय स्थूल रूप से होता है।[१०] यह बताने के लिए ही इस गुणस्थान के नाम के साथ 'बादर-सम्पराय' शब्द जोड़ा गया है।[११] 'सम्पराय' का अर्थ है – कषाय और 'बादर' का अर्थ है – स्थूल। आठवें गुणस्थान के परिणामों की विशुद्धि की अपेक्षा नवें गुणस्थान में परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक होती है। इस गुणस्थान में क्रोध, मान और माया निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु 'लोभ' नामक कषाय शेष रह जाता है।[१२]

---

१. प्रवचनसारोद्धार, ७००–७०८; दर्शन और चिन्तन, पृ० २७३
२. प्रवचनसारोद्धार, ६६४–६६६
३. दर्शन और चिन्तन, पृ० २७३–२७४
४. जैन सिद्धान्त, पृ० ८१
५. **Fundamentals of Jainism, p. 83-84**
६. षट्खण्डागम, १/१/१७; गोम्मटसार(जीवकाण्ड), १८–५७; गुणस्थानक्रमारोह, ३७; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/२०–२१; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३ पृ० ४२–४३; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६
७. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ६७
८. षट्खण्डागम, धवलाटीका, १/१/१७/१८३, गा० ११६
९. षट्खण्डागम, धवलाटीका १/१/१७/१८६ गा० १२०; गोम्मटसार(जीवकाण्ड), गा० ५७ व टीका
१०. तत्त्वार्थसार, २/२६
११. **Jain Ethics, p. 216; Studies in Jain Philosophy, p. 228**
१२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ५८, गुणस्थानक्रमारोह, ७१ – ७२

१०. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान[१]

दसवें गुणस्थान में यद्यपि साधक लोभ नामक कषाय का उपशमन करता है तथापि उसमें सूक्ष्म लोभ की लालिमा (सूक्ष्म आभा) बची रहती है, इसलिए इसका नाम 'सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान' रखा गया है। इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ रूप कषाय का ही उदय होता है, अन्य कषायों का उपशम या क्षय हो जाता है।[२] प्रकृत गुणस्थान के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने लोभ का अर्थ किया है – आत्मा की शरीर के साथ सूक्ष्म आसक्ति।[३] कुछ आत्मा उपशमश्रेणी पर चढ़कर इस गुणस्थान में पहुँचते हैं तो कुछ क्षपकश्रेणी पर चढ़कर सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं।[४]

११. उपशान्तमोह(कषाय) गुणस्थान[५]

क्षपकश्रेणी वाले जीव के लिए ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँचना संभव नहीं होता। केवल उपशमश्रेणी वाले जीव ही इस गुणस्थान में पहुँच पाते हैं अर्थात् जो साधक क्रोधादि कषायों का क्षय करने की अपेक्षा केवल उपशान्त करता हुआ ही आगे बढ़ता है, वह क्रमशः चारित्रशुद्धि करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में रहने वाला जीव आगे उन्नति नहीं करता। वह अन्तर्मुहूर्त (उत्कृष्टतया और जघन्यतया एकसमय) के लिए मोहनीयकर्म को उपशान्त कर वीतराग अवस्था प्राप्त कर लेता है किन्तु उस अवधि के समाप्त होते ही वह पुनः प्रभाव में आ जाता है। फलतः आत्मा के पतन का मार्ग पुनः प्रशस्त हो जाता है।[६] इस गुणस्थान से पतित होकर आत्मा कभी-कभी सबसे निम्न भूमिका प्रथम गुणस्थान तक भी पहुँच जाता है। इसलिए इसे अधःपतन का स्थान कहा गया है।[७] इस गुणस्थान में स्थित जीव पुनः अपने दुगुने प्रयास द्वारा कषायों को उपशान्त अथवा क्षीण करता हुआ अन्त में क्षपकश्रेणी पर चढ़कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[८]

१२. क्षीणकषाय गुणस्थान[९]

बारहवें गुणस्थान में जीव मोहनीयकर्म को सर्वथा क्षीण कर देता है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में क्षपकश्रेणी वाला साधक ग्यारहवें गुणस्थान में गए बिना सीधे दसवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस गुणस्थान में पहुचँकर जीव कभी पतन को प्राप्त नहीं करता, अपितु अन्तर्मुहूर्त तक इसी अवस्था में स्थिर रहकर नियम से तेरहवें गुणस्थान में चला जाता है।[१०] इस गुणस्थान तक के जीव छद्मस्थ कहलाते हैं क्योंकि इस अवस्था तक उनका कर्मों के साथ सम्बन्ध बना रहता है। इसलिए इस अवस्था को 'क्षीणकषाय छद्मस्थ'[११] या 'क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ'[१२] गुणस्थान भी कहा जाता है।

---

१. षट्खण्डागम, १/१/१८; गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ५८–६०; गुणस्थानक्रमारोह, ७२; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/२२–२३; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३ पृ० ४३; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६
२. **Studies in Jain Philosophy, p. 278; Jain Ethics, p. 216;** जैन आचार, पृ० ३६
३. **Studies in Jain Philosophy, p. 278**
४. **दर्शन और चिन्तन, पृ० २७४**
५. षट्खण्डागम, १/१/१६; गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ६१; गुणस्थानक्रमारोह, ७३; प्राकृतपञ्चसंग्रह,१/२४; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३ पृ० ४३; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६
६. भावसंग्रह, ६५५; धवला, पुस्तक १, पृ० १०६
७. दर्शन और चिन्तन, पृ० २७५
८. वही, पृ० २७४
९. षट्खण्डागम, १/१/२०; गोम्मटसार(जीवकाण्ड) ६२; गुणस्थानक्रमारोह, ७४; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/२५; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३ पृ० ४३; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६
१०. **Jain Ethics, p. 217**
११. पञ्चसंग्रह, १/२७–३०; तत्त्वार्थसार, २/२६
१२. जैनसिद्धान्त, पृ० ८३

१३. सयोगिकेवली गुणस्थान[१]

बारहवें गुणस्थान के अन्त में जैसे ही घातीकर्मों का नाश होता है, विकासगामी आत्मा को शीघ्र ही अपने विशुद्ध स्वरूप – अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तदर्शन और अनन्तसुख, की प्राप्ति हो जाती है। जैसे पूर्णिमा की रात में चन्द्रमा की सम्पूर्ण कलायें प्रकाशमान होती हैं वैसे ही इस गुणस्थान में आत्मा की चेतना आदि सभी प्रमुख शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं।[२] तेरहवें गुणस्थान की इस अवस्था को सयोगकेवली,[३] सयोगिकेवलि[४] तथा सयोगिकेवलीजिन गुणस्थान[५] के नाम से भी चित्रित किया गया है। यहाँ 'केवल' पद से केवलज्ञान का ग्रहण हुआ है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को जैनदर्शन में 'योग' कहा गया है।[६] अतः मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से युक्त जीव को 'सयोगी' कहते हैं। इसप्रकार जिस गुणस्थान में विशुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव में शारीरिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं उसे 'सयोगकेवली' अथवा 'सयोगीकेवली' कहा जाता है, जो पातञ्जलयोगसूत्र सम्मत सम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था के समकक्ष माना जा सकता है। इस गुणस्थान में प्राप्त सर्वज्ञता की स्थिति की तुलना पातञ्जलयोग की विवेकख्याति से की जा सकती है। आ० हरिभद्र ने इस तुलना की ओर हमारा ध्यान भी आकृष्ट किया है। पातञ्जलयोगसूत्र में 'विवेकजज्ञान' से पूर्व 'प्रातिभज्ञान' की स्थिति मानी गई है। 'प्रातिभज्ञान' का ही दूसरा नाम 'तारकज्ञान' भी है। जैसे सूर्योदय से पूर्व आकाश में उसकी अरुण प्रभा का आविर्भाव होता है, वैसे ही विवेकख्याति के पहले तारकज्ञान का उदय माना गया है।[७] आ० हरिभद्र ने उक्त प्रातिभज्ञान की संगति केवलज्ञान से पूर्ववर्ती स्वानुभूति या स्वसंवेदन ज्ञान के साथ बिठाई है। इस प्रातिभज्ञान[८] को योगज अदृष्टजनित बताया गया है। जैन दृष्टि में श्रुतज्ञान > स्वानुभूति > केवलज्ञान, यह क्रम स्वीकृत है। जिसप्रकार रात्रि और दिन के मध्य में संध्या होती है उसीप्रकार श्रुतज्ञान और केवलज्ञान के मध्य उक्त 'प्रातिभज्ञान' होता है।[९] उक्त प्रातिभज्ञान के संबंध में योगसूत्र के टीकाकारों एवं आ० हरिभद्र के निरूपण में पूर्ण समानता यहाँ उल्लेखनीय है। आ० हरिभद्र ने अपने योगदृष्टिसमुच्चय की स्वोपज्ञ व्याख्या में पातञ्जलयोग सम्मत तारकज्ञान और उक्त प्रातिभज्ञान की एकता का संकेत भी किया है।[१०]

---

१. षट्खण्डागम, १/१/२१; गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ६३, ६४; गुणस्थानक्रमारोह, ८३; प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/२७, २६; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १३ पृ० ४३; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६

२. दर्शन और चिन्तन, पृ० २७५

३. जैनसिद्धान्त, पृ० ८३

४. षट्खण्डागम, १/१/२१; गोम्मटसार(जीवकाण्ड), ६३, ६४; गुणस्थानक्रमारोह, ८३; प्राकृतपञ्चसग्रह, १/२७, २६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/१६

५. तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, ६/१

६. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१

७. द्रष्टव्य : पातञ्जलयोगसूत्र ३/३३ पर व्यासभाष्य एवं भोजवृत्ति

८. आ० हरिभद्र से पूर्ववर्ती जैनग्रन्थों में प्रातिभज्ञान को मतिज्ञान का ही एक भेद माना गया है। परवर्तीकाल मे इसे अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार किया गया। जैसे रत्नादि के प्रभाव एवं मूल्यादि को सामान्यजन न जान सकें, किन्तु अत्यन्त अभ्यास के कारण तद्विशेषज्ञ व्यक्ति उसके प्रभाव एवं मूल्यादि को तत्काल जान लें, ऐसे ज्ञान को 'प्रातिभ' कहा गया है। आ० हरिभद्र ने पारम्परिक ज्ञान से भिन्न प्रातिभज्ञान का उल्लेख किया है। उपा० यशोविजय भी उन्हीं का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं। – द्रष्टव्य : तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/१३/३८८, पृ० २१७; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, १/१३; शास्त्रवार्तासमुच्चय, ८/६२

९. योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ८ पर स्वो० वृ०; अध्यात्मोपनिषद्, २/२

१०. योगदृष्टिसमुच्चय, गा० ८ पर स्वो० वृ०

१४. अयोगिकेवलि (अयोगकेवली या अयोगिजिन) गुणस्थान[1]

तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जीव मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता हुआ अवशिष्ट चार अघातीकर्मों को भी क्षीण करने के लिए ध्यान रूपी अग्नि का आश्रय लेता है और मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों को निरुद्ध करता हुआ 'अयोगकेवली' नामक चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। जैन शास्त्रों में इसे अयोगिकेवलि[2] या अयोगिजिन[3] गुणस्थान भी कहा गया है। यह अवस्था आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा अथवा चरमावस्था तथा अन्तिम गुणस्थान है। इस गुणस्थान में जीव समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति नामक उत्कृष्टतम शुक्लध्यान के द्वारा सुमेरुपर्वत की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त कर अन्त में देह का त्याग कर सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। यही अवस्था निर्गुण ब्रह्म, पूर्णानन्द, सच्चिदानन्द, परमात्मपद, स्वरूपसिद्धि, मोक्ष, कैवल्य और निर्वाण की मानी जाती है।[4]

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों के माध्यम से जैन-परम्परा में आत्मा की अविकसित अवस्था से लेकर विकास की ओर बढ़ते हुए अन्त में पूर्णता की प्राप्ति तक की अवस्थाओं की संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की गई है। इनके विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार आत्मा एक-एक सोपान पर आरूढ़ होता हुआ क्रमशः मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व से ही जैन-परम्परा में आध्यात्मिक उन्नति का प्रारम्भ माना गया है। सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्श्रद्धा से ही जीव (अशुभ) पापकर्मों की निवृत्ति की ओर अपना प्रयास शुरू करता है। पापकर्मों की निवृत्ति से अप्रमत्तता आती है। अप्रमत्तता से क्रमशः कषायों की मुक्ति होती है। कषाय-मुक्ति से कर्मों का निरोध होता है। इस प्रकार शनैः-शनैः प्रयत्न करता हुआ जीव क्रमशः समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्षावस्था अर्थात् स्वरूपावस्था को प्राप्त करता है। अतः इन गुणस्थानों को आत्मविकास के क्रमिक सोपान कहना अनुपयुक्त न होगा।

(ख) आत्मा की तीन अवस्थाएँ

मिथ्यादर्शन युक्त अज्ञानी जीव की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति तक की सम्पूर्ण यात्रा में आने वाली जिन अवस्थाओं का चौदह गुणस्थानों के रूप में वर्णन किया गया है, वे ही संक्षिप्त रूप में आत्मा की तीन अवस्थाओं के नाम से भी चित्रित की गई हैं। ये तीन अवस्थाएँ हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[5] पहले तीन गुणस्थान, जो अज्ञानावस्था को सूचित करते हैं, 'बहिरात्मा' के नाम से वर्णित हैं। चतुर्थ गुणस्थान में जब जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है तो उसके लिए आत्मोन्नति/अध्यात्मोन्नति का मार्ग खुल जाता है। अतः जीव अपना पुरुषार्थ प्रारम्भ कर अपनी योग्यता और पात्रता में क्रमशः वृद्धि करने लगता है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक जीव का प्रयास जारी रहता है। जीव के इस सम्पूर्ण अभ्यासक्रम को 'अन्तरात्मा' कहा गया है। उन्नति करता हुआ जीव अन्त में सर्वोपरि मंजिल को प्राप्त करता है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान को पूर्णता, पूर्णावस्था, चरमावस्था या सिद्धावस्था कहा जाता है, जिसका यहाँ 'परमात्मा' के नाम से वर्णन किया गया है। इन्हें क्रमशः अविकास, विकास और पूर्णता की अवस्था भी कहा जाता है। इनके लिए

---

१. षट्खण्डागम, १/१/२२; गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), ६५; गुणस्थानक्रमारोह, १०३, १०४; प्राकृतपञ्चसग्रह, १/१००; बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, १३ पृ० ४३; योगशास्त्र, स्वो० वृ०, १/१६

२. प्राकृतपञ्चसंग्रह, १/१००, धवला, पुस्तक, १, पृ० २८०; बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, १३ पृ० ४३

३. पञ्चसंग्रह, मलयगिरिवृत्ति, १/१५, पृ० ३२, षट्खण्डागम, १/१/२२ एवं धवलाटीका, पृ० २२३

४. दर्शन और चिन्तन, पृ० २७५

५. मोक्षप्राभृत, ४; समाधितन्त्र, ४; परमात्मप्रकाश,१/११ ; बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, १४ पृ० ४६; कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा १६२; ज्ञानार्णव, २६/५; योगशास्त्र, १२/७; अध्यात्मसार, ७/२०, २१; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २०/१७, १८; अध्यात्ममतपरीक्षा, १२५ पर स्वो० वृ० पृ० ३३६, ४०

क्रमशः पतितावस्था, साधकावस्था और सिद्धावस्था नाम भी मिलते हैं।[१] आ० कुन्दकुन्द ने बहिरात्मा को हेय, अन्तरात्मा को परमात्मा की अवस्था प्राप्त करने का उपादेय साधन और परमात्मा को ध्येय माना है।[२] आ० हेमचन्द्र[३] एवं उपा० यशोविजय[४] ने बहिरात्मा को शरीर, अन्तरात्मा को शरीर का अधिष्ठाता एवं परमात्मा को समग्र उपाधियों से रहित, आनन्दमय, चिन्मय रूप तथा इन्द्रियों से अगोचर कहा है। आत्मा की इन तीन अवस्थाओं में ही चौदह गुणस्थानों की अवस्थाएँ समा जाती हैं।

आत्मा की तीन अवस्थाओं का स्पष्ट रूप से वर्णन आ० कुन्दकुन्द की देन है। उन्होंने सर्वप्रथम 'मोक्षप्राभृत' में इनकी व्याख्या की है।[५] परवर्ती दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी जैनाचार्यों ने इन्हीं का अनुकरण कर आत्मा की इन अवस्थाओं का वर्णन किया है।[६] गृहीत आचार्यों में आ० हरिभद्र एक मौलिक चिन्तक थे। उन्होंने आध्यात्मिक विकास को गुणस्थानक्रम तथा आत्मा की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं के स्थान पर विविध दृष्टियों में विभाजित किया। आठ दृष्टियों[७] का निरूपण करते हुए उन्होंने बहिरात्मा की स्थिति का प्रथम चार दृष्टियों तक तथा अन्तरात्मा की स्थिति का पांचवी से सातवीं दृष्टि तक वर्णन कर आठवीं दृष्टि में परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि का संकेत किया है।

१. बहिरात्मा

प्रथम अवस्था में आत्मा का यथार्थ स्वरूप कर्म-आवरणों से पूर्णतः आच्छादित रहता है। अतः उसका ज्ञान भी मिथ्यात्व युक्त होता है। मिथ्यात्व कर्म के उदय के कारण आत्म-स्वरूप से अनभिज्ञ जीव, शरीरादि को ही आत्मा समझता है। हेय, उपादेय या हिताहित का विवेक न होने से वह विषय भोगों में ही आसक्त रहता है। उक्त अवस्था में विद्यमान जीव को बहिरात्मा' की कोटि में परिगणित किया जाता है।[८]

२. अन्तरात्मा

द्वितीय अवस्था में मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने से सम्यग्दर्शन का आविर्भाव हो जाता है और आत्मा को स्व-पर का विवेक अर्थात् भेद-ज्ञान की प्रतीति होने लगती है। जैनमतानुसार जिस अवस्था में शरीर को आत्मा न मानने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाए और शरीर व आत्मा में भेद प्रतीत होने लगे, उसे, 'अन्तरात्मा' कहा जाता है।[९] आ० कुन्दकुन्द ने इसे 'परमात्मावस्था को प्राप्त करने का उपादेय साधन माना है।[१०] आ० शुभचन्द्र एवं उपा० यशोविजय प्रभृति जैन विद्वान भी 'अन्तरात्मा' को साधकावस्था समझते हैं क्योंकि इस अवस्था में जीव शुभाशय से धार्मिक क्रियाओं का आचरण करता हुआ आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होता है।[११]

---

१. दर्शन और चिन्तन, पृ० २६२
२. मोक्षप्राभृत, ५, ८
३. योगशास्त्र, १२/७
४. अध्यात्मसार, ७/२०/२१; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २०/१७
५. मोक्षप्राभृत, ५, ८
६. ज्ञानार्णव, २६/५–१०; मोक्षप्राभृत, ५–८; समाधितंत्र, ४; परमात्मप्रकाश,१/१२; अध्यात्मसार, ७/२०/२१–२४; योगशास्त्र,१२/७
७. दृष्टियों का विस्तृत विवेचन, पृ० २१२–२५२ पर है।
८. मोक्षप्राभृत, ६; कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, १६२; परमात्मप्रकाश १/१३; समाधितंत्र, ७; योगसार, ७; ज्ञानार्णव, २६/६, ११–१६, २२; योगशास्त्र, १२/७; अध्यात्मसार, ७/२०/२०–२१; अध्यात्ममतपरीक्षा, १२५ पर स्वो० वृ०
९. मोक्षप्राभृत, ५; नियमसार १५०; समाधितंत्र, ५; कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, १६४; ज्ञानार्णव, २६/७ योगशास्त्र, १२/७; अध्यात्मसार, ७/२०/२१; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २६/१७ अध्यात्ममतपरीक्षा, १२५ पर स्वो० वृ०
१०. मोक्षप्राभृत, ५–८
११. ज्ञानार्णव, २६/६, १०; अध्यात्मसार, ७/२०/२३

डा० दयानन्द भार्गव ने 'अन्तरात्मा' की तुलना योगदर्शन के 'कैवल्य प्राग्भार' से की है।[1] योगदर्शन के अनुसार विवेकज्ञान को प्राप्त हुआ आत्मा कैवल्य की ओर अभिमुख होता है।[2] 'कैवल्य प्राग्भार' का अर्थ ही है – कैवल्य की ओर झुका हुआ या अभिमुख। 'अन्तरात्मा' भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने पर मोक्ष की ओर अभिमुख होकर धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि अन्तरात्मा की स्थिति चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मानी गई है किन्तु यहाँ उत्कृष्ट अन्तरात्मा से तात्पर्य है। उत्कृष्ट अन्तरात्मा की स्थिति सातवें गुणस्थान से शुरू होती है। आठवें गुणस्थान से आध्यात्मिक विकास की दो धाराएँ चलती हैं – उपशम व क्षपक। उपशमधारा में ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचकर भी साधक पुनः नीचे आ जाता है। क्षपकश्रेणी पर चढ़ने वाला साधक नवें, दसवें गुणस्थान से होता हुआ (ग्यारहवें में न जाकर) सीधे बारहवें गुणस्थान में जाता है और तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञत्व (ईश्वरत्व) को प्राप्त करता है। अतः 'कैवल्य प्राग्भार' की समता क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ उत्कृष्ट अन्तरात्मा की स्थिति से करना उचित होगा।

३. परमात्मा

संसारी जीवों में आत्मा की सबसे उत्कृष्ट अवस्था 'परमात्मा' कही जाती है।[3] कर्मावरणों से निर्लिप्त संकल्प-विकल्पादि उपाधियों से रहित शुद्ध, आनन्दमय एवं अनन्तगुणों से युक्त आत्मा को 'परमात्मा' नाम से अभिहित किया गया है।[4] बहिरात्मा और अन्तरात्मा दोनों का क्रमशः त्याग करने से 'परमात्मा' का स्वरूप प्रतिभासित होता है।[5] उक्त अवस्था की तुलना पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित कैवल्यावस्था से की जा सकती है।

(ग) त्रिविध उपयोग

जहाँ कुछ स्वतंत्र चिन्तकों ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा – इन त्रिविध सोपानों में आध्यात्मिक विकासक्रम का निरूपण किया है वहाँ उन्होंने अशुभोपयोग, शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग इन त्रिविध उपयोगों के माध्यम से भी आध्यात्मिक विकासक्रम का वर्णन करने का प्रयास किया है।

चेतना की परिणति विशेष का नाम 'उपयोग' है।[6] चेतना सामान्य गुण है और ज्ञान-दर्शन इसकी दो पर्याय अवस्थाएँ हैं। इन्हीं को उपयोग कहते हैं। आ० कुन्दकुन्द ने आत्मा के परिणमन की अपेक्षा से उपयोग के तीन भेद बताएँ हैं – १. अशुभोपयोग, २. शुभोपयोग, ३. शुद्धोपयोग।[7]

अशुभ और शुभ अनुष्ठान के करने से क्रमशः अशुभ और शुभ भाव उत्पन्न होते हैं। जब आत्मा शुभ और अशुभ अनुष्ठानों के विकल्पों से रहित निर्विकल्प रूप हो जाता है, तब उसके शुद्ध भाव उत्पन्न होते

---

१. **Jain Ethics, p. 206**
२. तदाविवेकनिम्नं कैवल्य प्राग्भारं चित्तम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, ४/२६
३. परमात्मा संसारिजीवेभ्यः उत्कृष्टः आत्मा। – समाधितंत्र, टीका, ६/२२५/१५
४. मोक्षप्राभृत, ५; नियमसार, ७; भावसंग्रह, २७२, २७३; कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, १६५–१६६; परमात्मप्रकाश, १/१५; ज्ञानार्णव, २६/८; योगशास्त्र, १२/८; अध्यात्मसार, ७/२०/२४; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २०/१८; अध्यात्ममतपरीक्षा, १२५ पर स्वो० वृ०
५. क) बाह्यात्मानमपास्यैवान्तरात्मानं ततस्त्यजेत्।
प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः ।। – ज्ञानार्णव, २६/२४
ख) पृथगात्मानं कायात्पृथक् च विद्यात्सदात्मनः कायम्।
उभयोर्भेदज्ञातात्मनिश्चये न स्खलेद्योगी ।। – योगशास्त्र, १२/६
६. सर्वार्थसिद्धि, ७/३२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७/३२/६
७. अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।। – प्रवचनसार, २/६३

हैं। जीव शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध जिस किसी भाव के रूप में परिणमन करता है, वैसा ही हो जाता है। आ० कुन्दकुन्द के अनुसार आत्मा जब शुद्ध भाव के रूप में परिणत होता है, तब निर्वाण का सुख प्राप्त करता है, जब शुभभाव रूप में परिणत होता है, तब स्वर्ग का सुख प्राप्त करता है और जब अशुभ भाव रूप में परिणत होता है, तब हीन मनुष्य, नारक या पशु आदि बनकर सहस्रों दुःखों से पीड़ित होता हुआ चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है।[१] मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थानों के जीवों के अशुभोपयोग होता है। चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक के जीवों को तारतम्य रूप से शुभोपयोग होता है। शुद्धोपयोग अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान से क्षीणकषाय नामक १२वें गुणस्थान तक के जीवों के तारतम्य रूप से होता है। सयोगकेवली और अयोगकेवलीजिन होना शुद्धोपयोग का फल है।[२]

आ० कुन्दकुन्द द्वारा निरूपित शुभ-अशुभ या शुद्ध भावों के परिणामों की ही आ० शुभचन्द्र ने आशयभेद से चर्चा की है। उन्होंने जीव के आशय को पुण्याशय, अशुभाशय और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार का बताया है[३] तथा यह निर्देश दिया है कि उनमें पुण्याशय के वशीभूत होकर लेश्या का आलम्बन लेता हुआ जो भव्य जीव वस्तुस्वरूप का चिन्तन करता है उसके प्रशस्त ध्यान होता है।[४] इसके विपरीत अशुभाशय के वशीभूत होकर चिन्तन करने वाले जीव के असद्ध्यान (दुर्ध्यान) होता है।[५] रागादि के क्षीण हो जाने के कारण अन्तरात्मा के प्रसन्न होने पर जो आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है, उसे शुद्धोपयोग या शुद्धाशय कहा गया है।[६] शुभ ध्यान का फल जहाँ स्वर्ग में देव या इन्द्र के वैभव की प्राप्ति है,[७] वहाँ दुर्ध्यान का फल नरकादि दुर्गति की प्राप्ति है।[८] शुद्धोपयोग की प्राप्ति का फल ज्ञानराज्य (कैवल्य) की प्राप्ति है।[९]

(घ) दृष्टि-विभाजन

योगदृष्टिसमुच्चय में आ० हरिभद्र ने जैन-परम्परा सम्मत आध्यात्मिक विकासक्रम की 'गुणस्थान' संज्ञक विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण दृष्टियों के माध्यम से किया है। 'दृष्टि' से अभिप्राय है – 'सत्य के प्रति श्रद्धायुक्त बोध'। उक्त बोध साधक की असत् प्रवृत्तियों को नष्ट कर सत्प्रवृत्ति की ओर ले जाता है।[१०] विकास की प्रत्येक अवस्था साधक को एक नवीन दृष्टि प्रदान करती है, इसलिए आ० हरिभद्र ने आध्यात्मिक विकास की क्रमिक अवस्थाओं के लिए 'दृष्टि' सम्बोधन प्रयुक्त किया है।[११] जैनमतानुसार असत् बोध तब तक होता है जब तक आत्मा की मोह रागमयी ग्रन्थि का भेदन नहीं होता। ग्रन्थि-भेद हुए

---

१. प्रवचनसार, १/८–१२

२. मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये। तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोगयोगिजिन–गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः।। – प्रवचनसार, १/६ पर जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यटीका

३. तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः ।
शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः ।। – ज्ञानार्णव, ३/२८

४. वही, ३/२९

५. ज्ञानार्णव, ३/३०

६. वही, ३/३१

७. वही, ३/३२

८. वही, ३/३३

९. वही, ३/३४

१०. क) सत्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टिरित्यभिधीयते।
असत्प्रवृत्तिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावहः ।। –योगदृष्टिसमुच्चय, १७
ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २०/२५

११. **Yogadṛṣṭisamuccaya & Yogaviṁśikā, Introduction, p. 1**

बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती और सम्यग्दर्शन को प्राप्त किए बिना साधक मोक्ष-मार्ग में उन्नति नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में योग-साधना का यथार्थ प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि से ही होता है।

ओघदृष्टि

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व जो असत् बोध होता है उसे ही मिथ्यादर्शन, दर्शनमोहनीय, मिथ्यात्व अथवा अविद्या के नाम से जाना जाता है।[१] सामान्य व्यक्ति की दृष्टि अनादिकालीन प्रगाढ़ मिथ्यात्व से युक्त होती है और उसमें नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम की विचित्रता होती है इसलिए उसे 'ओघदृष्टि' के नाम से अभिहित किया गया है।[२] 'ओघदृष्टि' वाला जीव विवेक और ज्ञान का अभाव होने से संसाराभिमुखी होता है। अतः 'ओघदृष्टि' संसार के प्रवाह में पतित, अविद्या में निमग्न व्यक्ति की चेतना की अवस्था है। पतञ्जलि के अनुसार यह सभी क्लेशों की मूल है और स्वयं भी महाक्लेश है।[३] योगाचार्यों का मत है कि ओघदृष्टि के कारण ही तत्त्वदर्शन में भेददृष्टिगोचर होता है।[४] 'ओघदृष्टि' से ऊपर उठकर साधक 'योगदृष्टि' में प्रवेश करता है। 'योगदृष्टि' 'ओघदृष्टि' से विपरीत होती है। 'ओघदृष्टि' 'योगदृष्टि' की पूर्ववर्ती अवस्था है। आ० हरिभद्र द्वारा किया गया 'ओघदृष्टि' व 'योगदृष्टि' का विभाजन बौद्ध परम्परा से अनुप्राणित प्रतीत होता है।[५]

योगदृष्टि

आ० हरिभद्र ने जीव के कर्ममल की तारतम्यता के भेद से होने वाले बोध को आठ योगदृष्टियों में विभाजित किया है।[६] जैसे-जैसे आत्मा का कर्म-मालिन्य घटता जाता है वैसे-वैसे आत्मा विशुद्धि की ओर बढ़ती जाती है। आत्मा की विशुद्धता के साथ साधक की दृष्टि भी विकसित होती जाती है। उसके समक्ष जो अज्ञानान्धकार होता है वह धीरे-धीरे कम होता जाता है और बोध रूपी प्रकाश में वृद्धि होती जाती है। परिणामस्वरूप साधक को आगे का मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इससे उसका आगे बढ़ने का उत्साह भी बढ़ता जाता है। बढ़ते-बढ़ते वह अन्त में पूर्णता (पूर्णप्रकाश-ज्ञान) प्राप्त कर लेता है। परिणामों की विशुद्धि का यह क्रम विकासशील योगदृष्टियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आ० हरिभद्रसूरि के अनुसार योगदृष्टियाँ आठ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं – मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा।[७]

---

१. अध्यात्म प्रवेशिका, पृ० १४२

२. क) समेघाऽमेघरात्र्यादौ सग्रहाद्यर्भकादिवत् ।
ओघदृष्टिरिह ज्ञेया, मिथ्यादृष्टीतराश्रया ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १४
ख) समेघामेघरात्रिन्दिवरूपदर्शनवत् क्लिष्टाक्लिष्टलौकिकीशैक्ष्यशैक्षीभिर्दृष्टिभिर्धर्मदर्शनम्।
– अभिधर्मकोशभाष्य, १/४१

३. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः। अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम् .....। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३, ४

४. एतन्निबन्धनोऽयं दर्शनभेद इति योगाचार्याः । – योगदृष्टिसमुच्चय, गा० १३ पर स्वो० वृ०

५. क) **Haribhadra's distinction between Oghadṛṣṭi and Yogadṛṣṭi has some parallel in Buddhism.**
— Yogadṛṣṭisamuccaya & Yogaviṁśikā, Preface, p. 5
ख) तुलना : तथौघयोगादृष्टीनां पृथाग्भावस्तु पाटवात् । – अभिधर्मकोश, ५/३७

६. योगदृष्ट्य उच्यन्ते अष्टौ सामान्यतस्तुताः । – योगदृष्टिसमुच्चय, १२

७. मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योग दृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १२, १३

ऐसा प्रतीत होता है कि आ० हरिभद्र को योगदृष्टियों के अष्टविध विभाजन का सुझाव बौद्ध- परम्परा के अभिधर्मकोश[1] और उसके भाष्य में वर्णित[2] आठ दृष्टियों से मिला है। उक्त आठ दृष्टियों के निरूपण में पतञ्जलि के अष्टांगयोग (आठ अंगों), भगवद्दत्त द्वारा निरूपित आठ दोषों और भदन्त भास्कर द्वारा प्रतिपादित आठ गुणों में एकसूत्रता दृष्टिगत होती है।[3] योग के आठ अंग और आठ योगदृष्टियों की संख्या बराबर होने से ऐसा प्रतीत होता है कि आ० हरिभद्र का योगदृष्टि-विवेचन पातञ्जलयोगदर्शन से अधिक प्रभावित हुआ है। दृष्टियों के लक्षण से यह भी आभास होता है कि हरिभद्र के समक्ष आध्यात्मिक विकास की प्रणाली में क्रमिक अवस्थाओं की तीन महत्वपूर्ण विवेचनाएँ रही होंगी, जिनको उन्होंने आठ दृष्टियों के रूप में निरूपित किया और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की इस विवेचना में पाई जाने वाली आठ क्रमिक अवस्थाओं में आठ की संख्या को ही यथार्थ मानकर अपने विवेचन का आधार बनाया।[4] इसलिए डॉ० दीक्षित यह मानते हैं कि आ० हरिभद्र द्वारा योगदृष्टियों के रूप में आध्यात्मिक विकास की अवस्थाओं का जो विभाजन किया गया है उसमें जैन-परम्परा का अभिलक्षक कुछ भी नहीं है। वे किसी जैनेतर-परम्परा से लिए गये हैं।[5] परन्तु वास्तविकता यह है कि आ० हरिभद्र ने आध्यात्मिक विकासक्रम में तीन भिन्न-भिन्न परम्पराओं से सहायता लेकर अभिनव दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए साम्प्रदायिक भेद को मिटाने के लिए सभी में साम्य दर्शाने का प्रयास किया है। उनका मत है कि योगदृष्टि में प्रवेश करके साधक जब यम-नियम आदि का अभ्यास करता है तब उसमें (साधक में) विद्यमान खेद, उद्वेग आदि दोषों की निवृत्ति होने लगती है, राग और द्वेष शांत होने लगते हैं तथा परिणामस्वरूप अद्वेष, जिज्ञासा आदि गुणों का उद्भव होने लगता है और मित्रा आदि योग दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं एवं साधक क्रमशः उत्तरोत्तर दृष्टियों को प्राप्त करता जाता है।[6] पतञ्जलि के आठ योगांग,[7] भगवद्दत्त के आठ दोष[8] और भदन्त भास्कर के आठ गुण[9] का जैन-परम्परा से परस्पर सम्बन्ध जोड़ने के लिए आठ दृष्टियों की अभिनव कल्पना आ० हरिभद्र के वैशिष्ट्य और गूढ विचारों की सूचक है।[10] ऐसा प्रतीत होता है कि आ० हरिभद्र ने साधनाक्रम में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हेतु चिन्तन की स्थितियों का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया था।

यहाँ यह विचारणीय यह है कि आठ योगदृष्टियों में भी प्रथम चार दृष्टियाँ मिथ्यात्व युक्त होने से प्रथम गुणस्थानवर्ती मानी जाती हैं। अतः उनका अन्तर्भाव भी 'ओघदृष्टि' में होना चाहिये था, परन्तु

---

१. चक्षुश्च धर्मधातोश्च प्रदेशो दृष्टिः अष्टधा । – अभिधर्मकोश, १/४१

२. द्रष्टव्य : अभिधर्मकोश १/४१ पर भाष्य

३. **Studies in Jain Philosophy, p.2**

४. **Haribhadra seems to have had before him three important treatments of the successive stages in the process of spiritual development, treatments which all enumerated these stages as eight. Having himself decided to devide the process in question into eight stages Haribhadra felt that the eight successive stages occuring in the treatment of his three predecessors exactly corresspond to the eight that were to occure in his own proposed treatment.**
— Yogadṛṣṭisamuccaya & Yogaviṁśikā, p. 26

५. **Yogadṛṣṭisamuccaya & Yogaviṁśikā, p. 24, 25**

६. यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः ।
अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १६

७. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/२१

८. खेदोद्वेगक्षेपोत्थानभ्रान्त्यन्यमुद्गासंगैः युक्तानि हि चित्तानि प्रपंचतो वर्जयेन्मतिमान्।
– उद्धृत : योगदृष्टिसमुच्चय, गा० १६ स्वो० वृ०

९. अद्वेषो जिज्ञासा शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसा ।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिरष्टांगिकी तत्त्वे ।। – वही

१०. एवं क्रमेणैषा सद्दृष्टिः 'सतां' – मुनीनां भगवत्पतञ्जलिभदन्तभास्करबन्धुभगवद्दत्तादीनां योगिनामित्यर्थः 'मता'--इष्टा।
– वही

मिथ्यादृष्टि होने पर भी प्रथम चार दृष्टियों में स्थित जीवों में मिथ्यात्व की वह प्रगाढ़ता नहीं होती जो अन्य सामान्य जीवों में होती है। प्रथम चार दृष्टियाँ आत्मा को सम्यग्दर्शन के समीप लाने में सहायक होती हैं, इसलिए इनका अन्तर्भाव 'योगदृष्टियों' में किया गया है।

जब तक आत्मा में मिथ्यात्व का कुछ भी अंश विद्यमान रहता है, वह सत्क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं हो सकता। प्रथम चार दृष्टियाँ 'मिथ्यादृष्टि' नामक प्रथम गुणस्थानवर्ती होने से 'असत् दृष्टियाँ' कही जाती हैं। पांचवीं दृष्टि में मोहरागमयी ग्रन्थि का भेदन हो जाने से मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इससे साधक के लिए मोक्ष का मार्ग खुल जाता है। उसे आगे उन्नति करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। पांचवीं से आगे की समस्त दृष्टियाँ सम्यग्दर्शन युक्त होती हैं इसलिए उनकी प्रवृत्ति सत्क्रियाओं में ही होती है असत् में नहीं। यही कारण है कि अन्तिम चार दृष्टियों को सत्दृष्टियाँ कहा जाता है।

चूँकि प्रथम चार दृष्टियों में मिथ्यात्व का अंश विद्यमान रहता है, इसलिए इनकी वृत्ति संसाराभिमुखी रहती है, जिससे इनके पतन की भी संभावना होती है। यही कारण है कि आ० हरिभद्र ने इन्हें 'प्रतिपाति' एवं 'सापाया' अर्थात् अपाययुक्त (दोषयुक्त) कहा है। अन्तिम चार दृष्टियाँ सम्यग्दृष्टि जीवों को ही प्राप्त होती हैं। इनमें आत्मा आत्मविकास की ओर उन्मुख होती है। इनमें प्रवेश पाने के पश्चात् साधक का पतन नहीं होता। इसलिए इन्हें अप्रतिपाति और बाधारहित कहा गया है।[1] अप्रतिपाति दृष्टि प्राप्त होने पर ही योगी साधक अपने चरम लक्ष्य की ओर प्रयाण करता है। प्रथम चार दृष्टियाँ यथार्थ ज्ञान से रहित होने के कारण अवेद्यसंवेद्यपद[2] कही जाती हैं[3] जबकि अग्रिम चार दृष्टियाँ यथार्थ ज्ञान से युक्त होने के कारण वेद्यसंवेद्यपद[4] कहलाती हैं।[5] अवेद्यसंवेद्यपद का निराकरण (अतिक्रमण) सत्पुरुषों की संगति और शास्त्र-श्रवण से होता है।[6]

आ० हरिभद्र ने आठ योगदृष्टियों की तुलना क्रमशः तृणाग्नि, कण्डाग्नि, काष्ठाग्नि, दीपकाग्नि, रत्नप्रभा, नक्षत्रप्रभा, सूर्यप्रभा तथा चन्द्रप्रभा से की है[7] जो क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि की द्योतक हैं। चूंकि आ० हरिभद्र ने आठ योग दृष्टियों को पतञ्जलि सम्मत यम-नियम आदि आठ अंगों के समानान्तर नामभेद के साथ दर्शाने का प्रयास किया है और कहा है कि एक योगांग की साधना से एक-एक योगदृष्टि प्राप्त होती है, इसलिए यहाँ योगदृष्टियों के साथ योगांगों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. क) प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्त्रो नोत्तरास्तथा ।
सापाया अपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतरा : ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १६
ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २०/२८

२. जिसमें बाह्यवेध अर्थात् जानने योग्य, अनुभव करने योग्य विषयों के संवेदन और ज्ञान का अभाव हो उसे 'अवेद्यसंवेद्यपद' कहते हैं।

३. क) अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्बणम् ।
पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्तयाभमतः परम् ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ६७; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/२४
ख) अध्यात्मतत्त्वालोक, १०६,

४. जिसमें वेद्य (जानने योग्य) विषयों के पर्याय स्वरूप का संवेदन और ज्ञान किया जा सके, वह 'वेद्यसंवेद्यपद' कहलाता है।

५. सम्यग्घेत्वादिभेदेन लोके यस्तत्त्वनिर्णयः ।
वेद्यसंवेद्यपदतः सूक्ष्मबोधः स उच्यते ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ६५; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/२३

६. अवेद्यसंवेद्यपदमान्ध्यं दुर्गतिपातकृत् ।
सत्संगागमयोगेन जेयमेतन्महात्मभिः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ८५, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/३२

७. क) तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा ।
रत्नतारार्कचन्द्राभाः सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १५
ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २०/२६

योगदृष्टियाँ और योगांग

१. मित्रादृष्टि और यम

मित्रादृष्टि अध्यात्मयोग की प्रथम अवस्था है और प्रथम योगदृष्टि भी है। इसमें दृष्टि सम्पूर्णतया सम्यक् नहीं होती। राग-द्वेष कुछ ही मात्रा में मन्द होते हैं। अतः इस दृष्टि में होने वाला आत्म-बोध भी बहुत धुन्धला, मन्द और क्षणिक होता है। इस दृष्टि की उपमा तिनके के अग्निकण (चिनगारी) से दी गई है,[१] जिसका प्रकाश बहुत कम और क्षणिक होता है, फिर भी वह ओघदृष्टि के घोर अंधकार से भिन्न होता है। इस अवस्था में साधक जिन धार्मिक क्रियाओं का आचरण करता है उसका कुछ लाभ उसे अवश्य मिलता है, जिससे उसके हृदय में आत्मगुणों की स्फुरणा के रूप में आत्मविकास रूप कार्य का बीजारोपण हो जाता है[२] अर्थात् जीव का मोक्ष के प्रति प्रयाण प्रारम्भ हो जाता है। जीव को यह दशा मोक्ष-प्राप्ति में चरमपुद्गलपरावर्तन काल शेष रहने पर ही प्राप्त होती है।[३] भावमल अपेक्षाकृत कम होने से प्रथम दृष्टि प्रथम गुणस्थानवर्ती मानी जाती है। यहाँ यथाप्रवृत्तिकरण की स्थिति होती है अर्थात् जीव राग-द्वेष की ग्रन्थि के प्रदेश के समीप पहुँच जाता है।[४]

मित्रादृष्टि में जीव आत्मोन्नति के लिए योग के प्रथम अंग 'यम' का पालन करता है। इस दृष्टि में शुभ कार्यों के प्रति रुचि, उनको क्रियान्वित करने में खेद का अभाव, तथा समस्त प्राणियों के प्रति द्वेष भाव का अभाव साधक के चित्त में प्रतिष्ठित हो जाता है।[५] ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखने की चेष्टा के कारण ही इस दृष्टि का नाम 'मित्रादृष्टि' रखा गया है। स्मरणीय है कि महर्षि पतञ्जलि ने भी यमों में प्रथम अहिंसा के पालन के परिणामस्वरूप साधक के प्रति सभी प्राणियों में निर्वैर भाव की सिद्धि प्राप्त होने का निर्देश दिया है।[६] उपा० यशोविजय ने भी पतञ्जलि के उक्त मत में सम्मति प्रदान की है।[७]

'यम' का शाब्दिक अर्थ है – संयम, नैतिक कर्त्तव्य या धर्मसाधन। अतः जागतिक अनुशासन से सम्बद्ध व्यापार 'यम' कहे जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भेद से 'यम' के पांच भेद माने हैं,[८] जो जैन-परम्परा में व्रत के रूप में स्वीकृत हैं।[९] जैन-परम्परा में उक्त पांचों व्रत आंशिक रूप से पालन किए जाने पर 'अणुव्रत'[१०] तथा पूर्णरूपेण पालन किए जाने पर 'महाव्रत'

---

१. क) मित्रायां बोधस्तृणाग्निकणसदृशो भवति । – योगदृष्टिसमुच्चय, स्वो० वृ० गा० १५
   ख) मित्रायामिति ..... तृणाग्निकणोद्योतेन सदृशः। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, स्वो० वृ० २१/१
२. क) करोति योगबीजानामुपादानमिह स्थितः ।
   अवन्ध्यमोक्षहेतूनामिति योगविदो विदुः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २२
   ख) योगबीजमुपादत्ते श्रुतमत्र श्रुतादपि । – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/७
३. क) चरमे पुद्गलावर्ते तथा भव्यत्वपाकतः ।.– योगदृष्टिसमुच्चय, २४
   ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/६
४. योगदृष्टिसमुच्चय, ३८–४०; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/२४, २५
५. क) मित्रायां दर्शनं मन्दं यम इच्छादिकस्तथा।
   अखेदो देवकार्यादावद्वेषश्चापरत्र तु ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, २१
   ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/१
६. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३५
७. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/६ एवं स्वो० वृ०
८. क) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३०;
   ख) अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्माकिञ्चनता यमाः। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/२
९. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। – तत्त्वार्थसूत्र, ७/१
१०. दशवैकालिकसूत्र, ४/७ धर्मबिंदु, ३/१६; योगशास्त्र, २/१

कहलाते हैं।[1] पातञ्जलयोगसूत्र में उल्लिखित यम 'व्रत' तो कहे जा सकते हैं परन्तु सार्वभौम न होने के कारण महाव्रत नहीं।[2]

मित्रादृष्टि को प्रथम योगांग 'यम' के समकक्ष इसलिए माना गया है क्योंकि यह प्रथम गुणस्थानवर्ती होने से मिथ्यात्वयुक्त होती है। परन्तु इसमें मिथ्यात्व का कुछ अंश कम होता है परिणामस्वरूप जीव अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह रूप व्रतों/यमों के प्रति निष्ठावान बनता है। जैनदर्शन के व्रत तो सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ श्रद्धान से युक्त अनुष्ठान होते हैं। एक सामान्य व्यक्ति के लिए प्रारम्भ में इन व्रतों का यथार्थ पालन करना असम्भव होता है। इसलिए आ० हरिभद्र ने यम के पांच भेदों में प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि चार-चार भेद किये है।[3] प्रथम दृष्टि में अहिंसादि यमों में प्रवृत्ति न होने पर भी साधक के मन में उनके पालन करने की इच्छा जाग्रत होती है।[4] अतः मित्रादृष्टि में, 'यम' की प्रथम श्रेणी 'इच्छायम' सुलभ होने से ही 'मित्रादृष्टि' और 'यम' में सादृश्य दर्शाया गया है।

२. तारादृष्टि और नियम

'तारा' नामक दूसरी दृष्टि में राग-द्वेष का प्रभाव कुछ अधिक कम होने से आत्मबोध 'मित्रादृष्टि' की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट होता है। इसकी उपमा उपलों की चिनगारी से दी गई है जिनका प्रकाश तृणाग्नि से कुछ अधिक होता है। परन्तु यह प्रकाश पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होने पर भी 'मित्रादृष्टि' के समान ही इष्टकार्य की सिद्धि में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि में होने वाले बोध में स्थायित्व भी नहीं होता।[5] इस दृष्टि में साधक आत्मविकास के लिए अधिक प्रयत्नशील रहता है। वह यमों की अपेक्षा अधिक उन्नतकारी नियमों का पालन रहता है। इनके पालन से वह कलुषित भावों को चित्त से हटाकर आत्मपरिणामों को अधिक निर्मल बनाने की चेष्टा करता है। चित्त अपेक्षाकृत अधिक निर्मल होने से उसका उद्वेग नामक दोष दूर हो जाता है तथा विवेक जगने लगता है। परिणामस्वरूप साधक के मन में अपने दोष और कमियों के लिए खेद तथा आत्मोत्थान के लिए तत्त्वोन्मुखी जिज्ञासा उत्पन्न होती है।[6] उसके फलस्वरूप योग-कथाओं में अवच्छिन्न प्रीति, शुद्धाचरण करने वाले योगियों के प्रति आदरभाव, उपद्रव-हानि श्रद्धावृद्धि, अशुभकर्मों से सहजनिवृत्ति, भवभय से निवृत्ति, द्वेषभाव राहित्य, शास्त्रज्ञान के प्रति तीव्र जिज्ञासा एवं प्राप्त ज्ञान के प्रति असंतोष तथा अन्त में शिष्टजनों के प्रति प्रामाणिकता का भाव उत्पन्न होता है।[7] पातञ्जलयोगसूत्र में भी नियमों के सर्वात्मना पालन से अपने शरीर के प्रति जुगुप्सा एवं परसंसर्ग का अभाव, सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियजय तथा आत्मसाक्षात्कार की योग्यता, अपूर्व सुखानुभूति एवं अशुद्धिक्षय के फलस्वरूप कायसिद्धि, इन्द्रियसिद्धि, इष्टदेव का सान्निध्यलाभ तथा समाधिसिद्धि आदि की प्राप्ति का निर्देश किया गया है।[8]

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २६/१२; मूलाचार, ४; तत्त्वार्थसूत्र, ७/१२; रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७२; ज्ञानार्णव, ८/२ (१)

२. क) जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/५
ख) दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/२

३. एते च इच्छाप्रवृत्तिस्थैर्यसिद्धिभेदा इति वक्ष्यति। – योगदृष्टिसमुच्चय, स्वो० वृ० २१

४. योगदृष्टिसमुच्चय, २१; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २१/७

५. तारायां तु बोधो गोमयाग्निकणसदृशः, अयमप्येवंकल्प एव, तत्त्वतो विशिष्टस्थितिवीर्यविकलत्वात्, अतोऽपि प्रयोगकाले स्मृतिपाटवारिद्धेः तदभावे प्रयोगवैकल्यात्, ततस्तथा तत्कार्याभावादिति। –योगदृष्टिसमुच्चय, स्वो० वृ०, गा० १५

६. तारायां तु मनाक्स्पष्टं नियमश्च तथाविधः ।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ४१; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/१

७. योगदृष्टिसमुच्चय, ४२–४८; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/६–९

८. पातञ्जलयोगसूत्र, २/४०–४५; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/३, ४

व्यक्ति के अनुशासन के लिए लागू होने वाले चारित्र सम्बन्धी विधान 'नियम' के नाम से जाने जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने पांच प्रकार के नियमों का उल्लेख किया है – १. शौच, २. संतोष, ३. स्वाध्याय, ४. तप और ५. ईश्वर-प्रणिधान।[१] शौच का अर्थ है 'शुद्धि'। बाह्य और आभ्यन्तर भेद से शौच के दो भेद कहे गए हैं। मिट्टी, जल आदि के द्वारा शरीर के बाहरी अंगों को शुद्ध करना तथा मेध्य आहार आदि द्वारा शरीर के आंतरिक विकारों को दूर करना 'बाह्य शौच' है। चित्तगत मलों को दूर करना, 'आभ्यन्तर शौच' है।[२] जीवनयापन के आवश्यक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की अस्पृहा 'संतोष' है।[३] द्वन्द्वों का सहना 'तप' है। द्वन्द्व से तात्पर्य क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्णता, आसन-स्थान तथा काष्ठमौन एवं आकारमौन आदि हैं।[४] प्रणव आदि पवित्र मन्त्रों का जप करना तथा मोक्ष-मार्ग की ओर प्रवृत्त कराने वाले शास्त्रों का निरन्तर अध्ययन करते रहना 'स्वाध्याय' कहलाता है।[५] सभी (लौकिक व वैदिक) कर्मों को (फलाकांक्षा के बिना) परमगुरु ईश्वर को समर्पित कर देना 'ईश्वर-प्रणिधान' है।[६] पातञ्जलयोगसूत्र में नियमों के पालन के सम्बन्ध में पूर्ण प्रतिष्ठा की कोई शर्त नहीं रखी गई। इससे ज्ञात होता है कि साधक जितना इनका पालन करता है, उतना ही उसे लाभ मिलता है।

जैन मन्तव्यानुसार नियमकाल (समय) की मर्यादा को लेकर किये जाने वाले आचार 'नियम' कहलाते हैं।[७] नियम के अन्तर्गत 'पर' के सम्बन्धों को लेकर 'स्व' के अनुशासन के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल की मर्यादा सहित व्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, आदि धारण किये जाते हैं।[८] (इनका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है)।

उपा० यशोविजय ने पतञ्जलि द्वारा निरूपित नियमों की अपने ही ढ़ंग से व्याख्या की है। उन्होंने 'शौच' से भावशौच को बाधित न करने वाला द्रव्यशौच अर्थ ग्रहण किया है।[९] द्रव्यशौच के अन्तर्गत स्नान, शरीर-शुद्धि, बाह्य स्थान-शुद्धि आदि परिगणित हैं। भावशौच आत्मा का निर्मल परिणाम है। संतोष आदि भाव अंतरंग शुद्धि रूप हैं। अंतरंग शुद्धि होने से व्यक्ति की तृष्णा समाप्त हो जाती है इसलिए असंतोष का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दृष्टि से भावशौच के अंतर्गत ही संतोष का समावेश सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि यशोविजय ने संतोष को पृथक् रूप से परिगणित करना आवश्यक नहीं समझा। तप के सम्बन्ध में जैन मान्यतानुसार क्षुधा और शरीर की कृशता तप का लक्षण नहीं है। अपितु तितिक्षा (क्रोध और दीनता से रहित सहन परिणाम वांली क्षमा) तथा ब्रह्मगुप्ति (नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य पालन का उपाय) आदि स्थान रूप बोध ही तप है।[१०] जैनदर्शन में ही अन्यत्र विषय-कषायों का निग्रह करके ध्यान व स्वाध्याय में निरत होते हुए आत्मचिन्तन को तप कहा गया है।[११] तप के विषय में ही यशोविजय का

---

१. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३२; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/२
२. तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। – व्यासभाष्य, पृ० २८२
३. संतोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। – वही
४. तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वं च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। – वही, पृ०२८२, २८३
५. स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। – पातञ्जलयोगसूत्र, पृ० २८४
६. ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। – वही, पृ० २८४
७. क) नियमः परिमितकालः। – रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३/४१
   ख) नियमो नियतकालव्रतम् । – आत्मानुशासन, २२५
८. नियमा पडिमादयो अभिग्गहविसेसा। – दशवैकालिकसूत्र, २/४ पर चूर्णि
९. भावशौचानुपरोध्येव द्रव्यशौचं बाह्यमादेयमिति तत्त्वदर्शिनः। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३२ पर यशो० वृ०
१०. बुभुक्षा देहकार्श्यं वा तपसो नास्ति लक्षणम्।
    तितिक्षा ब्रह्मगुप्त्यादिस्थानं ज्ञानं तु तद्वपुः ।। – अध्यात्मसार, ६/१८/१५८
११. विसयकसायविणिग्गहभावं कादूण झाणसज्झाए।
    जो भावदि अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।। – द्वाद्वशानुप्रेक्षा, ७७

कहना है कि जिस तप के करने से क्रोधादि कषायों का नाश, ब्रह्म और वीतराग का ध्यान होता है, उसे ही शुद्ध और निर्दोष तप समझना चाहिये।[१] जैन मतानुसार सत्शास्त्रों को मर्यादापूर्वक पढ़ना, विधिसहित अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है।[२] जैनागमों में स्वाध्याय को तप का ही एक भेद माना गया है इसलिए जैन योगाचार्यों ने पृथक् रूप से स्वाध्याय की चर्चा नहीं की। जैन शास्त्रों में ईश्वर-प्रणिधान की अपेक्षा 'प्रणिधान' शब्द का प्रयोग दिखाई देता है, जिसका अर्थ है – परमगुरु स्वरूप प्रभु में ही सब शुभाशुभ कर्मों को अर्पण कर देना अथवा कर्मफल का त्याग कर देना।[३]

हरिभद्रादि प्रमुख जैनयोगाचार्यों में केवल यशोविजय ने ही पातञ्जलयोगसूत्र वृत्ति में ईश्वर-प्रणिधान के संबंध में स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। उनके मत में प्रत्येक अनुष्ठान के मुख्य प्रवर्तक शास्त्र का स्मरण कर (दृष्टि के सम्मुख रखकर) तद्द्वारा उसके आदि उपदेशक परमगुरु (वीतराग) को हृदय में स्थान देना 'ईश्वर-प्रणिधान' है।[४] जैनमतानुयायियों की ईश्वर-स्मृति पातञ्जलयोगसूत्र के ईश्वर-प्रणिधान से भिन्न है क्योंकि पतञ्जलि का ईश्वर तो कल्पना मात्र है, जिसका न कोई रूप है, न ध्येयाकार है। परन्तु जैनों के ध्येय जिनेश्वर (वीतराग) साक्षात् इस धरती पर पैदा हुए हैं। अतः उनका रूप और आकार दोनों हैं। जैन प्रतिमाओं में जिनेश्वर का वही स्वरूप परिलक्षित होता है। साधक उसके ध्यान से उस स्वरूप को अपने अन्तःकरण में धारण करके आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति करता है, इसीलिए कहा गया है कि मुनीन्द्र को हृदय में स्थापित करने पर सब कार्यों की सिद्धि होती है।[५]

तारा नामक द्वितीय दृष्टि की 'नियम' नामक द्वितीय योगांग से तुलना करने का महत्वपूर्ण कारण यह है कि इस दृष्टि में साधक मिथ्यात्व का अंश कुछ कम होने से नियमों के प्रति निष्ठावान बनता है।[६] पतञ्जलि के संतोषादि पांचों नियम हरिभद्र द्वारा निरूपित पूर्वसेवा में समाविष्ट हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यमों की भांति नियम भी योग की आधारभूमि हैं।

३. बलादृष्टि और आसन

'मित्रा' और 'तारा' नामक दो दृष्टियों में जो अल्पबोधप्रकाश होता है, वह 'बला' नामक तृतीय दृष्टि में अपेक्षाकृत कुछ बढ़ जाता है। इस दृष्टि में होने वाले प्रकाश में पहले की अपेक्षा अधिक समय तक स्थिर रहने की विशिष्टता होती है। ऐसे प्रकाश की उपमा काष्ठ की चिनगारी से दी गई है।[७]

इस दृष्टि में साधक अपनी आत्मोन्नति के लिए अधिक पुरुषार्थ करता है। शरीर की चंचलता को दूर कर स्थिरता लाने के लिए योग-साधना में 'आसन' क्रिया का आश्रय लेता है। परिणामस्वरूप साधक को दर्शन में दृढ़ता, तत्त्वश्रवण की उत्कट अभिलाषा, विक्षेपों का अभाव, असत्तृष्णा का अभाव, निर्बाध

---

१. यत्र रोधः कषायाणां, ब्रह्मध्यानं जिनस्य च।
ज्ञातव्यं तत्तपः शुद्धमवशिष्टं तु लंघनम्।। – अध्यात्मसार, ६/१८/१५७

२. सुष्ठु आ-मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः। – स्थानांगसूत्र, अभयदेववृत्ति, ३४६ पृ० २३३

३. सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलं संन्यासो वा। – मूलाराधना पर कर्णाटक वृत्ति

४. सर्वत्रानुष्ठाने मुख्यप्रवर्तकशास्त्रस्मृतिद्वारा तदादिप्रवर्तकपरमगुरोर्हृदये निधानमीश्वरप्रणिधानम्।
– पातञ्जलयोगसूत्र, २/१ पर यशो० वृ०

५. अस्मिन् हृदयस्थे सति, हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति।
हृदयस्थिते च तस्मिन्नियमात् सर्वार्थसंसिद्धि।। – षोडशक, २/१४; पातञ्जलयोगसूत्र २/१ पर यशो० वृ०

६. विज्ञाय नियमानेतानेवं योगोपकारिणः।
अत्रैतेषु रतो दृष्टौ भवेदिच्छादिकेषु हि।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/५

७. क) बलायामप्येष काष्ठाग्निकणकल्पो विशिष्ट ईषदुक्तबोधद्वयात्, तद्भवतोऽत्र मनाक् स्थितिवीर्ये, अतः पटुप्राया स्मृतिरिह प्रयोगसमये तद्भावे चार्थप्रयोगमात्रप्रीत्या यत्नलेशभावादित। – योगदृष्टिसमुच्चय, स्वो० वृ० गा० १५
ख) बलायां दृष्टौ दर्शनं दृढं काष्ठाग्निकणोद्योतसममिति कृत्वा। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, स्वो० वृ० २२/१०

प्रणिधान, लौकिक जीवन में स्थिरता, समस्त कर्मफलों का नाश, साधना में निर्बाध प्रगति एवं अभ्युदय की प्राप्ति अनायास हो जाती है।[1] पातञ्जलयोगसूत्र में भी आसनसिद्धि के परिणामस्वरूप भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से पीड़ा तथा बाधाओं से निवृत्ति की बात कही गई है।[2]

'आसन' साधना-पद्धति का वह अंग है जो शरीर, मन और मस्तिष्क को संतुलित रखने में सहायक है। परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए जप, तप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि जिन साधनों का अभ्यास किया जाता है उनमें आसन 'पूर्वभूमिका' के रूप में उपयोगी माना जाता है। उक्त योग-साधनों का अभ्यास प्रारम्भ करने से पूर्व 'आसन' की स्थिरता की अनिवार्यता प्रायः सभी योग-पद्धतियों में स्वीकृत है। आ० हरिभद्र,[3] शुभचन्द्र,[4] हेमचन्द्र[5] तथा उपा० यशोविजय[6] ने भी शारीरिक स्थिरता एवं ध्यान की सिद्धि हेतु आसन की महत्ता को स्वीकार किया है।

योग-साधना क्रम में बैठने के विशेष ढंग को 'आसन' कहा गया है। वैसे तो बैठने के असंख्य ढंग हैं। प्रत्येक व्यक्ति के बैठने के अलग-अलग समय में अलग-अलग काम के लिए अलग-अलग ढंग हो सकते हैं। अतः आसनों की संख्या भी असंख्य है। परन्तु महर्षि पतञ्जलि ने न किसी आसन विशेष का नामोल्लेख किया है और न ही आसनों के भेदों का वर्णन किया है। उन्होंने बैठने का तरीका साधक की इच्छा पर ही छोड़ दिया है। आसन की परिभाषा में उन्होंने इतना ही कहा है कि जिससे स्थिरतापूर्वक सुख से बैठा जा सके, वही आसन है।[7] भाष्यकार व्यास ने पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यंकासन, क्रौंचनिषदनासन, हस्तिनिषदनासन, उष्ट्रनिषदनासन, समसंस्थानासन, स्थिरसुखासन तथा यथासुखासन – इन १३ आसनों के नाम गिनाकर आदि पद से अन्य आसनों की ओर भी संकेत किया है।[8]

जैनयोग-परम्परा में भी आसन को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर उसका वर्णन किया गया है। वहाँ आसन के लिए 'स्थान' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। आ० हरिभद्र[9] तथा उपा० यशोविजय ने[10] 'स्थान' शब्द का प्रयोग किया है। 'आसन' का अर्थ है – 'गति की निवृत्ति'। स्थिरता आसन का महत्वपूर्ण स्वरूप है, जिसे खड़े रहकर, बैठकर और लेटकर – तीनों स्थितियों में किया जा सकता है। इस दृष्टि से 'आसन' की अपेक्षा 'स्थान' शब्द अधिक व्यापक है।

---

१. योगदृष्टिसमुच्चय, ४६–५६; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/१०–१५
२. ततो द्वन्द्वानभिघातः। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/४८
३. ठाणा कायनिरोहो तक्कारीसु बहुमानभावो य।
दंसा य अगणणम्मि वि वीरियजोगो य इट्ठफलो।। – योगशतक, ६४
४. अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः।।
आसनाभ्यासवैकल्याद्वपुःस्थैर्यं न विद्यते।
खिद्यन्ते त्वंगवैकल्यात् समाधिसमये ध्रुवम्।।
वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते।। – ज्ञानार्णव, २६/३०–३२
५. योगशास्त्र, ४/१२३
६. अध्यात्मसार, ५/१५/८०–८२; ज्ञानसार, ३०/६–८
७. स्थिरसुखमासनम् ।– पातञ्जलयोगसूत्र, २/४६
८. तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दंडासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौंचनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि। – व्यासभाष्य, पृ० २६६
९. योगविंशिका, २
१०. योगविंशिका, गा० २ पर यशोविजयवृत्ति

जैनयोग-परम्परा किसी आसन विशेष का प्रयोग करने में आग्रह नहीं रखती, इसलिए आ० शुभचन्द्र[1] एवं हेमचन्द्र[2] ने जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन स्थिर होता है, उसी-उसी का साधन रूप में प्रयोग अपेक्षित बताया है।

जैनागमों में वीरासन, उत्कटिकासन, दण्डासन, पद्मासन, गोदोहिका आसन, हंसासन, पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, लंगडासन आदि अनेक आसनों के उल्लेख यत्र तत्र प्राप्त होते हैं।[3] आ० हरिभद्र ने 'स्थान' पद से पद्मासनादि का ग्रहण किया है।[4] 'आदि' शब्द से यह सूचित होता है कि उन्हें अन्य आसन भी मान्य थे। आ० शुभचन्द्र ने पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखपूर्व आसन (सुखासन) और अरविन्दपूर्व आसन (पद्मासन) तथा कायोत्सर्ग आदि को ध्यान के लिए अभीष्ट माना है।[5] आ० हेमचन्द्र ने पर्यंकासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसनों का नामोल्लेख करने के पश्चात् क्रमशः उनका लक्षण भी प्रतिपादित किया है।[6] योगशास्त्र की टीका में उन्होंने आम्रकुब्जिकासन, क्रौंचासन, हंसासन, अश्वासन, गजासन, लगुड़शायित्वासन, समसंस्थान आसन, दुर्योधनासन, दण्डपद्मासन, स्वस्तिकासन, सोपाश्रयासन आदि का उल्लेख भी किया है।[7] उपा० यशोविजय ने 'स्थान' शब्द से 'आसन' अर्थ ग्रहण करते हुए कायोत्सर्ग, पर्यंकबन्ध तथा पद्मासन का नामोल्लेख किया है तथा आदि शब्द से समस्त शास्त्रों में प्रसिद्ध आसनों के लिए अपनी स्वीकृति प्रकट की है।[8]

४. दीप्रादृष्टि और प्राणायाम

अभ्यास बढ़ने से राग-द्वेष रूपी कर्ममल अपेक्षाकृत कम होते जाते हैं और साधक के चित्तगत परिणाम पूर्वोक्त तीन दृष्टियों की अपेक्षा अधिक निर्मल हो जाते हैं। अतः इस 'दीप्रा' नामक चतुर्थ दृष्टि में होने वाला बोध-प्रकाश भी पहले की अपेक्षा विशिष्ट कोटि का होता है, जिसे आ० हरिभद्रसूरि ने दीपक के प्रकाश के तुल्य माना है। यद्यपि इस दृष्टि तक मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान ही होता है तथापि अत्यन्त अल्प मिथ्यात्व होने से यह उसकी अन्तिम पराकाष्ठा मानी गई है।[9] चूँकि इसमें मिथ्यात्व का कुछ अंश विद्यमान रहता है, इसलिए जीव में हेय-उपादेय का विवेक जागृत नहीं हो पाता। परन्तु राग-द्वेष के कम होने से आत्मदशा में निर्मलता अपेक्षाकृत अधिक बढ़ने लगती है। बोध स्पष्ट होने से आचरण भी शुद्ध और पवित्र बनता जाता है। इस दृष्टि में साधक 'प्राणायाम' नामक चतुर्थ योगांग का अभ्यास करता

---

१. येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्।। – ज्ञानार्णव, २६/११

२. जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम्।। – योगशास्त्र, ४/१३४

३. स्थानांगसूत्र, ३६६, ४६०; आचारांगसूत्र, ६/३/११; सूत्रकृतांगसूत्र, २, २; भगवतीसूत्र, १/११; प्रश्नव्याकरण, १६१; उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/२७; ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र, १/१; मूलाराधना ३/२२३–२२४ तथा उस पर विजयोदया वृत्ति; बृहद्कल्पभाष्य, ५४५३, ५४५५ तथा वृत्ति; उपासकाध्ययन, ३६/७३२

४. स्थानात् - पद्मासनादेः .....। – योगशतक, गा० ६४ पर स्वो० वृ०

५. पर्यंकमर्धपर्यंकं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च संमतः।। – ज्ञानार्णव, २६/१०

६. योगशास्त्र, ४/१२४–१३३

७. योगशास्त्र, ४/१३३ पर स्वो० वृ०

८. स्थीयतेऽनेनेति स्थानं–आसनविशेषरूपं कायोत्सर्गपर्यंकबन्धपद्मासनादि सकलशास्त्रप्रसिद्धम्।
– योगविंशिका, गा० २ पर यशो० वृ०

९. दीप्रायां चैष दीपप्रभातुल्यो विशिष्टतर उक्तबोधत्रयात्,.....इति प्रथमगुणस्थानकप्रकर्ष एतावानिति समयविदः।
– योगदृष्टिसमुच्चय, स्वो० वृ० गा० १५

है, जिससे चित्त को एकाग्र करने में सरलता होती है। साधक की बाह्याभिमुखीवृत्ति अन्तर्मुखी होने लगती है। परिणामस्वरूप साधक का उत्थान नामक दोष नष्ट हो जाता है और तत्त्वश्रवण नामक गुण उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि में अपूर्व ज्ञान का उदय तो होता है परन्तु उस ज्ञान में सूक्ष्म बोध नहीं हो पाता।[१] इस अवस्था में साधक को धर्म के प्रति प्राणों से भी अधिक प्रेम होने लगता है।[२]

आ० हरिभद्र ने 'दीप्रादृष्टि' का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया है। इस प्रकरण में उन्होंने वेद्यसंवेद्य, अवेद्यसंवेद्य, कुतर्क, परोपकार, प्रमाणमीमांसा, अनेकान्तदृष्टि, भक्ति, इष्टापूर्त्तकर्म अर्थात् परार्थ कूप,तडाग आदि का निर्माण आदि प्रसंगों की भी विस्तारपूर्वक चर्चा की है।[३] इसी सन्दर्भ में उन्होंने बोध अर्थात् तत्त्वज्ञान का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है।[४]

आध्यात्मिक विकास के लिए चित्त का निरोध और चित्त के निरोध के लिए प्राण का निरोध आवश्यक है, क्योंकि जब तक श्वास की प्रक्रिया चलती रहती है तब तक चित्त भी उसके साथ चंचल रहता है। जब श्वासवायु की गति स्थगित हो जाती है तब मन में भी स्थिरता/निष्पन्दता आ जाती है। इसलिए योगसूत्रकार पतञ्जलि ने चित्त को नियन्त्रित करने के उपाय स्वरूप प्राणवायु को नियन्त्रित करने का उपदेश दिया है और कहा है कि 'आसन' के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद होना ही 'प्राणायाम' है।[५] प्राणायाम के तीन प्रकार हैं – रेचक, पूरक और कुम्भक। पातञ्जलयोग की भाषा में इन्हें क्रमशः बाह्यवृति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति कहा गया है।[६] इसके अतिरिक्त प्राणायाम का चौथा भेद भी बताया गया है जहाँ देश, काल और संख्या के ज्ञान के बिना ही अपने आप जिस किसी देश विशेष में प्राणों की गति का निरोध होता है।[७]

प्राचीन जैनयोग ग्रन्थों में यद्यपि योगसाधना के अंग के रूप में प्राणायाम को मान्यता नहीं दी गई, तथापि उनमें प्राप्त उल्लेखानुसार प्राचीनकाल में पूर्वज्ञान के धारक उत्कृष्ट योगी महाप्राण-ध्यान की साधना किया करते थे। पूर्वज्ञान और दृष्टिवाद अंग की विलुप्ति के साथ यह ध्यान-साधना भी विलुप्त हो गई। अब तो इस ध्यान-साधना और साधकों का उल्लेख मात्र ही शास्त्रों में प्राप्त होता है। इस महाप्राण-ध्यान-साधना के साधकों में आ० भद्रबाहु का नाम विशेष रूप से लिया जाता है।[८] कायोत्सर्ग की प्रक्रिया में भी श्वासोच्छ्वास युक्त कायोत्सर्ग साधना करने का विधान मिलता है।[९] श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म प्रक्रिया की स्वीकृति प्राणायाम की ही स्वीकृति मानी जानी चाहिये। पश्चात्वर्ती जैन ग्रन्थों में हठयोग द्वारा मान्य प्राणायाम की साधना-पद्धति एवं भद्रबाहु की महाप्राण-साधना के अनुरूप प्राणायाम का वर्णन किया गया है।

जैनयोग में 'प्राणायाम' से श्वास-प्रश्वास का निरोध अर्थ अभिप्रेत नहीं है। वहाँ प्राणायाम से 'भावप्राणायाम' अर्थ लिया गया है। यह वह अवस्था है जिसमें साधक अपने भावमलों को दूर कर निर्मल

---

१. प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम् ।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधविवर्जिता ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ५७; द्रष्टव्य : द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/१६

२. प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः सत्यामस्यामसंशयम् ।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं, न धर्मं प्राणसंकटे ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, ५८; द्रष्टव्य : द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/२०

३. योगदृष्टिसमुच्चय, ६५–११७; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/२३ – ३२

४. योगदृष्टिसमुच्चय, १२०–१२२, १२४–१२६

५. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। –पातञ्जलयोगसूत्र, २/४६

६. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। – वही, २/५०

७. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/५१

८. जैनयोग : सिद्धान्त और साधना, पृ० ६२–६३

९. आवश्यकनिर्युक्ति, कायोत्सर्ग अध्ययन; अमितगति श्रावकाचार, ८/६७

बनाने का प्रयत्न करता है। उपा० यशोविजय ने 'भावप्राणायाम' का विवेचन करते हुए बहिर्वृत्ति को रेचक, अन्तर्वृत्ति को पूरक तथा अन्तर्वृत्ति के स्तम्भन/निरोध को कुंभक कहा है। उनके अनुसार बाह्य भाव का रेचन करके अन्तर्भाव का पूरण करना और निश्चित अर्थ में कुंभक करना 'भावप्राणायाम' है।[1] दूसरे पतञ्जलि आदि योगाचार्यों ने प्राणायाम से धारणा की योग्यता बढ़ने, प्रकाशावरण के क्षीण होने की जो बात कही है,[2] वह साधक की योग्यता पर निर्भर है। आत्म-योग्यता (आत्म-सामर्थ्य) के सध जाने पर ही ऐसा होना सम्भव है।[3] आ० हरिभद्र ने भी प्राणायाम से 'भावप्राणायाम' अर्थ स्वीकार किया है। अध्यात्ममूलक तपोयोग में भी भाव को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। यद्यपि हरिभद्र के ग्रन्थों पर पातञ्जलयोग, हठयोग एवं अन्य साधना-प्रणालियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और उन्होंने भावमलों की अल्पता सूचित करने के लिए दीप्रादृष्टि को प्राणायाम के सदृश भी बताया है, परन्तु प्राणायाम के स्वरूप-विधि आदि पर कोई प्रकाश नहीं डाला।

परवर्ती जैनाचार्यों में आ० शुभचन्द्र[4] ने प्राणायाम को मनोविजय का साधन और आ० हेमचन्द्र[5] ने इसे ध्यान की सिद्धि तथा मन को एकाग्र करने का आवश्यक साधन बताया है। आ० शुभचन्द्र आदि जैनाचार्यों ने प्राचीन योग-परम्परा में प्रचलित प्राणायाम के तीन प्रकारों रेचक, पूरक और कुम्भक[6] का ही वर्णन किया है, जबकि आ० हेमचन्द्र ने इन तीन प्रचलित प्राणायामों में प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर, इन चार प्रकार के अन्य प्राणायामों को जोड़कर सात प्रकार के प्राणायाम की चर्चा भी की है।[7] आ० शुभचन्द्र ने 'परमेश्वर' नामक एक अन्य प्राणायाम का भी उल्लेख किया है।[8]

जैन-परम्परा में प्राणायाम के सम्बन्ध में दो मत मिलते हैं। प्रथम मत के अनुसार प्राण का निरोध करने पर शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है, शरीर में पीड़ा होने से मन में चंचलता उत्पन्न होती है। पूरक, कुम्भक और रेचक में परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम करने से मन में संक्लेश उत्पन्न होता है

---

१. रेचकः स्याद्बहिर्वृत्तिरन्तर्वृत्तिश्च पूरकः ।
कुम्भकः स्तंभवृत्तिश्च प्राणायामस्त्रिधेत्ययम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/१७

२. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । धारणासु च योग्यता मनसः । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/५२, ५३

३. धारणायोग्यता तस्मात् प्रकाशावरणक्षयः ।
अन्यैरुक्तः क्वचिच्चैतद्युज्यते योग्यतानुगम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/१८

४. सुनिर्णीतस्वसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते ।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ।।
अतः साक्षात् स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिभिः ।
मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः ।। – ज्ञानार्णव, २६/४१, ४२

५. प्राणायामस्ततः कैश्चिदाश्रितो ध्यानसिद्धये ।
शक्यो नेतरथा कर्तुं मनःपवननिर्जयः ।। – योगशास्त्र, ५/१

६. (क) रेचकः पूरकश्चैव, कुम्भकश्चेति स त्रिधा । – योगशास्त्र, ५/४
(ख) त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ।। – ज्ञानार्णव, २६/४३
(ग) रेचकः स्याद्बहिर्वृत्तिरन्तर्वृत्तिश्च पूरकः ।
कुम्भकः स्तंभवृत्तिश्च प्राणायामस्त्रिधेत्ययम् ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २२/१७

७. प्रत्याहाररतथा शान्तः उत्तरश्चाधरस्तथा ।
एभिर्भेदैश्चुतर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परैः ।। – योगशास्त्र, ५/५

८. नाभिकन्दाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते तु विश्रान्तं तं ज्ञेयं परमेश्वरम् ।। – ज्ञानार्णव, २६/४७

और मन की संक्लेशमय स्थिति मोक्ष में बाधक होती है।[1] दूसरे मतानुसार प्राणायाम से शरीर को कुछ देर के लिए साधा तो जा सकता है,[2] परन्तु साध्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस क्रिया से मोक्षलाभ नहीं हो सकता।[3]

उपा० यशोविजय ने तो स्पष्टतः प्राणायाम का निषेध किया है। उनका मंतव्य है कि प्राणायाम चित्तनिरोध का और इन्द्रियजय का साधन नहीं है, इससे योग-साधना में विघ्न उपस्थित होता है। जैनागमों में भी इसका निषेध किया गया है, इसलिए प्राणायाम को मान्यता नहीं दी जा सकती।[4]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि निर्युक्तिकार ने तत्काल मरण की सम्भावना की दृष्टि से उच्छ्वास के पूर्ण निरोध का निषेध किया है। चूँकि उच्छ्वास-निरोध का संबंध कुम्भक से है न कि पूरक और रेचक से और निर्युक्तिकार को भी दीर्घकालीन कुम्भक का निषेध अभिप्रेत था, न कि सामान्य कुम्भक का, इसलिए उन्होंने स्वयं उच्छ्वास को सूक्ष्म करने का उल्लेख किया है।[5] अतः यह कहना कि जैनयोग में 'प्राणायाम' को हठयोग का साधन होने के कारण मान्यता नहीं दी गई, अनुचित है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनयोग में प्राणायाम का पूर्णतः (समग्रतया) निषेध नहीं किया गया है अपितु कुछ अंश तक उसे स्वीकारा ही है। प्राणायाम का निषेध करने का मुख्य कारण यह हो सकता है कि प्राणायाम योग्य मार्ग निर्देशक के मार्गदर्शन में करना अपेक्षित है क्योंकि उचित पद्धति के अभाव में अथवा असावधानीवश किए जाने पर प्राणायाम के दुष्परिणाम भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं।[6]

आ० हरिभद्र द्वारा दीप्रादृष्टि को प्राणायाम के सदृश बताने का प्रमुख कारण भावमलों का त्याग कर भावों को निर्मल बनाना था, जो बाह्य भावों के रेचन (त्याग), अन्तरात्मभाव के पूरन तथा उसी के चिन्तन-मनन के कुम्भक (स्थिरीकरण) से सम्भव होता है।

५. स्थिरादृष्टि और प्रत्याहार

प्रथम चार दृष्टियों में मिथ्यात्व अवस्था विद्यमान रहने से ग्रन्थि-भेद नहीं होता। अनन्तानुबन्धि नामक कषाय की राग-द्वेष रूपी बांस की गांठ के समान कठोर, कर्कश और दुर्भेद्य ग्रन्थि सम्यक्त्व की प्राप्ति में बाधक होती है। पांचवीं दृष्टि में उस दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन हो जाता है और साधक को सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप साधक को रत्न की प्रभा के सदृश नित्य एवं सूक्ष्मबोध की प्राप्ति होती है। यह बोध अप्रतिपाती, प्रवर्धमान, निरपाय, दूसरों को सन्ताप न देने वाला, निर्दोष, आनन्ददायक और प्रायः

---

१. (क) तन्नाप्नोति मनःस्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीड़ा, तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः ।।
पूरणे कुम्भने चैव, रेचने च परिश्रमः ।
चित्तसंक्लेश करणात्, मुक्तेः प्रत्यूहकारणम् ।। – योगशास्त्र, ६/४, ५
(ख) प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ।। – ज्ञानार्णव, २७/४–११

२. ज्ञानार्णव, २६/१४०, २६/४३(१); योगशास्त्र, ५/१०–१२

३. योगशास्त्र : एक अनुशीलन, पृ० ४१

४. अनैकान्तिकमेतत्, प्रसह्य ताभ्यां मनो व्याकुलीभावात् "ऊसासं (उस्सासं) ण णिरुंभइ" (आवश्यकनिर्युक्ति १५१०) इत्यादि पारमर्षेण तन्निषेधाच्च, इति वयम् । – पातञ्जलयोगसूत्र १/३४ पर यशो० वृत्ति

५. आवश्यकनिर्युक्ति, १५२४

६. प्राणायामादि युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ।।
हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरः कर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधाः रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ।। – हठयोगप्रदीपिका, २/१६, १७

प्रणिधानादि पाँच आशयों का बीजभूत होता है।[1] आ० हरिभद्र ने स्थिरादृष्टि को अष्टांगयोग के प्रत्याहार के समान माना है और कहा है कि इस दृष्टि के प्राप्त होने पर साधक को पूर्णतया अभ्रान्त, निर्दोष, सूक्ष्मबोध प्राप्त होता है।[2] तमोग्रन्थि का भेद हो जाने से साधक की सभी सांसारिक चेष्टाएँ बालक्रीड़ा मात्र रह जाती हैं। साधक को संसार की क्षणभंगुरता एवं निःसारता का भान, धर्मजनित भोग में अनिष्ट बुद्धि का उदय, हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान तथा इन्द्रिय-संयम होता है तथा उसके सभी प्रयत्न धर्म-बाधा के परिहार के प्रसंग में होते हैं।[3]

स्थिरादृष्टि दो प्रकार की कही गई है – सातिचार और निरतिचार। सातिचार स्थिरादृष्टि में होने वाला बोध मल सहित रत्नप्रभा के समान अतिचार युक्त होता है, जो सम्यग्दर्शन के अतिचार युक्त होने से सदा एक-सा नहीं रहता। उसमें न्यूनाधिक्य होता रहता है। इसके विपरीत निरतिचार स्थिरादृष्टि में अतिचारों (दोषों) का अभाव होने से उसमें होने वाला बोध नित्य होता है।[4] धर्म-साधना में दोषों की अल्पता होने से साधक में कुछ यौगिक गुणों का समावेश हो जाता है। आ० हरिभद्रसूरि के मतानुसार अन्य योगाचार्यों द्वारा योगी साधक को प्राप्त होने वाले गुण, जैसे – अचंचलता, नीरोगता, अनिष्ठुरता, मलादि की अल्पता, कान्ति, प्रसाद, स्वरसौम्यता, मैत्रीभाव, विषयों में अनासक्ति, द्वन्द्व-नाश, जनप्रियता, समता, वैरनाश तथा ऋतम्भराप्रज्ञा आदि इस दृष्टि में भी सम्पन्न होते हैं।[5]

पातञ्जलयोगसूत्र में भी प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने की बात कही गई है और उसे परमा (सर्वोत्कृष्ट) वश्यता (इन्द्रियजय) की संज्ञा भी दी गई है।[6] व्यासभाष्य के अनुसार कुछ विद्वान् शब्दादि विषयों में अव्यसन अर्थात् आसक्ति के अभाव को, कुछ अपनी इच्छा से ही शब्दादि विषयों के साथ इन्द्रियों के संप्रयोग (सम्बन्ध) होने को, तथा कुछ शब्दादि विषयों के ज्ञान होने को 'इन्द्रियजय' कहते हैं। योगी जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता होने से उसके अधीन इन्द्रियों की शब्दादि विषयों में प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव ही इन्द्रिय-वश्यता रूप 'इन्द्रियजय' है। इनमें से भाष्यकार इन्द्रियों के निरोध अर्थात् शब्दादि विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध-विच्छेद को ही 'इन्द्रियजय' मानते हैं। अतः चित्तनिरोध ही परमा वश्यता का उपाय है।[7]

'प्रत्याहार' योग का पांचवा अंग है, जिसका अर्थ है – पीछे हटना, रोकना या इन्द्रिय-दमन करना। सूत्रकार पतञ्जलि के अनुसार इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्प्रयोग न होने पर उनका चित्त के स्वरूप में विलीन हो जाना ही 'प्रत्याहार' है।[8]

---

१. स्थिरा तु भिन्नग्रन्थेरेव भवति तद्बोधो रत्नप्रभासमानस्तद्भावाऽप्रतिपाती प्रवर्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत परितोषहेतुः प्रायेण प्रणिधानादियोनिरिति। – योगदृष्टिसमुच्चय, १५, स्वो० वृ०

२. स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।
कृतमभ्रान्तिमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १५४

३. योगदृष्टिसमुच्चय, १५५–१५८

४. स्थिरायां दृष्टौ, दर्शनं–बोधलक्षणं नित्यमप्रतिपाति निरतिचारायाम्, सातिचारायां तु प्रक्षीणनयनपटलोपद्रवस्य तदुक्तोपायानवबोधकल्पमनित्यमपि भवति तथातिचारभावात्। – योगदृष्टिसमुच्चय, १५४, स्वो० वृ०

५. वही, १६१

६. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/५५

७. शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् । सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। चित्तैकाग्र्याद्प्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। ततश्च परमा त्विय वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ।।
-- व्यासभाष्य, पृ० ३१०–३११

८. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/५४

जैन-साधना-पद्धति में मन की प्रवृत्ति का संकोच कर लेने पर होने वाला मानसिक संतोष 'प्रत्याहार' माना गया है।[1] योगदर्शन में 'प्रत्याहार' से जो आशय व्यक्त किया गया है, वही अभिप्राय जैन-परम्परा में प्रतिसंलीनता तप[2] से प्रकट होता है। संलीनता का अर्थ है – पूर्ण रूप से लीन होना। यहाँ 'प्रति' शब्द किसी का वाच्य है। प्रतिसंलीनता का अभिप्राय है – आत्मा के प्रति संलीनता अर्थात् आत्मा के प्रति पूर्णरूप से लीन होना। इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि बाह्यमुखी इन्द्रियों को विपरीत करके, मोड़कर अतंर्मुखी करना, आत्मा में लगाना। जैनागमों[3] में प्रतिसंलीनता के चार प्रकार बताए गए हैं –

१.	इन्द्रियप्रतिसंलीनता	२.	कषायप्रतिसंलीनता
३.	योगप्रतिसंलीनता	४.	विविक्तशयनासनसेवन

प्रत्याहार' प्रतिसंलीनता के प्रथम और द्वितीय प्रकार से साम्य रखता है। साधना के रूप में इन्द्रियों की विषय-विमुखता को राग-द्वेष आदि विकारों की शान्ति के प्रकाश में देखा जा सकता है।

आ० शुभचन्द्र ने समाधि को भली-भाँति सिद्ध करने के लिए प्रत्याहार का उल्लेख किया है। उनके मत में प्राणायाम से विक्षिप्त हुआ मन स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता, परन्तु प्रत्याहार से स्थिर हुआ मन स्वस्थ और समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित होकर समभाव को प्राप्त होता हुआ आत्मा में ही लय को प्राप्त होता है।[4] उन्होंने प्रत्याहार का लक्षण करते हुए कहा है कि योगी इन्द्रियों सहित मन को इन्द्रिय-विषयों से हटाकर उसे इच्छानुसार जहाँ धारण करता है उसे 'प्रत्याहार' कहा जाता है।[5] इसप्रकार मन को स्वाधीन कर लेने पर योगी कछुए के समान इन्द्रियों को संकुचित करके समताभाव को प्राप्त होता हुआ ध्यान में स्थिर हो जाता है[6] और जितेन्द्रिय योगी विषयों से इन्द्रियों को तथा इन्द्रियों से मन को पृथक् (विमुख) करके आकुलता से रहित हुए मन को अतिशय स्थिरतापूर्वक मस्तक में धारण करता है।[7]

आ० हेमचन्द्र के अनुसार बाह्य विषयों से इन्द्रियों के साथ मन को हटाना 'प्रत्याहार' है।[8] उन्होंने अभिधानचिन्तामणि में नेत्रादि इन्द्रियों को रूपादि विषयों से हटाने को 'प्रत्याहार' कहा है।[9] उपा० यशोविजय के शब्दों में, सम्पूर्ण राग-द्वेष से मन को हटाकर आत्मा को अपने में केन्द्रित कर लेना 'प्रत्याहार' है।[10] इसप्रकार पातञ्जल एवं जैन, दोनों योग-परम्पराओं में ध्यान को केन्द्रित करने और राग-द्वेष आदि प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए प्रत्याहार की महत्ता को स्वीकारा गया है। परन्तु उपा० यशोविजय को, पतञ्जलि द्वारा मान्य इन्द्रियों के निरोध को उनकी परमा वश्यता का उपाय मानने

---

१. प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतैः चित्तनिर्वृत्तिः । – आदिपुराण, २१/२३०
२. भगवतीसूत्र, २५/७/८०२; औपपातिकसूत्र, १६
३. औपपातिकसूत्र, १६; स्थानांगसूत्र, ४/१/२६७
४. ज्ञानार्णव, २१/४, ५
५. समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः साक्षं चेतः प्रशान्तधीः ।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते ।। – ज्ञानार्णव, २७/१
६. वही, २७/२
७. वही, २७/३
८. इन्द्रियैः सममाकृष्य विषयेभ्यः प्रशान्तधीः । – योगशास्त्र, ६/६
९. प्रत्याहारस्तु इन्द्रियाणां विषयेभ्यः समाहृति । – अभिधानचिन्तामणिकोश, ८३
१०. विषयासंप्रयोगेऽन्तःस्वरूपानुकृतिः किल ।
प्रत्याहारो हृषीकाणामेतदायत्तताफलः ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/२

में आपत्ति है। उनका कहना है कि इन्द्रियों का निरोध उनकी परमा वश्यता नहीं है। अच्छे या बुरे शब्दादि विषयों के साथ कर्ण आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर तत्त्वज्ञान से रागद्वेष का उत्पन्न न होना भी इन्द्रियों की परमा वश्यता है।[1] अतः परमा वश्यता का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। अपने मत की पुष्टि हेतु वे आचारांगसूत्र को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि जो पुरुष इन शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शों को भली-भाँति जान लेता है, उनमें राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है।[2] शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श की आसक्ति आत्मा की उपलब्धि में बाधक बनती है। इनमें आसक्त मनुष्य अनात्मवान् और अनासक्त मनुष्य आत्मवान् कहलाता है। जिसे आत्मा उपलब्ध होती है उसे ज्ञान, शास्त्र, धर्म और आचार सब कुछ उपलब्ध हो जाता है अर्थात् जो आत्मा को जान लेता है वह ज्ञान, शास्त्र, धर्म और आचार सब कुछ जान लेता है। 'अभिसमन्वागता' का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि विषयों के इष्ट, अनिष्ट, मनोज्ञ, अमनोज्ञ रूप को, उनके उपभोग के दुष्परिणामों को आगे-पीछे से, निकट और दूर से यथार्थ रूप से जान लेता है तथा उनका त्याग करता है, वही आत्मवान् कहलाता है।[3] आत्मा अनित्य, शुद्ध, बुद्ध रूप है। आत्मा के इस यथार्थ रूप को जानना ही इन्द्रिय-जय है।

वस्तुतः शब्दादि विषयों की आसक्ति आत्मा के अभाव में होती है जो इन पर आसक्ति नहीं रखता, वही आत्मा को भली-भाँति उपलब्धि कर सकता है। जो आत्मा को उपलब्ध कर लेता है उसे आगमधर्म और ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। अन्यत्र भी कहा गया है कि रूप आदि विषय के सामने आ जाने पर चक्षु उसे न देखने में समर्थ नहीं होता अर्थात् सामने आने पर चक्षु अपने विषय को अवश्य देखेगा। अतः भिक्षु को चाहिए कि वह राग-द्वेष का त्याग करे।[4] परमा वश्यता का एक मात्र उपाय ज्ञान ही है, चित्त-निरोध नहीं।[5] ज्ञान भी अध्यात्म भावना से होने वाले समभाव प्रवाह वाला होना चाहिये। यही ज्ञान राजयोग है।

संक्षेप में, चित्त का जय हो या बाह्य इन्द्रियों का जय हो, सबका मुख्य उपाय उक्त ज्ञान रूप राजयोग ही है, प्राणायाम आदि हठयोग नहीं। ज्ञान प्राप्ति के लिए ही जैनदर्शन में वर्णित पंच महाव्रत और अणुव्रत, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि को महत्व दिया गया है।

आ० हरिभद्रसूरि ने स्थिरादृष्टि को प्रत्याहार के समकक्ष इसलिए कहा है क्योंकि इस दृष्टि में ग्रन्थि-भेद हो जाने से साधक का बोध इतना बढ़ जाता है कि उसे सांसारिक चेष्टाएँ बाल-धूलि क्रीड़ा के समान भासित होती हैं और उसकी इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर आत्मा में केन्द्रित होने लगती हैं। 'प्रत्याहार' में भी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से हटकर आत्ममुखी होती हैं।

६. कान्तादृष्टि और धारणा

'कान्ता' नामक छठी दृष्टि में तारे की प्रभा जैसा स्पष्ट एवं स्थिर बोध होता है। परिणामस्वरूप

---

१. व्युत्थानध्यानदशासाधारणं वस्तुस्वभावभावनया स्वविषयप्रतिपत्तिप्रयुक्तरागद्वेषरूपफलानुपधानमेवेन्द्रियाणां परमो जयः इति तु वयम् । – पातञ्जलयोगसूत्र, यशो० वृत्ति २/५५

२. (क) "जस्सिमे सद्दा य रूपा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं"। – आचारांगसूत्र, ३/१/४ ; उद्धृत : पातञ्जलयोगसूत्र, यशो० वृत्ति २/५५

३. अत्र "अभिसमन्वागता" इत्यस्य अभीत्याभिमुख्येन मनःपरिणामपरतन्त्रा इन्द्रियविषयादत्युपयोगलक्षणेन (?) समिति सम्यक्स्वरूपेण नैते इष्टा अनिष्टा वेति निर्धारणया, अनु पश्चादागताः परिच्छिन्नाः यथार्थस्वभावेन यस्येत्यर्थः, स आत्मवानित्यादि परस्परगिन्द्रियजयस्य फलार्थवादः । – पातञ्जलयोगसूत्र, यशो० वृ० २/५५

४. "ण सक्का रूवमद्दट्ठु, चक्खू विसयमागयं ।
रागद्दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ।। – उद्धृत : पातञ्जलयोगसूत्र, यशो० वृत्ति २/५५

५. वही

पूर्व दृष्टि में किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठान इस अवस्था में निरतिचार एवं शुद्ध हो जाते हैं। साधक जिन अनुष्ठानों का पालन करता है वे विनियोग प्रधान होते हैं।[१]

इस दृष्टि में साधक का व्यक्तित्व इतना विकसित हो जाता है कि उसके सम्यग्दर्शन आदि गुण दूसरों को सहज ही प्रीतिकर लगने लगते हैं। चित्त की चंचलता कम हो जाने से उसका चित्त आत्म-चिंतन में लीन होने लगता है। हरिभद्रसूरि के शब्दों में साधक छठे योगांग 'धारणा' का अभ्यास करता है, परिणामस्वरूप उसको मीमांसा गुण और परोपकार भावना की प्राप्ति होती है तथा उसके चित्तगत दोषों का अभाव (विनाश) हो जाता है।[२] इस अवस्था में योगी माया प्रपञ्च से उद्विग्न हुए बिना उसके स्वरूप को जानता रहता है, उसके प्रति आसक्त नहीं होता, उसके दुष्प्रभावों से परे हो जाता है और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह सब प्राणियों का प्रिय पात्र बन जाता है।[३]

धारणा योग का छठा अंग तथा योगसमाधि का प्रमुख तत्त्व है। योगाभ्यासी का चित्त साधारण मनुष्यों के समान ही चंचल होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार से जब चित्त-चांचल्य पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाये तो साधक किसी एक दिशा विशेष की ओर उन्मुख होने में सफल होता है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर साधक का बाह्य जगत् से सम्बन्ध छूट जाता है, जिससे उसे बाह्य जगत जन्य कोई बाधा नहीं होती। इसलिए वह किसी बाह्य बाधा के बिना चित्तनिरोध का अभ्यास करने योग्य हो जाता है।[४] प्राणायाम से पवन और प्रत्याहार से इन्द्रियों के वश में हो जाने पर चित्त में विक्षेप की सम्भावना नहीं होती। अतः उसे एक स्थान पर सफलतापूर्वक लगाया जा सकता है।[५] आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के अभ्यास के पश्चात् ही धारणा का अभ्यास करना चाहिए।[६] धारणा में बाह्य विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अन्तर्मुख किया जाता है तथा चित्त को किसी एक स्थान पर स्थिर एवं शान्त किया जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने धारणा की परिभाषा देते हुए कहा है कि चित्त को किसी 'देश विशेष' में बाँधना धारणा है।[७] व्यास के अनुसार यहाँ 'देश विशेष' शब्द नाभिचक्र, हृदय-कमल, कपाल, नासिकाग्र भाग, जिह्वाग्र भाग आदि तथा बाह्य विषयों (चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि) का वाचक है। इन देश-विशेषों में चित्त को वृत्ति मात्र से लगाना अर्थात् स्थिर करना धारणा है।[८]

जैनयोग-परम्परा में भी समाधि रूप अन्तिम सोपान पर पहुँचने के लिए धारणा की भूमिका को आवश्यक माना गया है।[९] जैन-साधना-पद्धति में धारणा से तात्पर्य है – 'बीजाक्षरों का अवधारण करना'।[१०]

---

१. कान्तायां तु ताराभासमानः एषः, अतः स्थित एवं प्रकृत्या निरतिचारमात्रानुष्ठानं शुद्धोपयोगानुसारि विशिष्टाऽप्रमादसचिवं विनियोगप्रधानगम्भीरोदाराशयमिति । – योगदृष्टिसमुच्चय, स्वो० वृत्ति गा० १५

२. (क) कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदया ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १६३
(ख) धारणा प्रीतयेऽन्येषां कान्तायां नित्यदर्शनम् ।
नान्यमुत् स्थिरभावेन मीमांसा च हितोदया ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/८

३. योगदृष्टिसमुच्चय, १६४–१६८; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका २४/६–१६

४. योगमनोविज्ञान, पृ० २१४

५. भारतीयदर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३०३

६. गोरक्षसंहिता, २/५२

७. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/१

८. नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा। – व्यासभाष्य, पृ० ३१४

९. अध्यात्मतरंगिणी, गा० ३

१०. धारणा श्रुतनिर्दिष्टबीजानामवधारणम् । – आदिपुराण, २१/२२७

जैन साहित्य में उल्लिखित "एकाग्रमनः सन्निवेशन" शब्द भी पातञ्जलयोग सम्मत धारणा से पूर्ण साम्य रखता है। एकाग्र का अर्थ है – अवलम्बन विशेष और सन्निवेशन का अर्थ है – स्थापित करना। इस प्रकार "एकाग्रमनः सन्निवेशन" का अर्थ हुआ – मन को किसी एक ध्येय (आलम्बन) पर स्थिर करना। इसका फल चित्तनिरोध (ध्यान) की सिद्धि है।[1] इसीलिए आ० हेमचन्द्र ने किसी ध्येय में चित्त को स्थिर करने को धारणा कहा है।

जैनयोग-परम्परा में 'धारणा' के विषय के रूप में पुद्गल का[2] और नासिका के अग्रभाग का महत्वपूर्ण स्थान है। धारणा के स्थान के विषय में जैनागमों में कोई स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं होता। केवल आचारांगसूत्र में इस विषय से सम्बन्धित उल्लेख कुछ स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं।[3] धारणा का वर्णन उत्तरवर्ती साहित्य में अधिक हुआ है।[4] १०वीं शताब्दी के पश्चात्वर्ती आचार्यों ने विशेषतः आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। दसवीं शती में हठयोग-परम्परा एवं नाथ-परम्परा का काफी प्रचलन था। उनके योगविषयक ग्रन्थों का लेखन इसी काल में हुआ था। अतः सम्भावित है कि आ० शुभचन्द्र एवं आ० हेमचन्द्र ने तत्कालिक परिस्थितियों के अनुकूल जनमानस की मांग को देखते हुए हठयोग, तन्त्रयोग एवं नाथ-परम्परा से प्रभावित होकर तदनुरूप वर्णन करने का निर्णय लिया हो।

आ० शुभचन्द्र ने 'धारणा' को योगांग के रूप में उल्लिखित नहीं किया परन्तु उनका यह कथन- 'जितेन्द्रिय योगी विषयों की ओर से इन्द्रियों को तथा उन इन्द्रियों की ओर से निराकुल मन को पृथक् करके निश्चिततापूर्वक ललाट प्रदेश में धारण करे',[5] धारणा के ही स्वरूप को अभिव्यक्त करता है।

आ० शुभचन्द्र एवं आ० हेमचन्द्र ने नेत्रयुगल, कर्णयुगल, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, कपाल, शिर, हृदय, तालु, भ्रूमध्य, नाभि आदि स्थानों को धारणा-स्थान न कहकर ध्यान-स्थान के रूप में सम्बोधित किया है।[6] आ० हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की वृत्ति में स्पष्ट करते हुए इन्हें धारणा के स्थान कहा है और धारणा को ध्यान का निमित्त बताया है।[7] उपा० यशोविजय ने धारणा को ध्यान की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकार करते हुए महर्षि पतञ्जलि के समान ही उसका लक्षण किया है। उनके शब्दों में चित्त को नाभिचक्र, नासिका के अग्रभाग आदि देश-विशेष में स्थिर करना 'धारणा' है। इससे मन धर्म में एकाग्र होता है और साधक सभी जीवों में प्रिय हो जाता है।[8]

धारणा के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैनयोग-ग्रन्थों में ध्यान के प्रथम चरण के रूप में धारणा को सहायक तो माना गया है, परन्तु पातञ्जलयोगसूत्र के समान पृथक् रूप से उसका वर्णन कहीं नहीं मिलता। वस्तुतः जैनयोग में ध्यान का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि धारणा और समाधि दोनों उसी में समाहित हो जाते हैं। जबकि पातञ्जलयोगसूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि का पृथक् वर्णन हुआ है। वहाँ ध्यान की पूर्वपीठिका 'धारणा' नाम से और ध्यान की पराकाष्ठा 'समाधि' के रूप में चित्रित है। पातञ्जलयोग से प्रभावित होकर ही उपा० यशोविजय ने चित्त को किसी एक ध्येय पर एकाग्र करने

---

१. एगग्गमणसन्निवेसणाए णं चित्तणिरोहं करेइ। – उत्तराध्ययनसूत्र, २६/२६
२. पासनाहचरियं, ३००
३. आचारांगसूत्र, २/५/६३, ६/४/१४
४. उपासकाध्ययन, ६/६; ज्ञानार्णव, २७/१२, १३; योगशास्त्र, ६/७
५. निरुध्य करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च ।
ललाटदेशसंलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः ।। – ज्ञानार्णव, २७/१२
६. वही, २७/१३
७. योगशास्त्र, ६/७ एवं स्वो० वृत्ति
८. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/१० एवं स्वो० वृत्ति

को 'धारणा' कहा है,[1] क्योंकि बिना इसके समाधि की पूर्ण प्राप्ति नहीं हो सकती।

कान्ता नामक छठी दृष्टि को छठे योगांग धारणा के समकक्ष मानने का प्रमुख कारण यह है कि इस दृष्टि में जीव का बोध उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जहाँ उसके चित्त की चंचलता कम हो जाती है।

७. प्रभादृष्टि और ध्यान

'प्रभा' नामक सातवीं दृष्टि में साधक की आत्म-निर्मलता में अधिक अभिवृद्धि होती है। परिणामस्वरूप उसको सूर्य की प्रभा के सदृश सुस्पष्ट बोध होता है जो ध्यान का हेतु बनता है। इस दृष्टि में उच्च कोटि का बोध होने से अन्य विकल्पों को उपस्थित होने का अवसर नहीं मिलता, साधक को प्रशम-प्रधान सुख की अनुभूति होती है।[2] सप्तम योगांग ध्यान में साधक की प्रीति होने से उसके राग, द्वेष, मोह रूप त्रिदोषजन्य भावरोग नष्ट हो जाते हैं, उसे तत्त्वप्रतिपत्ति नामक गुण की प्राप्ति होती है तथा उसका झुकाव सदा सत्प्रवृत्ति की ओर रहता है।[3] इसके अतिरिक्त काम पर सम्पूर्णतया विजय, ध्यानज सुखानुभूति, प्रशान्तभाव प्रधान विवेक बल का तीव्र प्रादुर्भाव,[4] मलरहित विशुद्ध स्वर्ण के समान विशुद्ध, निर्मल एवं कल्याणकारी बोध की प्राप्ति इस दृष्टि की विशेषताएँ हैं।[5]

पहले जो साधक का सत्प्रवृत्ति की ओर झुकाव बताया गया है उसे ही आ० हरिभद्र ने असंगानुष्ठान की संज्ञा से अभिहित किया है।[6] जो अनुष्ठान पुनः पुनः सेवन रूप अभ्यास की अधिकता से किया जाता है, उसे असंगानुष्ठान कहते हैं।[7] इसका दूसरा नाम अनालम्बनयोग भी है और यह प्रीति, भक्ति, आगम (वचन) और असंगता – इन चार अनुष्ठानों में सबसे अन्तिम अनुष्ठान है।[8] असंगानुष्ठान अध्यात्म-साधना के महान् पथ पर गतिशीलता का सूचक है। इस अवस्था में साधक अध्यात्म-साधना के महान् पथ पर अपनी गति प्रारम्भ करता है जो उस शाश्वत पद की ओर ले जाती है जहाँ पहुँचकर कोई वापिस (जन्म-मरण रूप संसार में) नहीं लौटता।[9] परादृष्टि में संस्थित साधक द्वारा असंगानुष्ठान का पालन करने से यह परम वीतराग भावरूप स्थिति को प्राप्त कराने वाली कही गई है।[10] आ० हरिभद्र के अनुसार अन्य मतों में असंगानुष्ठान विभिन्न नामों से आख्यात है। योगदर्शन में इसे 'प्रशांतवाहिता', बौद्धदर्शन में

---

१. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका. २४/१० एवं स्वो० वृ०
२. प्रभायां पुनरर्कभासमानो बोधः, स ध्यानहेतुरेव सर्वदा, नेह प्रायो विकल्पावसरः, प्रशमसारं सुखमिह।
   – योगदृष्टिसमुच्चय, १५, स्वो० वृ०
३. (क) ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रुगत एव हि ।
   तत्त्वप्रतिपत्तियुता विशेषेण शमान्विता ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १७०
   (ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/१७
४. योगदृष्टिसमुच्चय, १७१
५. वही, १७४; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/२०
६. (क) सत्प्रवृत्तिपदं चेहासंगानुष्ठानसंज्ञितम् – योगदृष्टिसमुच्चय, १७५
   (ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/२१
७. षोडशक, १०/७; योगविंशिका, यशो० वृ० गा० १८
८. योगविंशिका, १८
९. योगदृष्टिसमुच्चय, १७५
१०. योगदृष्टिसमुच्चय, १७७

'विसभागपरिक्षय' तथा शैवदर्शन में 'शिववर्त्म', अन्य महाव्रतियों के मत में 'ध्रुवमार्ग' कहा जाता है।[1] आ० हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टिसमुच्चय में इसे समाधिनिष्ठ अनुष्ठान भी कहा है। चित्त की पूर्ण स्वस्थ अवस्था जिसमें कोई भेद-विभेद, रति-अरति का स्पर्श नहीं होता, 'समाधि' कहलाती है। चित्त की ऐसी शान्त-प्रशान्त अवस्था में योगी साधक के समीप आने वाले क्रूर-हिंसक-वैरी जीवों का वैर-विरोधभाव नष्ट हो जाता है। परिणामस्वरूप वह अन्य प्राणियों को कल्याण का मार्ग बताकर परोपकार परायण बन जाता है। उसकी सब क्रियाएँ परमार्थभाव रूप होने से अवन्ध्य–अमोघ होती हैं और निश्चय ही मुक्ति फलप्रदायिनी होती हैं।[2]

'ध्यान' योग का सातवां तथा अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु में ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न ध्यान का अर्थ है – मनन, विचार या चिन्तन। किन्तु योग में इसका आशय कुछ भिन्न है। योग की परिभाषा में ध्यान का अर्थ चिन्तन नहीं है, अपितु चिन्तन का एकाग्रीकरण है। अर्थात् चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना 'ध्यान' है। पतञ्जलि के अनुसार धारणा में जहाँ चित्त को ठहराया जाए उसी में वृत्ति का बने रहना 'ध्यान' है।[3] भाष्यकार व्यास इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जब चित्त की वृत्ति किसी एक ध्येय में समान प्रवाह से लगी रहे और अन्य कोई वृत्ति बीच में न आए तो वह स्थिति 'ध्यान' कहलाती है।[4]

जैनयोग में ध्यान

जैनयोग में ध्यान को विशिष्ट स्थान दिया गया है। वस्तुतः जैनयोगानुसार ध्यान जहाँ मन की चंचल वृत्तियों को नियंत्रित करके मन को स्थिर करता है वहाँ, कर्मों की निर्जरा करके साधना को पूर्णता प्रधान करता है।[5] जैनमत में भी पातञ्जलयोगदर्शन की भाँति किसी एक प्रबल विषय पर चित्त को स्थिर करने को 'ध्यान' कहा गया है।[6] उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना भी 'ध्यान' है,जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।[7] उमास्वाति ने एकाग्रचिन्ता तथा शरीर, वाणी और मन के निरोध को 'ध्यान' कहा है।[8] ध्यान में नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने वाली परिस्पन्दवती चिन्ता को हटाकर किसी एक ध्येय में निरोध किया जाना ही 'एकाग्रचिन्तानिरोध' पद का अर्थ है।[9] इसी दृष्टि से चित्त विक्षेप के त्याग को भी 'ध्यान' कहा गया है।[10] इससे स्पष्ट होता है कि जैन-परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल

---

१. (क) प्रशान्तवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः ।
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १७६
(ख) प्रशान्तवाहितासंज्ञं-सांख्यानां, विसभागपरिक्षयो-बौद्धानां, शिववर्त्म-शैवानां, ध्रुवाध्वा-महाव्रतिकानां, इत्येवं योगिभिर्गीयते ह्यदोऽसंगाऽनुष्ठानमिति । – वही, गा० १७६ स्वो० वृ०
(ग) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/२२

२. (क) अकिंचित्कराण्यत्रान्यशास्त्राणि, समाधिनिष्ठमनुष्ठानं, तत्सन्निधौ वैरादिनाशः, परानुग्रहकर्तृता, औचित्ययोगो विनेयेषु, तथावन्ध्या सत्क्रियेति । – योगदृष्टिसमुच्चय, गा० १५ स्वो० वृ०
(ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/२३–२५

३. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/२

४. तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्। – व्यासभाष्य, पृ० ३१४–१५

५. तत्त्वार्थसूत्र, ९/३, २७

६. (क) अंतो मुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गणया हवइ झाणं। – आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १४७७
(ख) ध्यानशतक, २
(ग) ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः। – अभिधानचिन्तामणिकोश, १/८४

७. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्। – सर्वार्थसिद्धि, ९/२७

८. तत्त्वार्थसूत्र, ९/२७

९. औपपातिकसूत्र, २९/२५, सर्वार्थसिद्धि, ९/२७/८७२

१०. चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्। – वही, ९/२०/८५७

मन से ही नहीं माना गया था, वह मन, वाणी और शरीर, तीनों से सम्बन्धित था। इस अभिमत के आधार पर मन की निष्प्रकम्प दशा 'ध्यान' है।[१]

आ० हरिभद्र के अनुसार स्थिर अध्यवसान–आत्मपरिणाम का नाम 'ध्यान' है।[२] योगबिन्दु में उन्होंने शुभ प्रतीकों के आलम्बन अर्थात् उन पर चित्त के स्थिरीकरण को ध्यान कहा है जो दीपक की स्थिर लौ के समान ज्योतिर्मय, सूक्ष्म तथा अन्तःप्रविष्ट चिन्तन से समायुक्त होता है।[३] आ० शुभचन्द्र ने एकाग्रचिन्तानिरोध को ध्यान कहा है जिसका अभिप्राय है प्रत्ययान्तर के संसर्ग से रहित होकर एक ही वस्तु का स्थिरतापूर्वक चिन्तन किया जाना।[४]

ध्यान का यह स्वरूप छद्मस्थ में ही संभव है, इसलिए ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है। छद्मस्थ के ध्यान का काल-परिमाण अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक बताया गया है।[५] इससे अधिक काल तक छद्मस्थ का ध्यान एक विषय पर टिक नहीं सकता। परन्तु एक विषय से दूसरे विषय पर, दूसरे से तीसरे विषय पर चिन्तन का प्रवाह चालू रहने से ध्यान का प्रवाह अधिक समय तक भी चल सकता है। जैसा कि आ० हेमचन्द्र[६] तथा आ० यशोविजय[७] ने भी कहा है कि अन्तर्मुहूर्त से आगे आलम्बन भेद से ध्यानान्तर हो सकता है, किन्तु एक विषयक ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं हो सकता। अनेक आलम्बनों में संक्रमण होने पर जो दीर्घ स्थिति वाली तथा निरन्तर अन्य-अन्य ध्यान के रूप वाली जो स्थिति होती है उसे ध्यानश्रेणी या ध्यानसन्तति कहा जाता है। वस्तुतः धारणा द्वारा स्थापित देश में चित्त की एकतानता 'ध्यान' है।[८]

ध्यान के भेद-प्रभेद

जैनागमों[९] एवं जैनयोग सम्बन्धी आगमोत्तर साहित्य[१०] में ध्यान के चार प्रमुख भेदों का वर्णन मिलता है – आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें से आर्त और रौद्र ध्यान संसार-बन्ध के कारण होने से अप्रशस्त अर्थात् अशुभ माने गये हैं, जबकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण होने से प्रशस्त अर्थात् शुभ कहे गये हैं। इन्हें क्रमशः दुर्ध्यान और सुध्यान की संज्ञा भी दी गई है। ध्यान के आर्त आदि चार भेदों में से प्रत्येक के पृथक्-पृथक् चार भेदों का निर्देश भी किया गया है।[११]

आर्तध्यान परिग्रह और अब्रह्मचर्य के विषयों से सम्बन्धित किया गया चिन्तन है और रौद्रध्यान हिंसा, असत्य, चौर्य और विषयरक्षण – इन चार अव्रतों के विषयों से सम्बन्धित चिन्तन है। इसलिए संसार-बन्ध

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, १४७७–१४६२
२. यत् स्थिरमध्यवसानं तद् ध्यानम् । – ध्यानशतक, २ पर हरिभद्र वृत्ति
३. शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमार्हुमनीषिणः ।
स्थिरप्रदीप सदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ।। – योगबिन्दु, ३६२
४. ज्ञानार्णव २३/१४ (१.२)
५. मुहूर्त्तान्तर्मनःस्थैर्यं, ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम् । – योगशास्त्र, ४/११५
६. मुहूर्त्तात्परतश्चिन्ता, यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घाऽपि ध्यानसंततिः ।। – योगशास्त्र, ४/११६
७. मुहूर्तान्तर्भवेद् ध्यानमेकार्थे मनसः स्थितिः ।
बह्वर्थसंक्रमे दीर्घाऽप्यच्छिन्ना ध्यानसंततिः । – अध्यात्मसार, ५/१६/२
८. चित्तस्य धारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानता ।
ध्यानं ततः सुखं सारमात्मायत्तं प्रवर्तते ।। – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/१८
९. स्थानांगसूत्र, ४/२४७; समवायांगसूत्र, ४/२; भगवतीसूत्र, २५/७/१३; आवश्यकनिर्युक्ति, १४७७; मूलाचार, १६७; औपपातिकसूत्र,३०
१०. तत्त्वार्थसूत्र, ६/२८; महापुराण, २४/२८; ध्यानशतक, ५; तत्त्वानुशासन, ३४ व २२०; ज्ञानार्णव, ४/१; २३/१८–१६; अध्यात्मसार, ५/१६/३; आवश्यकनिर्युक्ति, हरि० वृ० ध्यानाधिकार, गा० २
११. तत्त्वार्थसूत्र, ६/२८, सिद्धसेनटीका एवं श्रुतसागरीय वृत्ति; ध्यानशतक ३, ज्ञानार्णव, २५/२०; योगशास्त्र, ४/११५

के कारण होने से उक्त दोनों ध्यान मोक्ष के हेतुभूत यथार्थ ध्यान के स्वरूप 'एकाग्रचिन्ता-निरोध' के विपरीत हैं।[१] सम्भव है कि वहाँ तप का प्रकरण होने से आर्त और रौद्र इन दो अप्रशस्त ध्यानों का परिगणन न किया गया हो। परन्तु तप का प्रकरण होने पर भी मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र और औपपातिक सूत्र में उपर्युक्त आर्त और रौद्र ध्यान को सम्मिलित कर ध्यान के पूर्वोक्त चारों भेदों का उल्लेख किया गया है। ध्यान के अन्तर्गत इनका वर्णन दोषों का परिमार्जन करने की दृष्टि से किया गया है। जैसे दोष को जाने बिना दोष का परिमार्जन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आर्त और रौद्रध्यान को जाने बिना उनके छोड़ने की बात समझ में नहीं आती। आर्त और रौद्रध्यान को छोड़ना साधक के लिए अत्यावश्यक है इसीलिए ध्यान के अन्तर्गत इनका विवेचन किया गया है।

आ० शुभचन्द्र ने ध्यान के अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन भेद किये हैं,[२] जो आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल, इन चार ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र[३] और हेमचन्द्र[४] ने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत – धर्मध्यान के इन चार अवान्तर भेदों का चित्तवृत्ति को एकाग्र करने की अपेक्षा से वर्णन किया है। इनके योगग्रन्थों में धर्मध्यान के मौलिक रूप आज्ञाविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के स्थान पर पिण्डस्थ आदि ध्यान वर्णित हैं।[५] ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य भावना के स्थान पर पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और मारुति – इन चार भावनाओं का उल्लेख मिलता है।[६] सम्भव है कि हठयोग और तंत्रयोग के प्रति जनसमुदाय के आकर्षण को देखकर उक्त जैनाचार्यों ने भी अपने योगग्रन्थों में परिवर्तन कर इनका समावेश किया हो। वस्तुतः पिण्डस्थ आदि चार ध्यानों का मूल तंत्रशास्त्र है।[७]

आ० हेमचन्द्र ने धर्म और शुक्ल इन दो प्रशस्त ध्यानों का ही विवेचन किया है। धर्मध्यान में आज्ञाविचय आदि चार भेदों तथा शुक्लध्यान में श्रुतविचारयुक्त पृथक्त्ववितर्क आदि चार भेदों का वर्णन है। ध्यान के विषय के अन्तर्गत 'ध्यान' को पिण्डस्थादि चारों भागों में भी विभक्त किया गया है। उपा० यशोविजय ने आर्त आदि ध्यान के चार भेदों एवं उपभेदों का विस्तृत वर्णन किया है।

१. आर्तध्यान

'ऋते भवम् आर्तम्' इस निरुक्ति के अनुसार ऋत अर्थात् दुःख के निमित्त या दुःख में होने वाला ध्यान 'आर्तध्यान' है। अथवा दुःखी प्राणी का ध्यान 'आर्तध्यान' है। यह ध्यान मिथ्याज्ञान की वासना से उत्पन्न होता है इसलिए इसे दिङ्मूढ़ता या उन्मत्तता के समान कहा गया है।[८] अनिष्ट पदार्थों के संयोग, इष्ट पदार्थों के वियोग, रोगजनित वेदना और अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने की आकांक्षा रूप निदान के आश्रय

---

१. **Suzuko-Ohira, Treatment of Dhyāna, Philosophical Quarterly, Vol - III, No. 1 Oct, '75, p. 54**

२. संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात् ।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ।। – ज्ञानार्णव, ३/२७

३. ज्ञानार्णव, ३७/१

४. योगशास्त्र, ७/८

५. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ।। – ज्ञानार्णव, ३४/१

६. पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसनाख्याथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ।। – ज्ञानार्णव, ३४/३

७. तंत्रालोक, १०/२४१

८. ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम् ।
दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ।। – ज्ञानार्णव, २३/२१

से जो संक्लेशतापूर्ण चिन्तन होता है, वह आर्तध्यान कहलाता है।[1] अनिष्ट वस्तु का संयोग, प्रतिकूल वेदना, इष्ट वस्तु का वियोग और भोग की लालसा, ये दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं। इन्हीं के आधार पर आ० शुभचन्द्र, उपा० यशोविजय तथा अन्य जैनाचार्यों ने आर्तध्यान के भी चार भेद माने हैं – १. अनिष्टसंयोग आर्तध्यान, २. रोगचिन्ता आर्तध्यान, ३. इष्टवियोग आर्तध्यान तथा ४. निदान आर्तध्यान।[2]

आ० शुभचन्द्र ने शंका, शोक, भय, प्रमाद, झगड़ालु वृत्ति, चिन्ता, भ्रान्ति, व्याकुलता, पागलपन, विषयों की अभिलाषा, निरंतर निद्रा, शरीर की जड़ता, परिश्रम और मूर्च्छा आदि लक्षणों से आर्तध्यानी की पहचान बताई है।[3]

उपा० यशोविजय के अनुसार आर्तध्यानी में क्रन्दन, (शोकातुर होकर अश्रुपात करना), शोचन (अत्यन्त शोक-विलाप करना) परिदेवन (दीनता भरे वचन बोलना, झूरना), ताडन (पीटना) आदि लक्षण दिखाई देते हैं।[4] उनके अनुसार आर्तध्यानी में अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं। जैसे – अपने निष्फल हुए कृत्य की निन्दा करना, दूसरों की सांसारिक सम्पत्ति की प्रशंसा करना, विस्मित होकर उन सम्पत्तियों के लिए प्रार्थना करना तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए अत्यन्त लालायित रहना।[5]

आर्तध्यानी के कापोत, नील और कृष्ण – ये तीन लेश्याएँ होती हैं।[6]

आर्तध्यान की उत्पत्ति के निम्नलिखित हेतु (कारण) हैं – १. प्रमत्तता, २. इन्द्रिय-विषयों में लोलुपता, ३. धर्म से विमुखता, ४. जिनवचनों से निरपेक्षता।[7]

आर्तध्यान प्रथम गुणस्थान से लेकर प्रमत्तसयंत नामक छठे गुणस्थान तक के साधकों को होता है। प्रथम पांच गुणस्थानों में चारों प्रकार का आर्तध्यान हो सकता है। छठे गुणस्थान में निदान आर्तध्यान नहीं होता। वह पूर्ववर्ती पांच गुणस्थानों में ही संभव है।[8]

राग-द्वेष, मोहयुक्त प्राणी आर्तध्यान के कारण संसार की वृद्धि करता है और सामान्यतः तिर्यंच गति में जाता है।[9]

---

१. (क) अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ।। – ज्ञानार्णव, २३/२२
(ख) अध्यात्मसार, ५/१६/४, ५ ; द्रष्टव्य : स्थानांगसूत्र, ४/२४८

२. ज्ञानार्णव, २३/२२; अध्यात्मसार, ५/१६/४, ५; भगवतीसूत्र, २५/७; औपपातिक सूत्र, ३०वां अधिकार; स्थानांगसूत्र, स्थान, ४; तत्त्वार्थसूत्र, ६/३१–३४

३. ज्ञानार्णव, २३/४१

४. अध्यात्मसार, ५/१६/७

५. मोघं निन्दन्निजं कृत्यं, प्रशंसन् परसम्पदः ।
विस्मितः प्रार्थयन्नेताः प्रसक्तश्चैतदर्जने ।। – वही, ५/१६/८

६. ज्ञानार्णव, २३/३८; अध्यात्मसार, ५/१६/६

७. अध्यात्मसार, ५/१६/६

८. (क) संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते ।
प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ।। – ज्ञानार्णव, २३/३७
(ख) प्रमत्तान्तगुणस्थानानुगमेतन्महात्मना। – अध्यात्मसार, ५/१६/१०

९. (क) अनन्तदुःख संकीर्णमस्य तिर्यग्गतिः फलम् । – ज्ञानार्णव, २३/४०
(ख) सर्वप्रमादमूलत्वात्त्याज्यं तिर्यग्गतिप्रदम् । – अध्यात्मसार, ५/१६/१०

२. रौद्रध्यान

रौद्र अर्थात् क्रूर और कठोर वृत्ति वाले चित्त अथवा जीव का ध्यान 'रौद्रध्यान' है।[१] हिंसा, असत्य, चोरी और विषय-संरक्षण के लिए जो क्रूरतापूर्ण चिन्तन किया जाता है वह 'रौद्रध्यान' है। चूंकि क्रूरता और कठोरता का मूल कारण हिंसा, असत्य, चोरी और विषय-संरक्षण की प्रवृत्ति है, अतः इन प्रवृत्तियों के आधार पर रौद्रध्यान के भी चार प्रकार माने गए हैं। – १. हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान, २. मृषानुबंधी रौद्रध्यान, ३. चौर्यानुबन्धी रौद्रध्यान तथा ४. विषयसंरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान।[२]

ज्ञानार्णव में रौद्रध्यानी के दुष्टता, दण्ड की कठोरता, धूर्तता, कठोरता और स्वभाव में निर्दयता आदि आभ्यन्तर चिह्नों तथा अग्नि के कण के समान लाल नेत्र, भृकुटियों की कुटिलता, शरीर की भयानक आकृति, कांपना और पसीना आदि आना इत्यादि बाह्य चिह्नों का उल्लेख मिलता है।[३] उपा० यशोविजय के अनुसार उत्सन्न दोषत्व (बहुलता से हिंसादि में से किसी एक में बार-बार प्रवृत्ति करना), बहुदोषत्व (हिंसादि अनेक दोषों में बहुलता से प्रवृत्त होना), नानादोषत्व (अज्ञानवश हिंसादि नाना दोषों में प्रवृत्त होना), आमरणान्त अथवा मारण दोषत्व (मरण पर्यन्त हिंसादि कर्मों के लिए पश्चात्ताप न करके उनमें प्रवृत्ति करते रहना) हिंसादि में प्रवृत्ति तथा पाप करके खुश होना, निर्दयता, पश्चात्ताप का अभाव, दूसरों को आपत्ति में देखकर अत्यन्त अभिमान करना अथवा हृदय में हर्षित होना आदि रौद्रध्यान के लक्षण हैं।[४] रौद्रध्यान में अतिसंक्लिष्ट (अत्यन्तमलिन) रूपकर्मों के परिणाम के कारण कापोत, नील और कृष्ण– ये तीन लेश्याएँ होती हैं।[५] यह देश विरति नामक पंचम गुणस्थान तक के जीवों को होता है।[६] रौद्रध्यान उत्पन्न होकर प्राणियों के तीनोंलोकों की लक्ष्मी को उत्पन्न करने वाले धर्म रूप वृक्ष को आधे क्षण में ही जलाकर भस्म कर देता है।[७] रौद्रध्यानी सामान्यतः नरक गति में जाता है।[८]

३. धर्मध्यान

मन को एकाग्र करना 'ध्यान' है। वैसे तो हर समय किसी न किसी विषय में मन अटका रहने के कारण व्यक्ति को कोई न कोई ध्यान रहता ही है, परन्तु वे सब राग-द्वेष मूलक होने से श्रेयमार्ग में अनिष्ट हैं। अतः धार्मिक कार्यों में चित्त की एकाग्रता का होना 'धर्मध्यान' है।

धर्मध्यान के भेद

जैनागमों[९] तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों[१०] में धर्मध्यान को चार प्रकार का बताया गया है – १. आज्ञाविचय,

---

१. रुद्रः क्रूराशयः प्राणी रौद्रकर्मास्य कीर्तितम् ।
रुद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ।। – ज्ञानार्णव, २४/२

२. भगवतीसूत्र, २५/७; औपपातिक सूत्र, ३०वां अधिकार; स्थानांगसूत्र, स्थान, ४; तत्त्वार्थसूत्र, १/३६; ज्ञानार्णव, २४/३; अध्यात्मसार, ५/१६/११, १२

३. क्रूरता दण्डपारुष्यं वंचकत्वं कठोरता ।
निस्त्रिंशत्वं च लिंगानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ।।
विस्फुलिंगनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः ।
कम्पस्वेदादिलिंगानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ।। – ज्ञानार्णव, २४/३५, ३६

४. अध्यात्मसार, ५/१६/१५, १६; ध्यानशतक, २६

५. ज्ञानार्णव, २४/३४; अध्यात्मसार, ५/१६/१४

६. (क) रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात् पंचगुणभूमिकम् – ज्ञानार्णव, २४/३४
(ख) देशविरतिपर्यन्तं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ।। – अध्यात्मसार, ५/१६/१३

७. ज्ञानार्णव, २४/३८

८. ज्ञानार्णव, २४/४२; अध्यात्मसार, ५/१६/१६

९. भगवतीसूत्र, २५/७; स्थानांगसूत्र, ४/१; औपपातिकसूत्र, ३०वां अधिकार; तत्त्वार्थसूत्र, ९/३७

१०. ज्ञानार्णव, ३०/५; योगशास्त्र, १०/७; अध्यात्मसार, ५/१६/३५

२. अपायविचय, ३. विपाकविचय, ४. संस्थानविचय। आज्ञा, अपाय, विपाक तथा संस्थान – ये ध्येय हैं। जिस प्रकार किसी स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त को एकाग्र किया जाता है, उसी प्रकार इन ध्येय विषयों पर भी चित्त को एकाग्र किया जाता है।

उक्त क्रमानुसार प्राणी पहले 'सालम्बनध्यान' करने में समर्थ होता है। जब उसमें चित्त की स्थिरता हो जाती है, तभी वह 'निरालम्बनध्यान' करने की योग्यता प्राप्त करता है। अनादि विभ्रम, मोह, अनभ्यास और असंग्रह से प्राणी आत्मतत्त्व को जान लेने पर भी स्खलित हो जाता है और आत्मतत्त्वचिंतन में प्रगति नहीं कर पाता। ऐसा प्राणी अज्ञान अथवा मिथ्यात्व के बल पर कभी भी आत्मतत्त्व का चिन्तन करने का विचार करे तो भी उसकी स्व में स्थिति नहीं हो सकती। इसका कारण उसकी झूठावस्था और स्थूल वस्तुओं के ऊपर राग है। ऐसे प्राणियों को निरालम्बन आत्मतत्त्व का चिंतन करने से पूर्व वस्तुधर्म का चिंतन कर स्थिरता प्राप्त कर लेनी चाहिये। जिस-जिस प्रमाण में वह लक्ष्य में से अलक्ष्य में, स्थूल से सूक्ष्म में, सालम्बन से निरालम्बन में प्रवेश करता है उसी के आधार पर धर्मध्यान के चार भेद बताए गये हैं।

(१) आज्ञाविचय[१]

आज्ञा का अभिप्राय है – किसी विषय को भली प्रकार जानकर उसका आचरण करना। विचय का अर्थ है – विचार करना। योग-मार्ग में ध्यान के संदर्भ में इसका आशय तीर्थंकर भगवान द्वारा कथित उपदेशों के चिन्तन से है। जिस ध्यान में सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार आगमसिद्ध वस्तु के स्वरूप का विचार किया जाता है वह 'आज्ञाविचय' कहलाता है।

(२) अपायविचय[२]

अपाय का अर्थ है – विनाश, दोष या दुर्गुण। जिस ध्यान में कर्मों के विनाश और उपाय का विचार किया जाता है वह 'अपायविचय' कहलाता है। दूसरे शब्दों में ध्यान में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, विषय-विकार आदि पापस्थानों तथा तज्जनित कष्टों, दुर्गतियों आदि का चिन्तन करना 'अपायविचय' है।

(३) विपाकविचय[३]

पूर्वबद्ध कर्म उदय में आकर जो प्रत्येक क्षण अनेक प्रकार के फल देते हैं उसका नाम विपाक है। अतः क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मफल के उदय का चिन्तन करना 'विपाकविचय' है।

(४) संस्थानविचय[४]

संस्थान का अर्थ है – आकार। इस ध्यान में अनादि अनन्तस्थायी परन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप लोक की आकृति एवं स्थिति आदि का विचार किया जाता है। इस लोक संस्थान में स्वयं आत्मा अपने कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता है, अरूपी है, अविनाशी है तथा उपयोग लक्षण से युक्त है ऐसा विचार करना भी 'संस्थानविचय' ध्यान कहलाता है। इसके अतिरिक्त आगमोत्तरवर्ती जैन साहित्य में ध्यान के अन्य भेदों का उल्लेख भी मिलता है। यथा – पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान।[५] आ० शुभचन्द्र[६] एवं

---

१. ज्ञानार्णव ३०वां अधिकार; योगशास्त्र १०/६–१०; अध्यात्मसार, ५/१६/३६
२. ज्ञानार्णव ३१वां अधिकार; योगशास्त्र १०/१०, ११; अध्यात्मसार, ५/१६/३७
३. ज्ञानार्णव ३२वां अधिकार; योगशास्त्र १०/१२; अध्यात्मसार, ५/१६/३८
४. ज्ञानार्णव ३३वां अधिकार; योगशास्त्र १०/१४; अध्यात्मसार, ५/१६/३९
५. भावसंग्रह ६१६–३०; अमितगतिश्रावकाचार, १५/२३–५६
६. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ।। – ज्ञानार्णव, ३४/१

आ० हेमचन्द्र[1] ने भी इनका विस्तृत वर्णन किया है। आ० हेमचन्द्र ने उक्त चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन ध्यान के विषय (ध्येय) के अंतर्गत किया है।

तंत्रशास्त्र में भी पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत, इन चारों ध्यानों का वर्णन प्राप्त होता है।[2] दोनों के अर्थ-भेद को छोड़कर देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैन साहित्य का उपर्युक्त वर्गीकरण तंत्रशास्त्र से प्रभावित है।

(क) पिण्डस्थध्यान

पिण्ड का अर्थ है – शरीर। पिण्ड अर्थात् शरीर का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान 'पिण्डस्थ ध्यान' है।[3] इसमें शरीर के विभिन्न भागों पर मन को केन्द्रित किया जाता है। इसमें धारणाओं का आलम्बन भी लिया जाता है।[4] आ० शुभचन्द्र[5] एवं हेमचन्द्र[6] ने पाँच प्रकार की धारणाओं का निर्देश कर पिण्डस्थ ध्यान के स्वरूप को और अधिक विकसित कर दिया है। ये पाँच धारणाएँ हैं – १. पार्थिवी, २. आग्नेय, ३. मारुति, ४. वारुणी और ५. तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू)।

पार्थिवी धारणा[7]

प्रथम पार्थिवी धारणा में योगी मध्यलोक के समान क्षीर-समुद्र, उसमें हजार पत्तों वाले जम्बूद्वीप प्रमाण कमल, उसमें मेरु पर्वत स्वरूप कर्णिका, उसके ऊपर उन्नत सिंहासन और उसके ऊपर राग-द्वेष से रहित आत्मा का स्मरण करता है।

आग्नेयी धारणा[8]

आग्नेयी धारणा में साधक नाभिमण्डल में सोलह पत्तों वाले कमल, उसके प्रत्येक पत्र पर अकारादि के क्रम से स्थित सोलह स्वरों और उसकी कर्णिका पर महामंत्र (इ) की कल्पना करता है। फिर उस महामंत्र की रेफ से निकलती हुई अग्निकणों से संयुक्त ज्वाला वाली धूमशिखा का चिन्तन करता है। इस ज्वाला समूह के द्वारा वह हृदयस्थ उस आठ पत्तों वाले अधोमुख कमल को भस्म होता हुआ देखता है, जिसके आठ पत्तों पर ज्ञानावरणदि आठ कर्म स्थित हैं। तत्पश्चात् वह शरीर के बाहर उस त्रिकोण अग्निमण्डल का स्मरण करता है, जो शरीर और उस कमल को जलाकर बाह्य कुछ शेष न रहने से स्वयं शान्त हो गया है।

मारुति (वायवी) धारणा[9]

इस धारणा में साधक महासमुद्र को क्षुब्ध कर आकाश में विचरण करने वाली भयानक उस प्रबल वायु का चिन्तन करता है, जो पृथ्वीतल में प्रविष्ट होकर आग्नेयी धारणा में देह एवं कमल को जलाने के बाद

---

१. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्याऽलम्बनं बुधैः ।। – योगशास्त्र, ७/८
२. तन्त्रालोक, १०/२४१
३. योगशास्त्र, ७/८ पर स्वोपज्ञ वृत्ति
४. ज्ञानसार, १६–२०
५. ज्ञानार्णव, ३४/२, ३
६. योगशास्त्र, ७/६
७. ज्ञानार्णव, ३४/४६; योगशास्त्र, ७/१०–१२
८. ज्ञानार्णव, ३४/१०–१६; योगशास्त्र, ७/१३–१८
९. ज्ञानार्णव, ३४/२०–२३; योगशास्त्र, ७/१६, २०

उस शरीर और कमल की बची हुई भस्म को उठाकर स्वयं शान्त हो जाती है। इसके साथ ही साधक वायु के बीजाक्षर 'सोऽयं' का ध्यान करता है।

वारुणी धारणा[1]

इस धारणा के अन्तर्गत साधक अमृत के समान वृष्टि बरसाने वाले मेघ समूह से व्याप्त और इन्द्र-धनुष और बिजली की गर्जना से युक्त ऐसे आकाश का चिन्तन करता है जो निरन्तर बड़ी-बड़ी बूँदों से वर्षा करके जलप्रवाह के द्वारा अर्धचन्द्राकार वरुण बीजाक्षर से चिह्नित रमणीय वरुणपुर को डुबोता हुआ पूर्वोक्त भस्म हुए शरीर से उत्पन्न उस समस्त धूलि को धो डालता है।

तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू) धारणा[2]

इसके अन्तर्गत साधक सप्त धातुओं से रहित पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल कान्ति वाले सर्वज्ञ सदृश अपने शुद्ध आत्मा का चिन्तन करता है। उसके पश्चात् सिंहासन पर आरूढ़ होकर समस्त अतिशयों से सुशोभित समस्त कर्मों के विनाशक, कल्याणकारी महिमा से सम्पन्न, अपने शरीर में स्थित निराकार आत्मा का स्मरण-चिन्तन करता है।

इस प्रकार निरन्तर पंचविध धारणाओं से युक्त पिंडस्थध्यान में दृढ़तर अभ्यास को प्राप्त हुआ योगी थोड़े ही समय में अन्य के द्वारा असाध्य मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है।[3] पिण्डस्थध्यान का अभ्यास करने वाले साधक की समीपता पाकर दुष्ट विद्याएँ – उच्चाटण, मारण, स्तंभन, विद्वेषण, मन्त्र, मण्डल आदि शक्तियाँ निरर्थक हो जाती हैं। शाकिनी, दुष्ट ग्रह और राक्षस आदि भी अपनी दुर्वासना को छोड़ देते हैं।[4] संक्षेप में इस ध्यान में आत्मशक्तियों के जागृत होने पर बाह्य विरोधी शक्तियाँ वशीभूत हो जाती हैं और साधक का मन क्रमशः स्थिर होता हुआ शुक्लध्यान के योग्य बन जाता है।

(ख) पदस्थध्यान

पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो अनुष्ठान या चिन्तन किया जाता है उसे 'पदस्थध्यान' कहते हैं।[5] इस ध्यान का मुख्य आलम्बन शब्द है, क्योंकि स्वरों तथा व्यंजनों से शब्दों की उत्पत्ति होती है। इसलिए इस ध्यान को वर्णमातृका का ध्यान भी कहा जाता है।[6] इसमें सर्वप्रथम नाभिकन्द पर स्थित सोलह पंखुड़ियों वाले प्रथम कमल में प्रत्येक पत्र पर क्रमशः सोलह स्वरों अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः की भ्रमण करती हुई पंक्ति का चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् हृदयस्थ कर्णिका सहित कमल की चौबीस पंखुड़ियों पर क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज., झ, ञ, ट्, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द्र, ध, न, प, फ, ब, भ, म इन २५ व्यंजनों का चिन्तन किया जाता है। इसके बाद साधक मुख में तीसरे आठ

---

१. ज्ञानार्णव, ३४/२४–२७; योगशास्त्र, ७/२१, २२

२. ज्ञानार्णव ३४/२८–३०; योगशास्त्र ७/२३–२५

३. (क) इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ।। – ज्ञानार्णव, ३४/३१
(ख) साभ्यास इति पिण्डस्थे, योगी शिवसुखं भजेत् । – योगशास्त्र, ७/२५

४. ज्ञानार्णव, ३४/३३; योगशास्त्र, ७/२६–२८

५. (क) पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ।। – ज्ञानार्णव, ३५/१
(ख) यत्पदानि पवित्राणि, समालम्ब्य विधीयते ।
तत्पदस्थं समाख्यातं, ध्यानं सिद्धान्तपारगैः ।। – योगशास्त्र, ८/१

६. ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं जगन्नताम् ।। – ज्ञानार्णव, ३५/२

पंखुड़ियों वाले कमल की कल्पना कर उसमें शेष आठ व्यंजनों य, र, ल, व, श, ष, स, ह का चिन्तन करता है।[१] इस प्रकार निरन्तर ध्यान करने वाला योगी सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है।[२]

प्रकारान्तर से मन्त्रराज (अर्हं) अनाहत देव, प्रणव (ऊ), गुरु, पंचनमस्कारमन्त्र, सप्ताक्षर मन्त्र, सोलह अक्षरयुक्त महाविद्या, छह वर्णयुक्त विद्या, चार वर्णयुक्त मन्त्र, दो वर्णयुक्त मन्त्र, अ वर्ण, पांच वर्णमय विद्या, मंगल-उत्तम-शरण पदसमूह, तेरह अक्षरवाली विद्या, पाँच वर्णमय मन्त्र, आठ वर्णयुक्त मन्त्र, मायावर्ण, महामाया, सप्ताक्षर मंत्र, प्रणव-शून्य-अनाहतत्रय, इत्यादि बहुत से मंत्रों व विद्याओं के चिन्तन का निर्देश देते हुए सबका पृथक्-पृथक् फल भी बताया गया है।[३] पदस्थध्यान के प्रभाव से त्रिकालवर्ती पदार्थों का ज्ञान तथा पद्मश्री-मन्त्रमयी देवता की आराधना से मुक्ति प्राप्ति की सुकरता, इन्द्रियातीत ज्योति का प्रादुर्भाव आदि फल भी कहा गया है।[४]

(ग) रूपस्थध्यान

सशरीर अरिहन्त भगवान् की शान्त मुद्रा का स्थिर चित्त से ध्यान करना 'रूपस्थध्यान' है।[५] ज्ञानार्णव एवं योगशास्त्र में सात धातुओं से रहित व समस्त अतिशयों व प्रतिहार्यों आदि से विभूषित समवसरण में विराजमान आद्य जिनेन्द्र के स्वरूप का चिन्तन करने को 'रूपस्थध्यान' कहा गया है[६] अथवा राग-द्वेष एवं मोहादि विकारों से रहित जिनेन्द्र प्रतिमा के रूप का जो ध्यान किया जाता है, वह 'रूपस्थ-ध्यान' है। इस ध्यान में ध्याता को महेश्वर[७], आदिदेव, अच्युत, सन्मति, सुगत, महावीर और वर्धमान आदि अनेक सार्थक पवित्र नामों से उपलक्षित कर अनन्त वीर्ययुक्त व रोगरहित सर्वव्यापी देव का स्मरण करने का निर्देश दिया गया है।[८] फलस्वरूप वीतराग परमात्मा रूपी ध्येय से तन्मयता होने लगती है।[९]

(घ) रूपातीतध्यान

ज्ञानार्णव एवं योगशास्त्र में अमूर्त, निराकार, चिदानन्दस्वरूप निर्मल, निरंजन एवं अविनाशी, सिद्ध-परमात्मा के ध्यान को 'रूपातीतध्यान' कहा गया है।[१०] रूपातीत ध्यान भी रूपस्थ ध्यान की तरह ध्येय रूप सिद्ध परमात्मा के साथ एकरूपता की प्राप्ति में परम सहायक है।[११] इस अवस्था में कोई भी आलम्बन नहीं रहने से योगी सिद्ध-परमात्मा की आत्मा में तन्मय हो जाता है तथा ध्याता और ध्यान इन दोनों के

---

१. ज्ञानार्णव, ३५/३–५; योगशास्त्र, ८/२–४
२. इत्यजस्त्रं स्मरन्योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ।। – ज्ञानार्णव, ३५/६
३. ज्ञानार्णव, ३५/७–११७; योगशास्त्र, ८/६–८०
४. योगशास्त्र, ८/५, २३, २७
५. अर्हतो रूपमालम्ब्य, ध्यानं रूपस्थमुच्यते । – योगशास्त्र, ९/७
६. ज्ञानार्णव ३६वां प्रकरण; योगशास्त्र, ९/१–७
७. योगशास्त्र, ९/८–१०
८. ज्ञानार्णव, ३६/२७–३१
९. योगशास्त्र, ९/११–१२, १४
१०. (क) चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं ज्ञानविग्रहम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ।। – ज्ञानार्णव, ३७/१६
(ख) अमूर्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः ।
निरंजनस्य सिद्धस्य, ध्यानं स्याद् रूपवर्जितम् ।। – योगशास्त्र, १०/१
११. इत्यजस्त्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बनः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति, ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ।। – योगशास्त्र, १०/२

अभाव में ध्येय रूप सिद्ध-परमात्मा के साथ उसकी एकरूपता हो जाती है। इस अवस्था को 'समरसीभाव' भी कहा जाता है।[1] यह निरालम्बन ध्यान है।

उक्त क्रमानुसार पहले साधक सालम्बन ध्यान का अभ्यास करता है। उसमें एक स्थूल आलम्बन होता है, जिससे ध्यान के अभ्यास में सुविधा मिलती है। जब इसका अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब निरालम्बन ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जो व्यक्ति सालम्बन ध्यान का अभ्यास किये बिना सीधा निरालम्बन ध्यान करना चाहता है, वह वैचारिक आकुलता से घिर जाता है, इसलिए सर्वप्रथम सालम्बन ध्यान करने का निर्देश दिया गया है। ध्यान का क्रम स्थूल से सूक्ष्म, सविकल्प से निर्विकल्प और सालम्बन से निरालम्बन होना चाहिये। इस क्रम से ध्यान का अभ्यास करने से अल्प समय में ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।[2] उक्त चारों प्रकार के ध्यानामृत में निमग्न मुनि का मन जगत के तत्त्वों का साक्षात्कार करके अनुभव ज्ञान प्राप्त कर आत्मा की विशुद्धि कर लेता है।[3]

धर्मध्यान की मर्यादाएँ (योग्यता)

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए अभ्यास प्रारम्भ करने से पूर्व कुछ विशिष्ट बातों को जानना आवश्यक है क्योंकि उन्हें समझ लेने पर ही ध्यान करना सुलभ होता है। वैसे तो सभी ध्यान-ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से उनकी चर्चा की गई है परन्तु जैनाचार्यों ने उनके विषय में अपना विशिष्ट अभिमत प्रकट किया है। ध्यान से सम्बन्धित जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, वे इस प्रकार हैं – भावना, प्रदेश, काल, आसन, आलम्बन, क्रम, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल।[4] उपा० यशोविजय ने उक्त परम्परा का ही अनुसरण किया है,[5] जबकि आ० हेमचन्द्र ने ध्याता, ध्येय और फल का ही निरूपण किया है।[6]

भावना

धर्मध्यान में योग्यता प्राप्ति हेतु उपा० यशोविजय ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य – इन चार भावनाओं का उल्लेख किया है।[7] इन भावनाओं के अभ्यास से मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है और स्थिर चित्त वाला पुरुष ही ध्यान की योग्यता प्राप्त करता है। दूसरे में ऐसी योग्यता नहीं होती।[8] उमास्वाति,[9] शुभचन्द्र[10] व हेमचन्द्र[11] आदि जैनाचार्यों ने ध्यान की सिद्धि हेतु मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ–इन चार भावनाओं के चिन्तन पर जोर दिया है। सभी संसारी जीवों में समानता का भाव रखते हुए उनके

---

१. योगशास्त्र, १०/३
२. अलक्ष्य-लक्ष्यसम्बन्धात्, स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।
सालम्बनाच्च निरालम्बं, तत्त्ववित् तत्त्वमञ्जसा ।। – योगशास्त्र, १०/५
३. एवं चतुर्विध ध्यानामृतमग्नं मुनेर्मनः ।
साक्षात्कृतजगत्तत्त्वं, विधत्ते शुद्धिमात्मनः ।। – योगशास्त्र १०/६
४. ध्यानशतक, २८, २६
५. अध्यात्मसार, ५/१६/१८, १६
६. योगशास्त्र, ७/१
७. वही, ५/१६/१६
८. अध्यात्मसार, ५/१६/२०, २१
९. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु। – तत्त्वार्थसूत्र, ७/६
१०. चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया धर्मसिद्धये ।। – ज्ञानार्णव, २५/४
११. मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ।। – योगशास्त्र, ४/११७

लिए दुःख उत्पन्न न हो, इस प्रकार की अभिलाषा का नाम 'मैत्री भावना' है।[1] अथवा सभी प्राणी संक्लेश व आपत्ति से रहित होकर जीवित रहें तथा वैर, पाप एवं अपमान को छोड़कर सुख को प्राप्त हों – ऐसा विचार करना 'मैत्री भावना' है।[2] जिन्होंने सभी दोषों का त्याग कर दिया है, और जो वस्तु के यथार्थस्वरूप को देखते हैं, उन साधु पुरुषों के गुणों के प्रति आदरभाव होना, उनकी प्रशंसा करना, 'प्रमोद भावना' अथवा 'मुदिता भावना' है।[3] दीन, पीड़ित, भयभीत और जीवन की याचना करने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की बुद्धि 'करुणा भावना' है।[4] निशंकता से क्रूर कार्य करने वाले, देव-गुरु की निन्दा करने वाले और आत्म-प्रशंसा करने वाले जीवों पर उपेक्षा भाव रखना 'माध्यस्थ भावना' है।[5] इन चारों भावनाओं का पातञ्जलयोगसूत्र में भी वर्णन मिलता है।[6]

देश

ध्यान के लिए एकान्त प्रदेश अपेक्षित है। आ० शुभचन्द्र ने वह स्थान जहाँ म्लेच्छ व अधर्म जनों का निवास हो, जो दुष्ट राजा के द्वारा शासित हो तथा पाखंडी समूह, मिथ्यादृष्टि, कौलिक, कापालिक, भूत, बेताल, जुआरी, मद्य-पान करने वाला, वटी, शिल्पी, कारू, उन्मत्त, उपद्रवी एवं दुराचारिणी स्त्रियों से व्याप्त हो, का ध्यान में बाधक होने से निषेध किया है।[7] इसके अतिरिक्त उन्होंने तृण, कांटे, सांप की बांबी, पत्थर, कीचड़, भस्म, जूठन, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा जीव-जन्तुओं द्वारा प्राधिकृत स्थान को भी ध्यान के लिए अयोग्य बताया है।[8]

योग्य स्थानों की ओर निर्देश करते हुए आ० शुभचन्द्र एवं आ० हेमचन्द्र ने सिद्धक्षेत्र, महातीर्थ, पुराण पुरुषों से अधिष्ठित और तीर्थंकरों के कल्याणकों से सम्बद्ध क्षेत्र को ध्यान की सिद्धि हेतु उपयुक्त बताया है।[9] इसके अतिरिक्त वृक्षकोटर, जीर्ण उद्यान, श्मशान, गुफा, सिद्धकूट, जिनालय और कोलाहल एवं उपद्रव से रहित जनशून्य गृह आदि को भी ध्यान के योग्य स्थान कहा गया है। जिस स्थान पर रागादि दोषों का उत्पन्न होना सम्भावित न हो, वह सदा ही ध्यान के लिए योग्य माना गया है।[10] परन्तु भगवान् महावीर ने ध्यान के लिए किसी स्थान विशेष की कोई मर्यादा निर्धारित नहीं की।[11] उपा० यशोविजय ने भी भगवान् की इस मान्यता का समर्थन किया है।[12]

काल

ध्यान के लिए काल की कोई मर्यादा नहीं है। वह सार्वकालिक है। ध्यान के लिए वही काल उपयोगी

---

१. ज्ञानार्णव, २५/५; योगशास्त्र, ४/११८; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, ७/६; षोड़शक, ४/१५,
२. ज्ञानार्णव, २५/७
३. ज्ञानार्णव, २५/११; योगशास्त्र, ४/११६; षोड़शक, ४/१५,
४. ज्ञानार्णव, २५/१०; योगशास्त्र, ४/१२०; षोडशक, ४/१५,
५. ज्ञानार्णव, २५/१३–१४; योगशास्त्र, ४/१२१
६. पातञ्जलयोगसूत्र, १/३३
७. ज्ञानार्णव, २५/२३–३२
८. वही, २५/३३–३५
९. (क) सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ।। –वही, २६/१
(ख) तीर्थं वा स्वस्थताहेतुं, यत्तद् वा ध्यानसिद्धये ।
कृतासनजयो योगी, विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ।। – योगशास्त्र, ४/१२३
१०. ज्ञानार्णव, २६/२–६
११. गामे वा अदुवा रण्णे, णेव गामे णेव रण्णे धम्ममायाणह ....। – आचारांगसूत्र, ८/१/२००
१२. अध्यात्मसार, ५/१६/२७

होता है, जिसमें योगों को उत्तम समाधान प्राप्त हो। ध्यान के लिए दिन, रात, क्षण, घड़ी आदि का कोई नियम नहीं है।[१]

आसन

जैन-परम्परा में ध्यान के लिए किसी आसन विशेष पर बैठने का कोई नियम निर्धारित नहीं है। अपितु जिस आसन (स्थिति विशेष) में ध्यान करना सुलभ हो, उसी को ध्यान के लिए उपयुक्त बताया गया है।[२] इस अभिमत के अनुसार ध्यान खड़े होकर, बैठकर अथवा लेटकर – तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है।[३]

आलम्बन

जैनशास्त्रों में ध्यान रूपी शिखर पर चढ़ने के लिए चार आलम्बन बताए हैं – १. वाचना, २. पृच्छना, ३. परिवर्तना, ४. अनुप्रेक्षा।[४] सूत्रादि का पठन-पाठन 'वाचना' है। सूत्रादि में शंका होने पर निवारण हेतु प्रश्न पूछना 'पृच्छना' है। पढ़े हुए सूत्रादि की पुनः पुनः आवृत्ति करना 'परिवर्तना' है। सूत्रार्थ का चिन्तन-मनन करना 'अनुप्रेक्षा' है। उपा० यशोविजय ने इन चारों आलम्बनों के साथ क्रिया (प्रत्युपेक्षणादि) सद्धर्म (उत्तम क्षमादि परिणाम रूप धर्म) तथा आवश्यक (सामायिक आदि) क्रिया को भी आलम्बनों में परिगणित किया है।[५] उनके मत में सूत्रादि आलम्बनों का आश्रय लेने से योगी सद्ध्यान पर आरूढ़ हो जाता है और उसका कभी पतन नहीं होता।[६]

क्रम

अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान-साधना के अनेक क्रम हो सकते हैं। जैनाचार्यों ने ध्यान के क्रम का विचार करते हुए धर्मध्यान के साथ शुक्लध्यान के भी क्रम का निरूपण कर दिया है। उनका अभिमत है कि केवलज्ञानी में मन के निरोध आदि से लेकर ध्यान की प्रतिपत्ति तक एक निश्चित क्रम होता है, किन्तु जो केवलज्ञानी नहीं है ऐसे धर्मध्यानियों को यथायोग्य (अपनी-अपनी योग्यतानुसार) समाधान करना चाहिये।[७]

ध्यातव्य

ध्यान करने योग्य पदार्थ, वस्तु और आलम्बन अर्थात् विषय जिनका ध्यान किया जा सके, चित्त को एकाग्र किया जा सके, ध्यातव्य या ध्येय कहे जाते हैं। आ० हरिभद्र ने ऐसे आलम्बन रूप ध्येय दो प्रकार के बताए हैं – रूपी और अरूपी। अर्हन्त व उसकी प्रतिमा 'रूपी' आलम्बन है, जबकि सिद्ध परमात्मा के केवलज्ञानादि रूप सूक्ष्म गुणों की परिणति रूप आलम्बन 'अरूपी' है।[८] आ० शुभचन्द्र ने पिंडस्थादि

---

१. अध्यात्मसार, ५/१६/२८
२. ज्ञानार्णव, २६/११; योगशास्त्र, ४/१३४
३. अध्यात्मसार, ५/१६/२६
४. भगवती आराधना, १७१०, १८७५; स्थानांगसूत्र, २४७; ध्यानशतक, ४२
५. वाचना चैव पृच्छा च, परावृत्यनुचिन्तने ।
क्रिया चालम्बनानीह, सद्धर्मावश्यकानि च ।। – अध्यात्मसार, ५/१६/३१
६. अध्यात्मसार, ५/१६/३२–३३
७. वही, ५/१६/३४; ध्यानशतक, ४४
८. (क) आलंबणं पि एयं, रूविमरूवी य इत्थ परमु त्ति ।
तग्गुणपरिणइरूवो, सुहुमोऽणालंबणो नाम ।। – योगविंशिका, १६
(ख) षोडशक, १४/१

चार प्रकार के ध्यानों का उल्लेख करते हुए भिन्न-भिन्न ध्येयों की चर्चा की है।[१] पिण्डस्थ ध्यान में शरीर के अवयव ध्येय (आलम्बन) होते हैं।[२] इसमें पार्थिवी, आग्नेयी आदि धारणाओं की भी आलम्बन रूप में चर्चा की गई है।[३] पदस्थ ध्यान में नेत्रपदों का, रूपस्थ में अर्हत् के रूप (प्रतिमा) का तथा रूपातीत में अमूर्त आत्मा के स्वरूप का आलम्बन लेने की बात कही गई है।[४] आ० हेमचन्द्र ने भी पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत – इन चार प्रकार के ध्येयों का उल्लेख किया है।[५] उपा० यशोविजय ने आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान – इन चार प्रकार के ध्यानों का ध्येयों (ध्यान के योग्य विषयों) के रूप में निर्देश किया है।[६]

ध्याता

जैन शास्त्रों में विशेष कर शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में प्रमाद से अभिभूत संयमहीन गृहस्थ व्यक्तियों को ध्यान का अधिकारी मानने में असहमति प्रकट की गई है।[७] मिथ्यादृष्टि एवं जिज्ञासा के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाले अस्थिरचित्त मुनियों का भी निषेध किया गया है।[८] यहाँ गृहस्थ के ध्यान के निषेध की जो बात कही गई है उसका यह अर्थ नहीं है कि गृहस्थ के धर्मध्यान होता ही नहीं, अपितु उसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ के उत्तम कोटि का ध्यान नहीं होता। आ० हेमचन्द्र का योगशास्त्र तो गृहस्थ की भूमिका पर ही रचित है।

ध्याता के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा गया है कि जो मुमुक्षु जन्म-मरण स्वरूप संसार से विरक्त होकर स्थिरतापूर्वक इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका है वह ध्याता प्रशंसा के योग्य है।[९]

आ० हेमचन्द्र के अनुसार प्राणों के नाश का समय उपस्थित होने पर भी संयम का त्याग न करने वाला, अन्य जीवों को आत्मवत् समझने वाला, अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहने वाला, परीषहजयी, मुमुक्षु, राग-द्वेषादि कषायों, दुष्प्रवृत्तियों एवं कामवासनाओं से मुक्त, शत्रु-मित्र, सोने-पाषाण, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि में समभाव रखने वाला, परोपकारी तथा प्रशस्त बुद्धि वाला व्यक्ति ध्यान का अधिकारी हो सकता है।

उपा० यशोविजय ने ऐसे साधक को धर्मध्यान का अधिकारी कहा है जिसकी बुद्धि मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से निर्विकार हो गई है, जो शान्त (कषायविजेता) और दान्त (इन्द्रिय-विजेता) है।[१०] ध्याता का यह लक्षण गीता के स्थितप्रज्ञ के सदृश है।[११]

---

१. ज्ञानार्णव, ३४ से ३७ वें अधिकार तक
२. ज्ञानार्णव, ३४ वां अधिकार
३. वही, ३४/२, ३
४. वही, ३७/२१–३०
५. पिण्डस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यऽलम्बनं बुधैः ।। – योगशास्त्र, ७/८
६. आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात् ।
धर्मध्यानोपयुक्तानां ध्यातव्यं स्याच्चतुर्विधम् ।। – अध्यात्मसार, ५/१६/३५
७. ज्ञानार्णव, ४/६–१७
८. वही, ४/१८, १६
९. मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ।। – ज्ञानार्णव, ४/६
१०. मनश्चेन्द्रियाणां च जयाद्यो निर्विकारधीः ।
धर्मध्यानस्य स ध्याता, शान्तो दान्तः प्रकीर्तितः ।। – अध्यात्मसार, ५/१६/६२
११. परैरपि यदिष्टं च स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ।
घटते ह्यत्र तत्सर्वं, तथा चेदं व्यवस्थितम् ।। – वही, ५/१६/६३; तुलना : गीता २/५५

धर्मध्यान के अधिकारियों के विषय में भी विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार धर्मध्यान सातवें गुणस्थान से लेकर १२वें गुणस्थान तक संभव है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार चौथे से सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की संभावना मान्य है।[१] ज्ञानार्णव में प्रमुख रूप से अप्रमत्तसंयत को और गौण रूप से प्रमत्तसंयत को धर्मध्यान का स्वामी कहा गया है।[२] मतान्तर से उसके स्वामी सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थानवर्ती जीव बतलाए गए हैं।[३] आ० हेमचन्द्र के मत में अप्रमत्तसंयत, उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीवों को धर्मध्यान होता है।[४]

अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा का अर्थ है – बार-बार देखना, गहराईपूर्वक चिन्तन करना और उस चिन्तन में तल्लीन हो जाना।[५] ध्यान की सिद्धि के लिए अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करना नितान्त आवश्यक है। उनके अभ्यास से जिसका मन सुसंस्कृत हो जाता है, वह विषम स्थिति उपस्थित होने पर भी अविचल रह सकता है, प्रिय और अप्रिय दोनों स्थितियों को समभाव से सहने में समर्थ हो जाता है। जैन शास्त्रों में धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ बताई गई हैं – १. एकत्व अनुप्रेक्षा, २. अनित्य अनुप्रेक्षा, ३. अशरण अनुप्रेक्षा और ४. संसार अनुप्रेक्षा।[६]

आ० शुभचन्द्र एवं आ० हेमचन्द्र ने बारह भावनाओं का वर्णन किया है[७] और उन्हें धर्मध्यान का कारण बताया है।[८] परन्तु धर्मध्यान के लिए पूर्वापेक्षित अभ्यास के रूप में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ – इन चार भावनाओं की ही विवेचना की है।[९] उपा० यशोविजय के अनुसार भ्रान्तिरहित मुनि को ध्यान के विरामकाल में भी सदा अनित्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओं का ध्यान करना चाहिए, क्योंकि ये (अनित्यादि अनुप्रेक्षाएँ) ही वास्तव में ध्यान की प्राण रूप हैं।[१०]

लेश्या

आ० हेमचन्द्र एवं उपा० यशोविजय ने धर्मध्यान के समय में क्रमशः उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाली पीत (तेज), पद्म और शुक्ल नामक तीन शुभ लेश्याओं का उल्लेख किया है।[११] जबकि आ० शुभचन्द्र के अनुसार धर्मध्यान में शुक्ल लेश्या होती है।[१२]

लिंग

आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने विषयों में अनासक्ति, निरोगता, दयालुता, शरीर की सुगन्धता, मलमूत्र की हीनता, कान्ति, मुख की प्रसन्नता और स्वर में सौम्यता – ये धर्मध्यान के लक्षण बताये हैं।[१३] उपा०

---

१. सुखलाल संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, (द्वितीय संस्करण), पृ० २२७
२. ज्ञानार्णव, २६/२६
३. ज्ञानार्णव, २६/२८
४. योगशास्त्र, १०/१६
५. शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । – सर्वार्थसिद्धि, ६/२/४०६
६. स्थानांगसूत्र, ४/१/२४७; ध्यानशतक, ६५
७. ज्ञानार्णव, अधिकार २; योगशास्त्र, ४/५५–७६
८. ज्ञानार्णव, ३८/३
९. वही, २५/४; योगशास्त्र, ४/११७
१०. अनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षा, ध्यानस्योपरमेऽपि हि।
भावयेन्नित्यमभ्रान्तः, प्राणाः ध्यानस्य ताः खलु ।। – अध्यात्मसार, ५/१६/७०
११. योगशास्त्र, १०/१६; अध्यात्मसार, ५/१६/७१
१२. ज्ञानार्णव, ३८/१२
१३. ज्ञानार्णव, ३८/१३(१); योगशास्त्र, १०/१७

यशोविजय ने आगमों के प्रति श्रद्धा, विनय, और सद्गुण[1] धर्मध्यान के इन तीन मुख्य लक्षणों का निर्देश किया है।

फल

'धर्मध्यान' के उक्त प्रभेदों का अभ्यास करने से योगी के ध्यान में स्थिरता आती है और उसका चित्त एक ही ध्येय में तल्लीन हो जाता है। ऐसी अवस्था में जीव को इन्द्रियों से अगम्य आत्मिक सुख का अनुभव होता है।[2] शरीरादि परिग्रहों तथा इन्द्रियादि विषयों से उसकी निवृत्ति हो जाती है। एकाग्रता को धारण कर वह आत्मा में ही अवस्थित हो जाता है।[3] यहाँ यह ध्यातव्य है कि धर्मध्यान का अभ्यास करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, अपितु महासुकृत पुंज की परम्परा बढ़ाने वाले स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[4] धर्मध्यान के साधक स्वर्ग के दिव्य सुखों को भोगने के पश्चात् स्वर्गपटल से च्युत होकर पुनः पृथ्वी पर मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं और वहाँ चरम शरीरी महापुरुषों/तीर्थंकरों की विभूति को प्राप्त करके विविध प्रकार के भोगों को अनासक्ति पूर्वक भोगते हैं। तत्पश्चात् विवेक का आश्रय लेकर, संसार के समस्त भोगों से विरक्त होकर वे उत्तम ध्यान (शुक्लध्यान) द्वारा समस्त कर्मों का विनाश कर शाश्वत पद मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[5] संक्षेप में धर्मध्यान के अभ्यास से 'शुक्ल ध्यान' रूप उत्तमध्यान की योग्यता प्राप्त होती है जो मोक्ष-प्राप्ति का मूल हेतु है।

४. शुक्लध्यान

धर्मध्यान में चित्तशुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास पूर्ण होता है। शुक्लध्यान के अन्तर्गत उक्त अभ्यास में अधिक परिपक्वता आती है और क्रमशः चित्त शांत व निष्प्रकम्प हो जाता है तथा अन्त में चित्तवृत्ति का पूर्णतः निरोध, पूर्ण संवर की स्थिति, जैन योग की परिभाषा में शुक्लध्यान तथा पातञ्जलयोगानुसार धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है। यह ध्यान की सर्वोत्कृष्ट एवं वासनाहीन स्थिति है। इसलिए धीर योगी आत्यन्तिक शुद्धि को प्राप्त करके धर्मध्यान का अतिक्रमण करता हुआ शुक्लध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करता है।[6] धर्मध्यान का अभ्यास करते-करते जब आत्मा निर्मल हो जाती है, तब उस साधक की एकाग्रता या आत्यन्तिक स्थिरता को 'शुक्लध्यान' कहते हैं। आ० हरिभद्र ने शुक्लध्यान का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है – 'शोक-निवर्तक और एकाग्रचित्त-निरोध' अर्थात् जिससे आत्मगत शोक सर्वथा निवृत्त हो जाए, ऐसा एकाग्रचित्तनिरोध शुक्लध्यान है।[7] आ० शुभचन्द्र के अनुसार जो चित्तक्रिया से रहित, इन्द्रियों से अतीत और ध्यान-धारण से विहीन होकर अर्न्तमुख हो जाता है अर्थात् समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाए उसे 'शुक्लध्यान' कहा जाना चाहिए।[8] यह ध्यान निर्मलता तथा कषायों के क्षय अथवा उपशम हो जान के कारण चूंकि वैडूर्य मणि के समान अतिशय निर्मल व स्थिर होता है, इसलिए इसे 'शुक्लध्यान' कहा गया है।[9] आ० हेमचन्द्र ने शुक्लध्यान के लिए उपयुक्त सामग्री प्राप्त न होने

---

१. अध्यात्मसार, ५/१६/७१
२. ज्ञानार्णव, ३८/१३; योगशास्त्र, १०/१७ पर स्वो० वृ०
३. ज्ञानार्णव, ३८/६
४. वही, ३८/१४–२२; योगशास्त्र, १०/१८–२२; अध्यात्मसार, ५/१६/७२
५. ज्ञानार्णव, ३८/२३–२५; योगशास्त्र, १०/२३–२५
६. अथ धर्ममतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः ।
ध्यातुमारभते धीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ।। – ज्ञानार्णव, ३६/३
७. शुचं क्लमयतीति शुक्लं – शोकं ग्लपयतीत्यर्थः । – ध्यानशतक, गा० १ पर हरिभद्रटीका
८. ज्ञानार्णव, ३६/४(१)
९. ज्ञानार्णव, ३६/४(२), ५

के कारण वर्तमानकाल के साधकों के लिए उसका अभ्यास करना अतिदुष्कर बताया है तथापि शुक्लध्यान की परम्परा का विच्छेद न हो, क्योंकि अविच्छिन्न-परम्परा से यदा-कदा कोई व्यक्ति थोड़ी बहुत मात्रा में लाभान्वित हो सकता है, इसलिए उसका विवेचन करना भी आवश्यक समझा।[१]

शुक्लध्यान के भेद

शुक्लध्यान के चार भेद बताए गए हैं – १. पृथक्त्ववितर्क-सविचार, २. एकत्ववितर्क-अविचार, ३. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती और ४. समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति या व्युपरतक्रियानिवृत्ति।[२] इनमें से पहले दो प्रकार सालम्बन ध्यान कहलाते हैं क्योंकि इनमें श्रुतज्ञान और योग का आलम्बन होता है, परन्तु बाह्य आलम्बनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। शेष दो ध्यान निरालम्बन कहलाते हैं क्योंकि उनमें किसी भी प्रकार के आलम्बन नहीं होते।

(१) पृथक्त्ववितर्क-सविचार[३]

पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयों से पदार्थों की पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप में चिन्तन करना तथा ध्येय वस्तु शब्द, अर्थ और योग में संक्रमण करना 'पृथक्त्ववितर्क-सविचार' नामक प्रथम शुक्लध्यान है। पृथक्त्व का अर्थ है – भेद। इस प्रथम शुक्लध्यान में साधक पूर्वगत श्रुतानुसार एक द्रव्य का विविध नयों के द्वारा भेद चिन्तन करता है, इसलिए इसे पृथक्त्व कहा गया है। वितर्क का अर्थ है – श्रुतज्ञान।[४] यह चिन्तन पूर्वश्रुतानुसारी होता है, अतएव इसे वितर्क कहते हैं। विचार से तात्पर्य है – अर्थ, व्यञ्जन और योग का संक्रमण।[५] इस ध्यान में साधक शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर, एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर अथवा द्रव्य से पर्याय पर, पर्याय से द्रव्य पर या एक व्यञ्जन (श्रुतवचन) को छोड़कर दूसरे व्यञ्जन अथवा एक योग से दूसरे योग पर संक्रमित होता रहता है इसलिए इसे सविचार कहते हैं। इसप्रकार ध्यान की भेद-प्रधान (पृथक्त्व) और संक्रमणशील स्थिति के कारण ही इस प्रथम ध्यान को 'पृथक्त्ववितर्क-सविचार' नाम दिया गया है।[६]

(२) एकत्ववितर्क-अविचार

पूर्वश्रुत का आलम्बन लेकर जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और मन-वचन-कायादि तीन योगों में से किसी एक योग में ही दृढ़ रहकर शब्द या अर्थ में से किसी एक का ही चिन्तन किया जाता है तब शुक्लध्यान की वह स्थिति 'एकत्ववितर्क-अविचार' कहलाती है। इसको श्रुत का अवलम्बन होने से 'वितर्क', अभेद का चिन्तन होने से 'एकत्व' और योग एवं शब्दार्थ का संक्रमण न होने से 'अविचार' कहते हैं।[७] इस ध्यान में योगी मन को भिन्न-भिन्न इन्द्रिय विषयों से हटाकर किसी एक विषय में केन्द्रित कर लेता है। विषयों के अभाव में मन की चंचलता समाप्त हो जाती है।

---

१. अनवच्छित्त्याम्नायः समागतोऽस्येति कीर्त्यतेऽस्माभिः ।
दुष्करमप्याधुनिकैः शुक्लध्यानं यथाशास्त्रम् ।। – योगशास्त्र, ११/४

२. स्थानांगसूत्र, ४/२४७; भगवतीसूत्र, २५/७; औपपातिकसूत्र, अधिकार, ३०; तत्त्वार्थसूत्र, ६/४१; ज्ञानार्णव, ३६/८, ६; योगशास्त्र, ६/५; अध्यात्मसार, ५/१६/७४–८०

३. ज्ञानार्णव, ३६/१२–१६ (१–३); योगशास्त्र, ११/६, १५, १६; अध्यात्मसार, ५/१६/७४, ७५

४. वितर्कः श्रुतम् । – तत्त्वार्थसूत्र, ६/४५

५. विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः । – वही, ६/४६

६. शब्दाच्छब्दानन्तरं यायाद्योगं योगान्तरादपि ।
सवीचारमिदं तस्मात् सवितर्कं च लक्ष्यते ।। – ज्ञानार्णव, ३६/१६(२)

७. ज्ञानार्णव, ३६/१३; योगशास्त्र, ११/७, ८

योगी के समस्त घातिकर्म क्षणभर में भस्म हो जाते हैं और योगी आत्मा की विशुद्ध एवं आत्यन्तिक उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है। उसे समस्त लोक और अलोक को यथावस्थित रूप में जानने और देखने की सामर्थ्य तथा अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणों की प्राप्ति होती है।[१]

ध्यान के उक्त दोनों प्रकारों में से प्रथम ध्यान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के पश्चात् ही द्वितीय अभेद प्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।[२]

(३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती

द्वितीय 'एकत्व' वितर्क शुक्लध्यान के प्रभाव से अरिहन्त अवस्था प्राप्त हो जाने पर जब केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है तब वह तृतीय शुक्लध्यान का अधिकारी बनता है।[३] इस अवस्था में आयुकर्म की स्थिति अन्य नामादि अघातिया कर्मों से अधिक होने पर उन्हें सम अवस्था में लाने के लिए केवली को समुद्घात क्रिया करनी पड़ती है।[४] 'समुद्घात' का अर्थ है – जिस क्रिया से एक ही बार में सम्यक् प्रकार से प्रादुर्भाव हो, दूसरी बार न हो, इसप्रकार प्रबलता से घात करना, आत्मप्रदेश को शरीर से बाहर निकालना।[५] यह समुद्घात क्रिया आठ समय में होती है। प्रथम तीन समय में आत्मा के प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर क्रमशः दण्डाकार, कपाटाकार एवं प्रस्ताकार में फैला दिया जाता है। चौथे समय में बीच के खाली भागों को आत्मप्रदेशों से पूर्ण करके उनसे सम्पूर्ण लोक को व्याप्त किया जाता है। पांचवें से सातवें समय में आत्मा के लोकव्यापी प्रदेशों को संहरण-क्रिया द्वारा सिकोड़कर पुनः प्रस्ताकार, कपाटाकार एवं दण्डाकार बनाया जाता है और आठवें समय में दण्डाकार को समेट कर आत्मप्रदेश को पूर्ववत् अपने मूलशरीर में ही स्थित कर लिया जाता है। इस प्रकार इस क्रिया से लोकपूरणसमुद्घात में उनके चारों घातीकर्मों की स्थिति समान हो जाती है।[६]

वेदनीय आदि कर्मों को भोगने के लिए की जाने वाली यह समुद्घात क्रिया पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित बहुकायनिर्माणक्रिया के समकक्ष प्रतीत होती है। तत्त्वसाक्षात्कर्ता योगी सोपक्रमकर्म को शीघ्र भोगने के लिए उक्त क्रिया करता है।[७]

समुद्घात की क्रिया के पश्चात् अचिन्तनीय शक्ति से युक्त वह योगी बादर काययोग का अवलम्बन लेकर बादर वचनयोग एवं मनोयोग को शीघ्र ही सूक्ष्म कर लेता है, फिर सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकता है। तदनन्तर सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोग का भी निरोध कर लेता है। तत्पश्चात् वह सूक्ष्म काययोग से 'सूक्ष्मक्रिया-निवृत्ति' नामक तृतीय ध्यान का अभ्यास करता है, इसी का दूसरा नाम समुच्छिन्नक्रिया अथवा सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान है।[८] इस अवस्था में केवल श्वासोच्छ्वास आदि की सूक्ष्मक्रिया शेष रहती है। सूक्ष्मक्रिया निरुद्ध होकर भी स्थूल नहीं होती। इस ध्यानावस्था को प्राप्त हुआ योगी अन्य ध्यानों में नहीं लौटता, वह अन्तिम समय में सूक्ष्मक्रिया का भी त्याग कर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।[९]

---

१. ज्ञानार्णव, ३९/२४–२७; योगशास्त्र, ११/१९–४४
२. ज्ञानार्णव, ३९/१९(४); योगशास्त्र, ११/१७
३. ज्ञानार्णव, ३९/३६
४. ज्ञानार्णव, ३९/३८; योगशास्त्र, ११/५०
५. योगशास्त्र, स्वो० वृ० ११/५०
६. ज्ञानार्णव, ३९/३९–४२; योगशास्त्र, ११/५१–५२
७. व्यासभाष्य, पृ० ३८६, ४७२, ४७३
८. ज्ञानार्णव, ३९/४३–४६; योगशास्त्र, ११/५३–५५
९. योगशास्त्र, ११/८; अध्यात्मसार, ५/१६/७८

(४) समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति

साधक जब शुक्लध्यान के चौथे तथा अंतिमचरण में पहुँचता है तब ध्यान की अवशिष्ट सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है और आत्मप्रदेश मन, वचन, काय – तीनों योगों के निरोध से मेरु पर्वत के समान निश्चल, सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं। शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली की यह स्थिति 'समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती' ध्यान कहलाती है।[१] आ० हेमचन्द्र ने इसे 'उत्सन्नक्रियाप्रतिपाति' अथवा 'व्युपरतक्रियानिवृत्ति' नाम से अभिहित किया है।[२] इस ध्यान के प्रभाव से शेष चार अघातीकर्मों का भी क्षय हो जाता है।[३] आ०हेमचन्द्र के अनुसार अ, इ, उ, ऋ, लृ – इन पांच ह्रस्व स्वरों को बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय तक में शैलेशी अवस्था अर्थात् मेरु पर्वत के समान निश्चल दशा प्राप्त करके एक साथ साधक वेदनीयादि कर्मों का मूल से क्षय कर देता है।[४] इस ध्यान में केवली 'अयोगकेवली गुणस्थान' के उपान्त्य (अन्त समय के पहले समय) में ७२ कर्मप्रकृतियों तथा इसी गुणस्थान के अन्त समय की अवशिष्ट १३ कर्मप्रकृतियों को भी नष्ट कर देते हैं।[५] क्योंकि उसके आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए इनका आगे गमन नहीं होता।[६] केवल ज्ञान और दर्शन से युक्त सिद्धात्मा सर्वकर्मों से मुक्त होकर सादि-अनन्त-अनुपम, अव्याबाध और स्वाभाविक पैदा होने वाले आत्मिक सुख को प्राप्त कर उसी में मग्न रहती है।[७]

उपा० यशोविजय के अनुसार शुक्लध्यानी की पहचान अवध (अव्यथ), असम्मोह (सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढ़ता का अभाव) विवेक और व्युत्सर्ग (शरीर और उपाधि में अनासक्त भाव) – इन चार बाह्य चिह्नों से होती है।[८] क्षान्ति, मृदुता, आर्जव और मुक्ति, ये चार शुक्लध्यान के आलम्बन हैं।[९] जिनका शरीर-संहनन वज्र के समान सुदृढ़ होता है (वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले) तथा जो पूर्व श्रुत का ज्ञाता होता है, वही शुक्लध्यान का अधिकारी होता है। इनसे रहित अल्पसत्त्व वाले साधक के चित्त में किसी भी तरह शुक्लध्यान की स्थिरता प्राप्त नहीं होती।[१०] प्रथम दो शुक्लध्यान छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियों को होते हैं, क्योंकि उनमें श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थों का अवलम्बन होता है। शेष दो शुक्लध्यान कषायों से रहित काययोग की स्थिरता वाले केवलज्ञानी को होते हैं।[११] योगी की दृष्टि से प्रथम शुक्लध्यान एक योग या तीन योग वाले मुनियों को होता है।[१२] दूसरा एक योग वाले मुनि को[१३], तीसरा सयोगी केवली[१४] को तथा चौथा अयोगी केवली[१५] को ही होता है।

शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों में शुक्ल लेश्या, तीसरे में परमशुक्ल लेश्या मानी गई है तथा चौथे को लेश्यातीत कहा गया है।[१६]

---

१. अध्यात्मसार, ५/१६/७६
२. योगशास्त्र, ११/६
३. वही, ११/५६
४. वही, ११/५७
५. ज्ञानार्णव, ३६/४७–४६
६. ज्ञानार्णव, ३६/५५; योगशास्त्र, ११/५६
७. योगशास्त्र, ११/६१
८. अध्यात्मसार, ५/१६/८४
९. वही, ५/१६/७३
१०. ज्ञानार्णव, ३८/६; योगशास्त्र, ११/२
११. योगशास्त्र, ११/११
१२. ज्ञानार्णव, ३६/१८; अध्यात्मसार, ५/१६/७६
१३. ज्ञानार्णव, ३६/२२
१४. वही, ३६/४६
१५. योगशास्त्र, ११/१०
१६. अध्यात्मसार, ५/१६/८२

धर्मध्यान के जो शुभानुबन्धी फल हैं वही उत्कृष्टावस्था में विशेष रूप से प्रथम दो शुक्लध्यान के फल बन जाते हैं। प्रथम दो शुक्लध्यानों का फल स्वर्ग की प्राप्ति है तथा अंतिम दो ध्यानों का फल मोक्ष है।[१]

'प्रभा' नामक सप्तम दृष्टि को योग के सप्तम अंग 'ध्यान' के समकक्ष इसलिए माना गया है, क्योंकि इस अवस्था में सूर्य के प्रकाश के समान बोध की प्राप्ति होती है परिणामस्वरूप रुग् नामक दोष विलीन हो जाता है, जिससे ध्यान में शून्यवृत्ति पैदा होती है।

८. परादृष्टि और समाधि

आठवीं तथा अन्तिम दृष्टि 'परादृष्टि' कहलाती है। इसमें चन्द्रमा की शीतल ज्योत्सना के प्रकाश जैसा बोध प्राप्त होता है। यहाँ 'बोध' से तात्पर्य मात्र वस्तु की जानकारी रूप बोध नहीं है, अपितु यह आत्मा की विशिष्ट बोध परिणति का द्योतक है। इस दृष्टि में प्राप्त बोध अत्यंत सौम्य-शांत, तथा शीतल होने से सद्ध्यान रूप ही होता है।[२] ध्यान का विशिष्ट फल 'समाधि' है। इसलिए परादृष्टि को समाधिनिष्ठ माना गया है।[३] इस अवस्था में पहुँचने पर साधक सभी अंगों (आसक्ति) से रहित हो जाता है, केवल आत्मतत्त्व में ही लीन रहता है, उसमें किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करने की इच्छा नहीं रहती। उसका चित्त प्रवृत्ति से ऊपर उठा हुआ होता है[४] और विकल्परहित हो जाता है। निर्विकल्पक दशा में साधक को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। वह सहज निरतिचार साधना करता है। अतिचारों का अभाव होने से उसे प्रतिक्रमणादि किसी अनुष्ठान के पालन की अपेक्षा नहीं रहती।[५] साधक की आचार-क्रिया पूर्वावस्थाओं की आचार-क्रियाओं से फलभेद की दृष्टि से सर्वथा भिन्न होती है। वह पूर्ण कृतकृत्य होकर ज्ञानावरणीय आदि घातिया कर्मों के क्षय से होने वाले 'धर्मसन्यास' नामक सामर्थ्ययोग को प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप उसे बिना किसी बाधा के केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी अधिगत होती है और जब मेघ के समान ज्ञानावरणादि चार घातिकर्म पूर्वोक्त योग रूपी वायु के आघात से हट जाते हैं, तब आत्म-लक्ष्मी से युक्त साधक ज्ञानकेवली अर्थात् सर्वज्ञ बन जाता है।[६] समग्रलब्धि-सम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष दोषों के क्षीण हो जाने पर अवशिष्ट अघातिया कर्मों के उदय से अन्य संसारी जीवों के उपकारार्थ आत्मशांति का उपदेश देते हैं और अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर योग की चरमावस्था को प्राप्त कर लेते हैं।[७] योग की चरमावस्था में सयोगीकेवली को मन, वचन और काय रूप योग से रहित अयोग-अवस्था प्राप्त होती है, जिसके परिणामस्वरूप योगी भवव्याधि का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।[८]

ठीक यही स्थिति योग के अष्टम व अन्तिम अंग 'समाधि' से प्राप्त होती है। 'समाधि' ध्यान की चरमावस्था का ही नाम है।[९] इस अवस्था में ध्याता ध्येय में इतना विलीन हो जाता है कि उसे अपना भी भान नहीं होता। ध्याता और ध्यान दोनों एकाकार हो जाते हैं, ध्येय शेष रहता है। चित्त उसी के आकार

---

१. अध्यात्मसार, ५/१६/८०
२. परायां पुनर्दृष्टौ चन्द्रचन्द्रिकाभासमानो बोधः सद्ध्यानरूप एव सर्वदा .....। – योगदृष्टिसमुच्चय, स्वो० वृ०, गा० १५
३. समाधिनिष्ठा तु पराऽष्टमी दृष्टिः, "समाधिस्तु ध्यानविशेषः", फलमित्यन्ये। – वही, १७८
४. समाधिनिष्ठा तु परा तदासंगविवर्जिता।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १७८
५. वही, १७६
६. वही, १८०–१८४
७. क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः सर्वलब्धिफलान्वितः ।
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ।। – योगदृष्टिसमुच्चय, १८५
८. तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात् ।
भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम् ।। – वही, १८६
९. तदा ध्यानमेव समाधिरुच्यते इत्यर्थः । – योगवार्तिक, पृ० २८०

को धारण कर लेता है। पतञ्जलि ने भी 'समाधि' का लगभग यही अर्थ ग्रहण किया है। उनके अनुसार जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति हो और चित्त स्वरूपशून्य हो जाए, तो वह अवस्था 'समाधि' है।[१] भोज ने समाधि का लक्षण करते हुए कहा है कि विघ्नों को हटाकर जिसमें मन को एकाग्र किया जाता है वह 'समाधि' है।[२]

पातञ्जलयोगसूत्र में समाधि के दो भेद निर्दिष्ट हैं – सम्प्रज्ञातसमाधि एवं असम्प्रज्ञातसमाधि।[३] सम्प्रज्ञातसमाधि में साधक को चित्तवृत्ति की एकाग्रता के स्थूल अथवा सूक्ष्म आलम्बनों का भान होता रहता है। आलम्बनों के स्थूलत्व अथवा सूक्ष्मत्व के आधार पर ही सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेद किये गये हैं – १. वितर्कानुगत, २. विचारानुगत, ३. आनन्दानुगत, ४. अस्मितानुगत।[४] सम्प्रज्ञातसमाधि में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता। ध्याता और ध्येय की प्रतीति बनी रहती है, इसलिए समाधि की यह अवस्था पूर्णयोग को प्राप्त नहीं होती।[५] पतञ्जलि ने इसे 'सबीजसमाधि' भी कहा है।[६] दूसरे शब्दों में इसे 'सालम्बन समाधि' भी कह सकते हैं।[७] 'असम्प्रज्ञातसमाधि' में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों ही एकरूप हो जाते हैं। इस अवस्था में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। चित्त में मात्र संस्कार ही अवशिष्ट रह जाते हैं।[८] इसलिए इसे 'निर्बीजसमाधि' भी कहा गया है।[९] दूसरे शब्दों में सबीज और निर्बीज समाधि को सालम्बन और निरालम्बन ध्यान भी कहा जा सकता है।

पतञ्जलि के योगसूत्र में असम्प्रज्ञातसमाधि के भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय[१०] नामक जो दो अवान्तर भेद बताए गए हैं, इनमें उपायप्रत्यय समाधि ही वास्तविक समाधि है। यह श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा से प्राप्त होती है।[११] इसमें स्थित साधक अपने लक्ष्य को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है।

पातञ्जलयोगदर्शन में 'योग' को 'समाधि' रूप मानकर उसकी व्याख्या की गई है। वहाँ क्लेशकर्म वासना के समूलनाशक रूप वृत्तिनिरोध को 'योग' माना गया है।[१२] जैनदर्शन में वृत्तियों के पूर्णनाश से मोक्ष-प्राप्ति की संभावना बताई गई है। शुक्लध्यान और समाधि, दोनों का सम्बन्ध वृत्तिनिरोध से है। अतः मोक्ष प्राप्ति के विषय में दोनों दर्शनों में मतैक्य दृष्टिगत होता है।

धारणा, ध्यान और समाधि, तीनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने तीनों के एकत्रीभाव को संयम की संज्ञा दी है।[१३] वस्तुतः 'ध्यान' की ही उत्कृष्ट स्थिति 'समाधि' है और इसकी पूर्वावस्था 'धारणा' है। परन्तु महर्षि पतञ्जलि ने धारणा, ध्यान और समाधि का पृथक्-पृथक् अंग के रूप में भी वर्णन किया है जबकि ये तीनों ध्यान की ही क्रमिक अवस्थाएँ हैं। तीनों को पृथक्-पृथक् अंग स्वीकार करने से योगसूत्र में ध्यान का स्वरूप अधिक विकसित नहीं हो सका। इसके विपरीत जैन-परम्परा में ध्यान को इतने व्यापक अर्थ में प्रस्तुत किया गया है कि उससे पृथक् समाधि जैसा कोई अंग स्वीकार

---

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/३
२. सम्यगधीयते एकाग्री क्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र सः समाधिः। – भोजवृत्ति, पृ० ११७
३. व्यासभाष्य, पृ० ८–११
४. वितर्कविचारानन्दाऽस्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१७
५. व्यासभाष्य १/५०–५१
६. ताः एव सबीजः समाधिः । – पातञ्जलयोगसूत्र, १/४६
७. व्यासभाष्य, पृ० ६०
८. विरामप्रत्ययाऽभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/१८
९. एष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः। – व्यासभाष्य, पृ० ६५
१०. वही
११. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकं इतरेषाम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, १/२०
१२. पातञ्जलयोगसूत्र, १/१ पर बालकराम स्वामि की टिप्पणी
१३. त्रयमेकत्र संयमः। – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/४

करने की उन्हें कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। उपा० यशोविजय ने भी स्वरूपमात्र निर्भास ध्यान को ही 'समाधि' कहा है और समाधि को ध्यान का फल बताया है।[1] प्राचीन जैनागम तथा आगमेतर साहित्य में निरूपित शुक्लध्यान योगसूत्र में वर्णित समाधि की प्रक्रिया से बहुत साम्य रखता है। जैसे – जैनदर्शन में प्ररूपित प्रथम शुक्लध्यान (पृथक्त्वसवितर्क-सविचार) में द्रव्यपर्यायादि के ज्ञानपूर्वक शब्द, अर्थ एवं योग के संक्रमण युक्त चिन्तन को सवितर्क व सविचार कहा गया है, उसीप्रकार योगसूत्र में उल्लिखित सम्प्रज्ञातसमाधि में भी पूर्वापर के अनुसंधानपूर्वक शब्द व अर्थ के विकल्प से युक्त स्थूल व सूक्ष्म तत्त्वों का चिन्तन करने को सवितर्क व सविचार नाम से अभिहित किया गया है।

इसीप्रकार जैसे जैनदर्शन में द्वितीय शुक्लध्यान के निरूपण में शब्द, अर्थ और योग का संक्रमण न होने के कारण उसे अविचार शब्द से द्योतित किया गया है, उसीप्रकार योगदर्शन में तन्मात्रा और अन्तःकरण रूप विषय का आलम्बन लेने वाली चतुर्थ (निर्विचार) समाधि में भी देश, काल और धर्म के अवच्छेद से रहित धर्मी मात्र का प्रतिभास होने के कारण उसे निर्विचार की संज्ञा दी गई है। पातञ्जलयोगदर्शन में जो निर्बीज-समाधि की चर्चा की गई है वह प्रायः जैन-परम्परा में निरूपित शुक्लध्यान के अंतिम दो भेदों 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती' और 'समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति' के समकक्ष है। उनमें भी मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय – इन चार घातिकर्मों के पूर्णतया विनष्ट हो जाने पर ज्ञान-ज्ञेय आदि विकल्पों का अभाव हो जाता है। जैनमतानुसार ये दोनों ध्यान केवली को हुआ करते हैं और केवली को जड़, चेतन, स्थूल, सूक्ष्म, देशांतर, कालान्तर, व्यवहित, अव्यवहित सब पदार्थों का ज्ञान होता है। यही विशिष्टता योगसूत्र एवं उसके भाष्य में भी कही गई है।[2] जिसप्रकार योगसूत्र के व्यास भाष्य में स्वरूप में स्थित जीव को शुद्ध, केवली व मुक्त कहा गया है,[3] उसीप्रकार का वर्णन जैन-परम्परा में भी मिलता है।[4]

आ० हरिभद्र[5] एवं उपा० यशोविजय[6] ने भी 'पृथक्त्वसविचार-सवितर्क' और 'एकत्ववितर्क-अविचार' इन दो शुक्लध्यानों को पातञ्जलयोग सम्मत 'सम्प्रज्ञातसमाधि' तथा 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती' और 'समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति' इन दो शुक्लध्यानों को योग की 'असम्प्रज्ञातसमाधि' के सदृश बताकर दोनों परम्पराओं में समन्वयात्मक दृष्टिकोण दर्शाने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन-साधना-पद्धति में ध्यान से पृथक् समाधि अंग को स्वीकार करने की परम्परा प्रारम्भ में नहीं थी, और न ही जैन-परम्परागत ध्यान पातञ्जलयोगसूत्र से प्रभावित प्रतीत होता है। ऐसा भी नहीं है कि प्राचीन जैनसाहित्य में 'समाधि' शब्द का प्रयोग ही न हुआ हो। जैनागमों में प्रयुक्त 'समाधि' शब्द 'ध्यान' से निष्पन्न होने वाली आत्मस्थिति को नहीं, अपितु आचार-पद्धति को अभिव्यक्त करता है।[7] समाधि को ध्यान से पृथक् अंग मानने की मान्यता उत्तरवर्तीकाल में प्रारम्भ हुई।

---

१. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २४/२७
२. पातञ्जलयोगसूत्र, १/४६ एवं व्यासभाष्य
३. तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठतोऽतः शुद्धः केवलो मुक्तः इत्युच्यते इति। – व्यासभाष्य, पृ० १६०
४. ज्ञानार्णव, ३६/२४–२८, ५०–५३
५. समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते ।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ।।
असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ।। – योगबिन्दु, ४१६, ४२१
६. तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारकत्व वितर्काविचाराख्य शुक्लध्यानभेदद्वये सम्प्रज्ञातः समाधिवत्यर्थानां सम्यग्ज्ञानात्। ..... निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासस्तुपर्यायविर्निमुक्तशुद्धद्रव्यध्यानाभिप्रायेण व्याख्येयः ..... क्षपकश्रेणिपरिसमाप्तौ केवलज्ञानलाभस्त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः। – पातञ्जलयोगसूत्र १/१८ पर यशो० वृ०
७. स्थानांगसूत्र में समाधि को पांच महाव्रत तथा पांच समिति रूप माना गया है। – स्थानांगसूत्र, १०/३

आ० हरिभद्र ने 'परादृष्टि' को अष्टम योगांग 'समाधि' के समकक्ष इसलिए बताया है क्योंकि इस दृष्टि में होने वाला बोध आत्मा की उस विशिष्टबोध-परिणति का द्योतक है, जो जैन-परम्परागत 'शुक्ल- ध्यान' और पातञ्जलयोग सम्मत 'असंप्रज्ञातसमाधि' में प्राप्त होती है।

ङ मन की अवस्थाएँ

योग का प्रमुख चिन्त्य विषय आत्मा है और आत्मा मन से सम्बद्ध है। अर्थात् आत्मा का मन से घनिष्ट सम्बन्ध है। आत्मा से संयुक्त होकर पदार्थों का बोध कराने वाली इन्द्रिय को 'मन' कहा जाता है।[१] मन को मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण माना गया है। जब मन विषयों में आसक्त होता है तब आत्मा बन्धन में पड़ जाता है और जब विषयासक्ति मिट जाती है तब आत्मा मुक्त हो जाता है।[२] अध्यात्मकल्पद्रुम में भी कहा गया है कि मन की समाधि योग का हेतु है तथा तप का निदान है, और मन को केन्द्रित करने के लिए तप आवश्यक है। अतः तप शिवकर्म अर्थात् मोक्ष का मूल कारण है।[३] इसलिए मोक्षप्राप्त करने के लिए मन की चंचलता को रोककर मन को नियन्त्रण में करना आवश्यक है।

आ० हेमचन्द्र का मत है कि मन की अवस्थाओं को जाने बिना और उन्हें उच्च स्थिति में स्थित किए बिना योग-साधना संभव नहीं है। अतः सर्वप्रथम उन्होंने योगशास्त्र में स्वानुभव के आधार पर मन की चार अवस्थाओं का निरूपण किया है जो उनका मौलिक चिन्तन है। ये अवस्थाएँ हैं – १. विक्षिप्तमन, २. यातायातमन, ३. श्लिष्टमन, और ४. सुलीनमन।[४]

विक्षिप्त मन' अत्यन्त चंचल होता है, वह इधर-उधर भटकता रहता है। 'यातायातमन' विक्षिप्तमन से कुछ कम चंचल होता है इसलिए यह चित्त कुछ आनन्ददायक होता है। वह कभी बाहर जाता है तो कभी अन्दर स्थिर हो जाता है इसलिए इसे 'यातायात' नाम दिया गया है।

प्राथमिक अभ्यास वालों के लिए चित्त की ये दो स्थितियाँ होती हैं। अभ्यास से धीरे-धीरे चंचलता कम होती जाती है और स्थिरता आने लगती है। फिर भी मन के ये दोनों भेद चित्त-विकल्प के साथ बाह्य विषयों के ग्राहक भी होते हैं।[५]

स्थिर होने के कारण जो चित्त आनन्दित रहता है वह 'श्लिष्टमन' कहलाता है। जैसे-जैसे चित्त की स्थिरता बढ़ती जाती है तदनुरूप आनन्द की मात्रा भी बढ़ती जाती है। जब चित्त अत्यन्त स्थिर हो जाता है तब परमानन्द की प्राप्ति होती है। चित्त की यह स्थिति 'सुलीनमन' कहलाती है।[६]

आ० हेमचन्द्र का कथन है कि इस प्रकार क्रमशः अभ्यास बढ़ाने से 'निरालम्बन ध्यान' होने लगता है। 'निरालम्बन ध्यान' से समरस प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए।[७]

---

१. भारतीय दर्शन में मुक्ति मीमांसा, पृ० १४१
२. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यैः निर्विषयं मनः ।। – अमनस्कयोग, २/७६
३. योगस्य हेतुर्मनसः समाधिः परं निदानं तपसश्च योगः ।
तपश्च मूलं शिवकर्म आहुः मनः समाधिं भज तत्कथंचित् ।। – अध्यात्मकल्पद्रुम, ४/१५
४. इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च ।
चेतश्चतुःप्रकारं तज्ज्ञचमत्कारकारि भवेत् ।। – योगशास्त्र, १२/२
५. विक्षिप्तं चलमिष्टं, यातायातं च किमपि सानन्दम् ।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि, विकल्प-विषयग्रहं तत् स्यात् ।। – वही, १२/३
६. वही, १२/४
७. एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेत् निरालम्बनम् ।
समरसभावं यातः परमानन्दं ततोऽनुभवेत् ।। – वही, १२/५

उपा० यशोविजय ने पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित चित्त की पांच अवस्थाओं का अपनी दृष्टि से स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने चित्त की उन पांच अवस्थाओं का वर्णन किया है, जो पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित हैं। जैसे – १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।[१] ये पांच प्रकार के चित्त क्रमशः अविकास की ओर बढ़ती हुई अवस्थाओं के सूचक हैं।

क्षिप्तचित्त' रजोगुण प्रधान चित्त है जो अध्यात्म से बहिर्मुख रहता है तथा कल्पित विषयों में और समक्ष उपस्थित हुए विषयों में रजोगुण से निवेशित (राग से अनुरक्त) सुख-दुःख से मिश्रित होता है।[२]

तमोगुण की प्रधानता के कारण अज्ञान के आवरण से युक्त चित्त 'मूढ़चित्त' कहलाता है। तामसिक स्वभाव वाला होने से यह क्रोधादि कषायों से आविष्ट, धर्मविमुख, एवं लोक-विरुद्ध कार्यों में प्रवृत्त, तथा कृत्य-अकृत्य के विवेक से रहित होता है।[३]

सत्त्वगुण प्रधान 'विक्षिप्तचित्त' सुख के कारणों तथा शब्दादि विषयों में सदैव प्रवृत्त रहता है तथा अभिसन्धि वाले दुःखदायी कामादि से रहित होता है। इसप्रकार के चित्त वाला जीव संसार के भय से त्रस्त रहता है[४] परन्तु 'एकाग्रचित्त' द्वेष, ईर्ष्या आदि दोषों से रहित होता है। खेद, वैर, हत्या, भय आदि विकारों से भी यह मुक्त रहता है, तथा सभी आत्माओं में समान भावना रखता है। उक्त मन से इष्ट वस्तु की सिद्धि होती है।[५]

'निरुद्धचित्त' बाह्य विषयों से विमुख व सर्वदा शुद्ध रहता है। विकल्प वृत्तियों के शान्त (उपशम) हो जाने से निरुद्ध अवस्था प्राप्त होती है। यह स्थिति आत्म-रति वाले मुनियों को प्राप्त होती है। इस स्थिति में अवग्रह (प्रतिबन्ध) आदि की सम्भावना नहीं होती।[६]

उपा० यशोविजय जी के मतानुसार जैन-परम्परा में मान्य ध्यान की उच्चतम स्थिति जो पातञ्जल-योगसूत्र में 'समाधि' शब्द से व्यवहित है, उसके लिए चित्त की प्रथम तीन अवस्थाएँ–क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त, उपयोगी नहीं हैं। सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने से, चित्तनिरोध में स्थिरता के कारण तथा अतिशय सुखमय होने के कारण अन्तिम दो अवस्थाएँ – एकाग्र और निरुद्ध ही 'समाधि' के लिए उपयोगी हैं।[७] इसलिए प्रथम तीन अवस्थाएँ त्याज्य और अन्तिम दो अवस्थाएँ उपादेय कही गई हैं। प्रथम तीन अवस्थाएँ यद्यपि अनुपयोगी हैं तथापि उनमें से जो तृतीय अवस्था 'विक्षिप्तमन' है वह अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में इष्ट मानी गई है, क्योंकि तृतीय अवस्था में साधक का चित्त कभी चंचल होकर इधर-उधर भटकता है तो कभी शान्त होकर आनन्द का अनुभव करता है। चूँकि योग की प्रारम्भिक अवस्था में 'विक्षिप्तमन' में स्थिरता का आवागमन होता रहता है इसलिए यह कदाचित् उपयोगी हो सकता है, परन्तु रागादि से ग्रस्त 'क्षिप्तचित्त' और 'मूढ़चित्त' व्युत्थानकारक होने से अनुपयोगी ही होता है।[८] विषयों और कषायों से निवृत्त हुआ तथा विविध प्रकार के योगों-मोक्षोपायों में गमन करने वाला चित्त (मन) चंचल होने पर भी अभ्यासकाल में इष्ट माना गया है।[९] 'वचनानुष्ठान में प्रवृत्त 'यातायातचित्त' गमनागमन करते समय

---

१. व्यासभाष्य, पृ० २; अध्यात्मसार, ७/२०/३
२. अध्यात्मसार, ७/२०/४
३. अध्यात्मसार ७/२०/५
४. अध्यात्मसार, ७/२०/६
५. अध्यात्मसार, ७/२०/७
६. अध्यात्मसार, ७/२०/८; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/४१
७. (क) न समाधावुपयोगं, तिस्रश्चेतोदशा इह लभन्ते ।
सत्त्वोत्कर्षात् स्थैर्यादुभे समाधी सुखातिशयात् ।। – अध्यात्मसार, ७/२०/६
(ख) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, ११/३१, ३२
८. अध्यात्मसार, ७/२०/१०
९. अध्यात्मसार, ७/२०/११

अतिचार-युक्त होने पर भी गजांकुशन्याय[1] से अभ्यास काल में अदूषित ही माना जाता है।[2] इसलिए, 'व्युत्थानचित्त' भी योग की प्रारम्भिक अवस्था में उपादेय है। अभ्यास में वृद्धि के साथ-साथ 'व्युत्थानचित्त' में साधक उन्नत अवस्थाओं को प्राप्त कर सकता है।

संक्षेप में आध्यात्मिक विकास की क्रमिकता पातञ्जल एवं जैन दोनों योग परम्पराओं में समान रूप से स्वीकृत है, केवल वर्णन-शैली में भेद दृष्टिगत होता है। पातञ्जलयोगसूत्र में आध्यात्मिक विकास के जिस क्रम को चित्तगत पांच भूमियों में प्रस्तुत किया गया है, वही क्रम जैन-परम्परा में चौदह गुणस्थानों, त्रिविध आत्मा, त्रिविध उपयोग, आठ दृष्टियों तथा मन की चार और पांच अवस्थाओं के रूप में निरूपित है। इनके द्वारा अविकास, विकास और पूर्णता रूप तीन मुख्य अवस्थाओं को सूचित किया गया है। जैन-परम्परागत गुणस्थान के साथ इनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि पातञ्जलयोग के अविकासकालीन 'क्षिप्तचित्त' एवं 'मूढ़चित्त' प्रथमगुणस्थान तथा मिश्र अवस्था का सूचक 'विक्षिप्तचित्त' तृतीय गुणस्थान के सदृश है। विकासकालीन 'एकाग्रचित' चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक की अवस्थाओं तथा पूर्णता का सूचक 'निरुद्धचित्त' तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान के समकक्ष प्रतीत होता है। इसीप्रकार जैन-परम्परा सम्मत त्रिविध आत्माओं में 'बहिरात्मा' की स्थिति प्रथम तीन गुणस्थान तक, 'अन्तरात्मा' की स्थिति चौथे से बारहवें गुणस्थान तक तथा 'परमात्मा' की स्थिति तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मानी गई है। त्रिविध उपयोग में 'अशुभयोग' की स्थिति प्रथम तीन गुणस्थान में, 'शुभोपयोग' की चौथे से छठे गुणस्थान में तथा 'शुद्धोपयोग' की सातवें से बारहवें गुणस्थान तक समझी जाती है, जबकि १३वाँ व १४वाँ गुणस्थान शुद्धोपयोग का फल है।

आ० हरिभद्र द्वारा निरूपित योग दृष्टियों में प्रथमचार दृष्टियाँ प्रथम गुणस्थान की, पांचवीं और छठी दृष्टि क्रमशः पांचवें और छठे गुणस्थान की, सातवीं दृष्टि सातवें और आठवें गुणस्थान की तथाआठवीं दृष्टि नवें से चौदहवें गुणस्थान तक की अवस्था को द्योतित करती है। इसप्रकार आ० हरिभद्र द्वारा योग दृष्टियों को योग के आठ अंगों के समकक्ष मानना भी योग के आध्यात्मिक विकास की क्रमिकता को सूचित करता है।

आ० हेमचन्द्र द्वारा निरूपित मन की चार अवस्थाओं में 'विक्षिप्तमन' प्रथम गुणस्थान, 'यातायात- मन' मिश्र नामक तृतीय गुणस्थान, 'श्लिष्टमन' चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तथा 'सुलीनमन' तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान की अवस्था के सदृश प्रतीत होता है। पातञ्जलयोग सम्मत पांच प्रकार की चित्तगत भूमियों में से 'विक्षिप्तचित्त' 'यातायातमन' के, 'एकाग्रचित्त' 'श्लिष्टमन' के तथा 'निरुद्धचित्त' 'सुलीनमन' के समकक्ष कहा जा सकता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि पतञ्जलि के योगसूत्र में वर्णित चित्त की मूढ़ादि पांच अवस्थाओं और जैन-परम्परा में विवेचित आध्यात्मिक विकास की विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं में कोई भेद नहीं है। केवल वर्णनशैली में भिन्नता है। यही कारण है कि उपा० यशोविजय ने पातञ्जलयोग सम्मत चित्तगत अवस्थाओं का जैन-परम्परानुकूल वर्णन कर साम्प्रदायिक भेद मिटाने का प्रयत्न किया है।

---

१. हाथी का अंकुश के प्रहार से सम्यक् मार्ग पर चलना गजांकुशन्याय कहा जाता है।

२. अध्यात्मसार, ७/२०/१२; षोडशक, १०/६

षष्ठ अध्याय

सिद्धि-विमर्श

पातञ्जल एवं जैनयोग, दोनों परम्पराओं में साधना का लक्ष्य पूर्ण परमात्म अवस्था की प्राप्ति रहा है। यह शुद्ध एवं पूर्ण परमात्म अवस्था, जिसे पातञ्जलयोग में कैवल्य तथा जैन-परम्परा में मोक्ष कहा जाता है, समस्त कर्मों के क्षय से प्राप्त होती है।[१] कहा जाता है कि तप, ध्यानादि रूप योग-साधना के प्रभाव से साधक के समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।[२] योगाभ्यास द्वारा आध्यात्मिक विकास करता हुआ साधक ज्यों-ज्यों प्रगति करता है, त्यों-त्यों उसका चित्त निर्मल होता जाता है। कर्मक्षय रूप आभ्यन्तर परिणाम की प्राप्ति से पूर्व साधना की अवस्था में ही साधक को योग के आनुषंगिक फल, अद्भुत सामर्थ्य विशेष की प्राप्ति होती है, जिसे योग का बाह्यपरिणाम कहा जा सकता है। उक्त सामर्थ्य विशेष को पातञ्जलयोगसूत्र में विभूति[३] तथा जैन-परम्परा में लब्धि[४] व ऋद्धि[५] नाम से अभिहित किया गया है। दोनों परम्पराओं में सामान्यतः इनके लिए 'सिद्धि' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।[६] चूँकि ये सिद्धियाँ सामान्य व्यक्ति में नहीं पाई जातीं, इसलिए इन्हें अलौकिक या लोकोत्तर कहा जाता है। वर्तमानयुग का शिक्षित समाज इन्हें चमत्कार मानता है। उनका विचार है कि प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध होने के कारण संसार में कोई चमत्कार नहीं हो सकता।[७] प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई घटना नहीं हो सकती। परन्तु जो कुछ घटित होता है वह प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं है, अपितु सूक्ष्म प्राकृतिक नियमों का अवबोध अर्थात् जागरुक होना है। मुनि नथमल के अनुसार, मनुष्य के शरीर में अनेक रासायनिक द्रव्य होते हैं, जो संयोगों से बदलते रहते हैं। भावना, तपस्या और ध्यान के द्वारा शारीरिक विद्युत् और रासायनिक द्रव्यों में परिवर्तन होता है। यथासमय बाह्यालोक में उनका प्रकाशमात्र होता है।[८]

एक से अनेक होना, अनेक से एक होना, आविर्भूत होना, तिरोहित या अदृश्य होना, प्राचीर-पर्वतादि कठिन वस्तुओं के अन्दर से स्थूल हुए बिना ही निकल जाने या चलने की सामर्थ्य होना, जल की तरह पृथ्वी में उन्मज्जन-निमज्जन करना, आकाश में पक्षी की तरह संचार करना, हाथों से चन्द्र और सूर्य को

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १०/२; योगबिन्दु, १३६; ज्ञानार्णव, ३/१३; योगशास्त्र, ४/११३

२. (क) योगबिन्दु, ३७-४१
   (ख) क्षिणोति योगः पापानि चिरकालार्जितान्यपि।
   प्रचितानि यथैधांसि, क्षणादेवांशुशुक्षणिः ।। – योगशास्त्र, १/७
   (ग) अपि क्रूराणि कर्माणि क्षणाद्योगः क्षिणोति हि । – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २६/२५

३. द्रष्टव्य : पातञ्जलयोगसूत्र, विभूतिपाद

४. गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिः । – आवश्यकसूत्र, मलयगिरिवृत्ति, अ० १

५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग–१, पृ० ४४६

६. पातञ्जलयोगसूत्र, ३/३७, ४/१; योगबिन्दु, २३३-२३५; ज्ञानार्णव, ३५/२६; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका २६/११, १८, २२

७. **Nothing happens in nature, which is in contradiction with its universal laws.**
   – कविराज, गोपीनाथ, "योग तथा योगविभूति," कल्याण (योगांक) पृ० ७२४

८. मुनि नथमल, जैनयोग, पृ० १३०-१३१

स्पर्श करने की शक्ति आदि विभिन्न प्रकार की साधनाओं के ही परिणाम हैं, जो ऋद्धि-सिद्धि के अन्तर्गत आते हैं। पातञ्जल एवं जैन दोनों योग-परम्पराओं में पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति से पूर्व, साधनावस्था में प्राप्त होने वाली विशिष्ट ऋद्धियों एवं सिद्धियों की मान्यता को स्वीकारा गया है। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन इसप्रकार है –

अ. पातञ्जलयोग-मत

योगदर्शन में सिद्धि पद का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है इसीलिए यहाँ सिद्धियों की सीमित संख्या बताना संभव नहीं है। सूत्रकार पतञ्जलि ने प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता आदि का एक साथ 'सिद्धि' नाम से उल्लेख किया है।[१] इसके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलि ने परशरीर-प्रवेश, जलपंक कंटक आदि से असंग, दिव्य श्रोत्र आदि अनेक ऐश्वर्यों की चर्चा की है, जो योगी को संयम-साधना के परिणामस्वरूप प्राप्त होती हैं।[२] इन्हें भी प्रकरणानुसार सिद्धियाँ कहा जा सकता है। योगसूत्र में इन सिद्धियों का 'विभूति' नाम से विस्तृत विवेचन हुआ है, इसलिए तृतीयपाद को 'विभूतिपाद' नाम दिया गया है।[३] इसके अतिरिक्त साधनपाद में भी यम-नियमादि योगांगों में प्रत्येक अंग से प्राप्त विभूतियों (सिद्धियों) का उल्लेख हुआ है।[४] अतः स्पष्ट है कि योगदर्शन में विभूतियों की संख्या बहुत है। इन विभूतियों को बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। बाह्य वर्ग में योगांगों से प्राप्त सिद्धियाँ परिगणित होती हैं, शेष सिद्धियाँ आभ्यन्तर वर्ग में आती हैं। इनमें प्रथम प्रकार की सिद्धियाँ अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

(१) यमों से प्राप्त सिद्धियाँ

१. 'अहिंसाव्रत' के सिद्ध होने पर योगी के सान्निध्य में आने वाले हिंस्र प्राणी भी अपने स्वाभाविक वैर का त्याग कर देते हैं।[५]

२. 'सत्य' के सिद्ध होने पर साधक की वाणी अमोघ हो जाती है, मुख से निकला हुआ प्रत्येक वचन सत्य हो जाता है।[६]

३. 'अस्तेय' के सिद्ध होने पर धन-सम्पत्ति आदि स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। साधक को सब दिशाओं में रहने वाली रत्नादि की समृद्धि प्राप्त होती है।[७]

४. ब्रह्मचर्य से वीर्य लाभ होता है।[८]

५. अपरिग्रह से साधक को वर्तमान तथा पूर्वजन्मों की साधना का ज्ञान हो जाता है।[९]

(२) नियमों से प्राप्त सिद्धियाँ

१. (बाह्य) शौच की स्थिरता से साधक को अपने शरीर से घृणा तथा दूसरों से अलिप्तता का

---

१. ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ताः जायंते। ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः । – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/३६, ३७
२. व्यासभाष्य, ४/१
३. अथ विभूतिपादस्तृतीयः – पातञ्जलयोगसूत्र, तृतीयपाद की अवतरणिका
४. पातञ्जलयोगसूत्र, २/३५–४५, ४८, ४९, ५२, ५३, ५५
५. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः । – वही, २/३५
६. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । – वही, २/३६
७. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम् । – वही, २/३७
८. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । – वही, २/३८
९. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तरसम्बोधः । – वही, २/३९

भाव उत्पन्न होता है।[१] इसके अतिरिक्त आभ्यन्तरशौच से सत्त्व की शुद्धि, प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय तथा आत्म-साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है।[२]

२. संतोष से परम सुख की प्राप्ति होती है।[३]

३. तप से अशुद्धि का क्षय होने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।[४] शरीर-सिद्धि में अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन्द्रिय-सिद्धि में दिव्यदर्शन, दिव्यश्रवण तथा दूरश्रवण की अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है।

४. स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।[५]

५. ईश्वर-प्रणिधान से समाधि-लाभ होता है।[६]

(३) आसन से प्राप्त सिद्धि

आसन के सिद्ध होने पर शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहने की योग्यता प्राप्त होती है।[७]

(४) प्राणायाम से प्राप्त सिद्धि

प्राणायाम से विवेकज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है[८] तथा चित्त में विविध धारणाओं की योग्यता आती है।[९]

(५) प्रत्याहार से प्राप्त सिद्धि

प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त होती है।[१०]

(६-८) धारणा, ध्यान और समाधि रूप संयम से प्राप्त सिद्धियाँ

धारणा, ध्यान और समाधि तीनों को संयम कहा गया है।[११] संयम की स्थिरता से प्रज्ञा की दीप्ति अर्थात् विवेकख्याति का उदय होता है।[१२] इसके अतिरिक्त पातञ्जलयोगसूत्र में संयम से प्राप्त होने वाली अनेक अन्य सिद्धियों का भी उल्लेख हुआ है। यथा –

१. विषयों के धर्म, लक्षण एवं अवस्था रूप परिणामत्रय[१३] में संयम करने से योगी को भूत, भविष्य के साक्षात्कारात्मक ज्ञान की प्राप्ति।[१४]

---

१. शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः । – पातञ्जलयोगसूत्र, २/४०
२. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च । – वही, २/४१
३. सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः । – वही, २/४२
४. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । – वही, २/४३
५. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः । – वही, २/४४
६. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । – वही, २/४५
७. ततो द्वन्द्वानभिघातः । – वही, २/४८
८. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । – वही, २/५२
९. धारणासु च योग्यता मनसः । – वही २/५३
१०. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् । – वही, २/५५
११. त्रयमेकत्र संयमः । – वही, ३/४
१२. तज्जयात्प्रज्ञालोकः । – वही, ३/५
१३. एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः व्याख्यातः । – वही, ३/१३
१४. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् । – वही, ३/१६

२. शब्द, अर्थ और ज्ञान की पृथक्ता में संयम करने से समस्त पशु, पक्षी आदि प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान।[१]
३. संस्कारों पर संयम करने से समस्त पूर्वजन्मों का ज्ञान।[२]
४. प्रत्यय-विषयक (चित्त विषयक) संयम से परचित्त का ज्ञान।[३]
५. शरीर और उसके रूपादि का संयम करने से अन्तर्धान होने की योग्यता।[४]
६. सोपक्रम और निरुपक्रम – इन दो प्रकार के कर्मों में संयम करने से मृत्यु का ज्ञान।[५]
७. मैत्री आदि भावनाओं पर संयम करने से बल की प्राप्ति।[६]
८. हस्त्यादि के बलविषयक संयम के द्वारा बल की प्राप्ति।[७]
९. मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में संयम करने से (प्रवृत्त्यालोक के न्यास से) सूक्ष्म एवं व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान।[८]
१०. सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान।[९]
११. चन्द्रमा में संयम करने से तारा समूह का ज्ञान।[१०]
१२. ध्रुव में संयम करने से उनकी गति का ज्ञान।[११]
१३. नाभिचक्र में संयम द्वारा शरीर-संरचना का ज्ञान।[१२]
१४. कण्ठकूप में संयम द्वारा भूख-प्यास पर नियन्त्रण।[१३]
१५. कूर्मनाड़ी में संयम करने से चित्त और शरीर में स्थैर्य की प्राप्ति।[१४]
१६. ब्रह्मरन्ध्र की प्रकाशयुक्त मूर्धा-ज्योति में संयम करने से सिद्धपुरुषों का दर्शन।[१५]
१७. हृदय में संयम करने से समस्त वृत्तियों सहित चित्त का साक्षात्कार।[१६]
१८. स्वार्थविषयक संयम से पुरुष का साक्षात्कार।[१७]
१९. उक्त संयम के अभ्यास से पुरुष दर्शन से पूर्व प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद् एवं वार्ता आदि सिद्धियों की प्राप्ति।[१८]

---

१. शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/१७
२. संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्। – वही, ३/१८
३. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्। – वही, ३/१९
४. कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्। – वही, ३/२१
५. सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा। – वही, ३/२२
६. मैत्र्यादिषु बलानि। – वही, ३/२३
७. बलेषु हस्तिबलादीनि। – वही, ३/२४
८. प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाज्ञानम्। – वही, ३/२५
९. भुवनज्ञानं सूर्येसंयमात्। – वही ३/२६
१०. चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। – वही, ३/२७
११. ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। – वही, ३/२८
१२. नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। – वही, ३/२९
१३. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। – वही, ३/३०
१४. कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। – वही, ३/३१
१५. मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। – वही, ३/३२
१६. हृदये चित्तसंवित्। – वही ३/३४
१७. सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्। – वही, ३/३५
१८. ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते। – वही, ३/३६

२०. संयम द्वारा बन्धन का कारण शिथिल होने से तथा प्रचार का ज्ञान होने से चित्त का पर शरीर में प्रवेश संभव।[१]

२१. संयम द्वारा उदान वायु के जीतने से जल, पंक एवं कण्टकादि से असंग एवं ऊर्ध्वगति की प्राप्ति।[२]

२२. समान वायु के जय से योगी के शरीर का अग्नि के समान देदीप्यमान होना।[३]

२३. श्रोत्र एवं आकाश के संबंध विषयक संयम से दिव्यश्रोत्र की प्राप्ति।[४]

२४. शरीर एवं आकाश के संबंध विषयक संयम से तथा लघु-तूल की समापत्ति के द्वारा साधक को आकाश-गमन की सिद्धि की प्राप्ति।[५]

२५. (शरीर के) बाहर (चित्त की) अकल्पित वृत्ति महाविदेहा है, उस पर संयम करने से साधक के चित्त में प्रकाश के आवरण का क्षय।[६]

२६. पृथ्वी आदि पंचभूतों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व – इन पांच अवस्थाओं में संयम करने से भूतजय नामक सिद्धि की प्राप्ति[७] तथा उसके परिणामस्वरूप अणिमादि ऐश्वर्य, कायसम्पत् एवं उन भूतों के धर्मों के अनभिघात रूप सामर्थ्य की प्राप्ति।[८]

२७. इन्द्रियों की ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व – इन पांच अवस्थाओं में संयम करने से इन्द्रियजय नामक सिद्धि की प्राप्ति।[९]

२८. सत्त्वात्मक बुद्धि और पुरुष की भिन्नता का बोध 'विवेकख्याति' है।[१०] उस ख्याति मात्र में ही प्रतिष्ठित योगी को समस्त पदार्थों के अधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व की प्राप्ति।[११] सत्त्व-गुणात्मक विवेकख्याति के प्रति भी परवैराग्य हो जाने पर समस्त दोषों का बीज क्षीण हो जाने से कैवल्य की प्राप्ति।[१२] इसके अतिरिक्त क्षण एवं उसके क्रम विषयक संयम से भी विवेकजन्य सर्वज्ञातृत्व की प्राप्ति।[१३] परिणामस्वरूप अतीत तथा अनागतकालीन समस्त पदार्थों को उनके अशेष-विशेष रूप सहित जानने का सामर्थ्य-लाभ।[१४]

इसप्रकार स्पष्ट है कि साधक योगी को साधना के परिणामस्वरूप नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें से कुछ तो साक्षात् समाधि अथवा मोक्ष की सहायक होती हैं तथा कुछ परम्परया समाधि की सहायक होती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सिद्धियाँ यथावसर समाधि के मार्ग में परम्परया उपस्थित होती हैं।

---

१. बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/३८
२. उदानजयाज्जलपङ्ककंटकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च। – वही, ३/३९
३. समानजयाज्ज्वलनम्। – वही, ३/४०
४. श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्। – वही ३/४१
५. कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्। – वही, ३/४२
६. बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा, ततः प्रकाशावरणक्षयः। – वही, ३/४३
७. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः। – वही, ३/४४
८. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च। – वही, ३/४५
९. ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः। – वही, ३/४७
१०. सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। – व्यासभाष्य, पृ० २६२
११. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। – पातञ्जलयोगसूत्र, ३/४९
१२. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। – वही, ३/५०
१३. क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्। – वही, ३/५२
१४. जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः। – वही, ३/५३

उक्त सिद्धियों के अतिरिक्त साधक को जन्म, औषधि, मन्त्र अथवा तप से भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[१]

जन्म से प्राप्त सिद्धियाँ

पूर्व जन्मों के साधनाजन्य पुण्यों के प्रभाव से देवादि देहान्तरों से वर्तमान में मनुष्य देह में जन्म से ही प्राप्त शक्तियों (योग्यता) को जन्मजा सिद्धि कहा जाता है।[२] विज्ञानभिक्षु का मत है कि लौकिक कर्मों के परिणामस्वरूप देवादि अन्य मनुष्येतर देहों में जन्म मात्र से प्राप्त होने वाली अणिमादि सिद्धियाँ कहलाती हैं।[३]

औषधिजन्य सिद्धियाँ

औषधियों के द्वारा भी चित्त में विलक्षण परिणाम उत्पन्न होते हैं, जिन्हें औषधिजन्य सिद्धियाँ कहा जाता है। भाष्यकार व्यास का अभिमत है ऐसी सिद्धियाँ असुरभवनों में ही होती हैं क्योंकि वहाँ विलक्षण परिणामों को उत्पन्न करने वाले रसायन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।[४] परन्तु विज्ञानभिक्षु का कहना है कि इस लोक में भी औषधि के प्रयोग से स्वर्णादि का निर्माण किया जा सकता है इसलिए यह नहीं समझना चाहिये कि ऐसी सिद्धियाँ केवल असुरभवनों में ही सम्भव हैं अन्यत्र नहीं।[५]

मंत्र से उत्पन्न सिद्धियाँ

इसके अतिरिक्त विधिवत् मन्त्र अनुष्ठान के प्रभाव से चित्त में अणिमादि सिद्धियाँ तथा आकाशगमन आदि विलक्षण प्रकार की शक्तियाँ उदित होती हैं, जिन्हें 'मंत्रजा सिद्धियाँ' कहा जाता है।[६]

तप से उत्पन्न सिद्धियाँ

तप के द्वारा भी शरीर, इन्द्रिय तथा चित्त की शुद्धि होती है। परिणामस्वरूप विलक्षण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें तप से उत्पन्न सिद्धियाँ कहते हैं। भाष्यकार व्यास के अनुसार तप से संकल्पसिद्धि प्राप्त होती है,[७] जिसके परिणामस्वरूप साधक स्वेच्छा से ही अणिमादि सिद्धियों को तत्काल प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है तथा वह जो कुछ भी सुनना, देखना, अथवा चिन्तन करना चाहता है, उसे करने की सामर्थ्य उसे अधिगत हो जाती है।[८]

समाधिजन्य सिद्धियाँ

पूर्व वर्णित धारणा, ध्यान और समाधि रूप संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ समाधिजन्य कहलाती हैं। इन पांचों प्रकार की सिद्धियों में समाधिजन्य सिद्धियाँ ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनके द्वारा ही साधक को चरमलक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति होती है। अन्य प्रकार की सिद्धियों का कारण पूर्वजन्म का अभ्यास ही होता है। जन्म, औषधि आदि तो केवल निमित्तमात्र होते हैं।

---

१. जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः। – पातञ्जलयोगसूत्र, ४/१
२. देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः। – व्यासभाष्य, पृ० ४६६
३. ऐहिकेन कर्मणा देवादिदेहान्तरे जन्ममात्रेण भवन्ती अणिमादिसिद्धिर्जन्मजेत्यर्थः। – योगवार्तिक, पृ० ३६७
४. औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः। – व्यासभाष्य, पृ० ४६६
५. अत्राप्यौषधिभिः सुवर्णादिसिद्धीनां भावात्। – योगवार्तिक, पृ० ३६७
६. मन्त्रैराकाशगमनाऽणिमादिलाभः। – व्यासभाष्य, पृ० ४६७
७. तपसा संकल्पसिद्धिः। – वही, पृ० ४६७
८. यदेव कामयतेऽणिमादि तदेकपदेऽस्य भवति। यत्र कामयते श्रोतुं वा मन्तुं वा तत्र तदेव श्रृणोति मनुते वेति। – तत्त्ववैशारदी, पृ० ३६७

आ. जैनयोग-मत

पातञ्जलयोग के समान जैन-परम्परा में भी यह मान्यता रही है कि तप, ध्यान और योगसाधना से ऋद्धि एवं सिद्धियों की प्राप्ति होती है।[१] आ० हरिभद्र,[२] शुभचन्द्र,[३] हेमचन्द्र[४] तथा उपा० यशोविजय[५] ने भी उक्त मान्यतानुसार अपनी सहमति व्यक्त की है। जैन-परम्परा में पातञ्जलयोग के 'विभूति' शब्द को 'कर्म-सम्पदा' नाम से भी अभिहित किया है[६], यद्यपि वहाँ विभूति शब्द के स्थान पर ऋद्धि अथवा लब्धि शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। योगसिद्धियाँ साधक की मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ हैं, इसी दृष्टि से आचार्य जिनदास ने मोक्ष को 'परम अवस्था' और यौगिक विभूति आदि को 'अपरम अवस्था' कहा है।[७]

जिसप्रकार पातञ्जलयोग में जन्म, औषधि, मन्त्र, जप, तप आदि से जनित अनेक प्रकार की सिद्धियों का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार जैन-परम्परा में भी तीन प्रकार की ऋद्धियाँ मानी गई हैं – १. देव, २. राज्य और ३. गणि (आचार्य)। इनमें 'देवऋद्धि' जन्म से प्राप्त होती है और 'राज्यऋद्धि' विविध उपायों से तथा 'गणिऋद्धि' तप से प्राप्त होती है।[८]

जैन-परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थों में ऋद्धियों-सिद्धियों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है, इसलिए आ० हरिभद्र, आ० शुभचन्द्र, आ० हेमचन्द्र तथा उपा० यशोविजय आदि मनीषियों ने अपने योग ग्रन्थों में ऋद्धियों के स्वरूप एवं भेदोपभेद आदि का व्यवस्थित, विस्तृत एवं सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत नहीं किया। चूँकि ऋद्धि-सिद्धि आदि का साधना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए इनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जैन-परम्परा में वर्णित सिद्धियों का वर्णन इस प्रकार है –

जैन आगम[९] व आगमोत्तर ग्रन्थों में विभिन्न प्रकारों की ऋद्धियों (लब्धियों) की चर्चा की गई है। भगवती सूत्र[१०] में जहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि दस प्रकार की लब्धियों का उल्लेख हुआ है वहाँ तिलोयपण्णत्ती,[११] श्रुतसागरीय तत्त्वार्थवृत्ति[१२] तथा धवलाटीका[१३] में ६४, आवश्यकनिर्युक्ति[१४] में २४, षट्खण्डागम[१५] में ४४, विद्यानुशासन में ४८, मंत्रराजरहस्य[१६] में ५०, प्रवचनसारोद्धार[१७] एवं विशेषावश्यकभाष्य[१८] में २८ ऋद्धियों का वर्णन मिलता है। श्रुतसागरीय तत्त्वार्थवृत्ति के अनुसार ऋद्धियों का वर्णन इस प्रकार है –

गणधर देव आठ ऋद्धियों से युक्त होते हैं – बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषधि, रस और क्षिति (क्षेत्र)।[१९]

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ६/६/२७; आदिपुराण, २/४७; ३४/१२४, ३६/१५२-५५; हरिवंशपुराण, ५६/१२१; उपासकाध्ययन, ३६/७१७
२. योगशतक, ८३, ८४; योगबिन्दु, २३३-२३६
३. ज्ञानार्णव, ३५/२६, ३७/१२ तथा २६वाँ प्रकरण
४. योगशास्त्र, १/८, ६; ५/३६-४१; ६/१५-१६; ५वाँ और ६ठा अध्याय
५. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, ६/१४ एवं १८/२४ पर स्वो० वृ०; अध्यात्मसार, ७/२०/२३-२६; ज्ञानसार, सर्वसमृद्धयष्टक।
६. उत्तराध्ययनसूत्र, १/४७
७. दशवैकालिकसूत्र, ६/२/२ पर जिनदासचूर्णि एवं हरिभद्रटीका
८. स्थानांगसूत्र, ३/४/५०१
९. स्थानांगसूत्र, २/२; औपपातिकसूत्र, २४; प्रज्ञापना, ६/१४४
१०. भगवतीसूत्र, ८/२
११. तिलोयपण्णत्ति, १/४/१०६७-६१
१२. तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, ३/३६
१३. धवला, पुस्तक १४, पृ० ५८
१४. आवश्यकनिर्युक्ति, ६६-७०
१५. षट्खंडागम, ४/१/६
१६. मंत्रराजरहस्य, १-७
१७. प्रवचनसारोद्धार, १४६२-१५०८
१८. विशेषावश्यकभाष्य, ७७७-८०७
१९. तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, ३/३६

बुद्धिऋद्धि[1]

बुद्धि नाम अवगम या ज्ञानं का है। उसको विषय करने वाली ऋद्धियाँ १८ प्रकार की होती हैं।[2]

१.	**केवलज्ञान**[3]	चार घातिया कर्मों अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्मों के क्षीण होने पर पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति।
२.	**अवधिज्ञान**[4]	अवधि ज्ञान रूपी (स्पर्श, गन्ध, रस, वर्ण युक्त) पदार्थों के त्रैकालिक पदार्थों को जानने की क्षमता।
३.	**मनःपर्याय**[5]	संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानने की सामर्थ्य।
४.	**बीजबुद्धि**[6]	सुने हुए ग्रंथ के एक बीज-पद को जानने से ही अनेक पदों और उनके अर्थों को जानने की क्षमता।
५.	**कोष्ठकबुद्धि**[7]	गुरु-मुख से एक ही बात स्मृत, श्रवित एवं पठित ज्ञान को अक्षरशः ग्रहण कर स्मृति में सुरक्षित रखने की क्षमता।
६.	**पदानुसारी**[8]	एक पद के आधार पर पूरे श्लोक या सूत्र को जान लेने की क्षमता।
७.	**संभिन्नस्रोत**[9]	प्रत्येक अंग से सुनने की क्षमता तथा सभी इन्द्रियों द्वारा एक दूसरे का कार्य करने की सामर्थ्य।
८.	**दूरस्वादित्व**[10] **(दूरास्वादन)**	जिह्वा इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों के विविध रसों को जान लेने की क्षमता।
९.	**दूरदर्शित्व**[11]	चक्षुरिन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों में स्थित द्रव्यों को देखने की सामर्थ्य।
१०.	**दूरस्पर्शत्व**[12]	स्पर्शनेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों तक आठ प्रकार के (दूरस्थ) स्पर्शों को जान लेने की क्षमता।
११.	**दूरघ्राणत्व**[13]	घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों तक बहुत प्रकार के गंधों को ग्रहण करने की योग्यता।
१२.	**दूरश्रवणत्व**[14]	श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजन पर्यन्त तक स्थित मनुष्यों-तिर्यञ्चों के अक्षर-अनक्षर रूप शब्दों को सुनने की सामर्थ्य।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, ४/९६६-९७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०१
२. बुद्धिरवगमो ज्ञानं तद्विषया अष्टादशविधा ऋद्धयः। – तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०१
३. योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० २१
४. योगशास्त्र, १/६
५. वही, १/६
६. तिलोयपण्णत्ति, ४/९७५-९७७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०१; धवला, पुस्तक ९, पृ० ५६, ५७, ५९; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३८
७. तिलोयपण्णत्ति, ४/९७८-९७९; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०१; २६, धवला, पुस्तक ९, पृ० ५३, ५४; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीय वृत्ति, ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३८; प्रवचनसारोद्धार, १५०२
८. तिलोयपण्णत्ति, ४/९८०-९८३; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०१; २८, धवला, पुस्तक ९, पृ० ६०; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३८; आवश्यकसूत्र, मलयगिरिवृत्ति, ७५, पृ० ८०; प्रवचनसारोद्धार, १५०३
९. तिलोयपण्णत्ति, ४/९८४-९८६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०१; ३० धवला, पुस्तक ९, पृ० ६१; योगशास्त्र, १/८
१०. तिलोयपण्णत्ति, ४/९८७-८८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२
११. तिलोयपण्णत्ति, ४/९९६-९७
१२. तिलोयपण्णत्ति, ४/९८९-९०; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२
१३. तिलोयपण्णत्ति, ४/९९१-९२
१४. तिलोयपण्णत्ति, ४/९९३–९५

१३.	**दशपूर्वित्व**[१]	मुनियों के दशपूर्व के पढ़ने में ५०० महाविद्याओं और ७०० लघुविद्याओं के देवता आकर आज्ञा मांगते हैं। उस समय जो मुनि जितेन्द्रिय होकर उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते वे 'विद्याधर श्रमण' इस पर्याय नाम से भुवन में प्रसिद्ध होते हुए अभिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं। उन मुनियों की बुद्धि दशपूर्वी जानी जाती है।
१४.	**चौदहपूर्वित्व**[२]	सम्पूर्ण श्रुत अर्थात् चौदह पूर्वों में पारंगतता।
१५.	**अष्टांगमहानिमित्त**[३]	नभ, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिह्न और स्वप्न – इन आठ भेदों सहित निमित्त ज्ञान में कुशलता प्राप्त होना।
१६.	**प्रज्ञाश्रमण**[४] **अथवा प्राज्ञश्रमण**[५]	अध्ययन के बिना ही चौदह पूर्वों में से अतिसूक्ष्म विषय का निरूपण करने में कुशलता। यह ऋद्धि औत्पत्तिकी, पारणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा भेद से चार प्रकार की होती है। इनमें से पूर्व भव में किए गये श्रुत के विनय से उत्पन्न होने वाली औत्पत्तिकी, निज-निज जाति में उत्पन्न हुई पारिणामिकी, द्वादशांग श्रुत के योग्य विनय से उत्पन्न होने वाली वैनयिकी और उपदेश के बिना ही विशेष तप की प्राप्ति से आविर्भूत हुई चतुर्थ कर्मजा प्रज्ञाश्रमणऋद्धि कहलाती है।[६]
१७.	**प्रत्येकबुद्धि**[७]	गुरु के उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति।
१८.	**वादित्व**[८]	शक्रादि के पक्ष को भी बहुत वाद से निरुत्तर कर देना और पर के द्रव्यों की गवेषणा करना।

विक्रियाऋद्धि[९] **या वैक्रियऋद्धि**[१०]

शरीर को छोटा, बड़ा, भारी, हल्का आदि करने की क्षमता। यह ११ प्रकार की मानी गई है :–

१.	**अणिमा**[११]	शरीर को अणु के समान छोटा बनाने की क्षमता।
२.	**महिमा**[१२]	शरीर को मेरु के बराबर बड़ा बनाने की सामर्थ्य।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, ४/९९८-१०००, तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२; धवला, पुस्तक ९, पृ० ६९
२. तिलोयपण्णत्ति, ४/१००१; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२; धवला, पुस्तक ९, पृ० ७०
३. तिलोयपण्णत्ति ४/१००२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; धवला, पुस्तक ९, पृ० ७२
४. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०१७-१६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२; धवला, पुस्तक ९, पृ० ८१
५. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०१६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३७-३८
६. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०१६-२१; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२; धवला, पुस्तक ९, पृ० ८१-८२
७. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२
८. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२३; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२/२५
९. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२४-२५; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२/३३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६
१०. योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३७
११. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२/३४; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३७; प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, १४४५; ज्ञानार्णव, १९/६, २७/६, ३५/२६, ६०; योगशतक, ८४; धवला, पुस्तक ९, पृ० ७५
१२. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४० ज्ञानार्णव, टी० १९/६ ; योगशतक, ८४; स्वो० वृ० धवला, पुस्तक ९, पृ० ७५

३. **लघिमा**[१] शरीर को वायु से भी हल्का बनाने की क्षमता।
४. **गरिमा**[२] शरीर को वज्र से भी अधिक भारी बनाना।
५. **प्राप्ति**[३] भूमि पर खड़े रहकर अंगुली से मेरु, सूर्य, चन्द्रादि को छू लेने की सामर्थ्य।
६. **प्राक्राम्य**[४] जल के समान पृथ्वी पर भी उन्मज्जन – निमज्जन क्रिया करना और पक्षी के समान जल पर भी गमन करना।
७. **ईशित्व**[५] समस्त जगत पर प्रभुत्व प्राप्त करना।
८. **वशित्व**[६] तप द्वारा समस्त जीवों को वश में करना।
९. **अप्रतिघात**[७] शैल, शिला या वृक्षादि के मध्य में होकर आकाश के समान गमन करने की सामर्थ्य।
१०. **अन्तर्धान**[८] अदृश्य होने की सामर्थ्य।
११. **कामरूपित्व**[९] एक साथ अनेक का निर्माण करने की सामर्थ्य।

क्रियाऋद्धि[१०]

चारण और आकाशगामित्व भेद से क्रियाऋद्धि दो प्रकार की मानी गई है ––

(क) **चारणऋद्धि**[११] चारण, चारित्र, संयम, पापक्रियानिरोध – इनका एक ही अर्थ है। इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण हैं वे चारण कहलाते हैं।[१२] चारण ऋद्धि के जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्नि-शिखाचारण, मकड़ीतन्तुचारण आदि पुनः कई प्रभेद किये गये हैं।[१३]

---

१. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४० ज्ञानार्णव, टी० १६/६, योगशतक, ८४; स्वो० वृ०
२. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४० ज्ञानार्णव, टी० १६/६, योगशतक, स्वो वृ० ८४
३. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४०; प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, १५०५; ज्ञानार्णव, टी० १६/६; योगशतक, ८४; धवला, पुस्तक ६, पृ० ७५
४. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२९; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४०; प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, १५०५; ज्ञानार्णव, टी० १६/६, २७/६, ३५/२६, ६०; योगशतक, ८४; स्वो० वृ० धवला, पुस्तक ६, पृ० ७६, ७६
५. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३०; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४०; प्रवचनसारोद्धार वृत्ति १५०५; ज्ञानार्णव, टी० १६/६; योगशतक ८४; स्वो० वृ० धवला, पुस्तक ६, पृ० ७६
६. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३०; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४०; प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, १५०५; ज्ञानार्णव, टी० १६/६, ; योगशतक, ८४; स्वो० वृ०, धवला, पुस्तक ६, पृ० ६०
७. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३१; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, ८४; स्वो० वृ० १/८, पृ० ४०; प्रवचनसारोद्धारवृत्ति,१५०५
८. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ०१/८, पृ० ४०; प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, १५०५
९. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीय वृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४०; धवला, पुस्तक ६, पृ० ७६
१०. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३३; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२
११. तिलोयपण्णत्ति ४/१०३५, ४८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२; धवला, पुस्तक ६, पृ० ८०, ८८; विशेषावश्यकभाष्य, १५०७
१२. योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/६
१३. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३४, ३५ ४८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२; धवला, पुस्तक ६, पृ० ७८, ८०,;

१. **जलचारण**[१] जलकायिक जीवों को कष्ट दिये बिना समुद्र के मध्य जाने तथा दौड़ने की क्षमता।

२. **जंघाचारण**[२] चार अंगुल प्रमाण पृथ्वी को छोड़कर आकाश में घुटनों को मोड़े बिना बहुत योजनों तक गमन करने की सामर्थ्य।

३. **फलचारण**[३] वनफलों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर दौड़ना।

४. **पुष्पचारण**[४] बहुत प्रकार के फूलों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से दौड़ना।

५. **पत्रचारण**[५] बहुत प्रकार के पत्तों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से गमन करना।

६. **अग्निशिखाचारण**[६] अग्निशिखाओं में स्थित जीवों की विराधना न करके उन विचित्र अग्निशिखाओं से गमन करना।

७. **मकड़ीतन्तुचारण**[७] शीघ्रता से किये गये पद विक्षेप में अत्यन्त लघु होते हुए मकड़ी के तन्तुओं की पंक्ति पर से गमन करना।

योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में चारणऋद्धि(चारणलब्धि) के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त श्रेणीचारण, धूमचारण, नीहारचारण, अवश्यायचारण, मेघचारण, वारिधाराचारण, ज्योतिरश्मिचारण तथा वायुचारण आदि लब्धियों का उल्लेख भी मिलता है।[८]

(ख) **आकाशगामित्व**[९] आकाश में आने-जाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होना।

तपऋद्धि[१०]

तपऋद्धि के ७ भेद माने गये हैं – १. घोरतप, २. महातप, ३. उग्रतप, ४. दीप्ततप, ५. तप्ततप, ६. घोरगुणब्रह्मचारिता, ७. घोरपराक्रमता।

१. **घोरतप**[११] सिंह, व्याघ्र, चीता, स्वापद आदि दुष्ट प्राणियों से युक्त गिरिकन्दरा

---

१. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४०-४१; प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, १५०५; धवला, पुस्तक ६, पृ० ७६-८१

२. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३८; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/६, पृ० ४१; प्रवचनसारोद्धार, ६०१; धवला, पुस्तक ६, पृ० ७६, ८१

३. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/६, पृ० ४०-४१; प्रवचनसारोद्धार, ५६७-५६६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ७६, ८१

४. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/६, पृ० ४१; प्रवचनसारोद्धार, ६०१; धवला, पुस्तक ६, पृ० ७६

५. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०४०; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/६, पृ० ४१; धवला, पुस्तक ६, पृ० ७६, ८१

६. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०४१

७. तिलोयपण्णत्ति ४/१०४५; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ४१

८. योगशास्त्र, स्वो० वृत्ति १/८, पृ० ४१–४२

९. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०३३-३४; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०२; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/६, पृ० ४१; धवला, पुस्तक ६, पृ० ८०-८४

१०. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०४६-५०; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३

११. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०५५; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६२

आदि स्थानों में और भयानक श्मशानों में तीव्र आतप, शीत आदि की बाधा होने पर भी घोर उपसर्गों का सहना।

२. **महातप**[१] पक्ष, मास, छहमास और एक वर्ष का उपवास करना अथवा मतिज्ञानादि चार सम्यग्ज्ञानों के बल से मंदरपंक्ति सिंहनिष्क्रीडित आदि सभी महान् तपों को करना।

३. **उग्रतप**[२] पञ्चमी, अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करना तथा दो या तीन बार आहार न मिलने पर तीन, चार अथवा पांच उपवास करना। धवला पुस्तक[३] तथा तिलोयपण्णत्ति[४] में उग्रतप के दो उपभेद माने गये हैं – उग्रोग्रतप और अवस्थिततप। दीक्षोपवास आदि को करके आमरणांत एक-एक अधिक उपवास को बढ़ाकर निर्वाह करना उग्रोग्रतप है। दीक्षा के लिए एक उपवास करके पारणा करना, पुनः एक दिन के अन्तर से उपवास करके पारणा करना। इसप्रकार किसी निमित्त से एक उपवास के स्थान पर दो उपवास (षष्ठोपवास) करना, फिर दो से विहार करते हुए अष्टम, दशम और द्वादश आदि के क्रम से उपवासों को जीवनपर्यन्त बढ़ाते जाना, पीछे न हटना, अवस्थित उग्रतप कहलाता है।

४. **दीप्ततप**[५] शरीर से बाहर सूर्य जैसी कान्ति का निकलना।

५. **तप्ततप**[६] तपे हुए लौहपिण्ड पर गिरी हुई जल की बूँद की तरह आहार ग्रहण करते हुए आहार का पता न लगना अर्थात् आहार का पच जाना।

६. **घोरगुणब्रह्मचारिता या अघोरब्रह्मचारित्व**[७] मुनि के क्षेत्र में भी चोर आदि की बाधाएँ, काल महामारी और महायुद्ध आदि का न होना अथवा सब गुणों के आश्रय से महर्षि का ब्रह्मचारित्व अघोर (शान्त, अखण्डित) रहना।

७. **घोरपराक्रम**[८] मुनियों को देखकर भूत, प्रेत, राक्षस, शाकिनी आदि का डर जाना।

बलऋद्धि[९]

बलऋद्धि के तीन भेद हैं – मनोबल, वचनबल और कायबल।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०५४; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६१
२. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०५०; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ८७
३. धवला, पुस्तक ६, पृ० ८७, ८६
४. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०५०-५१
५. तिलोयपण्णत्ति,४/१०५२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६०
६. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०५३; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६,पृ० ६१
७. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०५८-६०; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६४
८. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०५६-५७; तत्त्वार्थराजवार्तिक,३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६३
९. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०६१-६६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६८-६६

१. **मनोबल**[१] अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को चिन्तन करने की सामर्थ्य।
२. **वचनबल**[२] अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को पाठ करने की शक्ति।
३. **कायबल**[३] महीनों तक एक ही आसन में बैठे या खड़े रहने की क्षमता अथवा अंगुली के अग्रभाग से तीनों लोकों को उठाकर दूसरी जगह रखने की सामर्थ्य का होना।

औषधऋद्धि[४]

औषधऋद्धि आठ प्रकार की है। जिन योगियों-मुनियों के कफ, श्लेष्म, विष्ठा, कान का मैल, दांत का मैल, आंख और जीभ का मैल, हाथ आदि का स्पर्श, विष्ठा, मूत्र, केश, नख आदि कथित या अकथित सभी पदार्थ औषध रूप बन जाते हैं, और उनसे प्राणियों के असाध्य रोग भी नष्ट हो जाते हैं, वे औषधऋद्धि के धारी होते हैं। ये ऋद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं –

१. **आमर्शौषधि**[५] योगी के हाथ-पैर आदि के स्पर्शमात्र से प्राणी का नीरोग हो जाना।
२. **क्ष्वेलौषधि**[६] योगी की लार, कफ, अक्षिमल और नासिकामल से जीवों के रोगों का विनाश।
३. **जल्लौषधि**[७] योगी के स्वेद, पसीने आदि से रोगों का नाश।
४. **मलौषधि**[८] योगी के जिह्वा, ओष्ठ, दांत, श्रोत्रादि के मल से जीवों के समस्त रोगों का नष्ट होना।
५. **विप्रौषधि**[९] योगी के मूत्र, विष्ठा आदि से जीवों के भयानक रोगों का नाश।
६. **सर्वौषधि**[१०] योगी के स्पर्श किये हुए जल व वायु तथा रोम और नख आदि से व्याधि का निराकरण।
७. **मुखनिर्विष**[११] योगी के वचनमात्र से तिक्तादि रस व विष से युक्त विविध प्रकार के अन्न का निर्विष होना। आस्यनिर्विष[१२] मुनि के वचन के श्रवणमात्र से ही व्याधियुक्त मनुष्य का स्वस्थ हो जाना।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०६१-६२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६८; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३८-३९
२. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०६३-६४; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६८-६९; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३९
३. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०६५-६६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६९; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३९
४. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०६७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; प्रवचनसारोद्धार, १४६२
५. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०६८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६५-६६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३९; आवश्यकसूत्र, हरिभद्रवृत्ति व मलयगिरिवृत्ति, पृ० ६९; प्रवचनसारोद्धार, १४६६
६. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०६९; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६६
७. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७०; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६६
८. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७१; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३
९. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७२; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३;
१०. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७३; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; धवला, पुस्तक ६, पृ० ६७
११. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७४; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३
१२. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७४; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३

८. **दृष्टिनिर्विष**[१] योगी द्वारा रोग और विष से युक्त जीव को देखने मात्र से उसका नीरोग हो जाना।

रसऋद्धि[२]

इसके ६ भेद हैं –

१. **आशीर्विष**[३] योगी द्वारा किसी प्राणी को 'मर जाओ' ऐसा कहने पर उस प्राणी की तत्क्षण ही मृत्यु हो जाना।

२. **दृष्टिविष**[४] किसी क्रुद्ध मुनि के द्वारा किसी प्राणी के देखे जाने पर उस प्राणी की उसी समय मृत्यु हो जाना।

३. **क्षीरास्रावी**[५] योगी के हाथ में आए हुए नीरस भोजन एवं वाणी का क्षीर के समान मधुर एवं सन्तोषजनक हो जाना।

४. **मध्वास्रावी**[६] योगी के हाथ में आए हुए नीरस भोजन एवं वाणी का मधु के समान मधुर हो जाना अथवा योगी के वचनों का मधु-शक्कर आदि मधुर द्रव्य के समान हो जाना।

५. **सर्पिरास्रावी**[७] योगी के हस्तगत नीरस भोजन एवं वाणी का घृत के समान स्निग्ध होना।

६. **अमृतस्रावी**[८] **अथवा अमृतास्रवी**[९] योगी के हस्तगत नीरस भोजन एवं वाणी का अमृत के समान विशुद्ध एवं निर्मल हो जाना।

क्षेत्रऋद्धि[१०]

क्षेत्रऋद्धि के दो भेद हैं – १. अक्षीणमहानसऋद्धि और २. अक्षीणमहालयऋद्धि।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३
२. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७७; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३
३. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; धवला पुस्तक, ६, पृ० ८५
४. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०७९; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३; धवला पुस्तक, ६, पृ० ८६; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, ३/३६
५. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०८०-८१; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०४; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीय वृत्ति ३/३६ धवला, पुस्तक ६, पृ० ६६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३६; आवश्यकसूत्र, मलयगिरि वृत्ति पृ० ७५
६. तिलोयपण्णत्ति ४/१०८२-८३; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०४; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६ योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३६; आवश्यकसूत्र, मलयगिरिवृत्ति पृ० ७५ , ८०
७. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०८६; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०४; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/६, पृ० ३६; धवला, पुस्तक ६, पृ० १००
८. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०४; धवला, पुस्तक ६, पृ० १०१; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३६
९. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०८४-८५
१०. तिल्लोयपण्णत्ती, ४/१०८८; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०४; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३६

१. **अक्षीणमहानस**[१] **और**

अक्षीणमहानसिक[२] किसी मुनि या साधु द्वारा किसी के घर में भोजन किये जाने पर भिक्षा या भोजन की कमी न होना।

२. **अक्षीणमहालय**[३] किसी मुनि या साधु द्वारा किसी मन्दिर में निवास करने पर उस स्थान में समस्त देव, मनुष्य और तिर्यंचों को बाधारहित निवास करने की शक्ति प्राप्त होना।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पातञ्जल एवं जैन-परम्परा में वर्णित सिद्धियों में पूर्ण साम्य है केवल उनके नामों, संख्या एवं वर्णन-शैली में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पातञ्जलयोग परम्परा की अपेक्षा जैन-परम्परागत सिद्धि-वर्णन में व्यापकता एवं स्पष्टीकरण की दृष्टि से वैशिष्ट्य अवश्य प्रतीत होता है। जैन-परम्परा की एक अन्य विशेषता उसका समन्वयवादी दृष्टिकोण रहा है। इसीलिए आ० हरिभद्रादि प्रसिद्ध जैन मनीषियों ने पातञ्जल एवं जैन दोनों योग परम्पराओं में प्राप्त सिद्धियों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। आ० हरिभद्र ने तो स्पष्ट रूप से पतञ्जलि के यम-नियमादि योगांगों से प्राप्त रत्नादि,[४] वैदिक एवं हठयोगादि अन्य परम्पराओं में वर्णित अणिमादि[५] तथा जैन-परम्परागत 'आमोसहि'[६] आदि सिद्धियों की ओर संकेत करते हुए तीनों परम्पराओं में साम्य दिखाने का प्रयास किया है।[७] अणिमादि सिद्धियाँ योग की विशिष्ट भूमिका में प्राप्त होने से सभी परम्पराओं में मान्य हैं[८] इसलिए आचार्य हरिभद्र,[९] आचार्य शुभचन्द्र,[१०] आचार्य हेमचन्द्र[११] तथा उपाध्याय यशोविजय[१२] आदि विद्वानों ने भी उनका उल्लेख किया है।

उक्त आचार्यों ने अन्यत्र भी पातञ्जलयोगसूत्र सम्मत सिद्धियों का वर्णन किया है। यथा आ० शुभचन्द्र द्वारा अहिंसा के प्रभाव से योगी के सान्निध्य में आने वाले क्रूर प्राणियों के वैरभाव त्याग करने का उल्लेख[१३] पातञ्जलयोगसूत्र से मिलता है।[१४] इसी प्रकार आ० हेमचन्द्र एवं उपा० यशोविजय द्वारा निरूपित पवनजय से प्राप्त सिद्धियाँ पातञ्जलयोग से प्रभावित प्रतीत होती हैं।[१५]

---

१. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०८६-६०; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०४; धवला, पुस्तक ६, पृ० १०१-१०२; आवश्यकसूत्र, मलयगिरि-वृत्ति ७५, पृ० ८०; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३६

२. प्रवचनसारोद्धार, १५०४

३. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०६१; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०४; तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीयवृत्ति, ३/३६; योगशास्त्र, स्वो० वृ० १/८, पृ० ३६

४. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। – पातञ्जलयोगसूत्र, २/३७

५. भागवतपुराण, ११/१५/३-५; योगशिखोपनिषद, ५/५१, मण्डलब्राह्मण, ३०३/४, पातञ्जलयोगसूत्र, ३/४४, ४५, तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२४-२५ तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३, विशेषावश्यकभाष्य, १५०६-१५०६

६. प्रवचनसारोद्धार, १४६२-१५०८, विशेषावश्यकभाष्य, १०२४-२५

७. जोगाणुभावओ चिय पायं न य सोहणस्स वि य लाभो।
लद्धीण वि सम्पत्ती इमस्स जं वन्निया समए।।
रयणाई लद्धीओ अणिमाईयाओ तह चित्ताओ।
आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवुड्ढीए।। – योगशतक, ८३, ८४

८. पातञ्जलयोगसूत्र, ३/४४, ४५; भागवतपुराण, ११/१५/३-५; तिलोयपण्णत्ति, ४/१०२४-२५; तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३/३६/३/२०३

९. योगशतक ८४ तथा स्वो० वृ०

१०. ज्ञानार्णव, १६/६, २७/६, ३५/२६, ६०

११. योगशतक स्वो० वृ० १/८, पृ० ३७

१२. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २६/१५ एवं टीका

१३. ज्ञानार्णव, २२/२२

१४. पातञ्जलयोगसूत्र, २/३५

१५. योगशतक, ५/२४; द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २६/१५ एवं स्वो० वृ०; तुलना – पातञ्जलयोगसूत्र ३/३६

आ० हेमचन्द्र ने पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित सिद्धियों का वर्णन करने के साथ स्व-परम्परागत औषधि आदि सिद्धियों का भी संक्षेप में पूर्ण विवरण दिया है।[१]

उपा० यशोविजय ने सभी जैनाचार्यों से विशिष्ट कार्य यह किया कि पतञ्जलि ने 'विभूतिपाद' नामक तृतीय अध्याय में जिन योगज विभूतियों की चर्चा की है, उन सभी की व्याख्या उन्होंने 'योग-माहात्म्य' नामक द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में प्रस्तुत की है।[२] इससे प्रतीत होता है कि यशोविजय को महर्षि पतञ्जलि द्वारा निरूपित सिद्धियाँ पूर्णतः मान्य थीं।

इसीप्रकार यह भी स्पष्ट है कि आ० हरिभद्र आदि चारों प्रमुख जैनाचार्यों ने वर्णन-शैली की भिन्नता को यथार्थ भेद न मानकर सभी परम्पराओं में समन्वय प्रदर्शित किया है, जो उचित भी है।

सिद्धियों के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि उक्त सभी सिद्धियाँ योग-मार्ग के पथिक को क्रमशः प्राप्त होती हैं। इन सिद्धियों के प्राप्त होने पर योगी को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी दूसरे पर आश्रित नहीं रहना पड़ता। यही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर वह जन-कल्याण के लिए भी उनका प्रयोग कर सकता है। यही कारण है कि सिद्धियों के प्राप्त होने पर साधक की योग-साधना के प्रति निष्ठा बढ़ जाती है तथा उसमें आत्म-विश्वास जागृत होता है। किन्तु योगी साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि ये सिद्धियाँ योग-साधना का लक्ष्य नहीं हैं। अतः यदि वह इनके प्राप्त होने पर संतुष्ट होकर स्वयं को लोकोत्तर पुरुष समझकर आत्मप्रतिष्ठा के लिए इनका प्रयोग करता है, तब ये सिद्धियाँ उसे योग के चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँचने देतीं, अपितु उसके योग-मार्ग में विघ्न बन जाती हैं और उसे साधना-पथ से भ्रष्ट कर देती हैं। यही कारण है कि प्रसिद्ध योगियों ने इन सिद्धियों के प्रति उपेक्षाभाव रखने का उपदेश दिया है।[३] महर्षि पतञ्जलि ने भी इन्हें समाधि की सिद्धि में विघ्न माना है।[४]

जैन-परम्परा में भी ऋद्धियों एवं सिद्धियों को साधना में विघ्न समझते हुए साधक को उनके प्रति अनासक्त रहने का उपदेश दिया गया है।[५] आ० कुन्दकुन्द ने साधक को परामर्श दिया है कि वह ऋद्धि देखकर मोहित न हो जाए।[६] दशवैकालिकसूत्र में ऋद्धि का गर्व करने का निषेध किया गया है।[७] अन्य जैनशास्त्रों में काम, भोग एवं ऋद्धि के प्रति अनासक्ति रखने वाले को ही सच्चा मुनि कहा गया है।[८] दशवैकालिकसूत्र में साधक को यह निर्देश दिया गया है कि वह इहलौकिक एवं पारलौकिक फलाकांक्षा, कीर्ति, प्रशंसा, प्रतिष्ठा अथवा प्रसिद्धि के निमित्त तप न करे।[९] तत्त्वार्थराजवार्तिक में ऋद्धिकामी साधु को बकुश की कोटि में रखा गया है।[१०] आ० हरिभद्र ने ऋद्धियों को विघ्न मानते हुए कहा है कि अगर योगी

---

१. योगशतक, स्वो० वृ० १/८, ९
२. योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका, (द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, यशोविजय)
३. सिद्धौ चित्तं न कुर्वीत चञ्चलत्वेन चेतसः।
तथाऽपि ज्ञाततत्त्वोऽसौ मुक्त एवं न संशय।। – योगशिखोपनिषद् ५/६२
४. ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः । – पातञ्जलयोगसूत्र ३/३७
५. प्रशमरतिप्रकरण, २५६-२५८
६. भावप्राभृत, १२९
७. दशवैकालिकसूत्र, ६/२/२२
८. दशवैकालिकसूत्र, १०/१७, ८/५८, ५६ समाधितन्त्र, ४२; तत्त्वानुशासन, २२, उत्तराध्ययनसूत्र, ३५/१८, ६/१६
९. (क) न इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।
न परलोगट्ठाए तवमहिट्ठेज्जा ।।
न कित्ति-वण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा ।। – दशवैकालिकसूत्र, ९/४/६
(ख) दशवैकालिकसूत्र, १/४/६ पर हरिभद्रटीका एवं जिनदासचूर्णि
१०. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९/४६/२

ऋद्धियों के प्रति आसक्त हो जाता है तो समस्त अनुष्ठान विष रूप हो जाता है।[1] आ० शुभचन्द्र,[2] हेमचन्द्र[3] एवं उपा० यशोविजय[4] ने भी सिद्धियों को विघ्न स्वरूप माना हैं। अतः योगी को चाहिए कि वह इनकी अपेक्षा न कर समाधि की साधना में निरन्तर उन्मुख रहे। सिद्धियों के प्रति उपेक्षाभाव रखते हुए योग-मार्ग में आगे बढ़ता हुआ साधक अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, उसका भव-सागर से सम्बन्ध छूट जाता है। यही योगी का चरम लक्ष्य है।

---

१. योगबिन्दु, १५५, १५६, ३६५
२. ज्ञानार्णव, ३७/१२-१४, ३५/२६, ३६/१-१४, ५/३, १३
३. योगशास्त्र, ६/१-३; ६/१५, १६
४. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, स्वो० वृ० १८/२४; ज्ञानसार, २०/८

सप्तम अध्याय

पातञ्जलयोग एवं जैनयोग में परस्पर साम्य-वैषम्य एवं वैशिष्ट्य

भारतीय दर्शन का मुख्य उद्देश्य है मानव जीवन को अभाव एवं सांसारिक कष्टों से मुक्ति दिलाकर शाश्वत एवं चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति कराना। सभ्यता के आदिकाल से ही मानव ने सांसारिक विषय वासनाओं से अपने आपको आबद्ध पाते हुए भी उससे निकलने का प्रयास जारी रखा है। प्राचीन कालीन ऋषियों एवं आधुनिक चिन्तकों ने समय-समय पर विविध उपायों का अन्वेषण कर स्वानुभव द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार कराने वाली व्यावहारिक पद्धतियों को धरातल पर उतारने का सफल प्रयास किया है। उनके द्वारा आत्मविकास की पूर्णता और उससे प्राप्त होने वाले प्रज्ञा-प्रकर्षजन्य पूर्णबोध की प्राप्ति हेतु अन्वेषित उपायों में 'योग' एक विशिष्ट एवं अन्यतम उपाय है। 'योग' आर्य जाति की सबसे श्रेष्ठ एवं अनुपम आध्यात्मिक निधि है।

योग-साधना के मार्ग अनन्त हैं। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग, ध्यानयोग, जपयोग, मन्त्रयोग, तपयोग, लययोग आदि योग की अनेक शाखाएँ हैं। वस्तुतः ये सभी शाखाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक योग में भक्ति, ज्ञान, कर्म, ध्यान आदि साधनों का न्यूनाधिक रूप में उपयोग अवश्य होता है। परन्तु साधक अज्ञानान्धकार से वशीभूत होने के कारण इनके गूढ़ रहस्यों को समझ नहीं पाता। यही कारण है कि किसी एक मार्ग का अनुसरण करने वाले साधक अपने आपको दूसरों से पृथक् समझने लगते हैं। यथा - भक्तिमार्गी लोगों को हठयोगियों से अथवा ज्ञानमार्गी लोगों का कर्मयोगियों से अथवा कर्ममार्गी लोगों का ज्ञानयोगियों से विरोध स्पष्ट दिखाई देता है, जबकि ज्ञान, भक्ति, कर्म, जप, तप, ध्यान, ज्ञान आदि की समष्टि ही सम्पूर्ण योग है। प्रत्येक की स्थितिभेद के कारण ही इनके साधना-मार्ग में अन्तर दिखाई पड़ता है।

भारतीय संस्कृति तीन प्रमुख धाराओं में प्रवाहित रही है – वैदिक, बौद्ध एवं जैन। इन सबकी चिन्तन पद्धति एवं मौलिक विचारधारा में भिन्नता होने से इनकी मोक्ष-प्रापक साधना-पद्धतियों में जो पार्थक्य दिखाई देता है उनकी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए योग के साथ वैदिक, बौद्ध, जैन तथा अन्य सम्प्रदायों का नाम जोड़ा गया है। परिणामस्वरूप वैदिकयोग, बौद्धयोग अथवा जैनयोग आदि नाम प्रचलित होने लगे। यथार्थ में योग का किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा जाति विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'योग' एक व्यापक शब्द है जिसमें सभी साधना-पद्धतियाँ समाहित हैं।

योग-परम्परा का प्रारम्भ कब, कहाँ, और किसके द्वारा हुआ ? इसके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। योग के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर विचार करने पर इतना ही कहा जा सकता है कि आत्मविकास हेतु आध्यात्मिक साधना के रूप में 'योग' का प्रचलन प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त ध्यानस्थ योगी का चित्र उक्त तथ्य का पोषक प्रमाण है।

योग के आद्य प्रवर्तक कौन थे, इस सम्बन्ध में वैदिक परम्परा 'हिरण्यगर्भ' को योग का आद्य वक्ता मानती है।[1] महाभारत[2] में प्राप्त उल्लेखानुसार यह द्युतिमान हिरण्यगर्भ वही है जिसकी वेदों में स्तुति की गई है। योगी लोग नित्य इसकी पूजा करते हैं।[3] जैन-परम्परानुसार योग के आद्य प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव थे। महापुराण में कहा गया है कि ऋषभदेव के अनेक नामों में एक हिरण्यगर्भ था।[4] वैदिक पुराणों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव भगवान विष्णु के पांचवें परन्तु प्रथम मानव अवतार थे।[5] श्रीमद्भागवत में एक स्थल पर "भगवान् ऋषभदेवो योगीश्वरः"[6] कहकर भगवान् ऋषभदेव की प्रथम योगीश्वर के रूप में स्तुति की गई है और अन्यत्र हिरण्यगर्भ को योगविद्या का आद्य प्रवर्तक कहा है।[7] जैन वाङ्मय में भी भगवान् ऋषभदेव की हिरण्यगर्भ के रूप में स्तुति की गई है।[8] उक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ और ऋषभदेव दोनों एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं जो योग के आद्य प्रवर्तक थे।

सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्त ध्यानस्थ योगी की नग्नावस्था और कायोत्सर्ग मुद्रा (पद्मासन) में प्राप्त मूर्ति को देखकर पुरातत्त्ववेता यह अनुमान लगाते हैं कि उक्त मूर्ति प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की है।[9] चूँकि भगवान् शिव का स्वरूप भी दिगम्बर (नग्न) था इसलिए कुछ विद्वान् उक्त मूर्ति को भगवान् शिव की मूर्ति बताते हैं।[10] उनके इस तथ्य से ऋषभदेव और शिव की एकाकारता की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसी आधार पर श्री रामचन्द्र दीक्षितार ने ई० सन् ३००० वर्ष पूर्व तथा उससे भी प्राचीन भारतवर्ष में प्रचलित योग-साधना को पाशुपत योग-साधना का प्रारम्भिक रूप माना है।[11] उपर्युक्त मूर्ति चूँकि पद्मासन में उत्कीर्ण है इसलिए कुछ विद्वान् हठयोग का प्रारम्भ भी प्रागैतिहासिक काल से ही स्वीकार करते हैं।[12] हठयोग में 'आदिनाथ' को हठयोग का आद्यप्रवर्तक मानते हुए उनकी स्तुति की गई है।[13] आदिनाथ 'ऋषभदेव' अथवा 'हिरण्यगर्भ' का ही अपर नाम है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रागैतिहासिक काल में योग की विभिन्न पद्धतियाँ साधना रूप में प्रचलित थीं। अतः भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिकों ने अपने-अपने मतानुसार अपने इष्टदेव को योग का आद्य प्रवर्तक मान लिया।

प्राचीन काल में किसी भी विद्या का ग्रहण, धारण एवं पठन-पाठन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा होता था इसलिए ऋषि-परम्परा द्वारा ही इसका प्रचार हुआ। लेखन परम्परा का अभाव होने से अन्य विद्याओं के समान योगविद्या भी शास्त्रबद्ध न हो सकी। परिणामस्वरूप आज इसका क्रमिक व प्रामाणिक इतिहास अनुपलब्ध है। कहा जाता है कि हिरण्यगर्भ ने योग विषयक एक ग्रन्थ की रचना की थी।[14] परन्तु उक्त ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने से इस विषय में कोई प्रमाण प्रस्तुत करना संभव नहीं है।

---

१. हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। – महाभारत, २/३४६/६५
२. वही, १२/३४२/६६
३. ऋग्वेदसंहिता, १०/१२१/१
४. महापुराण, १२/६५
५. श्रीमद्भागवतपुराण, ५/३/२०
६. वही, ५/४/३
७. वही, ५/६:१३
८. आदिपुराण २४/३३
९. **Jainism the oldest living Religion, p. 49-50.**
१०. 'पाशुपत योग का प्रारम्भिक इतिहास', कल्याण (योगांक), पृ० २३७
११. वही, कल्याण (योगांक), पृ० २३७
१२. शर्मा, सुरेन्द्र कुमार, हठयोग – एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोगप्रदीपिका, पृ० १७
१३. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या। – हठयोगप्रदीपिका, १/१
१४. नैरञ्जन, श्री मौक्तिनाथ, "पातञ्जलयोगदर्शन की प्राचीनता" कल्याण, (योगांक) पृ० २५५

योगविषयक अनेक महत्वपूर्ण प्रसंग, वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, परन्तु योग को व्यवस्थित एवं सम्यक्रूप प्रदान करने का श्रेय सर्वप्रथम महर्षि पतञ्जलि (ईसा पूर्व द्वितीय शती) को प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपनी साधना-पद्धति का मूल अपनी परम्परा में ही स्थापित करते हुए कतिपय संशोधन कर विभिन्न पद्धतियों को सूत्रबद्ध कर 'योगशास्त्र' का रूप प्रदान किया जो 'पातञ्जलयोगदर्शन' नाम से प्रसिद्ध है।

पतञ्जलिकृत योगग्रन्थ के प्रथम सूत्र 'अथयोगानुशासनम्' के आधार पर वाचस्पतिमिश्र[1] तथा विज्ञानभिक्षु[2] आदि टीकाकार यह स्वीकार करते हैं कि पतञ्जलि योग के प्रवर्तक नहीं थे बल्कि एक संग्रहकर्ता थे।[3] उनका मत है कि पातञ्जलयोगदर्शन का विकास 'हैरण्यगर्भशास्त्र' से ही हुआ है[4] जो दुर्भाग्य से अनुपलब्ध है। पतञ्जलिकृत योगसूत्र में चित्तवृत्तिनिरोध हेतु वर्णित ईश्वर-प्रणिधान (भक्तियोग), प्राणायाम (हठयोग), विषयवती प्रवृत्ति (तन्त्रयोग), विशोका प्रवृत्ति (पंचशिख का सांख्ययोग), वीतराग विषयता (जैनों का वैराग्य) स्वप्न आदि का अवलम्बन (बौद्धों का ध्यानयोग) आदि विभिन्न साधना-पद्धतियाँ पतञ्जलि के पूर्ववती प्रचलित होने का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। पतञ्जलि ने पूर्ववर्ती इन योग-प्रणालियों को केवल संकलित कर योग का समन्वित रूप जनता के समक्ष रखने का प्रयास किया है। वर्तमान में योगदर्शन से तात्पर्य पतञ्जलि के सूत्रों से ही माना जाता है। उक्त ग्रन्थ में दार्शनिक पक्ष (तत्त्व-चिन्तन) की अपेक्षा साधना को और आत्मिक उन्नति के क्रमिक मार्ग को ही प्रधान रूप से प्रतिपादित किया गया है।

जहाँ तक जैन-परम्परा का सम्बन्ध है, इसमें भी सैद्धांतिक पक्ष की अपेक्षा आचार पक्ष को अधिक महत्व दिया गया है। जैन तीर्थंकरों के जो उपदेश हैं, वे भी साधनामय जीवन में आगे बढ़ते हुए उच्चतम स्थिति पर तत्त्वों का साक्षात्कार करने के अनन्तर ही दिए गए हैं। इस प्रसंग में यह विशेष उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय साधकों ने संकीर्णता की सदा उपेक्षा की है और उदारतापूर्वक विविध सम्प्रदायों में प्रचलित योग-क्षेमकारी सिद्धान्तों और साधना के मार्गों को बिना किसी संकोच के स्वीकार करते हुए विचारों का आदान-प्रदान किया है। अतः स्वाभाविक है कि वर्णन-शैली में भिन्नता होने पर भी 'पातञ्जलयोग' एवं 'जैनयोग' की साधना-पद्धतियों में समानता या अविरोध हो।

महर्षि पतञ्जलि ने 'योग' शब्द को जिस समाधिपरक अर्थ में ग्रहण किया है, प्राचीन जैन वाङ्मय में, विशेषकर आगम साहित्य में वह उस अर्थ में प्रचलित नहीं था। जैनागमों में 'योग' शब्द कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृत्तियों के अर्थ में स्वीकृत है। जहाँ तक मोक्ष-प्राप्ति का सम्बन्ध है वह दैहिक और भौतिक आसक्ति के उच्छेद से ही संभव है। इसलिए भारत में विशेषतः जैन-परम्परा में, 'तप' को मोक्षोपयोगी साधना के रूप में स्वीकार किया गया। आगे चलकर 'ध्यान' रूप आभ्यन्तर तप की श्रेष्ठता स्वीकार करने पर ध्यान व समाधि की प्रक्रिया को 'योग' के अर्थ में मान्यता दी जाने लगी। जैनागमों में भी योग-साधना के अर्थ में 'ध्यान' शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। जैन-परम्परा में ज्ञानयोग, क्रियायोग एवं ध्यानयोग का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। भक्ति को भी जैन-साधना में यथोचित स्थान प्राप्त हुआ है किन्तु उसे जैन तत्त्व-चिन्तन पद्धति के अनुरूप ढालने का प्रयास किया गया है। जैन तीर्थंकर व प्राचीन ऋषि-मुनियों की साधना में उक्त साधना के प्रयोगात्मक पक्ष का दर्शन किया जा सकता है।

---

१. पातञ्जलयोगसूत्र, १/१ पर तत्त्ववैशारदी टीका
२. वही, १/१ पर योगवार्तिक
३. भारतीय दर्शन का इतिहास, भा० १, पृ० २३७
४. नैरञ्जन, श्री मौक्तिनाथ, "पातञ्जलयोग दर्शन की प्राचीनता" कल्याण, (योगांक) पृ० २५५

यद्यपि जैनागमों में यत्र-तत्र ध्यान विषयक प्रचुर-सामग्री उपलब्ध होती है किन्तु उस पर व्यवस्थित व सर्वांगीण जैनयोग-साधना पद्धति का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्राचीन जैन-परम्परा में पातञ्जलयोगसूत्र की तरह योग-साधना का व्यवस्थित ग्रन्थ लिखा ही नहीं गया था। योग (अध्यात्म-साधना) का आधार 'आचार' है क्योंकि आचार से ही योगी के संयम में वृद्धि होती है तथा समता का विकास होता है। अतः प्राचीन ग्रन्थों में जैनयोग-साधना का प्रतिपादन आचारशास्त्र (चारित्र) के रूप में हुआ है। बाद में गृहस्थ साधक के 'आचार' को गौण मान कर मुनिचर्या पर अधिक बल दिया जाने लगा और मुनिचर्या के प्रमुख अंग 'वैराग्य' व 'ध्यान' की विशेष व्याख्या करने वाले अध्यात्मपरक ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ।

ईसा की ७वीं शती तक जैनयोग साहित्य में आगम-शैली का ही प्राधान्य रहा। आगमयुग से लेकर वर्तमानयुग तक आगम साहित्य पर अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी चलाई, किन्तु जैनयोग-साधना के व्यवस्थित व सर्वांगीण स्वरूप को प्रस्तुत करने वाले स्वतन्त्र व मौलिक ग्रन्थ लिखने की परम्परा का सूत्रपात लगभग ८-९ वीं शती के आस-पास हुआ। सम्भवतः उक्त प्रयास पातञ्जलयोगसूत्र, तत् सम्बद्ध साहित्य व उसकी विचारधारा की लोकप्रियता से प्रभावित होकर किया गया हो। उक्त ग्रन्थकारों में सर्वप्रथम व सर्वाग्रणी आचार्य हरिभद्र हैं जिन्होंने पातञ्जलयोगसूत्र तथा उसकी योग-साधना से सम्बद्ध सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए उसी के समकक्ष जैनयोग-साधना का विविध परिप्रेक्ष्यों में व्यवस्थित एवं समन्वयात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया।

आ० हरिभद्र (८ वीं शती) के समय में देश में योग-साधना विविध रूपों में प्रचलित थी। जहाँ एक ओर बौद्धों द्वारा मन्त्रयान, तन्त्रयान और वज्रयान आदि का तीव्रता से प्रचार किया जा रहा था, वहीं दूसरी ओर सिद्धों ने 'सिद्धयोग' का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। सामान्य जनता न तो तन्त्रों, विशेषकर वाममार्ग के रहस्य को समझ पाने में समर्थ थी और न ही सिद्धों के 'सिद्धयोग' से प्रभावित हो सकी थी। परिणामस्वरूप उनमें दुराचार व व्यभिचार फैलने लगा। तत्कालीन जैन समाज की धार्मिक स्थिति भी अच्छी न थी। जैन-परम्परा में जहाँ एक और चैत्यवास विकसित हो चुका था वहीं स्वयं को श्रमण अथवा त्यागी कहने वाले वर्ग ने मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा, जिनपूजा आदि बाह्य क्रियाकाण्डों को अधिक महत्व देना प्रारम्भ कर दिया था। जिनप्रतिमा और जैन मन्दिर तथाकथित श्रमणों की ध्यानभूमि या साधनाभूमि न बनकर भोगभूमि बन रहे थे।[1] साम्प्रदायिक मतभेद वर्तमानयुग की भांति चरमसीमा पर था। स्वयं आ० हरिभद्र द्वारा जैन धर्म अंगीकार करने से पूर्व जिनप्रतिमा का उपहास करना,[2] उनके शिष्यों का गुप्त रूप से बौद्ध मठों में जाकर शिक्षा ग्रहण करना तथा रहस्य खुलने पर बौद्धाचार्यों द्वारा उनकी हत्या कराया जाना[3] आदि सभी घटनाएँ ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन-परम्पराओं में विद्यमान पारस्परिक द्वेष एवं घृणाभाव की स्पष्ट झांकी प्रस्तुत करती हैं। उस युग में धार्मिक क्षेत्र की भाँति दार्शनिक क्षेत्र भी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से अछूता न था। ऐसी विषम परिस्थितियों का तत्कालीन साहित्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि इस युग में तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति भी प्रारम्भ हो गई थी। वैदिक एवं बौद्ध योग के साथ समन्वयात्मक सम्बन्ध रखना तथा उनके दृष्टिकोण को समक्ष रखकर अपने वैशिष्ट्य का उपस्थापन करना इस युग के जैनाचार्यों की प्रमुख विशेषता थी। इतना ही नहीं, उनके पारिभाषिक

---

१. जैन, सागरमल "हरिभद्र के धर्म-दर्शन में क्रान्तिकारी तत्त्व", बी० एल० इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलॉजी, दिल्ली, द्वारा १९८७ में आयोजित 'आचार्य हरिभद्रसूरि' संगोष्ठी में पठित लेख, पृ० ४

२. द्रष्टव्य : अकलंककथा; न्यायकुमदचन्द्र, प्रस्तावना

३. वही

शब्दों के समानान्तर शब्दों अथवा उनके पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी इस युग के जैनसाहित्य में उपलब्ध होता है।

जैन-परम्परा समन्वयवादी दृष्टिकोण की पक्षधर रही है और अनेकान्तवाद उसका मूल सिद्धान्त है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि आ० हरिभद्र को समन्वयात्मक, उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण जैन-परम्परा की अनेकान्तदृष्टि से उत्तराधिकार में मिले थे। परन्तु उन्होंने जिस सूक्ष्मता एवं सूझबूझ से इन गुणों को अपने जीवन में आत्मसात किया, उसका उदाहरण जैन अथवा जैनेतर किसी भी परम्परा में नहीं मिलता।

उन्होंने प्रत्येक भारतीय दर्शन को परमसत्य का अंश बताकर उन सभी दर्शनों की परस्पर दूरी को मिटाने का प्रयास किया है। उनके अभिमतानुसार भिन्न-भिन्न शब्दों में ग्रथित सभी ग्रन्थ एक ही लक्ष्य व परमतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं,[१] इसलिए सत्य के गवेषक और साधना के पथिक को पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा करनी चाहिये तथा उनमें से जो भी युक्तिसंगत लगे उसे स्वीकार कर लेना चाहिये।[२] अपनी इस उदार एवं समन्वयात्मक दृष्टि के आधार पर उन्होंने जैनयोग के क्षेत्र में उद्भावक के रूप मे प्रवेश किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती योग विषयक विचारों में प्रचलित आगम-शैली की प्रधानता को तत्कालीन परिस्थितियों एवं लोकरुचि के अनुरूप परिवर्तित किया तथा जैनयोग का एक अभिनव, विविधलक्षी एवं समन्वित स्वरूप जनता के समक्ष रखा ताकि लोग विविध योग-प्रणालियों के भ्रमजाल में फँसकर दिग्भ्रमित न हो सकें। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा, चिन्तन पद्धति एवं अनुभूति की अप्रतिम आभा से अनेकविध योगग्रन्थों की रचना कर जैनयोग साहित्य में अभिनव युग की स्थापना की। आ० हरिभद्र ने जो सरणि प्रस्तुत की, उसका परवर्ती जैनाचार्यों ने सोत्साह अनुकरण किया।

१०वीं शती में कुछ परिमार्जित एवं विचारवान् योगियों ने 'सिद्धयोग' में त्रुटियाँ देखकर उसके विरुद्ध नाथ-सम्प्रदाय की सृष्टि की।[३] नाथ-सम्प्रदाय के प्रथम रत्न गोरखनाथ माने जाते हैं, जिन्होंने सारे भारत में परिमार्जित, शुद्ध एवं सात्त्विक हठयोग का प्रचार किया और हठयोग विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की।[४]

हठयोग का उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक विकास कराना है। यद्यपि इसमें आचार-विचार की शुद्धि पर भी बल दिया गया है तथापि आसन, मुद्रा एवं प्राणायाम द्वारा शरीर की आन्तरिक शुद्धि करके प्राण को सूक्ष्म बनाकर चित्तवृत्ति का निरोध करना, इसका मुख्य लक्ष्य है। कहा भी है कि केवल राजयोग की सिद्धि के लिए ही हठयोग का उपदेश दिया गया है।[५] उक्त कथन से सिद्ध होता है कि राजयोग और हठयोग एक दूसरे के पूरक हैं।

११वीं शती में राजयोग (अष्टांगयोग), हठयोग और तन्त्रयोग आदि योग-प्रणालियों का प्राधान्य था। स्वाभाविक है कि इस युग के आचार्यों पर इस प्रक्रिया का प्रभाव पड़ा हो। दिगम्बर जैन-परम्परा के प्रतिनिधि आ० शुभचन्द्र (११ वीं शती) के समक्ष पतञ्जलि का योगसूत्र, राजयोग, हठयोग तन्त्रयोग तथा हारिभद्रीय योगसाहित्य उपलब्ध था। अतः उन्होंने आ० हरिभद्र के समन्वयात्मक दृष्टिकोण के अनुसार

---

१. योगबिन्दु, ३
२. लोकतत्त्वनिर्णय, १८
३. भगवती प्रसाद सिंह, "चौरासी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय", कल्याण, (योगांक), पृ० ४६६-७०
४. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ६३-१०१, १२३-१४८
५. केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते । - हठयोगप्रदीपिका, १/२

जैनयोग, पातञ्जलयोग, हठयोग एवं तन्त्रयोग का समन्वयात्मक एवं व्यापक स्वरूप जनता के समक्ष रखा। उन्होंने अपने एकमात्र ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' में पातञ्जलयोग में निर्दिष्ट आठ योगांगों के क्रमानुसार श्रमणाचार का जैन-शैली के अनुरूप वर्णन किया है। उनके उक्त निरूपण में आसन तथा प्राणायाम से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन भी हुआ है। चूँकि मुनिचर्या में ध्यान को विशेष स्थान प्राप्त है, इसलिए 'ज्ञानार्णव' में भी ध्यान विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में वर्णित है। आ० शुभचन्द्र ने हठयोग एवं तन्त्रयोग में प्रचलित पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का विस्तृत व स्पष्ट विवेचन किया है।

आ० शुभचन्द्र कृत 'ज्ञानार्णव' की विषय शैली श्वेताम्बर जैन-परम्परा के प्रतिनिधि आ० हेमचन्द्र (१२वीं शती)कृत योगशास्त्र में भी द्रष्टव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ० हेमचन्द्र ने आ० शुभचन्द्र के विशालकाय 'ज्ञानार्णव' में ही कुछ मूल परिवर्तन कर उसका संक्षिप्त, परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप उपस्थित किया है। उनके योगशास्त्र पर भी पातञ्जलयोग, हठयोग, तन्त्रयोग तथा जैनयोग का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि आ० शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव जहाँ साधु जीवन की आधारभूमि पर स्थित है, वहाँ हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र गृहस्थ-साधु जीवन की आधारशिला पर प्रतिष्ठित है और उसमें गृहस्थ व साधु दोनों के आचार का निरूपण हुआ है। दोनों ही आचार्यों के योग ग्रन्थों को देखकर आश्चर्य होता है कि पूर्ववर्ती जैन-जैनेतर योग की वर्णनशैली एवं भाषाशैली का अनुकरण करने वाले उक्त दोनों जैनाचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती जैनाचार्य हरिभद्र की योगविषयक अभिनव शैली का कहीं उल्लेख नहीं किया। दोनों के योग ग्रन्थ केवल हरिभद्र की समन्वयात्मक शैली के अनुरूप जैनतत्त्वज्ञान और जैन आचार के समन्वित रूप के आधार पर जैनयोग का स्वतन्त्र एवं विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

आ० हरिभद्र की समन्वयात्मक शैली का अनुकरण करने वाले आचार्यों में प्रमुख स्थान उपा० यशोविजय (१८वीं शती) का है। उनके समय में योग-प्रणालियों की विविधता में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हो रही थी तथा साम्प्रदायिक-भेद भी चरमसीमा को छू रहे थे। दर्शन एवं चिन्तन के क्षेत्र में भी परस्पर खंडन-मंडन की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी। इन विषम परिस्थितियों में उपा० यशोविजय ने आ० हरिभद्र द्वारा प्रवर्तित चिन्तन-परम्परा को आगे बढ़ाते हुए जैनयोग-साधना का व्यापक व विस्तृत निरूपण किया। उनके द्वारा प्रसूत योग साहित्य मौलिक और आगमिक परम्परा से सम्बद्ध होने के साथ-साथ तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण वाले अध्येताओं के लिए भी नवीनतम एवं उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है। जिसप्रकार सूत्रशैली में निबद्ध महर्षि पतञ्जलिकृत योगसूत्रों के गूढ़ अर्थों को समझने के लिए महर्षि व्यास, भोज, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु आदि अनेक आचार्यों ने भाष्य एवं टीकाओं की रचना की, उसी प्रकार उपा० यशोविजय ने भी पतञ्जलि के योगसूत्र एवं आ० हरिभद्र के योगग्रन्थों के गूढ़ार्थ को समझाने के लिए अनेक व्याख्यापरक योग एवं अध्यात्म-ग्रन्थों की रचना की। इनके योगग्रन्थों का सर्वाधिक वैशिष्ट्य यह है कि उनमें स्पष्ट शब्दों में हठयोग का निषेध हुआ है और चित्त की बाह्याभिमुखी चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी करने के प्रयासों पर अधिक जोर दिया गया है।

समग्र रूप से विचार करने पर प्रतीत होता है कि उक्त चारों जैनाचार्य जैनयोग के आधारस्तम्भ हैं। इन सब की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन चारों आचार्यों ने अपने-अपने युग का प्रतिनिधि बनकर तत्कालीन योग-साधना का ऐसा समन्वित व व्यापक स्वरूप प्रस्तुत किया जो सामान्य जनता को दिग्भ्रमित होने से बचाने तथा साम्प्रदायिक-भेद को समाप्त करने में उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है। अन्य आचार्य इन चारों का किसी न किसी रूप में अनुगमन करते प्रतीत होते हैं। अनेक आचार्य

इन्हीं चारों आचार्यों द्वारा उपस्थापित विचारधारा के ऋणी दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए जैन व जैनेतर समाज में इन्हें अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। उनके योगग्रन्थों एवं पातञ्जलयोगसूत्र में परस्पर साम्य, वैषम्य एवं वैशिष्ट्य इस प्रकार है :-

योग : शब्दार्थ

युज् धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द के दो अर्थ हैं - १. 'युजिर् योगे' से संयोग (जोड़ना) और २. 'युज् समाधौ' से समाधि। पतञ्जलिकृत योगसूत्र में योग शब्द 'समाधि' अर्थ में स्वीकृत है जबकि जैन-परम्परा में योग के 'संयोग' अर्थ का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में योग के अर्थ के सम्बन्ध में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है परन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर इस भिन्नता में भी समानता प्रतीत होती है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'समाधि' साध्य का और 'संयोग' साधन का प्रतीक है और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। बिना साध्य के साधन की और बिना साधन के साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं होती। इसी दृष्टिकोण के आधार पर महर्षि पतञ्जलि ने 'योग' शब्द का प्रयोग किया है। उनके योगसूत्र में स्वीकृत 'योग' शब्द में साध्य एवं साधन दोनों अर्थ ग्रहीत हैं। यम, नियम आदि आठ योगांगों में अन्तिम अंग समाधि जहाँ साध्य है, वहाँ समाधि से पूर्ववर्ती यम, नियम (जिसमें क्रियायोग भी समाहित है), आसन, प्राणायाम आदि साधन हैं। इन आठ अंगों की समष्टि ही सम्पूर्ण योग है। इस प्रकार पतञ्जलि द्वारा स्वीकृत 'योग' समाध्यर्थक होते हुए संयोगार्थक (साधनपक्ष) का भी प्रतीक है।

हरिभद्रादि प्रमुख जैनाचार्यों को भी परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के सभी साधन 'योग' शब्द से अभिप्रेत हैं। जिसप्रकार पतञ्जलि द्वारा स्वीकृत समाध्यर्थक योग में संयोगार्थक योग भी समाहित है, उसीप्रकार हरिभद्रादि प्रमुख जैनाचार्यों द्वारा ग्रहीत संयोगार्थक योग में समाध्यर्थक योग अन्तर्भूत है। आ० हरिभद्र ने मोक्ष के हेतुभूत सभी धर्मव्यापारों को 'योग' की संज्ञा दी और वह अन्य सभी जैनाचार्यों को अभीष्ट हुई। प्रायः परवर्ती आचार्यों ने हरिभद्र का ही अनुकरण किया है।

आ० हरिभद्र ने समाध्यर्थक योग की अपेक्षा संयोगार्थक योग को ही क्यों स्वीकार किया ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना अनुचित न होगा कि आ० हरिभद्र के समय में योग की अनेक साधन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं, इसलिए उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप साधनपक्ष पर जोर देना उचित समझा। इसके अतिरिक्त योग-याज्ञवल्क्य[1], योगशिखोपनिषद्[2] तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी संयोगार्थक योग शब्द स्वीकृत है। अतः सम्भव है कि आ० हरिभद्र पर उनका भी प्रभाव पड़ा हो। यद्यपि आ० हरिभद्र ने योग को संयोग अर्थ में ग्रहण किया है तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित योगलक्षण 'मोक्ष-प्रापक धर्मव्यापार' में संयोग अर्थ (साधनपक्ष) और समाधि अर्थ (साध्यपक्ष) दोनों समाहित हैं।

आ० शुभचन्द्र एवं आ० हेमचन्द्र ने अपने समय में प्रचलित तन्त्रयोग, सिद्धयोग एवं हठयोग की प्रणालियों से प्रभावित होकर योग के साधनपक्ष को ही स्वीकार किया है, परन्तु जैन-परम्परा से सम्बद्ध होने के कारण उन्होंने जैन-परम्परा की रत्नत्रय एवं ध्यान साधना पर विशेष बल दिया है। उपा० यशोविजय ने भी आ० हरिभद्र का अनुसरण करते हुए योग के संयोग अर्थ को ही स्वीकार किया है।

---

१. योग-याज्ञवल्क्य, १/४४

२. योगशिखोपनिषद्, १/६८

योग : लक्षण

महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग की संज्ञा दी है, जबकि प्राचीन जैनागमों में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को 'योग' कहा गया है। जैनागमों में आध्यात्मिक साधना के सन्दर्भ में 'योग' शब्द की अपेक्षा 'संवर' शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है। समाधि, तप, ध्यान आदि शब्दों का उपयोग 'योग' के समान अर्थ में हुआ है। मोक्ष के साधन के रूप में जैन-परम्परा में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को ही सर्वोत्तम उपाय माना गया है। आ० हरिभद्र ने आगमिक शैली को परिवर्तित कर मोक्ष से योजन कराने वाले सभी विशुद्ध धर्मव्यापारों को 'योग' की संज्ञा दी है। उनके इस व्यापक लक्षण में सभी परम्पराओं में प्रचलित लक्षणों का समावेश होजाता है।

आ० हरिभद्र की यह विशेषता है कि उन्होंने 'सर्वविशुद्ध धर्मव्यापार' रूप योग-लक्षण में पतञ्जलि के चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग को समाविष्ट करके तुलनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। उनके इस व्यापक लक्षण की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ आगमिक परम्परा में योग का अर्थ मन, वचन, काय के व्यापार रूप में ही सीमित था, वहाँ उक्त लक्षण से जैनेतर-परम्परा के योगदर्शन में स्वीकृत योग का जैन-परम्परा में प्रवेश हो गया। इसके अतिरिक्त आ० हरिभद्र के उक्त व्यापक योग-लक्षण में जैन-परम्परा की आगमोक्त रत्नत्रय-साधना और उसकी अन्य सहायक अवान्तर क्रियाओं का भी समावेश हो गया है। इतना ही नहीं आ० हरिभद्र ने जैन आगमिक परम्परा के योग सम्बन्धी सांसारिक प्रवृत्तिपरक लक्षण का आध्यात्मिक योग से सम्बन्ध बताने के लिए समस्त कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापारों के अयोग (निरोध) को मोक्ष-साधक योग के रूप में निरूपण किया है। निवृत्तिमार्गी जैन-परम्परा को ध्यान में रखते हुए यह प्रतिपादन भी किया है कि सर्वसंन्यास (मन, वचन, काय की समस्त प्रवृत्तियों का त्याग) ही योग का लक्षण है। हरिभद्र द्वारा निरूपित उक्त योग-लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि आ० हरिभद्र की दृष्टि पातञ्जलयोग में प्रतिपादित चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग तथा जैन-परम्परा में समर्थित अयोग व सर्वसंन्यास रूप योग, दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत करने की रही है। चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग में सम्प्रज्ञातयोग और असम्प्रज्ञातयोग दोनों समाहित हैं। असम्प्रज्ञातयोग में सर्ववृत्तिनिरोध हो जाता है। आ० हरिभद्र के 'सर्वसंन्यासयोग' पद से भी यही अभिप्रेत है। उक्त तथ्यों से आ० हरिभद्र की समन्वयवादिता स्पष्ट झलकती है।

आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने जैन-परम्परा सम्मत रत्नत्रय को मोक्ष के हेतु रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः 'रत्नत्रय' का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसमें सभी धार्मिक व्यापार समाविष्ट हो जाते हैं।

उपा० यशोविजय ने स्वसिद्धान्त सम्मत योग-लक्षण का पूर्णतः समर्थन किया है। उन्होंने हरिभद्रसूरि द्वारा निरूपित योग लक्षण को तो स्वीकार किया, साथ ही उसे और अधिक विस्तृत करते हुए समिति, गुप्ति आदि धर्मव्यापारों को भी योग माना। इतना ही नहीं उन्होंने पतञ्जलि द्वारा प्ररूपित योग-लक्षण पर भी अपनी तार्किक दृष्टि डाली तथा उस पर समुचित उहापोह किया। यह उनका विशेष योगदान कहा जाएगा। उन्होंने अपने द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका नामक ग्रन्थ में पतञ्जलि के योग-लक्षण पर विचार करते हुए उसमें दोष दिखाने का प्रयास किया है। पातञ्जलयोगसूत्र पर वृत्ति लिखते समय उन्होंनें 'चित्तवृत्ति का निरोध योग है' इस लक्षण को अधूरा बताया है। उनके अनुसार क्लिष्ट चित्तवृतियों के निरोध को योग कहा जाना चाहिये। योगदर्शन सांख्यमतानुरूप पुरुष को कूटस्थ नित्य मानता है। कूटस्थ नित्य पुरुष में चित्तवृत्तिनिरोध रूप परिणमन कैसे सम्भव हो सकता है, इस तथ्य पर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया है।

प्रमुख जैनाचार्यों द्वारा निरूपित उक्त योग-लक्षण यद्यपि जैनेतर परम्पराओं से भिन्न प्रतीत होते हैं परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर उनमें ऐक्य दिखाई देता है।

योग : भेद

महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग के दो भेद किए हैं - सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। दूसरे शब्दों में इन्हें क्रम से सबीज (सालम्बन) और निर्बीज (निरालम्बन) योग/समाधि भी कहा गया है।

चित्त की एकाग्रावस्था में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है और मन को समाहित करने के लिए किसी न किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है। चित्त की उक्त अवस्था सम्प्रज्ञातयोग/समाधि कहलाती है। सम्प्रज्ञातयोग/समाधि के चार भेद किए गए हैं - वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

जब चित्त की समस्त वृत्तियों का पूर्णरूपेण निरोध हो जाता है तब चित्त की उस निरुद्धावस्था को असम्प्रज्ञातयोग/समाधि कहा जाता है। उसमें साधक को ध्याता, ध्यान, ध्येय रूप त्रिपुटी का भान नहीं होता और कुछ ज्ञेय भी नहीं रहता। चित्त की यह अवस्था शांत एवं संस्काररहित होती है। असम्प्रज्ञातयोग के भी भवंप्रत्यय और उपायप्रत्यय दो भेद बताए गए हैं। भवप्रत्यय तो पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त होता है अतः उपायप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञातयोग (समाधि) ही वास्तविक योग (समाधि) है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि उसकी प्राप्ति के उपाय हैं। पतञ्जलि द्वारा निरूपित उक्त योग-भेद आध्यात्मिक विकास की क्रमिकता को सूचित करते हैं।

आ० हरिभद्र ने भी आध्यात्मिक योग-साधना के क्रमिक सोपानों को संकेतित करने के लिए योग के विभिन्न भेद किए हैं। योगदृष्टिसमुच्चय में निश्चय एवं व्यवहार नय की दृष्टि से योग को दो भागों में तथा साधक द्वारा किए जाने वाले धार्मिकव्यापारों के आधार पर इच्छा, शास्त्र एवं सामर्थ्य आदि तीन भागों में विभक्त किया गया है। योगबिन्दु में योग के अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय तथा योगविंशिका में स्थान, उर्ण, वर्ण, आलम्बन और अनालम्बन आदि पांच भेद किए गए हैं। योग-मार्ग में साधक की उन्नति के आधार पर स्थानादि पांच योग-भेदों के अनेक भेद-प्रभेदों का निरूपण भी हुआ है। स्थानादि पांच योग-भेदों का बाह्य एवं आभ्यन्तर व्यापार से सम्बन्ध बताने के लिए उनको कर्मयोग एवं ज्ञानयोग में भी विभाजित किया गया है।

योग-साधना का यथार्थ प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि से होता है। जब जीव पर से अनादिकालीन मिथ्यात्व का आवरण हट जाता है अर्थात् उसका ग्रन्थिभेद हो जाता है तब साधक मोक्ष-मार्ग की विकसित अवस्थाओं पर आरोहण करने में समर्थ होता है। इसीलिए आ० हरिभद्र ने इच्छादि त्रिविध, अध्यात्मादि पांच तथा स्थानादि पांच योग-भेदों को जैन-परम्परा के गुणस्थानक्रम से जोड़ने का प्रयास किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि इन साधनों का अभ्यास देशविरति, सर्वविरति अथवा उससे उच्च अवस्था वाला जीव ही कर सकता है। उन्होंने ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं का सम्बन्ध गुणस्थान की विभिन्न अवस्थाओं से करने का प्रयास भी किया है।

आ० हरिभद्र ने उक्त योग-भेदों की पतञ्जलिकृत योग-भेदों से तुलना करते हुए साम्य दर्शाने का प्रयत्न भी किया है। उन्होंने अध्यात्मादि पांच योग-भेदो में से प्रथम चार को पतञ्जलि के सम्प्रज्ञातयोग (समाधि) तथा अन्तिम भेद वृत्तिसंक्षय को असम्प्रज्ञातयोग (समाधि) के सदृश बताया है जबकि उपा० यशोविजय ने वृत्तिसंक्षय नामक अन्तिम योगभेद में ही सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों को समाविष्ट कर दिया है।

जैन-परम्परागत स्थानादि पांच योग-भेदों में 'स्थान' नामक प्रथम भेद यद्यपि पतञ्जलि के तृतीय योगांग 'आसन' के सदृश है तथापि अपेक्षाकृत अधिक व्यापक दृष्टिकोण रखता है। 'उर्ण' एवं 'वर्ण' पतञ्जलि के 'जप' के सदृश हैं। 'आलम्बन्' सप्तम योगांग 'ध्यान' से तथा 'अनालम्बन' आठवें योगांग समाधि से साम्य रखता है। जिस क्रम से इन स्थानादि योगों की सिद्धि होती है, तदनुरूप उनके भेद-प्रभेद करके आ०

हरिभद्र ने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उपा० यशोविजय ने उनका अनुकरण करते हुए उनके अभिमत को अधिक स्पष्ट रीति से समझाने का प्रयास किया है।

उक्त योग-भेदों के निरूपण से यह परिलक्षित होता है कि साधना की निम्नकोटि में ही बाह्य क्रियाकाण्ड कुछ महत्व रखते हैं। साधना की उच्च कोटि में ध्यान की उत्तरोत्तर अवस्था पल्लवित होती जाती है और समस्त क्रियाकाण्ड स्वतः छूट जाते हैं। योग-भेदों का विविध परिप्रेक्ष्यों में निरूपण कर आ० हरिभद्र ने यह संकेतित करने का प्रयास किया है कि भारतीय योग-साधना के सोपान विविध रूपों में वर्णित किए जा सकते हैं।

योग के अधिकारी

पातञ्जल एवं जैन दोनों परम्पराओं के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मभूमि एवं मनुष्य योनि में उत्पन्न होना अनिवार्य है। जहाँ पातञ्जलयोगसूत्र में स्पष्ट रूप से योग-साधना को सभी मनुष्यों का धर्म स्वीकार किया गया है वहाँ जैन-परम्परा भी जैनसिद्धान्त और उसकी साधना को सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से उपयोगी घोषित करती है। परन्तु वहाँ मोक्ष की प्राप्ति का अधिकार केवल भव्य जीव को ही प्रदान किया गया है, अभव्य जीवों को नहीं। वस्तुतः जैन-परम्परा में भव्यत्व और अभव्यत्व की कल्पना मनुष्य की स्वाभाविक योग्यता को देखकर ही की गई है। जैसे मूँग में कोई दाना ऐसा होता है जिसे 'कोरडु' कहते हैं। इस 'कोरडु' का ऐसा स्वभाव है कि चाहे कितना भी प्रयत्न कर लिया जाए परन्तु वह पकता नहीं है। इसीप्रकार जो अभव्यजीव होता है, उसमें मुक्ति होने योग्य परिणामों की सम्भावना नहीं होती। उक्त तथ्य जैन-परम्परा का मौलिक चिन्तन है, जो अन्य परम्पराओं से अपना वैशिष्ट्य व्यक्त करता है।

योगबिन्दु आदि ग्रन्थों में चरमावर्ती और अचरमावर्ती जीवों के रूप में योग के अधिकारियों एवं अनधिकारियों पर जो प्रकाश डाला गया है वह आ० हरिभद्र का अपना मौलिक चिन्तन है, जबकि वह जैन-परम्परा के चिरन्तन सिद्धान्तों पर ही आधारित है। सम्भवतः उक्त विभाजन द्वारा आ० हरिभद्र पाठकों को कर्मग्रन्थों के पारिभाषिक शब्दों जैसे – चरमपुद्गलावर्त आदि का ज्ञान और योग-साधना को प्राचीन जैनकर्म-सिद्धान्त की परम्परा से सम्बद्ध कराना चाहते थे।

आ० हरिभद्र ने चरमावर्ती जीवों के रूप में जो योगाधिकारियों के लक्षण बताए हैं उनसे मिलता-जुलता वर्णन व्यासभाष्य में भी देखने को मिलता है, जहाँ मोक्ष-मार्ग की चर्चा के श्रवण मात्र से शरीर में होने वाले रोमांच एवं अश्रुपात को योगाधिकारी का अनुमापक चिह्न बताया गया है। परन्तु जैन-परम्परा का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक मनोवैज्ञानिक एवं कर्मों की तरतमता पर आधारित है।

योगाधिकारियों के भेदों के विषय में पातञ्जलयोग एवं जैनयोग दोनों की दृष्टि समान है। साधना-क्रम में क्रमिक प्रगति व अपेक्षित तरतमता के आधार पर आ० हरिभद्र द्वारा अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि और चारित्री के भेद से किया गया अधिकारी-विभाजन पातञ्जलयोग के अधम, मध्यम एवं उत्तम - तीन श्रेणियों में किए गए विभाजन के अनुरूप है, जबकि उनके लक्षण एवं स्वरूप-वर्णन में जैन-परम्परा की मौलिकता सुरक्षित है।

योगी-भेद

योगी के विविध प्रकारों का निरूपण भी दोनों परम्पराओं में साधना-मार्ग में प्राप्त उपलब्धि के तारतम्य के आधार पर किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ० हरिभद्र ने पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित चतुर्विध योगियों के निरूपण से प्रभावित होकर ही अपने ग्रन्थों में चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आ० हरिभद्र ने योगियों की परिभाषा की जो संघटना की है वह

बिल्कुल नवीन है। केवल कुलयोगी की हरिभद्रीय अवधारणा पर पातञ्जलयोग सम्मत भवप्रत्यय योगी की अवधारणा का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

योगाधिकारी की प्राथमिक अनिवार्य योग्यता

योगाधिकारी की प्राथमिक व अनिवार्य योग्यता के सम्बन्ध में पतञ्जलि प्रायः मौन हैं। असम्प्रज्ञात-समाधि की चर्चा करते हुए उन्होंने केवल उपायप्रत्यय अधिकारी के लिए ही श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि गुण अपेक्षित बताए हैं जिनकी तुलना जैन-साधना-मार्ग के सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान) से सहज ही की जा सकती है।

अष्टांगयोग के अधिकारी कौन व्यक्ति हो सकते हैं, इसका उल्लेख पतञ्जलि ने कहीं नहीं किया। इसका कारण सम्भवतः सभी व्यक्तियों को समान रूप से योग का अधिकार प्रदान करने की मान्यता हो।

योगाधिकारी की प्राथमिक व अनिवार्य योग्यता जैन-परम्परा में सर्वप्रथम आ० हरिभद्र को अनुभव हुई। उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में इसे भिन्न-भिन्न शब्दों में समझाने का प्रयास किया है। आ० शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव चूँकि सामान्य व्यक्ति के लिए न होकर उच्चस्तरीय साधक अर्थात् मुनि के लिए है इसलिए उन्हें इसका वर्णन करने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। आ० हेमचन्द्र एवं उपा० यशोविजय ने उसकी उपयोगिता को समझकर अपने पूर्ववर्ती आ० हरिभद्र का ही अनुसरण किया है। अन्तर इतना है कि आ० हेमचन्द्र ने उसे 'मार्गानुसारी के गुण' नाम से वर्णित किया है।

पूर्वभूमिका के रूप में आ० हरिभद्र की 'पूर्वसेवा' की कल्पना बहुत मार्मिक है। 'पूर्वसेवा' में गुरु-देवादि पूज्य वर्ग की सेवा, दीनजनों को दान, सदाचार, तप और मोक्ष के प्रति अद्वेष-भाव आदि लौकिकधर्म समाविष्ट हैं।[1]

योग के साधक के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा केवल योग के सैद्धान्तिक पक्ष का ज्ञान होता है। योग के व्यावहारिकपक्ष को जानने के लिए योग्य गुरु का सान्निध्य अपेक्षित है। महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से गुरु के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा, परन्तु गुरु के रूप में ईश्वर की सत्ता को अवश्य स्वीकार किया है।[2]

आ० हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र एवं उपा० यशोविजय ने भी योग-मार्ग के शिक्षक के रूप में गुरु की आवश्यकता को अनुभव किया है। परन्तु आ० हरिभद्र ने केवल धर्म-गुरु को गुरु न मानकर सभी वृद्ध-जनों के प्रति गुरु-भाव रखने का आदेश दिया है। वृद्धजनों में माता-पिता, कलाचार्य, ज्ञातिजन, विप्र, वृद्ध आदि सभी को समाविष्ट किया है, क्योंकि ये सभी किसी न किसी रूप में व्यक्ति का मार्ग-निर्देशन करते हैं।

देव-पूजन की चर्चा करते हुए किसी एक देव विशेष का नामोल्लेख न करके आ० हरिभद्र ने सभी देवों के प्रति समान आदर रखने का उपदेश देकर[3] भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में देवों के नाम पर होने वाले मतभेद को दूर करने का सर्वसमन्वय सूचक मार्ग प्रशस्त किया है।

साधक में त्याग की भावना उत्पन्न करते हुए 'दान' को महत्व दिया जाता है। परन्तु आ० हरिभद्र ने पुण्य के लोभ में, अपने आश्रितों की उपेक्षा करके बिना सोचे-विचारे दान देने को अनुपयुक्त बताया है।

व्रतों के सम्बन्ध में जैनेतर-परम्परा में प्रचलित कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रतों को भी योग की पूर्वभूमिका में स्थान दिया है। अपने इस उदार दृष्टिकोण से उन्होंने योग को सम्यग्दर्शन की संकीर्ण परिभाषा से ऊपर

---

१. योगबिन्दु, १०६
२. पातञ्जलयोगसूत्र, १/२६
३. योगबिन्दु,११७, ११८

उठाने का प्रयास तो किया ही है, साथ ही यह दर्शाने का भी प्रयास किया है कि जैनेतर साधना द्वारा भी सिद्धता प्राप्त हो सकती है।

भावों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता के आधार पर भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों का वर्णन भी आ० हरिभद्रकी अपनी विशेषता है। उन्होंने योग-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों का जिस विस्तार से निरूपण किया है, वैसा अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता और न ही वे किसी सम्प्रदाय-विशेष से बन्धे हुए प्रतीत होते हैं।

योग-साधक के लिए आहार का निर्देश करते समय आ० हरिभद्र ने जैन और जैनेतर, दोनों परम्पराओं में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। जैनेतर-परम्परा में वर्णित 'अल्पाहार' जैन-परम्परागत सर्वसम्पत्करी भिक्षा के रूप में प्ररूपित किया गया है।

योग-मार्ग में प्रवेश करने वाले साधक को उपर्युक्त समस्त बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। तभी वह योग रूपी प्रासाद के उच्च सोपानों पर चढ़ने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है।

जैनयोग और आचार

योग का आधार आचार है इसलिए पातञ्जलयोग एवं जैनयोग, दोनों परम्पराओं में आचार को प्रमुखता प्रदान की गई है। चूँकि आचार और विचार एक दूसरे के पूरक हैं इसलिए दोनों परम्पराओं में आचार को प्रधानता देने के साथ-साथ विविध दार्शनिक विषयों का आचार के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

योग का अंतिम लक्ष्य मोक्ष दोनों परम्पराओं में समान रूप से स्वीकृत है। जैनदर्शन में जिसे 'मोक्ष' कहा गया है वही पातञ्जलयोगसूत्र में 'कैवल्य' के नाम से वर्णित है।

पातञ्जलयोगसूत्र में कैवल्य-प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य, क्रियायोग (तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) तथा अष्टांगयोग का विधान प्रस्तुत है जबकि जैन-परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का विवेचन है। इन तीनों में ही समस्त जैन आचार व तात्त्विक विवेचना समाहित है।

जैन-परम्परा सम्मत सम्यग्दर्शन पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित विवेकख्याति के समकक्ष प्रतीत होता है। जैन-परम्परा के जीवाजीवादि तत्त्वों के स्थान पर पातञ्जलयोगसूत्र में व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। पतञ्जलि के योगसूत्र में चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों में वर्णित ईश्वर-प्रणिधान एवं स्वाध्याय की चर्चा में सम्यग्दर्शन की ही भावना बीज रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देती है।

सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्षी भाव मिथ्यात्व का स्वरूप पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित 'अविद्या' के स्वरूप के समकक्ष है। जैन-परम्परानुसार मिथ्यात्व के घोर अंधकार में डूबे सभी व्यक्ति सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते। इस मान्यता के विरुद्ध पातञ्जलयोग में सभी व्यक्ति समान रूप से योग-साधना के अधिकारी माने गए हैं।

जैन-परम्परा में सम्यग्ज्ञान को मोक्ष का द्वितीय साधन माना गया है जबकि पातञ्जलयोगसूत्र में कैवल्य प्राप्ति हेतु निर्दिष्ट उपायों में ज्ञान का स्पष्टतः कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। वहाँ सम्प्रज्ञातसमाधि के सिद्ध होने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय की जो बात कही गई है वह जैन-परम्परा के सम्यग्ज्ञान से भिन्न है। जैन-परम्परा का जो केवलज्ञान (सर्वज्ञता की स्थिति) है उसकी तुलना पातञ्जलयोग की विवेकख्याति से की जा सकती है। पातञ्जलयोगसूत्र में विवेकज्ञान से पूर्व प्रातिभज्ञान अपर नाम 'तारकज्ञान' का जो उल्लेख हुआ है, उसे जैन-परम्परा के केवलज्ञान से पूर्ववर्ती स्वानुभूति या स्वसंवेदन ज्ञान के समकक्ष माना जा सकता है। जैन-परम्परा में भी परवर्ती काल में इस स्वसंवेदन ज्ञान को 'प्रातिभज्ञान' की संज्ञा दी

जाने लगी। इसप्रकार पातञ्जलयोगसम्मत 'तारकज्ञान' और जैन-परम्परा सम्मत प्रातिभज्ञान की एकता संगत होती है।

जैनदर्शन में वर्णित वस्तु की उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिगुणात्मकता का संकेत पतञ्जलि-प्रणीत योगसूत्र में धर्म और धर्मी, आकृति और द्रव्य नाम से प्राप्त होता है।

सम्यक्चारित्र जैन मोक्ष-मार्ग का अन्तिम व प्रमुख साधन है। जैनमतानुसार बिना आचरण (सम्यक्चारित्र) के ज्ञान परिपूर्ण नहीं होता, उसका कोई महत्व नहीं होता। ज्ञान के विकास के लिए आचरण आवश्यक है और आचरण के लिए ज्ञान। ज्ञान और क्रिया की संयुक्त साधना से ही साध्य की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

पातञ्जलयोगसूत्र में भी अष्टांगयोग के अन्तर्गत सर्वप्रथम यम-नियम को चारित्र-निर्माण के साधन के रूप में चित्रित कर आचार-चारित्र को महत्ता प्रदान की गई है।

जैन-परम्परागत चारित्र-वर्णन पतञ्जलि के यम-नियम से अधिक व्यापक है। वहाँ गृहस्थ एवं साधु के लिए पृथक्-पृथक् आचार का विधान किया गया है। इनमें निम्न भूमिका गृहस्थ की है। उससे ऊपर की भूमिका मुनि की है। गृहस्थ जहाँ व्रतों का आंशिक रूप से पालन करता हुआ व्यावहारिक जीवन यापन में आध्यात्मिक समाधान की आकांक्षा करता है वहाँ मुनि व्रतों का सर्वतः पालन करते हुए पूर्ण त्याग-भाव से आध्यात्मिक विकास करता है। आ० हेमचन्द्र ने पातञ्जलयोगसूत्र में वर्णित यम-नियमादि अंगों को गृहस्थधर्म और साधुधर्म कहा है। जैन श्रावक अपने आचार-विचार के परिपालन से साधुत्व तक पहुँच सकता है और साध्वाचार के सम्यक् परिपालन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। चारित्र की दृढ़ता एवं सम्पन्नता के लिए जैनदर्शन में विभिन्न व्रतों, क्रियाओं, विधियों, नियमों-उपनियमों का विधान किया गया है, जिनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि पांच मूलभूत व्रतों को विशेष स्थान प्राप्त है। ये ही पांच व्रत योगदर्शन में पांच यमों के रूप में वर्णित हैं। इन पांच यमों की सार्वभौमिकता तथा अविच्छिन्नता जैनयोग में प्रयुक्त पांच महाव्रतों का ही रूप है। दोनों दर्शनों में उपर्युक्त व्रतों के सम्बन्ध में यह भिन्नता है कि जैनदर्शन के व्रत अपेक्षाकृत अधिक कठोर हैं। जैन-परम्परा में नियमों के अन्तर्गत स्व के अनुशासन के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल की मर्यादा सहित गुणव्रत, शिक्षाव्रत आदि धारण करने का निर्देश प्राप्त होता है। गुणव्रतों का विधान अणुव्रतों की रक्षा एवं विकास के निमित्त हुआ है। ये सब पतञ्जलि के द्वितीय योगांग नियम के ही प्रतिरूप हैं। इसीलिए उपा० यशोविजय ने पतञ्जलि के नियमों की जैन-परम्परा सम्मत व्याख्या भी प्रस्तुत की है।

जैन-परम्परा में वर्णित दश धर्मों में संयम और तपधर्म पातञ्जलयोग में स्वीकृत प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि से साम्य रखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैनाचार अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। आचार का इतना सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

आ० शुभचन्द्र ने प्राचीन जैनेतर योग-परम्परा में प्रचलित अष्टांगयोग एवं षडंगयोग का उल्लेख तो किया है, परन्तु विवेचन करते समय यम-नियम को छोड़कर शेष छः अंगों को ही ग्रहण किया है।

योग के तृतीय अंग 'आसन' का सामान्य सम्बन्ध शारीरिक साधना से है। शरीर को स्थिर करने से मानसिक स्थिरता लाने में सरलता होती है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि योगांगों के सुचारू रूप से अभ्यास के लिए भी शरीर की स्थिरता व नीरोगता अनिवार्य है। इसलिए पातञ्जल एवं जैन दोनों योग-परम्पराओं में 'आसन' को स्थान दिया गया है। जैनयोग-परम्परा में 'आसन' के लिए 'स्थान' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो आसन की अपेक्षा अधिक व्यापक है। जैनग्रन्थों में चित्त की स्थिरता हेतु किस आसन का अभ्यास किया जाए, किस का नहीं, ऐसा कोई नियम प्रतिपादित नहीं किया गया। इसलिए आ०

शुभचन्द्र एवं आ० हेमचन्द्र ने जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन स्थिर होता हो, उसी आसन का उपयोग योग-साधना में अपेक्षित बताया है। आ० शुभचन्द्र, हेमचन्द्र एवं उपा० यशोविजय ने कुछ आसनों के नामों का उल्लेख भी किया है जो उन पर हठयोग के प्रभाव को प्रदर्शित करता है।

जैनयोग में प्राणायाम से श्वास-प्रश्वास का निरोध अर्थ अभिप्रेत नहीं है। वहाँ प्राणायाम से भाव-प्राणायाम अर्थ लिया गया है। आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने जहाँ प्राणायाम का मोक्ष-साधना के रूप में निषेध किया है वहाँ ध्यान की सिद्धि तथा मन को एकाग्र करने के लिए उसकी आवश्यकता भी अनुभव की है। उपा० यशोविजय ने तो स्पष्टतः प्राणायाम का निषेध किया है। उनके अनुसार प्राणायाम से न तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है और न ही चित्त का निरोध हो सकता है क्योंकि हठपूर्वक प्राण का निरोध करने से योग-साधना में विघ्न उत्पन्न होता है।

'प्रत्याहार' जैनपरम्परागत प्रतिसंलीनता तप के समकक्ष है। पातञ्जल एवं जैन, दोनों परम्पराओं में इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का निरोध कर उसे अन्तर्मुखी करने पर जोर दिया गया है। परन्तु उपा० यशोविजय ने पतञ्जलि द्वारा इन्द्रियों के निरोध को उनकी परमावश्यकता का उपाय स्वीकार करने पर आक्षेप किया है।

साधना का क्रम जो लुप्त हो गया था, उसका चिन्तन कर आ० शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने धारणाओं की कल्पना की। सालम्बन ध्यान पर धारणा का चिन्तन किया जाता है। इन धारणाओं का चिन्तन वैदिक-परम्परा[१] एवं हठयोग-परम्परा[२] से प्रभावित प्रतीत होता है। प्राचीन जैन-परम्परा में उल्लिखित "एकाग्रमनः सन्निवेशना" शब्द धारणा से पूर्ण साम्य रखता है।

जैनयोग में ध्यान का अपना विशिष्ट स्थान है। वहाँ ध्यान का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि वह अपने स्वरूप में ही धारणा और समाधि के स्वरूप को समाविष्ट कर लेता है पातञ्जलयोगसूत्र में धारणा और समाधि से कुछ सीमा तक भिन्न और स्वतन्त्र रूप से ध्यान का विवेचन हुआ है। आ० शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने जैन-परम्परा के ध्यानों का वर्णन तो किया ही है साथ ही हठयोग-परम्परा के पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत ध्यानों का भी जैनमतानुसार विवेचन किया है।

ध्यान की ही उत्कृष्ट स्थिति समाधि है। जैनदर्शन में पातञ्जलयोगसूत्र की भांति पृथक् रूप से समाधि का योगांग के रूप में चित्रण अधिक नहीं मिलता। जैनदर्शन में समाधि को ध्यान रूप ही माना गया है।

आ० हरिभद्रादि सभी प्रमुख जैनाचार्यों ने 'पृथक्त्ववितर्क-सविचार' और 'एकत्ववितर्क-अविचार' नामक दो शुक्लध्यानों को पातञ्जलयोगसम्मत सम्प्रज्ञातसमाधि तथा 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती' और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक दो शुक्लध्यानों को योग की असम्प्रज्ञातसमाधि के सदृश बताकर दोनों परम्पराओं में समन्वयात्मक दृष्टिकोण दर्शाने का प्रयास किया है।

आध्यात्मिक विकासक्रम

आत्मिक विकास की पूर्णता जीव को सहसा ही उपलब्ध नहीं होती। इसके लिए उसे निरन्तर प्रयास करना पड़ता है। विकास के क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्भावित साधनों को सोपान परम्परा की तरह प्राप्त करता हुआ जीव अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। आध्यात्मिक विकास के क्रम में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की सभी अवस्थाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में इस आध्यात्मिक विकास का

---

१. शाण्डिल्योपनिषद्,(उपनिषद् संग्रह), १/७०
२. गोरक्षसंहिता, २/५३-५६

वर्णन क्षिप्तादि पांच भूमिकाओं के रूप में हुआ है, जबकि जैन आगमिक परम्परा में आध्यात्मिक विकासक्रम का वर्णन १४ गुणस्थानों के माध्यम से किया गया है। कुछ स्वतन्त्र चिन्तकों ने त्रिविध आत्मा अथवा त्रिविध उपयोग - इन तीन सोपानों में ही आध्यात्मिक विकास का क्रम निरूपित किया है। आ० हरिभद्र ने उक्त विविध निरूपणों से पृथक् स्वतन्त्र रूप से आध्यात्मिक विकास के क्रमिक सोपानों का निरूपण करने का प्रयास किया है।

आ० हरिभद्र ने अविकास अवस्था को ओघदृष्टि तथा विकास की अवस्थाओं को सद्दृष्टि के नाम से अभिहित कर क्रमानुसार सद्दृष्टि के आठ भेद किये हैं। आठ योगदृष्टियों में से प्रथम चार दृष्टियाँ यद्यपि विकासशील हैं तथापि उनमें अज्ञान व मोह का प्राबल्य रहता है। पश्चात्वर्ती चार दृष्टियों में ज्ञान तथा चारित्र की प्रबलता होती है क्योंकि अज्ञान तथा मोह क्षीण हो जाते हैं। इसप्रकार प्रकारान्तर से यह गुणस्थानों का ही निरूपण है।

आ० हरिभद्र द्वारा अध्यात्मादि एवं स्थानादि पांच योगभेदों को आध्यात्मिक विकासक्रम के सोपान रूप में स्वीकार करने पर पतञ्जलि के आठ योगांग भी आध्यात्मिक विकास के क्रमिक सोपानों में ही गिने जाने चाहिये। क्योंकि वहाँ भी एक के सिद्ध होने पर ही दूसरे की उपयोगिता दर्शायी गई है। सम्भवतः यही कारण है कि आ० हरिभद्र ने आठ योगदृष्टियों की तुलना पतञ्जलि के आठ योगांगों से की है।

आ० हरिभद्र ने अपने योगग्रन्थों में सम्यक्त्व को उच्च स्थान दिया है। लोक-व्यवहार के धर्म-व्यापारों का आचरण करने से साधक का दृष्टिकोण आत्मोन्मुख बन जाता है। इसीलिए उन्होंने दृष्टि के परिमार्जन के चार स्तर बनाए हैं। उसके पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त होता है। प्रथम दृष्टि में जीव यमों के प्रति केवल निष्ठावान बनता है उसका पालन नहीं करता। धीरे-धीरे वह उसका स्थूल दृष्टि से पालन करना प्रारम्भ करता है। सूक्ष्म दृष्टि से यमों का पालन 'प्रत्याहार' नामक पांचवें योगांग में ही सधता है। इसीप्रकार प्रथम दृष्टि में 'यम' तो सधता है पर 'अणुव्रत' नहीं। वस्तुतः पतञ्जलि का अष्टांगयोग ऐसे व्यक्तियों के लिए निर्धारित प्रक्रिया है जिस ने कभी योग-साधना नहीं की।

चूंकि योग की प्रारम्भिक अवस्था में जीव यम-नियमों के प्रति निष्ठावान बनता है इसलिए पतञ्जलि ने यम-नियम को योग की आधारभूमि के रूप में प्रस्तुत किया है।

यदि पतञ्जलि के यम और जैनदर्शन के व्रत को सदृश माना जाए तो यह अनुपयुक्त होगा क्योंकि दोनों में बहुत अन्तर है। जैनदर्शन के व्रत सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ श्रद्धान से युक्त होते हैं। साथ ही उनके व्रतों का पालन एक सामान्य व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। यही नहीं, असम्भव भी है। प्रारम्भ में ही कोई व्यक्ति जैनदर्शन सम्मत व्रतों का पालन करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिए आ० हरिभद्र ने उक्त व्रतों के पालन से पूर्व 'पूर्वसेवा' का निर्धारण किया है और अपने अन्य योग-ग्रन्थों में पृथक्-पृथक् नामों से उल्लिखित कर उसकी आवश्यकता पर बल दिया है। उक्त पूर्वसेवा पतञ्जलि के यम-नियम से सादृश्य रखती है। यही कारण है कि आ० हरिभद्र ने पतञ्जलि के योगांगों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर उनकी तुलना योगदृष्टियों से की है।

आ० शुभचन्द्र ने प्राचीन जैन आगमों तथा पूर्ववर्ती आगमोत्तर ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए आध्यात्मिक विकास की गुणस्थान-परम्परा को ही स्वीकार किया है तथा आगमोत्तरवर्ती स्वतन्त्र चिन्तकों द्वारा निरूपित त्रिविध आत्मा तथा त्रिविध उपयोग का भी वर्णन किया है।

आ० हेमचन्द्र ने प्राचीन जैनागमों की गुणस्थान-परम्परा का ही अनुसरण किया है और आगमोत्तरवर्ती त्रिविध आत्मा की व्याख्या भी प्रस्तुत की है इसके अतिरिक्त स्वानुभव के आधार पर मन की विक्षिप्त,

यातायात, श्लिष्ट और सुलीन, इन चार अवस्थाओं का निरूपण भी किया है जो उनकी निजी व मौलिक कल्पना है।

उपा० यशोविजय ने भी गुणस्थान-परम्परा का ही आश्रय ग्रहण किया है तथा आगमोत्तरवर्ती त्रिविध आत्माओं का चित्रण भी प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने आ० हरिभद्र का अनुकरण कर उनके ग्रन्थों में वर्णित आध्यात्मिक विकास के विविध वर्गीकरण को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है। उनकी यह विशेषता है कि उन्होंने पातञ्जलयोग-परम्परा में वर्णित चित्त की क्षिप्तादि पांच भूमिओं का जैन-परम्परानुसार वर्णन कर दोनों में साम्य दर्शाया है।

योग-साधना के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ यद्यपि योग-साधना में विघ्न होती हैं तथापि साधक के आत्मविश्वास की वृद्धि में भी सहायक होती हैं। इसीलिए पातञ्जलयोग एवं जैनयोग-परम्परा में योगज-सिद्धियों का वर्णन किया गया है। वर्णन-शैली में भिन्नता होते हुए भी मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है। दोनों परम्पराओं में साधक को सिद्धियों के प्रति अनासक्त भाव रखते हुए योग-मार्ग में आगे बढ़ने का उपदेश दिया गया है, तभी साधक अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

❑

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थ

१. **अकलंकग्रन्थत्रय** – अकलंकदेव, (संपा०) महेन्द्र कुमार, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, वि० सं० १९९६
२. **अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड** – कवि राजमल, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि० सं० १९९३
३. **अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड** – राजमल, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९३७
४. **अध्यात्मकल्पद्रुम** – मुनि सुन्दरसूरि, निर्णय सागर मुद्रणालय, बंबई, सन् १९६६
५. **अध्यात्मकल्पद्रुम** – मुनिसुन्दरसूरि, श्रीवर्द्धमान सत्यनीति हर्षसूरि जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद,१९३८
६. **अध्यात्म तरंगिणी** – सोमदेव, अहिंसा मन्दिर, दिल्ली, १९६०
७. **अध्यात्ममत परीक्षा** – यशोविजय, श्री आदीश्वर जैन टैम्पल ट्रस्ट मुंबई, १९८४
८. **अध्यात्मरहस्य** – पं० आशाधर, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् १९५७
९. **अध्यात्मसार** – यशोविजय, श्रीनिर्ग्रन्थ साहित्य-प्रकाशन संघ, दिल्ली, १९७६
१०. **अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, ज्ञानसारप्रकरणरत्नत्रयी** – यशोविजय, केशरबाई ज्ञानभंडार, जाम नगर, वि० सं० १९९४
११. **अध्यात्मसार** – यशोविजय, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, भावनगर, वि० सं० १९९४
१२. **अध्यात्मोपनिषद्** – यशोविजय, केशरबाई ज्ञानभण्डार, जाम नगर, वि० सं० १९९४
१३. **अनगारधर्मामृत** – आशाधर, (संपा०) कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७७
१४. **अनुत्तरौपपातिकदशा** – आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१
१५. **अनुयोगद्वारसूत्र** – (अनु०) आत्माराम, लाला मुरारीलाल चरणदास, पटियाला, १९३१
१६. **अनुयोगद्वारसूत्र** – आगमोदय समिति, बम्बई, वि० सं० १९२४
१७. **अनुयोगद्वारटीका** – हरिभद्र, श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वि०सं०१९२८
१८. **अनुयोगद्वारटीका** – मलधारगच्छीय हेमचन्द्र, आगमोदय समिति, बम्बई, ई० १९२४
१९. **अनुयोगद्वारचूर्णि** – जिनदासगणि महत्तर, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वि० सं० १९२८
२०. **अनेकान्तजयपताका** – हरिभद्र, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, १९४०
२१. **अनेकान्तव्यवस्था प्रकरण** – यशोविजय, जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, राजनगर, वि० सं० १९९९
२२. **अभिधर्मकोश** – वसुबन्धु, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, वि० सं० १९८८
२३. **अभिधर्मकोशम् (स्वोपज्ञ भाष्य सहित)** – वसुबन्धु, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९७१
२४. **अभिधानचिन्तामणिकोश** – हेमचन्द्र, श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था, १९४९
२५. **अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १-७)** – विजयराजेन्द्रसूरि, श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, रतलाम, १९६८
२६. **अमितगतिश्रावकाचार** – अमितगति, अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७९
२७. **अष्टकप्रकरण** – हरिभद्र, जैनग्रन्थ प्रकाशक समिति, राजनगर, १९३७

२८. **अष्टपाहुड़** – कुन्दकुन्दाचार्य, अनन्तकीर्तिमाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५३
२९. **अष्टसहस्री** – विद्यानन्द, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५
३०. **अष्टसहस्त्रीतात्पर्यविवरणम्** – यशोविजय, जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, भावनगर, ई० १९३७
३१. **आदिनाथस्तोत्र** – जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बंबई ।
३२. **आदिपुराण** – जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१
३३. **आचारसार** – वीरनन्दि सैद्धान्तिक चक्रवर्ती, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७४
३४. **आचारांगसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय श्रुतस्कन्ध)** – सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, मुम्बई, वि० सं० १९३५
३५. **आचारांगसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय श्रुतस्कन्ध)** – आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२
३६. **आचारांगसूत्रम्** – आगमोदय समिति, गोपी पुरा, सूरत, १९५७
३७. **आचारांगसूत्रं सूत्रकृताङ्गसूत्रं च (श्री भद्रबाहुस्वामीकृत निर्युक्ति एवं शीलांकाचार्यकृत टीका सहित)** – भद्रबाहु, मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलॉजिक ट्रस्ट, दिल्ली, १९७८
३८. **आचारांगचूर्णि** – जिनदास गणि, श्री ऋषभदेव केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
३९. **आत्मानुशासन** – गुणभद्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७३
४०. **आत्मानुशासन** – गुणभद्र, (संपा०) फूलचन्द शास्त्री, गणेशवर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९८३
४१. **आप्तपरीक्षा** – आ० विद्यानन्दि, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, ई० १९४९
४२. **आयारो** – (संपा०) आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, १९७४
४३. **आराधनासार** – देवसेन, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७३
४४. **आवश्यकचूर्णि** – श्री आगमोदय प्रकाशन समिति, १९१७
४५. **आवश्यकनिर्युक्ति** – भद्रबाहु, आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१७
४६. **आवश्यकनिर्युक्ति वृत्ति** – हरिभद्र, आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१७
४७. **आवश्यकवृत्ति** – हरिभद्र, देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, सूरत, १९७६
४८. **आवश्यकसूत्र** – (संपा०) महासती सुप्रभा, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५
४९. **आवश्यकसूत्र (मलयगिरि टीका सहित)** – आगमोदय समिति, बम्बई, १९२८
५०. **आवश्यकसूत्र** – (व्या०) आत्माराम, जसवंत राय जैनी, लाहौर, १९०५
५१. **आवश्यकसूत्रवृत्ति** – मलयगिरि, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत, १९३६
५२. **आर्षभीयचरित्र महाकाव्यम्, विजयोल्लास महाकाव्यम् तथा सिद्धसहस्त्रनाम कोशः** – यशोविजय, यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, बम्बई, १९७६
५३. **इष्टोपदेश** – देवनन्दि (अपरनाम पूज्यपाद), परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९५४
५४. **उत्तराध्ययनसूत्र (बृहद्वृत्ति)** – शान्त्याचार्य, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९१६–१७
५५. **उत्तराध्ययन** – (अनु०) आत्मारामजी महाराज, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९४२
५६. **उत्तराध्ययन** – (संपा०) राजेन्द्रमुनि शास्त्री, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१
५७. **उपदेशपद** – हरिभद्र, श्रीमन्मुक्तिकमल जैन मोहन माला, बड़ौदा, वि० सं० १९७६
५८. **उपदेश रहस्य** – यशोविजय, मुनि श्रीचन्द्रसेखरजी कमल प्रकाशन, अहमदाबाद वि० सं० २०२३
५९. **उपनिषत्संग्रह** – (संपा०) जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८०
६०. **उपमितिभवप्रपंचकथा (भाग १, २)** – सिद्धर्षि, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९१८, १९२०

६१. **उपासकदशांगसूत्र** – (संपा०) मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०
६२. **उपासकदशांगम् (अभयदेवाचार्य विहित विवरण सहित)** – आगमोदय समिति, मेहसाना, १९२०
६३. **उपासकदशांगसूत्रम्** – (अनु०) आत्माराम, आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६४
६४. **उपासकाध्ययन** – सोमदेव सूरि, (संपा०) कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६४
६५. **ऋग्वेद** – श्री राम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६२
६६. **ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशिका (स्वोपज्ञविवरण सहित)** – यशोविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९८४
६७. **औपपातिकसूत्र** – (संपा०) छगनलाल शास्त्री, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२
६८. **कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह** – कैलाशचन्द्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९६०
६९. **कुमारपालचरित्रसंग्रह** – जिनविजय मुनि, सिंघी जैन शास्त्र विद्यापीठ, बम्बई, १९५६
७०. **कर्मग्रन्थ** – देवेन्द्रसूरि, श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन धार्मिक शिक्षा समिति, बड़ौत।
७१. **कर्मग्रन्थ (भाग १-६)** – देवेन्द्रसूरि, (संपा०) सुखलाल, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, १९१८ – २२
७२. **कर्मप्रकृति** – नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, (संपा०) हीरालाल शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६४
७३. **कर्मप्रकृतिटीका** – यशोविजय, मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर, गुजरात, १९३७
७४. **कल्पसूत्र** – भद्रबाहु, (संपा०) मुनि देवेन्द्र कुमार, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, १९८५
७५. **कषायपाहुड (जयधवला टीका सहित)** – गुणधर, जैन संघ, मथुरा, १९४४
७६. **कहावली** – भद्रेश्वर, (अमुद्रित), पाटन जैन ग्रन्थ भण्डार, पाटन
७७. **काव्यानुशासन** – हेमचन्द्र, (संपा०) पं० शिवदत्त शर्मा एवं काशीनाथ पाण्डुरंग, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, १९८६
७८. **कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (शुभचन्द्र कृत टीका सहित)** – स्वामि कार्त्तिकेय, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, वि० सं० २०१६
७९. **कुमारपालचरितसंग्रह** – (संपा०) मुनि जिनविजय, सिंघी जैन शास्त्र विद्यापीठ, बम्बई, १९५६
८०. **कुमारपाल प्रतिबोध** – सोमप्रभसूरि, (संपा०) मुनि जिनविजय, सैन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा, १९२०
८१. **कुवलयमालाकहा (भाग - १, २)** – उद्योतनसूरि, (संपा०) आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५९, १९७०
८२. **खंडनखंडखाद्य** – यशोविजय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६६
८३. **गणधरवाद** – जिनभद्र गणि, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान एवं सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९८२
८४. **गीता (श्रीमद्भगवद्गीता)** – गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०२८
८५. **गुणस्थानक्रमारोह** – रत्नशेखरसूरि, आगमतिलक ग्रन्थ सोसायटी, अहमदाबाद, वि० सं० १९७५
८६. **गुह्यसमाजतंत्र** – (संपा०) एस वाग्ची, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, बिहार, १९६५
८७. **गुर्वावली** – मुनि सुन्दरसूरि, श्री यशोविजय जैनग्रन्थमाला, वि० सं० २४३७
८८. **गुरुतत्त्वविनिश्चय** – यशोविजय, जैन साहित्य विकास मण्डल, १९८५
८९. **गोम्मटसार (जीवकाण्ड)** – नेमिचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मंडल,बम्बई, १९२७
९०. **गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)** – नेमिचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२८
९१. **गोरक्षसंहिता** – (संपा०) चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान ख्वाजा, बरेली, १९८२
९२. **घेरण्डसंहिता** – (संपा०) चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा, बरेली, १९८१

६३. **चतुर्विंशतिप्रबंध** – राजशेखर, श्री फार्बस गुजराती सभा, बम्बई, १६३२
६४. **जम्बूस्वामीरास** – यशोविजय, (संपा०) रमणलाल शाह , सेठ नगीनभाई मंछुभाई जैन साहित्यनोद्धार फण्ड, सूरत, १६६१
६५. **जिनरत्नकोश (भाग १)** – हरिदामोदर बेलणकर, भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना, १६४४
६६. **जीवाजीवाभिगमसूत्र (भाग १, २)** – (संपा०) राजेन्द्रमुनि, श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १६८०
६७. **जीवाभिगम (मलयगिरिवृत्ति सहित)** – बम्बई, १६१६
६८. **तर्कभाषा** – यशोविजय, (संपा०) सुखलाल संघवी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १६३८
६९. **जैनयोगग्रन्थ-चतुष्टय** – आ० हरिभद्र, (संपा०) छगनलाल शास्त्री, मुनि हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, १६८२
१००. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १-४)** – क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १६८२
१०१. **जैनस्तोत्रसन्दोह** – चतुरविजयमुनि, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, १६३२
१०२. **ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र** – (संपा०) युवाचार्य मधुकर मुनि, श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १६८१
१०३. **ज्ञानबिन्दुप्रकरण** – यशोविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला कार्यालय, अहमदाबाद, १६४२
१०४. **ज्ञानसार** – पद्म सिंह, (व्या०) त्रिलोकचन्द, दिगम्बर जैन पुस्तकालय कापडिया भवन, सूरत, वी० नि० सं० २४७०
१०५. **ज्ञानसार** – मुनि पद्मनन्दि, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत, वी०नि० सं० २६७०
१०६. **ज्ञानसार** – यशोविजय, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, सन् १६२२
१०७. **ज्ञानसार अष्टक** – यशोविजय, ओमप्रकाश जैन प्रताप मार्किट, दिल्ली, १६६८
१०८. **ज्ञानार्णव** – शुभचन्द्र (संपा०) बालचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १६७७
१०९. **ज्ञानार्णव** – शुभचन्द्र, श्री परमुश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास, वि० सं० २०३७
११०. **तत्त्वानुशासन** – रामसेन, (संपा०) जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर, ट्रस्ट, दिल्ली, १६६३
१११. **तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति** – हरिभद्र, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, वि० सं० १६८२
११२. **तत्त्वार्थसूत्र** – उमास्वाति, (विवे०), पं. सुखलाल, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १६७६
११३. **तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र)** – उमास्वाति, ब्रह्मचारी मूलशंकर देसाई, जयपुर, १६५६
११४. **तत्त्वार्थराजवार्त्तिक** – अकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १६४४
११५. **तत्त्वार्थवार्त्तिक (भाग - १, २)** – अकलंकदेव, (संपा०), महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १६८२
११६. **तत्त्वार्थवृति** – श्रीश्रुतसागरसूरि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६४६
११७. **तत्त्वार्थवृति (सुखबोधिनी टीका)** – भास्करनन्दि, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १६४४
११८. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** – विद्यानन्दि, निर्णयसागर, यन्त्रालय, बम्बई, १६१८
११९. **तत्त्वार्थसार** – अमृतचन्द्र सूरि, निर्णय सागर यन्त्रालय, बम्बई, १६०५
१२०. **तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्** – उमास्वाति, ऐशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १६०५
१२१. **तन्त्रसार** – अभिनव गुप्त, श्री नगर महाराजा, जम्मू एंड काश्मीर स्टेट, १६१८
१२२. **तन्त्रालोक** – अभिनव गुप्त, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रंथांक २३, १६७५
१२३. **तर्कभाषा** – केशवमिश्र, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १६७६
१२४. **तर्कसंग्रह** – अन्नम्भट्ट, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १६६६

१२५. **तिल्लोयपण्णत्ति (भाग १-३)** – आ० यतिवृषभ, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, १९८४
१२६. **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** – हेमचन्द्र, (संपा०) मुनि चरणविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर,१९५०,
१२७. **दत्तात्रेययोगशास्त्र** – (संपा०) ब्रह्ममित्र अवस्थी, स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, दिल्ली, १९८२
१२८. **दसकालियसुत्तं (भद्रबाहु विरचित निर्युक्ति एवं अगस्त्यसिंह विरचित चूर्णि सहित)** -- (संपा०) मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद १९७३
१२९. **दसवेआलियं** – (संपा०) मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९७४
१३०. **दशवैकालिकचूर्णि** – जिनभद्र गणि, श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३३
१३१. **दशवैकालिकसूत्र** – श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् १९८५.
१३२. **दशवैकालिकसूत्र (हरिभद्र व समयसुन्दर कृत टीका सहित)** – भीमजी माणिक, बम्बई, १९००
१३३. **दशवैकालिकसूत्रम्** – (अनु०) आत्माराम, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९४६
१३४. **दशवैकालिकसूत्रम् (भद्रबाहुकृत निर्युक्ति तथा हरिभद्रकृत वृत्ति युक्त)** – हरिभद्र, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९१८
१३५. **दशवैकालिकसूत्रम्** – (टीकाकार) हरिभद्रसूरि, भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा, वि० सं० २०३७
१३६. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्** – भद्रबाहु, जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६
१३७. **दर्पदलन** – (संपा०) ब्रह्ममित्र अवस्थी एवं सुषमा अरोड़ा, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९७४
१३८. **द्वादशानुप्रेक्षा (बारसाणुपेक्खा)** – कुन्दकुन्दाचार्य, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९८९
१३९. **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका** – यशोविजय, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९६६
१४०. **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका** – सिद्धसेन, जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९६५
१४१. **द्रव्यसंग्रह** – नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, (संपा०) दरबारी लाल कोठिया, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६
१४२. **धवला** – वीरसेन, अमरावती, १९३९–५०
१४३. **धम्मपद** – (संपा०) श्री सत्कारिवर्मा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९८३,
१४४. **धर्मपरीक्षा** – अमितगति, (अनु०) बालचन्द्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९७८
१४५. **धर्मपरीक्षा (स्वोपज्ञ विवरण सहित)** – यशोविजय, श्री हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटण, १९२२
१४६. **धर्मबिन्दुप्रकरण** – हरिभद्र, आगमोदय समिति, बम्बई, १९२४
१४७. **धर्मबिन्दु** – हरिभद्र, हिन्दी जैन साहित्य प्रचारक मण्डल, १९५१
१४८. **धर्मसंग्रह (भाग १-२)** – मानविजय, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, १९१५, १९१८
१४९. **धर्मसंग्रहणी (मलयगिरि वृत्ति सहित)** – हरिभद्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, १९१६
१५०. **ध्यानदीपिका** – सकलचन्द्र, सोमचन्द्र शाह, अहमदाबाद, १९१६
१५१. **ध्यानदीपिका** – देवेन्द्रनन्दि, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, सन् १९२६
१५२. **ध्यानशतक (हरिभद्रवृत्ति सहित) एवं ध्यानस्तव (भास्करनन्दि)** – (संपा०) बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, १९७६,
१५३. **ध्यानशतक** – जिनभद्रगणि, विनयसुन्दर–ग्रन्थमाला, जामनगर, वि० सं० १९४७
१५४. **ध्यानशास्त्र** – रामसेनाचार्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, १९६५
१५५. **ध्यानस्तव** – भास्करनन्दि, (संपा०) सुजुको ओहिरा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७३

१५६. **नयरहस्यप्रकणम्** – यशोविजय, जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, वि० सं० २००३
१५७. **नवतत्त्वप्रकरण** – (विवे०) भगवान हरखचंद, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९२८
१५८. **नंदीसूत्रम् (दुर्गपद व्याख्या एवं वृत्ति सहित)** – (संपा०) पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६६
१५९. **नंदीसूत्रम् (मलयगिरि वृत्ति सहित)** – देवर्द्धिगणि, आगमोदय समिति, बम्बई, १९२४
१६०. **नन्दीसूत्रवृत्ति** – हरिभद्र, ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९२८
१६१. **नन्दीसूत्रम् (चूर्णि सहित)** – हरिभद्र, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६६
१६२. **नायाधम्मकहाओ** – (संपा०) चन्द्रसागरसूरि, साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, १९५१
१६३. **नारदसंहिता** – महामुनि नारद, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८४
१६४. **श्रीनारदीय महापुराण** – वेदव्यास, नाग पब्लिशर्स दिल्ली, १९८४
१६५. **नियमसार** – कुन्दकुन्द, (संपा०) शीतलप्रसाद, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९१७
१६६. **निशीथसूत्रम् (जिनदास महत्तर कृत चूर्णि सहित)** – सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९८२
१६७. **नैषधीयचरितम्** – श्रीहर्ष, निर्णय सागर, बम्बई, १९३३
१६८. **न्यायकुमुदचन्द्र** – प्रभाचन्द्राचार्य, (संपा०) महेन्द्र कुमार, श्री सत्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९९१
१६९. **न्यायखण्डनखंडखाद्य** – यशोविजय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६६
१७०. **न्यायदर्शनम् (वात्स्यायन भाष्य सहित)** – गौतम, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८३
१७१. **न्यायदर्शनम्** – (संपा०) द्वारकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९७६
१७२. **न्यायदीपिका** – धर्मभूषण, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५४
१७३. **न्याय प्रदीप** – यशोविजय, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९६५
१७४. **न्यायमंजरी** – जयन्तभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३६
१७५. **न्यायविनिश्चय** – अकलंक, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९३९
१७६. **न्यायोपदेश** – यशोविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१९
१७७. **पद्मनन्दिपंचविंशति** – पद्मनन्दि, (अनु०) बालचन्द्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९६२
१७८. **श्री पंचवस्तुक** – हरिभद्र, श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, १९२७
१७९. **पञ्चसंग्रह (संस्कृत)** – आचार्य अमितगति, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२७
१८०. **पञ्चसंग्रह (प्राकृत)** – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६०
१८१. **पञ्चसंग्रह** – (संपा०) चंद्रर्षि महत्तर, आगमोदय समिति, बम्बई, १९२७
१८२. **पंचसूत्रम्** – (टी चिरन्तनाचार्य) हरिभद्र, रामचन्द्र येसु शेडगे, वि० सं० १९७०
१८३. **पंचाध्यायी** – राजमल्ल, गणेशप्रसादवर्णी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९८६
१८४. **पंचाशक** – हरिभद्र, जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९२८
१८५. **पंचास्तिकाय** – कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९१६
१८६. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** – अमृतचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२८
१८७. **परिशिष्टपर्व** – हेमचन्द्र, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० २४३८
१८८. **परमात्मप्रकाश और योगसार** – योगीन्दु, रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१५
१८९. **परमात्मप्रकाश** – योगीन्दु, (संपा०) ए. एन. उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, १९७८
१९०. **पातञ्जलयोगदर्शन (व्यासभाष्य एवं ब्रह्मलीन मुनि कृत हिन्दी व्याख्या सहित)** – चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८४,

१६१. **पातञ्जलयोगदर्शनम् ·(वाचस्पतिमिश्र कृत तत्त्ववैशारदी, विज्ञानभिक्षु कृत योगवार्तिक एवं व्यासभाष्य सहित)** – भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९८१
१६२. **पातञ्जलयोगदर्शनम्** – भास्वती, हरिहरानन्द आरण्यक, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली,
१६३. **पातञ्जलयोगदर्शन एवं हारिभद्रीय योगविंशिकाटीका** – यशोविजय, (संपा०) पं० सुखलाल, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२२
१६४. **पातञ्जलयोगसूत्रम् (भावप्रकाशिका हिन्दी व्याख्या सहित)** – चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि० सं० २०४०
१६५. **पासणाहचरियं** – देवभद्रसूरि, मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९४५
१६६. **पाहुडदोहा** – रामसिंह मुनि, (संपा०) हीरालाल जैन, जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, वि० सं० १९९०
१६७. **पिंडनिर्युक्ति** – भद्रबाहु, देवचन्द्र लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, १९११
१६८. **पुरातनप्रबंधसंग्रह** – (संपा०) मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९३६
१६९. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** – अमृतचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, १९७७
२००. **प्रज्ञापनासूत्र (मलयगिरि वृत्ति सहित)** – (अनु०) भगवानदास हर्षचन्द्र, शारदा भवन जैन सोसाइटी, अहमदाबाद, वि० सं० १९९१
२०१. **प्रज्ञापना-प्रदेश-व्याख्या (पूर्व भाग)** – हरिभद्र, ऋषभदेवजी केसरीमलजी, श्वे० संस्था, रतलाम, १९४७
२०२. **प्रज्ञापना-प्रदेश-व्याख्या (उत्तर भाग)** – हरिभद्र, जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सूर्यपुर, १९४९
२०३. **प्रबन्धकोश** – (संपा०) मुनि जिनविजय, शान्ति निकेतन, विश्व भारती
२०४. **प्रबन्धकोष या चतुर्विंशतिप्रबंध** – राजशेखर, श्री फार्बस गुजराती सभा, बम्बई, १९३२
२०५. **प्रबन्धचिंतामणि** – मेरुतुंगाचार्य, (संपा०) जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९४०
२०६. **प्रभावकचरित्र** – चन्द्रप्रभसूरि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०९
२०७. **प्रभावकचरित** – प्रभाचन्द्राचार्य, (संपा०) जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९४०
२०८. **प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार** – वादिदेव सूरि, तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, १९७२
२०९. **प्रमाण-मीमांसा** – हेमचन्द्र, (संपा०) सुखलाल संघवी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९३६
२१०. **प्रवचनसार** – कुन्दकुन्दाचार्य, (संपा०) ए.एन. उपाध्ये, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, १९६४
२११. **प्रवचनसारोद्धार** – नेमिचन्द्र सूरि, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, १९२२
२१२. **प्रशमरति** – उमास्वाति, श्रीनिर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली, १९६९
२१३. **प्रश्नव्याकरणसूत्र** – (संपा०) अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७३
२१४. **प्राकृतव्याकरणम्** – हेमचन्द्र, (संपा०) रतनलाल संघवी, श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर, १९६३
२१५. **प्राभृतसंग्रह** – कुन्दकुन्द, (संपा०) कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९६०
२१६. **बृहत्कल्पभाष्य** – अमोलक ऋषि, सिकन्दराबाद जैन संघ, हैदराबाद, वि० सं० २४४६
२१७. **बृहत्कल्पसूत्र (निर्युक्ति व भाष्य सहित) (भाग १-६)** – भद्रबाहु, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३३–३८

२१८. **बृहद्द्रव्यसंग्रह** – नेमिचन्द्र, सिद्धान्त चक्रवर्ती, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, वि० सं० २०३५
२१९. **बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका** – ब्रह्मदेव, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, वि० सं० २०३५
२२०. **बोधप्राभृत** – कुन्दकुन्दाचार्य, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वि० सं० १९७७
२२१. **भगवती आराधना** – शिवकोटि (शिवार्य), (संपा०) कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७८
२२२. **भगवतीसूत्रम् (व्याख्या प्रज्ञप्ति)** – (अनु०) बेचरदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९७४
२२३. **भावप्राभृत** – कुन्दकुन्दाचार्य, मा. दि., जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वि० सं० १९७७
२२४. **भावसंग्रह (प्राकृत)** – देवसेनसूरि, मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७८
२२५. **भावसंग्रह (संस्कृत)** – वामदेवसूरि, मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७८
२२६. **श्रीमद्भागवतपुराण** – वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१३
२२७. **मंत्रराजरहस्यम्** – सिंहतिलक सूरि, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९८०
२२८. **मनुस्मृति** – कुल्लुकभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९७०
२२९. **मनोनुशासनम्** – आ० तुलसी, जैनश्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, गोरखपुर, संवत् २०२१.
२३०. **महापुराण (भाग - १,२)** – जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१
२३१. **महाभारत (शान्तिपर्व)** – वेदव्यास, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९७६
२३२. **मूलाराधना (भगवती आराधना टीका)** – अपराजित सूरि, जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा, १९३५
२३३. **मूलाचार (वसुनन्दिटीका)** – वट्टेकर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १९४०
२३४. **मोहराजपराजय** – यशपाल, (संपा०) चतुर्विजय, सैन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा, १९१८
२३५. **यशस्तिलकचम्पू** – सोमदेवसूरि, महावीर जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९७१
२३६. **योगदर्शनम्** – पतञ्जलि, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०११
२३७. **योगदर्शनम्** – आचार्य श्री कृष्ण वल्लभ, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, बनारस, १९३९
२३८. **योगदृष्टिसमुच्चय** – हरिभद्र, श्री विजयकमल केशरग्रन्थमाला, खम्भात, वि० सं० १९९२
२३९. **योगदृष्टिसमुच्चय व योगबिन्दु (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)** – हरिभद्र, जैन प्रकाशन संस्था, १९४०
२४०. **योगप्रदीप** – (अज्ञातकर्तृक), जैन साहित्य विकास मण्डल, बंबई, ई० सन् १९६०
२४१. **योगप्रदीप** – मंगलविजय, हेमचन्द्र सावचन्द शाह, कलकत्ता, १९४०
२४२. **योगबिन्दु** – हरिभद्र, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९२१
२४३. **योगबिन्दु** – हरिभद्र, (गुजराती अनुवाद) बुद्धिसागरसूरि, जैन ज्ञान मन्दिर, विजयपुर, १९५०
२४४. **योगयाज्ञवल्क्य** – (संपा०) दिवान जी प्रह्लाद, मुंशीराम मनोहरलाल, बम्बई, १९५४,
२४५. **योगविंशिका** – हरिभद्र, ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९२७
२४६. **योगशतक** – हरिभद्र (संपा०) इन्दुकला झावेरी, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, १९५९
२४७. **योगशास्त्र** – हेमचन्द्र, ऋषभचन्द्र जोहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली सन् १९६३
२४८. **योगशास्त्र** – हेमचन्द्र, (संपा०) गो. जी. पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद १९३८.
२४९. **योगशास्त्र** – हेमचन्द्र, (अनु०) पद्मविजय, निर्ग्रंथ साहित्य प्रकाशन संघ दिल्ली, १९७५
२५०. **योगशास्त्रम् (स्वोपज्ञ विवरण सहित)** – हेमचन्द्र, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९२६
२५१. **योगशास्त्र एक परिशीलन** – अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, सन् १९६३.
२५२. **योगशिखोपनिषद् (उपनिषत्संग्रह)** – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८०, १/६८

२५३. **योगसार** – (अज्ञातकर्तृक), जैन साहित्य विकास मण्डल, बंबई, सन् १९६८
२५४. **योगसार** – योगीन्दु, दिगम्बर जैन भ्रातृ संघ, आगरा, वि०सं० १९९५
२५५. **योगसारसंग्रह** – विज्ञानभिक्षु, (अनु० एवं व्या०) पवन कुमारी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९८१
२५६. **योगसारप्राभृत** –अमितगति, (संपा०) जुगलकिशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६९
२५७. **योगसूत्रम् (भोजराजकृत राजमार्त्तण्ड, भावागणेशकृत प्रदीप, नागोजी भट्ट वृत्ति, रामानन्दकृत मणिप्रभा, अनन्तदेवकृत चन्द्रिका, सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत योगसुधाकर वृत्ति सहित)** – (संपा०) दुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८२
२५८. **रयणसार** – कुन्दकुन्दाचार्य, (संपा०) देवेन्द्रकुमार शास्त्री, श्री वीर–निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन, इन्दौर, वि० सं० २५००
२५९. **रत्नकरण्डश्रावकाचार** – स्वामी समन्तभद्र, श्री मुनि संघ स्वागत समिति, सागर, १९८६
२६०. **रत्नाकरावतारिका (भाग १-३)** – रत्नप्रभसूरि, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, १९६७
२६१. **लब्धिसार** – नेमिचन्द्र, (संपा०) फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास,१९८०
२६२. **ललितविस्तरा (मुनिचन्द्रकृत पंजिका टीका सहित)** – हरिभद्र, जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, १९१५
२६३. **लोकप्रकाश** – उपाध्याय विनयविजय, जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, १९३४
२६४. **लोकप्रकाश** – विनयविजयगणि, आगमोदय समिति, बम्बई, १९२९
२६५. **वसुनन्दिश्रावकाचार** – वसुनन्दि, (संपा०) पं० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२
२६६. **विचारसारप्रकरणं** – प्रद्युम्नसूरि, आगमोदय समिति, मेहसाना, १९२३
२६७. **विपाकसूत्र** – गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, १९३५
२६८. **विविधतीर्थकल्प** – जिनप्रभसूरि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९३४
२६९. **विशेषावश्यकभाष्यम् (कोट्याचार्य कृत वृत्ति सहित)** – जिनभद्र गणि, (संपा०) नथमल टाटिया, रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत जैनालॉजी एण्ड अहिंसा, वैशाली, १९७२
२७०. **विशेषावश्यकभाष्य** – (संपा०) पं० दलसुख मालवाणिया, लालभाई दलमतभाई, भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद
२७१. **विंशतिविंशिका** – हरिभद्र, (संपा०) के. वी. अभ्यंकर, आर्य भूषण प्रिंटिंग प्रेस, १९३२
२७२. **विष्णुपुराण** – (संपा०) तपोनिष्ठ वेदमूर्ति , संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६७
२७३. **विष्णुपुराण** – वेदव्यास, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, १९८६
२७४. **वैशषिकसूत्रम्** – कणाद, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा, १९८२
२७५. **वैशेषिकदर्शन** – प्रशस्तपाद, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६६
२७६. **शांतसुधारस** – विनयविजय, (अनु०) मनसुखभाई पी. मेहता भगवानदास म. मेहता, भावनगर, वि० सं० २४६२
२७७. **श्रीशांतसुधारस** – विनयविजय, महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, १९७६
२७८. **शास्त्रवार्तासमुच्चय** – हरिभद्र, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद, १९६९
२७९. **शास्त्रवार्तासमुच्चय और स्याद्वादकल्पलता** – हरिभद्र, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९७७

२८०. **शिवस्वरोदय** – हरे कृष्ण शास्त्री, ठाकुरदास एण्ड सन्स, वाराणसी, १९८०
२८१. **श्रमणसूत्र** – अगरचन्द, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, सन् १९५१.
२८२. **श्रावकप्रज्ञप्ति (स्वोपज्ञ टीका सहित)** – हरिभद्र, (संपा०) बालचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८१
२८३. **श्रावकाचार** – गुणभूषण, मूलचन्द कि. कापड़िया, वीर नि. सं. २४५१
२८४. **षट्खंडागम (वीरसेनाचार्य कृत धवला टीका सहित) भाग १ - १४** – पुष्पदंत और भूतबलि, (संपा०) हीरालाल जैन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९७३
२८५. **षड्दर्शनसमुच्चय** – हरिभद्र (संपा०) महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७०
२८६. **षोडशक** – हरिभद्र, ऋषभदेवजी केसरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वीरनिर्वाण सं० २४६२
२८७. **षोड़शकप्रकरणम् (यशोभद्र एवं यशोविजयकृत टीका सहित)** – हरिभद्र, श्री महावीर स्वामि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ जैन संघ ट्रस्ट, मुंबई, १९८४
२८८. **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र** – उमास्वाति, श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३२
२८९. **समराइच्चकहा** – हरिभद्र, तिलोकरत्न स्थानकवासी धार्मिक बोर्ड, पाथर्डी, १९७७
२९०. **समयसार** – कुन्दकुन्द, (संपा०) मनोहर लाल, परमश्रुत प्रभावकमण्डल, बम्बई, १९१९
२९१. **समयसार** – कुन्दकुन्दाचार्य, (संपा०) मनोहरजी वर्णी, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ, १९७७
२९२. **समयसारकलश** – अमृतचन्द्र, श्रीवीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर, वी० सं० २५०३
२९३. **समवाओ (समवायांगसूत्र)** – जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९८४
२९४. **समवायांग** – आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२
२९५. **समाधितन्त्र** – पूज्यपाद देवनन्दि, (टीका०) प्रभाचन्द्राचार्य, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, सरसावा, १९३९,
२९६. **समाधितंत्र और इष्टोपदेश** – पूज्यपाद, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५४
२९७. **सर्वदर्शनसंग्रह** – माधवाचार्य, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९७८
२९८. **सर्वार्थसिद्धि** – पूज्यपाद, (संपा०) पं० फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, १९८५
२९९. **सांख्यकारिका** – ईश्वरकृष्ण, (संपा०) विष्णुप्रसाद शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७०
३००. **सांख्यकारिका** – ईश्वरकृष्ण, (संपा०) ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६५
३०१. **सांख्यदर्शनम् (विज्ञानभिक्षुविरचित भाष्यसहित)** – कपिल, जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १८९३
३०२. **सागारधर्मामृत** – आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, १९७८
३०३. **साहित्यदर्पण** – कविराज विश्वनाथ, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९८२
३०४. **सिद्धिविनिश्चयटीका (भाग १,२)** – अकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५९
३०५. **सिद्धसिद्धान्तपद्धति** – गोरक्षनाथ, (संपा०) कल्याणी मलिक, ओरियन्टल बुक हाऊस, पूना, १९५४
३०६. **सुभाषितरत्नसंदोह** – अमितगति, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, ई. सन् १९०३
३०७. **सुभाषितरत्नसंदोह** – (संपा०) बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९७७
३०८. **सूत्रकृतांगसूत्र** – (संपा० एवं अनु०) श्रीचन्द सुराना 'सरस', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२
३०९. **सूत्रकृतांगसूत्र (निर्युक्ति सहित)** – आगमोदय समिति, बम्बई, १९१७
३१०. **सूत्रकृतांगसूत्र (शीलांकाचार्य विहित विवरण सहित)** – आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१७

३११. **श्रीसूत्रकृतांगसूत्र (प्रथम एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध)** – आत्मज्ञानपीठ, मानसा, १९७९, १९८१
३१२. **सूत्रकृतांगसूत्र (चूर्णि सहित)** – (संपा०) मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद, १९७५
३१३. **स्तोत्रावलि** – यशोविजय, यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, बम्बई, १९७५
३१४. **स्थानांगासूत्र समवायांगसूत्रं च (अभयदेववृत्ति सहित)** – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८५
३१५. **स्थानांग** – आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१
३१६. **स्याद्वादकल्पलता** – यशोविजय, प्राच्यविद्या ग्रन्थ माला, १९७७
३१७. **स्याद्वादमञ्जरी** – हेमचन्द्र, भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन, पूना, १९३
३१८. **स्याद्वादरहस्य** – यशोविजय, भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिडंवाड़ा, वि० सं० २०३१
३१९. **हठयोगप्रदीपिका** – स्वात्माराम, कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योग मन्दिर समिति, लोनावला, सं० २०३५
३२०. **हरिवंशपुराण** – जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७८
३२१. **हारिभद्रयोगभारती** – हरिभद्र, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, गुलालबाड़ी, मुंबई, वि० सं० २०३६,
३२२. **हीरसौभाग्यं (स्वोपज्ञ व्याख्या सहित)** – देवविमल गणि, (संपा०) काशीनाथ शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९००

सहायक ग्रन्थ सूची

१. अगरचन्द, **श्रमणसूत्र**, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५१
२. अवस्थी ब्रह्ममित्र, **पातञ्जलयोग शास्त्र : एक अध्ययन**, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९७८
३. अमरमुनि, **योगशास्त्र : एक परिशीलन**, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६३
४. अशोक मुनि, **सम्यग्दर्शन एक अनुशीलन**, श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर, १९८१
५. आचार्य तुलसी, **आयारो**, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, राजस्थान, १९७४
६. आचार्य तुलसी, **दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन**, आगम साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता, १९६८
७. आचार्य तुलसी, **जैन साहित्यदीपिका**, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु, १९७०
८. आचार्य तुलसी, **मनोनुशासन**, आदर्श साहित्य संघ, चुरु, १९७०
९. आचार्य श्रीकृष्ण वल्लभ, **योगदर्शनम्**, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, बनारस, १९३९
१०. आचार्य श्री नानेश, **जिणधम्मो**, श्री समता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, इन्दौर, १९८४
११. आत्रेय, शान्तिप्रकाश, **योगमनोविज्ञान**, दी इंटर नेशनल स्टेण्डर्ड पब्लिकेशन, वाराणसी, १९६५
१२. आत्माराम, **जैनधर्म का स्वरूप**, जसवंत राय जैनी, लाहौर, १९०५,
१३. आत्माराम, **जैनतत्त्वादर्श**, आत्माराम जैन महासभा, अम्बाला, पंजाब, १९३६
१४. आत्माराम जी महाराज, **जैनागमों में स्याद्वाद**, आत्माराम जैन प्रकाशनालय, लुधियाना, १९६०
१५. आत्माराम जी महाराज, (२०१६ वि०सं०) **जैनागमों में परमात्मवाद**, आत्माराम जैन प्रकाशनालय, लुधियाना, १९६०
१६. आत्माराम, **जैनयोग : सिद्धान्त और साधना**, (संपा०) श्री अमरमुनि, आत्मज्ञानपीठ, मानसा मंडी, पंजाब, १९८३
१७. आत्माराम, **जैन तत्त्वकालिका**, आत्मज्ञानपीठ, मानसा मंडी, पंजाब, १९८२
१८. आयंगर, एम० एस०, **अकबर और जैनधर्म**, (अनु०) बाबूलाल कृष्ण लाल वर्मा, श्री आत्मानन्द जैन टेक्स्ट सोसाइटी, अम्बाला, वि० सं० १९७८

१९. आर्यिका ज्ञानमती, **दिगम्बर मुनि**, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, वी० सं० २५०७
२०. ओमानन्द, **पातञ्जलयोगप्रदीप**, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९४२
२१. उपाध्याय बलदेव, **भारतीयदर्शन**, शारदा मन्दिर, काशी, १९५७
२२. उपाध्याय बलदेव, **पुराणविमर्श**, चौखम्बा, विद्या भवन, वाराणसी, १९७८
२३. उपाध्याय बलदेव, **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, शारदा निकेतन, वाराणसी, १९७८
२४. उपाध्याय, रामजी, **भारत की संस्कृति साधना**, रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, १९६७
२५. कन्नोमल, **जैन तत्त्व-मीमांसा**, जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा, १९४२
२६. कन्नोमल, **अनेकान्तवाद**, श्री आत्मानन्द जैन सोसायटी, अम्बाला शहर, १९८२
२७. कविराज, गोपीनाथ, **भारतीय संस्कृति और साधना (भाग १,२)** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३
२८. काणे, पांडूरंग वामन. **धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-५)**, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९७३
२९. कापड़िया, श्री मोतीचंद गिरिधरलाल, **जैन दृष्टिए योग** (गु०), श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९७४
३०. कापड़िया, हीरालाल रसिकदास, **यशोदोहन**, यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, मुम्बई, १९६६
३१. गणि जिनभद्र, **गणधरवाद**, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान एवं सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९८२
३२. गांग, सुषमा, **कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि**, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९८२
३३. चिदानन्द, **अध्यात्म अनुभव योग प्रकाश**, अभयदेव सूरिग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९२२
३४. जैन, रत्नलाल, **आत्मरहस्य**, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, १९४८
३५. जैन, लालचन्द, **जैन दर्शन में आत्म-विचार**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९८४
३६. जैन, सागरमल, **जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन**, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२
३७. जैन, सागरमल, **जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग**, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२
३८. जैन, सागरमल, **जैन, बौद्ध और गीता के आचार दशनों का तुलनात्मक अध्ययन**, (भाग १–२), राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२
३९. जैन, सुदर्शन लाल, **उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन**, सोहनलाल जैन–धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९७०
४०. जैन, हरीन्द्रभूषण, **जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास**, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७४
४१. जैन, हीरालाल, **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान**, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२
४२. जैन, हीरालाल (संपा०), **जिनवाणी**, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७५
४३. टोडरमल, **मोक्ष मार्गप्रकाशक**, श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, १९८३
४४. डोसी, राजेन्द्रलाल, **अनेकान्तवाद एक समीक्षात्मक अध्ययन**, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, १९८२

४५. तिलकविजय (अनु०), **जैनदर्शन**, चिमनलाल लखमी चन्द, पूना, १९२७
४६. त्रिपाठी, रमाशंकर, **शिवमहापुराण की दार्शनिक समालोचना**, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, हरिशंकर त्रिपाठी, अस्सी, वाराणसी, १९७५
४७. दिगे, अर्हत्दास बन्डोबा, **जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन**, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९८१
४८. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, **नाथसम्प्रदाय**, लोक भारती सम्प्रदाय, वाराणसी, १९६६
४९. दासगुप्ता, एस. एन., **भारतीय दर्शन का इतिहास**, राजस्थान ग्रन्थ अकादमी, उदयपुर, १९७८
५०. दुग्गड हीरालाल, **स्वरोदय विज्ञान**, जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मन्दिर, शाहदरा
५१. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द, **जैन गुर्जर कविओ, भाग-१, २** (गु०), श्री जैन श्वेताम्बर "कान्फ्रेंस", मुंबई, १९२६, १९३१
५२. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द, **जैन साहित्यनोसंक्षिप्त इतिहास** (गुजराती), श्री जैन श्वेताम्बर "कान्फ्रेंस", मुंबई, १९३३
५३. दोशी, बेचरदास, **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-१)**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६
५४. नगराज मुनि, **जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान**, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५९
५५. नगराज मुनि, **जैनागम और त्रिपिटक एक अनुशीलन (भाग-१-२)**, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९५९
५६. नथमल, **जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व**, मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, कलकत्ता, १९६०
५७. नथमल, **जैनदर्शन : मनन और मीमांसा**, आदर्श साहित्य संघ, दिल्ली, १९७३
५८. नथमल, **श्रमणमहावीर**, (संपा०) दुलहराज, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, १९७४
५९. नथमल, **जैनयोग**, आदर्श साहित्य संघ, चुरु, १९७८
६०. नरेन्द्र देव, **बौद्ध-धर्म-दर्शन**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७१
६१. नेमिचन्द्र, **आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन एक अध्ययन**, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६३
६२. न्याय विजय, **जैनदर्शन**, हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटण, १९६८
६३. पटेल, गोपालदास जीवाभाई, **कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न**, (अनु०) भारिल्ल शोभाचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६७
६४. पवनकुमारी, **पातञ्जलयोगसूत्र एक समालोचनात्मक अध्ययन**, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९७९
६५. पुष्कर मुनि, **साधना का राजमार्ग**, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जोधपुर, १९६२
६६. प्रेमी, नाथूराम, **जैन साहित्य और इतिहास**, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९५६
६७. फूलचन्द श्रमण, **आत्मवाद**, आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६५
६८. फूलचन्द श्रमण, **योग-एक चिन्तन**, आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९७७
६९. फूलचन्द, सिद्धान्त शास्त्री, **जैनतत्त्वमीमांसा**, अशोक प्रकाशन मन्दिर, मैदिनी घाट, वाराणसी, १९१६
७०. बांठिया कस्तूरमल, **हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित**, चौखम्बा विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७७
७१. बांठिया, मोहनलाल, **जैन पदार्थ-विज्ञान में पुद्गल**, श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६०
७२. बाढ़दार, कैलाशचन्द्र, **योगानुशीलनं**, दि जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर, १९८२

७३. बालचन्द्र (संपा०), **जैनलक्षणावली**, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, वि०सं० १९७३
७४. बेलानी, फतेहसिंह, **जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार**, जैन संस्कृति संरक्षक संशोधक मण्डल, बनारस, १९५०
७५. भट्टाचार्य, हरिसत्य, **जिनवाणी**, श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९५२
७६. भट्टाचार्य, हरिसत्य, **अनेकान्तवाद**, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० २००७
७७. भानावत, नरेन्द्र, **साधना - स्वरूप और विश्लेषण**, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९७१
७८. भानावत, नरेन्द्र, **ध्यानयोग-रूप और दर्शन**, सम्यग्ज्ञांन प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९७२
७९. भारिल्ल, शोभाचन्द्र, **कुन्दकुदाचार्य के तीन रत्न**, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६७
८०. मंगला, **भारतीय दर्शन में योग**, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८३
८१. महेन्द्र कुमार, **जैन दर्शन**, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९५५
८२. माता विजयमति, **आत्म-चिन्तन**, ज्ञानचन्द्र जैन, तेन्दूखेड़ा, (म०प्र०), १९८१
८३. मालवणिया, दलसुख, **जैन दर्शन का आदिकाल**, लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद, १९८०
८४. मालवणिया, दलसुख, **आगम युग का जैन दर्शन**, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६
८५. मालवणिया, दलसुख, **आत्म-मीमांसा**, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, बनारस, १९५३
८६. मिश्र, उमेश, **भारतीय दर्शन**, राजर्षि पुरुषोत्तम टंडन हिन्दी भवन, लखनऊ, १९७५
८७. मुनि जिनविजय, **आचार्य हरिभद्रस्य समयनिर्णयः**, जैन साहित्य संशोधक समाज, पूना, १९१९
८८. मुनि ब्रह्मलीन, **पातञ्जल योग दर्शन**, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९८४
८९. मुनि श्री मिश्रीमल, **जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण**, श्री गुरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९७२
९०. मुसलगांवकर, वि० भा०, **आचार्य हेमचन्द्र**, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, मध्यप्रदेश, १९११
९१. मेहता, मोहनलाल, **जैन दर्शन**, श्री सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा, १९५९
९२. मेहता, मोहनलाल, **जैन आचार**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६
९३. मेहता, मोहनलाल, **जैनधर्म दर्शन**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३
९४. मेहता, मोहनलाल, **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** (भाग ३), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६७
९५. मेहता, मोहनलाल व कापडिया हीरालाल, **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** (भाग ४), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६८
९६. मोदी, मधुसूदन, **हेम समीक्षा**, श्री मोहन लाल दीपचंद, चोकसी, मुंबई, १९४२
९७. मौद्गल, भागमल्ल (संपा०), **भारतवर्ष का इतिहास और जैनधर्म**, आत्मानन्द जैन ट्रस्ट सोसायटी, अम्बाला, १९२८
९८. योगी चन्दनाथ (अनु०), **योगी सम्प्रदाय विकृति**, शाही बाग, अहमदाबाद, १९२४
९९. रमेशकुमार, **जयेन्द्र योग प्रयोग**, मेघ प्रकाशन, दिल्ली, १९८२
१००. रत्नचन्द्र, **भावनाशतक**, जैन साहित्य प्रचारक समिति, ब्यावर, वी०सं० २४६६
१०१. राधाकृष्णन् सर्वपल्ली, **भारतीय दर्शन** (भाग १), राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९६६
१०२. ललवानी, गणेश, **जैनधर्म व दर्शन**, दादाबाड़ी, श्री जिनदत्त सूरि मण्डल, अजमेर, १९८३
१०३. लाड, अशोक कुमार, **भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिंतन-एक तुलनात्मक अध्ययन**, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७३

१०४. वर्णी, क्षुल्लक जिनेन्द्र, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** (भाग १–४), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९४४
१०५. वेलणकर, हरिदामोदर, **जिनरत्नकोश** (भाग १), भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना, १९४४
१०६. वोहरा, सुनंदा, **ध्यान : एक परिशीलन** (गु०), श्री सत्श्रुत सेवा–साधना केन्द्र, अहमदाबाद, १९८३
१०७. व्यास, लक्ष्मीशंकर, **चौलुक्य कुमारपाल**, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२
१०८. शर्मा, सुरेन्द्र कुमार, **हठयोग : एक एतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका**, इस्टर्न बुक डिपो, दिल्ली, १९८५
१०९. शर्मा, हसंराज, **दर्शन और अनेकान्तवाद**, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, १९२८
११०. शर्मा, कैलाशचन्द्र, **जैनधर्म**, मा० दि० जैन संघ, मथुरा, वी०सं० २४७४
१११. शास्त्री, कैलाशचन्द्र, **जैन साहित्य का इतिहास** (पूर्व पीठिका), गणेशप्रसाद वर्णी जैनग्रन्थमाला, वी० सं० २४८६
११२. शास्त्री, कैलाशचन्द्र, **जैन सिद्धान्त**, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८३
११३. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि, **जैन आगम साहित्य - मनन और मीमांसा**, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, १९७७
११४. शास्त्री देवेन्द्र मुनि, **जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप**, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, १९८२
११५. शास्त्री देवेन्द्र मुनि, **जैन जगत् के ज्योतिर्धर आचार्य**, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, १९८५
११६. शास्त्री नेमिचन्द्र, **आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन एक अध्ययन**, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६३
११७. शास्त्री नेमिचन्द्र, **प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, १९६६
११८. शास्त्री नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग १-३)**, अखिल भारतीय दि० जैन विद्वत्परिषद्, वाराणसी, १९७४
११९. शास्त्री नेमिचन्द्र, **हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन**, प्राकृत-जैन-शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, १९६५
१२०. शास्त्री, सुरेश मुनि, **कर्मवाद : एक अध्ययन**, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६५
१२१. शुक्ल हरिप्रसाद गजानन, **गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी साहित्य को देन**
१२२. शुक्ला, नलिनी, **पातञ्जलयोगसूत्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन**, शक्ति योगाश्रम, कानपुर, १९७५
१२३. शेठ, हरगोविन्ददास, **हरिभद्रसूरिचरितम्**, जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला, बनारस, १९१७
१२४. श्री जैन श्वेताम्बर कांफ्रेंस, **जैन ग्रन्थावली**, मुंबई, १९६५
१२५. संघवी, सुखलाल, **आध्यात्मिक विकासक्रम**, गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, १९२८
१२६. संघवी, सुखलाल, **दर्शन और चिन्तन**, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, १९५७
१२७. संघवी, सुखलाल, **अध्यात्म विचारणा**, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, १९५८
१२८. संघवी, सुखलाल, **भारतीय तत्त्व विद्या**, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६०
१२९. संघवी, सुखलाल, **समदर्शी आचार्य हरिभद्र**, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६३
१३०. संघवी, सुखलाल, **जैन धर्म का प्राण**, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, १९६५
१३१. सत्यपाल, **योगासन और स्वास्थ्य**, किताबघर, दिल्ली, १९८३

१३२. सम्पूर्णानन्द, **योगदर्शन**, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, १९६५
१३३. साध्वी राजीमती, **प्राचीन जैन-साधना पद्धति**, श्रीमति भंवर देवी सुराना, जयपुर, १९७६
१३४. साध्वी संघमित्रा, **जैन धर्म के प्रभावक आचार्य**, जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं, १९७९
१३५. सिंह, रामेश्वर प्रसाद, **संतकाव्य में योग का स्वरूप**, अनुपम प्रकाशन, पटना, १९७७
१३६. सूरि विजयराजेन्द्र, **अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग १-७)** श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, रतलाम, १९८६
१३७. स्वामी विवेकानन्द, **राजयोग**, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, (म० प्र०) १९५५

English Reference Books

1. Banarasidas - *A Lecture on Jainism*, Jain Itihas Society, Saharanpur, 1942.
2. Basu, B. D. - *Yoga-Śāstra (Shiva Samhita and Gherand Samhita)*, Sacred Book of the Hindus, Allahabad, 1925.
3. Bhargava, Dayanand - *Jain Ethics*, Motilal Banarasidass, Delhi, 1968.
4. Bhargava, Dayanand - *Jain Tarka Bhāṣā*, Motilal Banarasidass, Delhi, 1973.
5. Bhattacharya, Harisatya - *Jain Moral Doctrine*, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay, 1976.
6. Bhattacharya, Harisatya - *Jain Philosophy Historical Outline*, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1976.
7. Bhatt, V. M. - *Yogic Powers and God Realisation*, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1960.
8. Bothra, Pushpa - *Jain Theory of Perception*, Motilal Banarasidass, Delhi, 1967.
9. Bühler - *The Life of Hemchandracharya*, Singhi Jain Granthamala.
10. Dasgupta, S.N. - *Yoga : Philosophy*, Calcutta, 1930.
11. Desai, S.M. - *Haribhadra's Yoga Works and Psychosynthesis*, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1983.
12. Deva, Joy - *Yoga Today*, The Macmillan Co. of India (p) Ltd., 1971.
13. Dixit, K.K. - *Early Jainism*, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1978.
14. Gandhi, V.R. - *Yoga Philosophy*, Agamodaya Samiti, Bombay, 1924.
15. Haribhadra - *Viṁśati Viṁśikā*, (Ed.) Abhyankar, K.M., Arya Bhushan Printing Press, 1932.
16. Haribhadra - *Anekāntajayapatākā*, Oriental Institute, Baroda, 1940.
17. Haribhadra - *Yogabindu*, (Tr.) Dixit, K.K., L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1968.
18. Haribhadra - *Yogadṛṣṭisammuccaya and Yoga Viṁśikā*, (Tr.) Dixit, K.K., L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1970.
19. Hemchandra - *Dvyāśraya Kāvya*, Government Central Press, Bombay, 1915.
20. H. Jacobi - *Samarāiccakahā*, Bibliotheca Indica, No. 169, Calcutta, 1908-26.
21. James Hastings (Ed.) - *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. 12, New York, 1921.
22. Jain, Jyoti Prasad - *Religion and culture of the Jainas*, Bharatiya Jnanpith Publication, New Delhi, 1983.
23. Jain, Jyoti Prasad - *Jainism the oldest Living Religion*, Jain Sanskrit Sanshodhan Mandal, Banaras, 1951.
24. Krishnamachariar, M. - *History of Classical Sanskrit Literature*, Motilal Banarasidass, Delhi, 1974.

25. Mehta, Mohanlal - *Jain Philosophy*, Sohanlal Jain Dharma Pracharak Samiti, Amritsar, 1995.
26. Marshall, J. - *Mohan-Jodaro and the Indus Civilization*, Vol. 1, London, 1931.
27. Mookarji, Satkari - *Jaina Philosophy of non-absolution*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1978.
28. Muni Jinavijaya - *The Jainas in the History of Indian Literature*, Jaina Sahitya Samshodhaka Pratishthan, Ahmedabad, 1946.
29. Patañjali - *Yoga Sūtras of Patañjali*, Parimal Publications, Delhi, 1983.
30. Ramacharaka, Yogi - *HathaYoga*, D.B. Taraporevala sons & Co. Pvt. Ltd., Bombay, 1977.
31. Radhakrishanan, S. - *Indian Philosophy*, Vol.1, Gorge Allen & Unwin Ltd., London, 1929.
32. Raghvan, V. - *Cultural Leaders of India*, Series Seers and thinkers, New Delhi, 1979
33. Rajaram, Tookaram - *Compendium of the Raja Yoga Philosophy*, Golden Publication, Delhi,1983.
34. Rukmani, T.S. - *Yogavārtika of Vijñānbhikśu*, Vol.1 - 4, Munshiram Manoharlal Publishers, Delhi,1981, 83, 87, 90.
35. Shastri, Hari Prasad - *Meditation, its Theory and Practice*, Shanti Sadan, London, 1958.
36. Shringy, R.K. (Ed.) - *Yoga Science and Philosophy*, Bharata Manisha, Varanasi, 1979.
37. Siddha Guru, Gorakhnath - *Yoga Bija*, Swami Keshwananda Yoga Institute, Delhi, 1985.
38. Sogani, K.C. - *Ethical Doctrines in Jainism*, Jain Sanskriti Sanrakshaka Sangha, Sholapur, 1967.
39. Stevenson, S. - *The Heart of Jainism*, Oxford University Press, London, 1915.
40. Tatia, Nathmal - *Studies in Jain Philosophy*, P.V. Research Institute, Varanasi.
41. Williams, R. - *Jain Yoga*, Motilal Banarasidass, Delhi, 1983.
42. Winternitz, M. - *A History of Indian Literature*, Vol. 1-3, Motilal Banarasidass, Delhi, 1985.
43. Worthington, Vivian - *History of Yoga*, Routledge and Kegan Paul, London, 1982.
44. Woods, J.S. - *Yoga System of Patañjali*, Motilal Banarasidass, Banaras, 1966.
45. Yogi Yājñavalkya - *Yoga Yājñavalkya*, (Ed.) Divanji Prahlad C., Munshiram Manoharlal, Bombay, 1954.
46. Zaveri, J.S. - *Preksha Meditation*, Tulsi Adhyatma Nidam, Jain Vishva Bharati, Ladnun, Rajasthan, 1981.

स्मृति एवं अभिनन्दन ग्रन्थ

१. अम्बालाल जी म० सा० अभिनन्दन ग्रन्थ
२. आचार्य आनन्दऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ
३. आचार्य तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ
४. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ

५. जीत अभिनन्दन ग्रन्थ
६. पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ
७. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ
८. श्री तिलोक शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ
९. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि स्मृति ग्रन्थ
१०. श्री यशोविजय स्मृति ग्रन्थ
११. साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ

पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
२. अर्हत् वचन, इन्दौर
३. अहिंसा वायस, दिल्ली
४. इण्डियन एण्टीक्वेरी, द काउन्सिल ऑफ द रॉयल एन्थ्रोपोलोजी इन्स्टीटयूट, बम्बई
५. इण्डियन फिलोसोफिकल क्वार्टली
६. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली, कलकत्ता
७. ईस्ट एण्ड वेस्ट, रोम
८. कल्याण (योगांक), गीता प्रेस, गोरखपुर
९. कल्याण (साधनांक), गीता प्रेस, गोरखपुर
१०. जर्नल ऑफ द भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
११. जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ौदा
१२. जैन जगत, बम्बई
१३. जैन जर्नल, श्री जैन सभा, कलकत्ता
१४. जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा (बिहार)
१५. जय गुज्जार, ब्यावर (राज०)
१६. तीर्थंकर, इन्दौर
१७. तुलसीप्रज्ञा, लाडनूं
१८. प्रेक्षाध्यान, लाडनूं
१९. योगमीमांसा, कैवल्यधाम, लोनावला
२०. योगविद्या, बिहार
२१. श्रमण, वाराणसी
२२. श्रमणोपासक, बीकानेर

विशिष्टव्यक्तिनामानुक्रमणिका

अकलंकदेव १६, २१
अनन्तदेवपण्डित ७
अभयदेवसूरि ५२
अभ्यंकर १४, १६, १८
अमरकीर्ति १०
अमरप्रभसूरि १०
अमितगति ६, २६, ३०
अमृतचन्द्र २६
आत्माराम १२
आदिदेव २३१
आदिनाथ २६५
आनन्दघन ४१
आर० विलियम्स १२, ४०
आर्यिका जाहिणी २८
आशाधर १०, ३०, १५०
इन्द्रनन्दी १०
इन्द्रसौभाग्यगणि १०
उदयंकर ७
उदयवीर शास्त्री ७
उद्योतनसूरि १७, १८
उमापति मिश्र ७
उमास्वाति(मि) ८, २२, ७७, १५१, १६०, १८०, २३२
ऋषभदेव २६५
कविराजमल ११
कान्तिविजय ४०
कालिदास २६, ३३, ३५
कुन्दकुन्द ८, ६, १३४, १४७, २०२, २०३, २०४, २६२
कुमारपाल ३६, ३७, १०६, १२३
कुमारिल १५, १८
कुलमंडनसूरि १५
के०के० दीक्षित ६६, ८६, ६७
क्लॉट ३४
क्षेमानन्द दीक्षित ७
क्षेमेन्द्र १३०
गुणरत्न २३
गुरुदास १३
गोपाल मिश्र ७
जयकीर्ति १३
जयन्तभट्ट १६, १७
जयसुन्दरविजय १५
जसवन्तकुमार ४२, ४३
जसविजय ४३
जित्तारि २०
जिनदत्त २२
जिनदत्तसूरि १२, २०
जिनभट्ट २०
जिनभद्रगणि ६
जिनविजय १४, १७, १८, १६
जिनसेन २६
ज्वालेन्द्रनाथ
जैकोबी १४, १६, १८, २१
ज्ञानानन्द ७
दधीतिकार ४१
दयानन्द भार्गव ४०, २०३
देवकीर्ति २८
देवगणि ४२
देवानन्द १२
देवेन्द्रनन्दि १२
देसाई एस०एम० ६७, ७१, ७२
धनराज १२
धनंजय २६
धर्मकीर्ति १५, १८
धर्मपाल १५, १८
धर्मभूषण ४१, ४५
धर्मसुन्दर १५
धर्मोत्तर १६

नयविजय ४१, ४२, ४३
नार्गाजुन १३
नागेशभट्ट ७
नागोजीभट्ट ६२, १४८
नारायणतीर्थ ७
निम्बार्क १२६
नेमिचन्द्रशास्त्री १४, १६, १७, १८, १९, १९१
नेमिचन्द्र १२, १९३
पंचशिख २६६
पण्डितराजजगन्नाथ ४५
पतञ्जलि १, ४, ५, ८, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ७८, ८३, ८६, १०५, ११८, ११९, १२४, १२५, १२६, १२७, १२९, १३०, १३३, १३५, १३६, १४०, १४६, १४७, १४९, १५१, १५६, १६०, १६१, १६९, १७१, १७२, १७५, १७९, १८२, २०५, २०६, २०७, २०८, २१०, २११, २१२, २१४, २१५, २१८, २२०, २२४, २३१, २४२, २४६, २४८, २५७, २६२, २६६, २६९, २७०, २७१, २७२, २७४, २७६, २७७, २७८,
पद्मनन्दि ९
पद्मविजय ४३
पद्मसिंह ४२, ४३
परमहंस २१
पर्वत धर्म ९
पीटर्सन ३७
पूज्यपाद देवनन्दि ८
प्रद्युम्नसूरि १५
प्रभाचन्द्र ९
प्रभाचन्द्रसूरि ३३
बलदेव मिश्र ७
बाणभट्ट ३३
ब्यूहलर ३३
भगवद्दत्त २०६
भट्ट अकलंक २९
भट्टारक शुभचन्द्र ३०
भर्तृहरि १५, १८, २८, ३१, ३२
भदन्त भास्कर २०६
भद्रबाहु २१४
भरत ६२
भवदेव ७
भावविजय ११
भावागणेश ७, १४८
भास्कर नन्दि ११
भोज(देव) ७, ५१, ६०, ६२, ६२, २४२, २६६
मणिभद्र २३
मल्लवादी १७, १८, १९
मल्लधारिदेव २८
महादेव ७
महावीर ३, २३१, २३३
महेन्द्रकुमार १४, १६
मानतुंग २९
मानदेवसूरि १५
मानविजय ४१
मीरा १२६
मुनिजिनविजय १७, १८, १९
मुनिनथमल १२, २४७
मुनिन्यायविजय १२
मुनिपद्मनन्दि ९
मुनिरामसिंह १०
मुनिसुन्दरसूरीश्वर ११
मृघावती ३१
मेघचन्द्र ९
मेरुतुंगाचार्य ३३
यशपाल ३३
यशोविजय ७, ११, १२, १३, १४, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ४९, ५४, ५६, ५७, ६६, ६७, ७३, ७८, ८१, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ९५, १०३, १०६, १०७, ११०, ११३, ११८, १२०, १६०, २०२, २०८, २१०, २११, २१२, २१३, २१५, २१६, २१८, २२०, २३२, २३३, २३४, २४३, २४५, २४६, २५३, २६०, २६१, २६२, २६६, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७६, २७७, २७९
याकिनीमहत्तरा २०
यादवसूरि १२
योगीन्दुदेव ९, १०
राघवानन्द सरस्वती ६
रविदास १२६
राजशेखर ३३
राधानन्द ७
रामसेनाचार्य १०, २९
रामानन्द १२६

रामानन्द सरस्वती ७
रामानुज १२६
वल्लभ १२६
वसुबन्धु २७
वाचस्पतिमिश्र ६, ७, ५०, ५१, ६१, २६६, २६६
विक्रमादित्य ३३
विजयदेवसूरि ४१, ४२
विजयसेनसूरि ४२
विज्ञानभिक्षु ७, ५६, ६०, ६१, ६२, २६६, २६६
विद्यातिलक २३
विद्याभूषण ४०
विनयदेवसूरि ४४
विनयप्रभसूरि ४४
विनयविजयगणि १२, ४१
विन्टरनिट्ज़ ३५
विश्वभूषणभट्टारक ३१
वुड्स ७
व्यास ५०, ५५, ६०, ६२, १३५, १६६, २१२, २२८, २३१, २५२, २६६
शंकरभगवत्पाद ७
शंकराचार्य १६, १८
शान्तरक्षित १५, १८
शान्तरस १३
शुभगुप्त १५, १८
शुभचन्द्र ६, १२, १३, १४, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३६, ५३, ५५, ५६, ७७, ६४, १०६, ११८, १२०, १२२, १२३, १२४, १२६, १२९, १४५, १५१, १५३, १५४, १६८, १६०, १६१, २०२, २०४, २१२, २१३, २१५, २१८, २२१, २२४, २२५, २२६, २२८, २२९, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २५३, २६०, २६१, २६६, २७०, २७१, २७४, २७६, २७७, २७८, २७९
श्रीगुरुदास ११
श्रीरामचन्द्र दीक्षितार २६५
श्रीविश्वभूषणाचार्य २८
श्रीहर्ष ३३, ४५
सकलचन्द्र ११
सदाशिवेन्द्रसरस्वती ७
समन्तभद्र ५, २९
समयसुन्दरगणि १५
सिद्धराज जयसिंह ३३, ३५, ३६
सिद्धर्षि १६
सिद्धसेनदिवाकर २२
सिंधुल ३१
सिंहल ३१
सुखलाल संघवी ४०
सोमचन्द्र ३४, ३५
सोमदेव १३, ३०
सोमदेवसूरि १०, २९, १५०
सोमप्रभसूरि ३३, ३४
सोमसुन्दरसूरि १०
स्वामी तुलसीराम ७
स्वामी दर्शनानंद ७
स्वामी समन्तभद्र ५
स्वामी हरिप्रसाद ७
हरिप्रसादगजाननशुक्ल ४०
हरिभद्र ६, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, ३९, ४४, ४५, ५३, ५४, ५५, ५६, ६३, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७१, ७२, ७३, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८९, ९४, ९७, १०६, १०८, १०९, ११०, ११४, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२२, १२३, १२४, १२८, १२९, १३०, १४७, १४९, १५१, १७९, १८२, १८५, १९०, २००, २०२, २०४, २०५, २०६, २०७, २०९, २१२, २१३, २१४, २१८, २३०, २३१, २४३, २४४, २४६, २५३, २६०, २६१, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७८, २७९
हरिहरानन्द आरण्यक ६, ५०
हिरण्यगर्भ २६५
हीरविजयसूरि १६२
हेमचन्द्र १०, १३, १४, ३०, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४१, ५४, ५५, ५६, ६५, ७७, ६४, १०६, १११, ११३, ११६, ११८, १२२, १२३, १२४, १२६, १२८, १२९, १४४, १४५, १४७, १५०, १५३, १५४, १५५, १७७, १७८, १७९, १८८, १९०, १९१, २१२, २१३, २२१, २२९, २३२, २३३, २३५, २३६, २३७, २४०, २४४, २४६, २५३, २६१, २६२, २६९, २७०, २७१, २७४, २७६, २७७, २७८

ग्रन्थानुक्रमणिका

अध्यात्मकमलमार्तण्ड ११
अध्यात्मकलिका १२
अध्यात्मकल्पद्रुम ११, २४४
अध्यात्मतत्त्वालोक १२
अध्यात्मपद्धति १२
अध्यात्मबिन्दु १३
अध्यात्ममतदलन ४५
अध्यात्ममतपरीक्षा ४७
अध्यात्मप्रबोध १३
अध्यात्मभेद १३
अध्यात्मरहस्य १०
अध्यात्मलिंग १३
अध्यात्मसार ११, ४६, ४७, ८८,
अध्यात्मसारोद्धार १३
अध्यात्मोपनिषद् ११, ४७
अनुयोगद्वारविवृत्ति २३
अनेकान्तजयपताका १७, १८, २४
अनेकान्तप्रघट्ट २५
अनेकान्तवादप्रवेश २४
अनेकान्तसिद्धि २४
अनेकार्थकोश ३८
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका ३८
अभिधम्मकोश (अभिधर्मकोश) २०६
अभिधानचिन्तामणि ३८
अभिधानचिन्तामणि, परिशिष्ट ३८
अभिनवभाष्य ७
अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका ३८
अर्हच्चूड़ामणि २५
अष्टकप्रकरण २३
अष्टपाहुड ८
आचारांग(सूत्र) ३, १०४, १६६, २१६, २२१
आत्मानुशासन ६
आदिपुराण ५, २६
आनन्दघन अष्टपदी ४१
आराधनासारसमुच्चय ११
आवश्यकनिर्युक्ति ८, २५३
आवश्यकबृहत्टीका २३
आवश्यकसूत्रवृत्ति ८, २३
आवश्यकसूत्रविवृत्ति २३
ईशोपनिषद् १६७
उत्तराध्ययन(सूत्र) ८, ५२
उपदेशपद २३
उपदेशरहस्य ४७
उपमितिभवप्रपंचकथा १६
उपासकदशांगसूत्र १५०
उपासकाध्ययन २६
औपपातिकसूत्र २२५
कर्मप्रकृतिटीका ४७
कर्मस्तववृत्ति २५
कहावली १६
काव्यानुशासन ३८, ३६
कुमारपालचरित ३५
कुमारपालप्रतिबोध ३३, ३४
कूपदृष्टांतविशदीकरण ४७
गाथासहस्री १५
गीता ४५, ७२, १०५, २३५, २६६
गुरुतत्त्वविनिश्चय ४७
गोम्मटसार १६१
चैत्यवन्दनभाष्य २५
चैत्यवंदनसूत्रवृत्ति २३
छन्दश्चूडामणिटीका ४७
छन्दोऽनुशासन ३८, ३६
जम्बूद्वीपक्षेत्रसमासवृत्ति २४
जिनयज्ञकल्प ३०
जीवाभिगमसूत्रलघुवृत्ति २३
जैनतर्कभाषा ४५, ४७
जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश ४०
ज्ञानपंचकविवरण २५

ज्ञानबिन्दु (प्रकरण) ४७
ज्ञानसार (अष्टक) ६, ११, ४७, ४८, ५४, ८३
ज्ञानानन्दभाष्य ६
ज्ञानार्णव ६, १२, २८, २९, ३२, ३३, ३६, ४७, ५३, १२२, १६७, १८२, १९१, १९२, २३१, २३४, २३५, २३६, २६८, २६९, २७४
तत्त्वत्रयप्रकाशिनी १०
तत्त्वविवेक ४७
तत्त्ववैशारदी ६
तत्त्वानुशासन १०, २९, ३२
तत्त्वार्थराजवार्तिक २६, २६२
तत्त्वार्थसूत्र ८, ७६, ७८, १५०, १५२, १५४, १५८, २३२
तत्त्वार्थसूत्र-लघुवृत्ति २४
तपागच्छगुर्वावली १५
तिलोयपण्णत्ती २५३
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ३३, ३७, ३८, ३९
त्रिसूत्र्यालोकविवरण ४७
दर्पदलन १३०
दर्शनसप्ततिका २५
दशवैकालिकसूत्र २६२
दशवैकालिकटीका २३
दशवैकालिकवृत्ति १६८
दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि ६६
देवधर्मपरीक्षा ४७
देशीनाममाला ३८
द्वयाश्रयकाव्य ३३
द्वयाश्रयमहाकाव्य ३६, ३८, ३९
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका ११, ४७, ५४, ५७, २६२, २७१
द्वादशारनयचक्र १६
द्विजवदनचपेटा २४
धर्मपरीक्षा ४७
धर्मबिन्दु २३, १०६
धर्मलाभसिद्धि २५
धर्मसंग्रह ४१
धर्मसंग्रहणी २६
धर्मसार २५
धवलाटीका १६२, २५३
धातुपरायण ३८
धूर्ताख्यान २४
ध्यानचतुष्टय १२
ध्यानदीपिका ११, १२
ध्यानमाला १२
ध्यानविचार १२
ध्यानशतक ६
ध्यानशास्त्र १०
ध्यानसार १२
ध्यानस्तव ११
ध्यानस्वरूप ११
नन्दीगुरु १३
नन्द्यध्ययनटीका २३
नयचक्र १७
नयरहस्य ४७
नयविलास १०
नयोपदेश ४७
नवयोगकल्लोलवृत्ति ७
नाणायत्तक २५
निघण्टुशेष ३८
नियमसार ८
न्यायखण्डनखण्डखाद्यटीका ४७
न्यायदीपिका ४५
न्यायप्रवेशटीका २४
न्यायबिन्दुटीका १६
न्यायमंजरी १६, १७
न्यायविनिश्चय २५
न्यायालोक ४७
न्यायावतारवृत्ति २४
पंचनियंठी २५
पंचलिंगी २५
पंचवस्तुक २३
पंचसूत्रव्याख्या २४
पंचसंग्रह २६
पंचास्तिकाय १४२
पंचाशक २४
परमात्मप्रकाश ६
परलोकसिद्धि २५
परिशिष्टपर्व ३८
पाण्डवपुराण २८
पातञ्जल-कैवल्यपाद वृत्ति ४७
पातञ्जलयोगसूत्र १, ५, ६, ७, ८, ९, १२, २६, ३३, ३९, ४५, ५०, ५१, ५५, ६१, ७७, ८१, ८६, ९०, ९३, १११, १२३, १२४, १४५, १७०, १७७, १८२, १८३, १८४, १८६, १८८, २००, २०३, २०९, २१०, २११,

२१२, २१७, २२१, २३३, २३६, २४२, २४३, २४५, २४६, २४७, २६०, २६१, २६२, २६७, २७०, २७१, २७३, २७५, २७६, २७७
पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य ७, १८८
पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य-विवरणम् ७
पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति ५४, २११
पातञ्जलरहस्य ६
पातञ्जलरहस्यप्रकाश ७
पाहुड दोहा १०
पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति २३
पुरातनप्रबन्धकोश ३३, ३४
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २६
प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या २३
प्रतिमाशतक ४७
प्रतिमास्थापनन्याय ४७
प्रतिष्ठाकल्प २५
प्रतिष्ठासारोद्धार ३०
प्रबन्धकोष २१, ३३, ३४
प्रबन्धचिंतामणि ३३, ३४
प्रभावकचरित २१, ३३, ३५, ३६, ३७
प्रमाणमीमांसा ३८, २१४
प्रमारहस्य ४७
प्रवचनसार ८
प्रवचनसारोद्धार २५३
प्राकृतद्वयाश्रयमहाकाव्य ३८
प्राकृतपंचसंग्रह ३०
बोटिकप्रतिषेध २५
बृहन्मिथ्यात्वमंथन २५
भक्तामरचरित २८, ३१
भक्तामरस्तोत्र २८
भगवतीआराधना ३०
भगवतीसूत्र ८, २५३
भाषारहस्य ४७
भास्वती ६
मंगलवाद ४७
मंत्रराजरहस्य २५३
मणिप्रभा ७
मनोनुशासन १२
महादेवस्तोत्र ३८
महाभारत १०५, २६५
महावीरचरित ३३
योगतरंगिणी १२
योगदृष्टिसमुच्चय ६, २४, २६, २७, ५३, १०८, १६६, २०४, २३०, २७२
योगदृष्टिस्वाध्यायसूत्र १२
योगदीपिका ७, १२
योगप्रदीप १०, १२
योगप्रदीपिका ७
योगबिन्दु ६, २४, २६, २७, ५३, ७२, ८१, ८६, १००, १०६, ११३, ११६, १६०, २७२, २७३
योगभक्ति १२
योगभेदद्वात्रिंशिका १२
योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका १२
योगयाज्ञवल्क्य ५५, २७०
योगरत्नमाला १३
योगरत्नसमुच्चय १२
मूलाचार २३२
मूलाराधना ३०
मोक्षप्राभृत ८, ६, २०२
मोहराजपराजय ३३
यतिदिनकृत्य २५
यतिलक्षणसमुच्चय ४७
यशस्तिलकचम्पू २६
यशोधरचरित्र २५
योगरत्नाकर १३
योगरत्नावली १२
योगलक्षणद्वात्रिंशिका १३
योगवार्तिक ६, ७
योगवासिष्ठ २६६
योगविंशिका ६, २४ २७, ५३, ८४, ११३, १६०, २७२
योगविवरण १३
योगविवेकद्वात्रिंशिका १२
योगशतक ६, २४; २७, ५३, ६५, १०६, ११६, १६०
योगशास्त्र २, १०, ३०, ३७, ३८, ३६, ५४, १०६, १२३, १५१, २१३, २३१, २३५, २५७, २६६, २६६
योगशिखोपनिषद् ५५, २७०
योगसंकथा १२
योगसंग्रह १२
योगसंग्रहसार १३
योगसंग्रहसारप्रक्रिया १३
योगसार ६, १०, १३
योगसारप्राभृत ६, २६

योगसारसंग्रह १०
योगसिद्धान्तचन्द्रिका ७
योगसिद्धि २, ५२, ६१, १०४
योगसुधाकर ७
योगसूत्र ६, ७, २७, ६१, १३५, १४५, १४८, १४६, १५६, १६६, १७१, १७२, १७३, २००, २४२, २४३, २४६, २४८, २६६, २६८, २६९, २७०, २७५, २७६, २७७
योगसूत्रटिप्पण ७
योगसूत्र-बृहतीवृत्ति ७
योगसूत्रभाष्य ७
योगसूत्रवृत्ति ७
योगसूत्र-वैदिकवृत्ति ७
योगसूत्र-लघ्वीवृत्ति ७
योगांग १२
योगानुशासन १२
योगामृत १३
योगावतारद्वात्रिंशिका १२, ८१
योगावतारबत्तीसी ११
योगिरमा टीका १०
योगीद्दीपन १०
राजमार्तण्ड ७
लग्नशुद्विलग्नकुण्डलिया २५
लघुक्षेत्रसमास २४
लघुक्षेत्रसमासवृत्ति १५, २४
ललितविस्तरा २३
लिंगानुशासन सटीक ३८
लोकतत्त्वनिर्णय २४
वर्गकेवलीसूत्रवृत्ति २४
वादरहस्य ४७
वासवदत्ता १७
विचारश्रेणि १५
विचारसारप्रकरण १५, १६
विद्योदयभाष्य ७
विंशतिविंशिका २४
विशेषावश्यकभाष्य ८, २५३
वेदबाह्यतानिराकरण २५
वेदांकुश-द्विजवदनचपेटा
वैराग्यकल्पलता ४७
वैराग्यशतक १२
शान्तसुधारस १२
शास्त्रवार्तासमुच्चय २४
शिवस्वरोदय ३३
श्रावकधर्मविधिप्रकरण २४
श्रावकप्रज्ञप्ति २४
श्रीपालराजनोरास ४१
श्रुतसागरीयतत्त्वार्थवृत्ति २५३
षट्खण्डागम १६२, २५३
षड्दर्शनसमुच्चय १६, १७, २४
षोडशक ६, २७, ७७, ८४
षोडशकप्रकरण २४
षोडशकवृत्ति ४७
संग्रहणीवृत्ति २६
संसारदावानलस्तुति २५
संस्कृतद्वयाश्रयमहाकाव्य ३८
संस्कृत आत्मानुशासन २६
सपंचासित्तरी २६
समयसार ८
समराइच्चकहा १६, १७, २१, २४
समवायांगसूत्र १६८, १६१
सम्बोधसित्तरी २६
समाधितन्त्र ८, ६, २६
समाधिद्वात्रिंशिका १२
समाधिशतक ६
सम्बोधप्रकरण २४
सम्बोधसित्तरी २६
सर्वज्ञसिद्धि २४
सर्वार्थसिद्धि १४४, १७४
सामाचारीप्रकरण ४७
साम्यशतक १२
सुजसवेलीभास ४०
सुभाषितरत्नसंदोह ६, २६, ३०
सूत्रकृतांग(सूत्र) ८, ५२, ७६
सूत्रार्थबोधिनी ७
सिद्धहेमप्रशस्ति ३३
सिद्धहेम-प्राकृतवृत्ति ३८
सिद्धहेम बृहद्वृत्ति ३७
सिद्धहेमबृहन्न्यास ३७
सिद्धहेमशब्दानुशासन ३६
सिद्धहेमलघुवृत्ति ३७
सिद्धान्त-तर्कपरिष्कार ४७
स्तोत्रत्रय ४७
स्तोत्रावलि ४७

स्थानांग(सूत्र) ८, ५२
स्याद्वाद्कल्पलता ४७
स्याद्वादकुचोद्यपरिहार २४
स्याद्वादमंजूषा ४८
स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा २८, ३०
स्वामि नारायण भाष्य ६
हिंसाष्टक २४
हीरसौभाग्यम् ४२
हैरण्यगर्भशास्त्र २६६

शब्दानुक्रमणिका

अंतरंग ८३
अंतराय १६२
अन्तराय(कर्म) ७०, १८१, १८३, २४३
अकल्पितवृत्ति २५१
अकामनिर्जरा ८२, ११५
अक्षीणमहानस २६१
अक्षीणमहानसिक २६१
अग्नि-शिखाचारण २५७
अगोचर २०६
अघातीकर्म १८३, २०८
अघोरब्रह्मचारित्व २५८
अचरमावर्तकालीन २६
अचरमावर्ती ११३, ११६, २७३
अचेतन १४२
अचौर्याणुव्रत १५३, १५४
अजीव १२३, १४०, १४१, १४२, १८६
अज्ञान १६०, २२८, २७८,२७८
अज्ञानावस्था २०१
अज्झप्पयोग ५२
अणिमा २४६, २५५
अणुवेक्खा ७७
अणुव्रत ४, १०६, ११३, १५१, १५२, १५३, १५६, २०८, २७८
अणुव्रत धर्म १०६
अतत्त्व १६४
अतात्त्विकयोग ८२
अतिक्रान्तभावनीय १०१, १०२
अतिचार १५०, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १६०, १६२, १६३, १६६
अतिथिसंविभागव्रत १६१, १६३
अतिभारारोपण १५२
अतिव्याप्ति ५५
अतीन्द्रिय ८४
अत्यन्ताभाव ६२
अदत्तादान १६८
अद्वेष २८, ७४, १०६, ११०, १११, २०६, २७४
अधर्म १४१, १४२, १४३, १८६
अधिकारी २६, २७, ८४, ८५, ८६, ६१, ६२, ६३, ६७, १०४, ११३, २३५, २४०
अधिगमज सम्यग्दर्शन १२७
अधोदिशाप्रमाणातिक्रम १५७
अध्यवसान २२४
अध्यवसाय ८८,
अध्यात्म २६, ४७, ४८, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ८०, ८१, ८६, १७६, १६०, २७२
अध्यात्मधर्म ६६
अध्यात्ममार्ग ६६
अध्यात्मयोग ५२, ७३, ७४, ७६, ७७, ६६, १०६, १७६, २०८
अध्यात्म-साधना ६१,
अध्यात्मसार ११, ४६, ४७, ८८,
अध्यात्मोन्नति २०१
अध्यात्मोपनिषद् ११, ४७
अनंगक्रीड़ा १५५
अनगार १८०
अनगारधर्म १०५, ११६
अनधिकारी २६, २७
अननुविद्ध ५८
अननुष्ठान ११३, ११५, २६२
अनन्तज्ञान २००
अनन्तदर्शन २००
अनन्तवीर्य २००, २३६
अनन्तसुख २००, २३६
अनन्तानुबन्धी ६६, १६७, २१६
अनर्थदण्डव्रत १५७, १६०
अनशन २, ३, २२, ११०
अनवच्छिन्न ५८
अनवस्थितकरण १६२

अनस्तिकाय १४३
अनात्तागमन १५५
अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व १२८
अनाभोगिकमिथ्यात्व १२८
अनायतन १७६
अनालम्बन २, ७७, ८३, ८४, १६०, २७२
अनालम्बनध्यान ८५
अनालम्बनयोग ८३, ८४, ८५, ८८, २३०
अनास्रव ८२,
अनास्रवयोग ८२, ८३,
अनाहतत्रय २३१
अनाहतदेव २३१
अनित्य अनुप्रेक्षा २३६
अनित्य भावना १७५
अनिवृत्तिकरण १३१, १६७, १६८
अनिवृत्तिबादर १६३,
अनिवृत्तिसम्परायगुणस्थान १६८
अनिष्टसंयोग आर्तध्यान २२६
अनुकम्पा ११६, १२६
अनुग्रह ७४
अनुज्ञापित पान-अन्न-अशनग्रहण १७१
अनुपाधेय ६२
अनुप्रेक्षा २, ६, ७७, १४५, २३४, २३६
अनुमान १३३
अनुमानप्रज्ञा १३३
अनुमानप्रमाण ६०
अनुयोगद्वारविवृत्ति २३
अनुराग १००
अनुविद्ध ५८
अनुष्ठान ७३, ८६, ८७, ८८, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, १२१, १४२, २०३, २०६, २२०, २२२, २२३, २४१, २६२
अनेकान्तदृष्टि २१४
अनेकान्तवाद २२, १३५, १३६, १३७, १४०, २६७, २६८
अन्तरात्मा १६०, १६१, २०१, २०२, २०३, २०४, २४६
अन्तराय १६२, २४३
अन्तःकरण १, २, ७०, १२६, २११, २४३
अन्तःसंलीनता ५२
अन्तर्धान २५०, २५६
अन्तर्मुखी २१४
अन्तर्मुहूर्त ७०, ७८, १६४, १६६, १६६, २३६
अन्तर्वृत्ति २१५
अन्तस्तप ३
अन्धपाषाण ६३
अन्नपाननिरोध १५२
अन्यत्वभावना १७६
अन्यमुद् २८, ७८
अपकर्ष १६१
अपगम ७६
अपध्यान ११६, १६०
अपरम अवस्था २५३
अपरिग्रह ४, १५१, १५५, १६६, १७२, १७३, २०८, २०६, २४८, २७६
अपरिग्रहमहाव्रत १६६
अपरिग्रहीतागमन १५५
अपवर्तना १८४
अपाय २२७,
अपाययुक्त २०७
अपायविचय २२७, २२८
अपुनर्बन्धक २६, ६५, ६६, ६७, ६८, १०६, ११६, १६०, २७३
अपूर्वकरण १३१, १६३, १६७
अप्रतिघात २५६
अप्रतिपाति २०७
अप्रत्याख्यानावरण १६५
अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या-संस्तारक १६३
अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार-प्रसवणभूमि १६३
अप्रमाजित-दुष्प्रमाजित शय्या-संस्तारक १६३
अप्रमाजित-दुष्प्रमाजित उच्चारादिभूमि १६३
अप्रमत्त २०४
अप्रमत्तसंयत १६३, १६६, १६७, २३६
अप्रमाद ६८, ८२, ८३
अप्रशस्त २२४
अब्रह्म १५४, १६८
अब्रह्मचर्य २२४
अभव्य ६३
अभव्यजीव ११६, १३०, २७३
अभव्यत्व ११६, २७३
अभिनिवेश १२७, १३६
अभिन्नदशपूर्वी २५५
अभिमान ६१
अभिषवाहार १५८

अभीक्ष्ण-अवग्रहयाचन १७१
अभ्यास १, ६, ६२, ८५, ६१, १०१, १०५, १२१, १२७, १३१, १४०, १४७, १६१, १८१, १८६, २७५
अमूर्त ८५, २३१, २३५, १४३
अमूढ़दृष्टि १२५
अमृतानुष्ठान ११३, ११६
अमोघ २२३
अयोग ५६, ८५, २४१, २७१
अयोगकेवली ७६, ८०, ८१, १६३, २०१, २४१
अयोगकेवलीगुणस्थान ८०, २४०
अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका ३८
अयोगिजिन २०१
अयोगिकेवलि २०१
अयोगकेवलिजिन २०४
अयोगीकेवली १०१
अरविन्दपूर्व आसन २१३
अरिहन्त २३६
अरूपी १०८, १४१
अरूपी आलम्बन ८४, २३४
अर्थ ८३, ८४, ८७, ११२, २३८, २४२
अर्थज्ञान ११२
अर्धपर्यंकासन २१३
अर्धपुद्गलपरावर्तन ६५
अर्धमिथ्यात्वी १६४
अर्धसम्यक्त्वी १६४
अर्वाचीनयुग ७, ११
अर्हत् २३५
अर्हन्तपद १०५
अलोक २३६
अलोकाकाश १४३
अलौकिक २४७
अल्पभवी ८२
अल्पाहार २७५
अवग्रह २४५
अवञ्चक १०३
अवञ्चकयोग २७
अवधिज्ञान ८२, १३३
अवधिज्ञानऋद्धि २५४
अवन्ध्य २२३
अवश्यायचारण २५७
अवस्थिततप २५८
अविकास १८६, १६०, २०१, २४६
अविचार २३८, २४३
अविद्या ६१, ७८, १२७, १२८, १२६, १३५, १३६, १४०, १४५, १४६, १८२, २०५, २७५
अविरतसम्यग्दृष्टि १६३, १६५
अविरति ६७, १४५, १६३
अव्यक्त १२४, १८६, २७५
अव्रत ६७
अवेद्यसंवेद्य २१४
अवेद्यसंवेद्यपद २०७
अव्याप्ति ५५
अशरण अनुप्रेक्षा २३६
अशरणभावना १७६
अशुक्लाकृष्ण १८२
अशुचित्वभावना १७६
अशुद्धिक्षय २०६
अशुभ ६५, १००, २२५
अशुभकर्म १४४, १८४
अशुभयोग ५१, १४४, १७८, २४६
अशुभाशय २०४
अशुभोपयोग १६०, १६१, २०३, २०४, २४६
अश्वासन २१३
अष्टपाहुड ८
अष्टप्रवचनमाता १७३
अष्टांगमहानिमित्त २५५
अष्टांगयोग १, २, ४, ५, ६, ८, १०, १२, २६, ३३, ५५, ८३, ६२, १०५, १११, १४७, १७६, १८६, २०६, २६७, २६८, २७५, २७६, २७८
अष्टांगयोगमार्ग ४, ८, १०
असंग २७, ८७, २४८
असंगता २२२
असंगयोग ८७
असंगानुष्ठान ३४, ८७, २२२
असंतोष २०६
असंयतसम्यग्दृष्टि १६५
असईपोसं (असतीपोषण) १६०
असत्य १५२, १६८, १६४, २२४, २२७
असत्तृष्णा २११
असद्ध्यान २०४
असदनुष्ठान ११३, ११४
असम्प्रज्ञात ५०, ५७, ८६

असम्प्रज्ञातयोग ५६, ६१, ६२, ८०, ८१, ८६, १८६, २७१, २७२
असम्प्रज्ञातसमाधि ५७, ६१, ८०, ८१, ८२, ११६, २४२, २४३, २७१, २७२, २७७
असम्मोह २४०
असातावेदनीय १००, १४४
अस्तिकाय १४३
अस्तेय ४, १५१, १५३, १६६, १८६, २०८, २०६, २४८, २७६
अस्तेयमहाव्रत १६६, १७०, १७१
अस्तेयाणुव्रत १५३
अस्थिरीकरण १३०
अस्पृहा २१०
अस्मिता ५८, ५६, ६०, १२७, १३६, १४०, १४६
अस्मितानुगत २४२, २७२
अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातयोग ५८, ५६, ६०, २७२
अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि ६०
अहंकार ५६, ६०, ६२
अहिंसा(व्रत) ४, १५०, १५१, १५२, १६६, १८६, २०८, २०६, २४८, २६०, २७६
अहिंसाणुव्रत १५१
अहिंसामहाव्रत १६६
आकारमौन २१०
आकाश १४१, १४२, १४३, १८६
आकाशगामित्वऋद्धि २५६, २५७
आकांक्षा ८५, १२६, १३०
आकृति २७६
आगम १२३, २२२
आगम(प्रमाण) ६०
आगमकाल ११
आगमयुग ७, १३
आगमश्रवण ६६
आगमानुष्ठान ८७
आग्नेयी २२५, २३५
आग्नेयी धारणा २२६, २३५
आचार ८६, १११, ११२, १२१, १८५, १८६, १८७, २६७, २७६, २७५,
आज्ञाविचय २२५, २२७, २२८
आठ अंग २०६
आठ गुण २०६
आठ दोष २०६
आठ योगांग २०६
आत्मचिंतन २, ३, २१०
आत्मज्ञान ५४
आत्मतत्त्व ८५
आत्मदर्शन ५४
आत्मधर्म ११६
आत्मपरिणाम ६७, २२४
आत्मबलस्थैर्य ६८
आत्मप्रदेश २३६
आत्मविकास ६८, २०१, २०७
आत्मव्यापार ८३
आत्मशक्ति १६२
आत्मसंप्रेक्षण ७४, ७५
आत्मसंयत ६७
आत्मा ११, ३२, ५३, ५४, ६२, ६३, ६५, ६६, ७१, ७३, ७६, ७८, ७९, ८०, ८३, ८४, ८५, ८७, ८८, ९०, ९४, ९६, ९७, ९९, ११०, ११५, ११६, १२३, १३३, १४१, १४४, १४५, १४६, १८१, १८२, १८७, १८८, १९०, १९१, १९२, १९३, १९७, २०१, २०२, २०४, २०५, २०७, २२६, २३०, २३१, २३५, २३७, २३९, २४१, २४४
आत्मानुष्ठान ८
आत्मालोचन ६०
आत्मोन्नति २०१
आत्यन्तिक ८०
आदानसमिति भावना १६६
आदाननिक्षेपसमिति १७५
आदर्श २४८, २५०
आद्यावञ्चक १०३
आध्यात्मिक विकास ८५, ९६, १०६, १८६, १८८, १९०, १९४, १९५, १९६, २०१, २०२, २०४, २०६, २१४, २४६, २४७, २७७, २७८
आध्यात्मिक विकासक्रम ७२, ८०, १८८, १८६, १९०, २०३, २०४, २०६, २७७, २७८
आनन्द ५८, ६०
आनन्दानुगत २४२, २७२
आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग ५८, ५६
आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि ५८, ५६
आनयन १६२
आन्तरिक १८८
आभिग्राहिक मिथ्यात्व १२८

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व १२८
आभ्यन्तर ३, ४, ११०, २१०, २४८
आभ्यन्तर तप ३, ११०, २६६
आभ्यन्तरवर्ग २४८
आभ्यन्तरवृत्ति २१४
आभ्यन्तर शौच २१०, २४६
आमरणान्त २३५
आमर्शौषधि २५६
आम्रकुब्जिकासन २१३
आयुकर्म ११३, २३६
आयुष्य १०२, १८३
आयुष्यकर्म ८०
आयोज्यकरण ७१,
आरम्भ १५१
आरम्भवर्जनप्रतिमा १६५
आरम्भी हिंसा १५१
आरुरुक्षु ६२
आरोहणक्रम १०१
आर्जव २४०
आर्तध्यान १६१, १७८, २२४, २२६
आलम्बन २७, ५६, ६०, ८३, ८४, ८५, ८७, १८६, १६०, २२६, २३०, २३१, २३२, २३४, २३५, २३८, २४३, २७२
आलम्बनयोग ८५
आलोकितपानभोजनभावना १६६
आलोचना
आलोच्य-भाषण १७०
आलोच्य-अवग्रहयाचन १७१
आवरण १६१, २४६
आवश्यक २३४
आवश्यककर्म ११६, १६५
आवश्यकक्रिया ७६
आशय ६३, २०४
अशुभकर्म १८४
आशीर्विष २६०
आसंग(दोष) २८, ७८
आसन २, ४, ५, ६, १०, ३६, ५२, ८३, ८४, ८६, ११८, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २२८, २३२, २३४, २४६, २६६, २७०, २७६
आसन-सिद्धि २१२
आस्तिकता ६३
आस्तिक्य ११६, १२६
आस्रव ५१, ५६, १४०, १४१, १४४, १४५
आस्रवभावना १७६
आस्यनिर्विष २६०
आहार ११७
इंगालकम्म (अंगारकर्म) १५६
इच्छा २७, ६६, ८६, ८७, २०६, २७२
इच्छानिरोध २
इच्छापरिमाण (व्रत) १५१, १५५, १५६
इच्छायम १०३, २०६
इच्छायोग २६, ६६, ६७, ७२, ८६, २७२
इत्वरपरिगृहीतागमन १५५
इत्वरात्तागमन १५५
इन्द्रिय २४४
इन्द्रियकषाय ३६
इन्द्रियजय १४८, २०६
इन्द्रियसंयम ६१
इन्द्रियसिद्धि २०६, २४६
इष्टवियोग आर्तध्यान २२६
इष्टापूर्त कर्म २१४
इष्टोपदेश ८, २६
इहालोकाशंसा प्रयोग १६६
ईर्यासमिति १७४
ईर्यासमितिभावना १६६
ईर्ष्या ७४, ७६, २४५
ईशित्व २४६, २५६
ईश्वर ११८, १२४
ईश्वरप्रणिधान १, २, ५५, ५७, ६२, १११, १२१, १२४, १३१, १८६, २१०, २११, २४६, २६६, २७५
उग्रतप २५७, २५८
उग्रविष ११३
उग्रोग्रतप २५८
उच्चाटन २३०
उत्कटिकासन ७८, २१३
उत्कृष्ट स्थिति ६५
उत्तम ६२
उत्तमसंहनन ७८, २२३
उत्थान २७, ७८, २१४
उत्पाद २२८, २७६
उत्सर्गसमिति १७४
उत्सन्नक्रियाऽप्रतिपाति २४०

उत्सन्नदोषत्व २२७
उदय ६०, ६२, ८०, ८१, ९६, १००, १८४, १९१, १९४, १९५, १९६, १९७, २००, २१४, २२८
उद्वर्तना १८४
उदानवायु २५१
उदीरणा १८४
उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा १६५
उद्योगी हिंसा १५१
उद्रेक ५६
उद्वेग २७, ७८, ७९, २०६, २१०
उन्मज्जन २४७
उपगूढ़न १२५
उपगूहन १२५
उपद्रव २१०
उपनिषद् २६६
उपबृंहा १२५
उपबृंहण १२५
उपभोगातिरेकता १६०
उपयोग १४२, २०३
उपशम ८६, १८४, १९१, १९४, १९६, १९७, १९८, २०३, २३७
उपशमन १८०, १८४
उपशम श्रेणी १९४, १९७, १९८, १९९
उपशान्तकषाय २३६
उपशान्तमोह १९३
उपसंपदा ५६
उपादेय ६, ६२, २०२, २१३
उपाधि ११४
उपाय ६३
उपायप्रत्यय ६१, ६२, ६३, ११९, २४२, २७२
उपायप्रत्ययसम्प्रज्ञातयोग ६२, ६३, २४२
उपेक्षा ७४, ७७
उष्ट्रनिषदनासन २१२
ऊर्ण २७, ८३, ८४, ८७, १९०, २७२
ऊनोदरी ३, ११०
ऊर्ध्वदिशाप्रमाणातिक्रम १५७
ऋत २२५
ऋतम्भरा १०१
ऋतम्भराप्रज्ञा ५८, ६०, ६१, १२७, १३१, १३३, २७५
ऋद्धि ११४, २४७, २४८, २५३, २६२
एकतानता २२४
एकत्व-वितर्क अविचार ८१, २३८
एकत्व अनुप्रेक्षा २३६
एकाकार २४२
एकाकारवृत्ति ७८
एकाग्र(भूमि) ८४, ८५, १८८, १८९, २३४, २४२, २४५, २७७
एकाग्रता ५४, ५६, ६०, ६२, ७८, ८३, ८४, ९३, १४८, २०९, २१७, २३७, २४२
एकाग्रचित्त २४५, २४६
एकाग्रचिन्ता २२३
एकाग्रचिन्तानिरोध ७८, २२३, २२५, २३७
एकाग्रमनःसन्निवेशना २७७
एकाग्रावस्था ५०, २७२
एकत्ववितर्क-अविचार २३८, २७७
एकाग्रीकरण २३०
एकात्मिका ६०
एषणासमिति १७४
एषणासमिति भावना १६६
ओघ १९२
ओघदृष्टि २६, १९०, २०५, २०६, २०८ २७८
ओघ संज्ञा ११५
औत्पत्तिकी २५५
औदायिक १९२
औपशमिक १९२
औपशमिक सम्यग्दर्शन १२७
औषधऋद्धि २५६
औषधि ६, २५२
कथाकोष २५
कदाग्रहत्याग ४७
कनक-पाषाण ६३
करण १३०, १५०
करणलब्धि १३०
कन्दर्प १६०
कन्यालीक १५३
करुणा ७७, २३२
करुणाभावना २३३
कर्म ६, ७९, ९६, १०६, १४५, १५८, १८१, १८२, २२६, २४७, २६४
कर्मक्षय २४७
कर्मजा २५५
कर्मनिर्जरा ८८

कर्मपुद्गल १४५, १८२
कर्मप्रकृति १८३
कर्मफल २२८
कर्मबन्ध ५१, ७६, ८८, ६५, १८४
कर्मबन्धन ६, ५३, ११३
कर्मभूमि ६३, १०२, ११६, २७३
कर्ममालिन्य २०५
कर्मयोग १, २७, ८३, ८७, ८८, ८६, ६०, २६४, २७२
कर्मविपाक ६, १८३
कर्मविशुद्धि १६१
कर्मसंयोग ८०, ८१
कर्मसम्पदा २५३
कर्मास्रव १७६
कर्मादान १५८, १५६
कषाय ३२, ५१, ७४, ६४, ६७, १४५, १६७, १६३, १६५, १६६, १६८, १६६, २००
कान्ता(दृष्टि) २०५, २२०, २२२
कापोत(लेश्या) २३४, २३५
काम ७६, ११३
कामतीव्राभिनिवेश १५५
कामरूपित्व २५६
कायक्लेश ३, ११०
कायगुप्ति १७४
कायदुष्प्रणिधान १६२
कायबल(ऋद्धि) २५६
काययोग २३६, २४०
कायसिद्धि २०६
कायोत्सर्ग ४, ५, ८, ७१, ८४, १६५, १७६, २१३, २१४, २६५
कायोत्सर्ग प्रतिमा १६४
कायोत्सर्गासन २१३
कार्यकारणभाव ५६
कार्यकारणसिद्धान्त १८२
कारुण्य(भावना) ७३, ७६, ७७, २३६
काल ७४, १४१, १४२, १४३, १८६, २३२, २७६
कालज्ञान ३६
काललब्धि ६५
कालातिक्रमदान १६३
काष्ठमौन २१०
कुतर्क २१४
कुप्य-प्रमाणातिक्रम १५६
कुम्भक २१४, २१५
कुलयोगी २६, २७, १०२, १०३, १०४, १२०, २७४
कुशलचित्त ५६
कूटतुला-कूटमान १५४
कूटलेखकरण १५३
कूटसाक्षी १५३
कूर्चालीशारद ४४
क्रिया ८, ८६, ८६, ६०
क्रियाऋद्धि २५६
क्रियाकाण्ड ६०
क्रियायोग १, २, ६, ४७, ५५, ६२, १०५, ११०, १११, ११७, १८६, २६६, २७०, २७५
क्रियावञ्चक १०३, १०४
क्रियाशुद्धि ६७
क्रोध ७६, १०६, ११३, १६८, १६८, २१०
क्रोध-प्रत्याख्यान १७०
क्रौंचनिषदनासन २१२
क्रौंचासन २१३
केवलज्ञान ६, ६६, ७०, ८०, ८१, ८२, ८५, ८६, १३३, १६२, २००, २३६, २४०, २४१
केवलज्ञानऋद्धि २५४
केवलज्ञानदर्शन ७६
केवलज्ञानी २३४
केवलदर्शन २३६
केवलि अवस्था ८५
केवली २४३
केसवाणिज्ज (केशवाणिज्य) १५६
कैवल्य ६, ६०, ६२, ६३, ६६, ७०, ८०, ८१, ८२, ८५, ८६, १२१, १३१, १३३, १८६, २०१, २०३, २०४, २३६, २४०, २४१, २४७, २५१, २५२, २७५
कैवल्यप्राग्भार २०३
कैवल्यावस्था २०३
कोडाकोडीसागर ६५
कोडाकोडीसागरोपम ६५
कोष्ठकबुद्धि २५४
कौत्कुच्य १६०
कृतज्ञ ११२
कृन्दन २३४
कृष्ण १८२, २३४, २३५
कृष्णपक्ष ६६
कृच्छ्र ११०

क्लॉट ३४
क्लिष्ट ५४
क्लेश ६, १२७, १४०
क्लेशकर्म २४२
क्षपक १६८, २०३
क्षपकश्रेणी ७०, ७१, ८०, ८५, १६७, १६६, २०३
क्षमा १०६, १८०, २१०
क्षय २, ५१, ५४, ७४, ७६, ८०, ८१, ८८, ८६, ६६, १०१, १४५, १८८, १६१, १६३, १६७, १६८, १६६, २०१, २३७, २४०, २४१, २४७
क्षयोपशम ७१, ८६, ८७, ६६, १०४, १३०, १६१, १६७, २०५
क्षायिक ७०, १६२
क्षायिक सम्यग्दर्शन १२७
क्षायोपशमिक ७०, ७१, १६२
क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन १२७
क्षिप्त(भूमि) १८८, १८६, २७८
क्षिप्तचित्त २४५
क्षीण ७६, १६८, १६६, २४७, २४६, २७८
क्षीणकषाय १६६, २०४, २३६
क्षीणकषाय छद्मस्थ १६६
क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ १६६
क्षीणमोह १६३
क्षीरास्रावी २६०
क्षुधा-पिपासा २१०
क्षेत्र ७४, २७६
क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम १५६
क्षेत्रवृद्धि १५७
क्षेप २७, ७८
क्ष्वेलौषधि २५६
खेद २६, २०६, २०६, २४५
गजांकुशन्याय २४६
गजासन २१३
गणधरदेव २५३
गणिऋद्धि २५३
गरानुष्ठान ११३, ११४, ११५
गरिमा २४६, २५६
गुण १३४, १३५, १८८, १६१, १६२, २१४
गुणव्रत १५०, १५७, १६०, २१०, २७६
गुणश्रेणी आरोहण १६३
गुणस्थान ७१, ७२, ७४, ८०, ८१, ८२, ८५, ६६, ६७, १०१, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६६, २००, २०१, २०४, २३६, २४०, २४६, २७२
गुणस्थान क्रमारोहण १६२, १६३
गुणस्थान-परम्परा १६१, २७८, २७६
गुप्ति २, ५४, ८३, १४५, १६८, १७३, १७४, १८०, २७१
गुरु २७, १०६, ११८, १२३, २७४
गुरुवंदन ८८, १७६
गोत्रकर्म १८३
गोत्रयोगी २६, १०२, १०३
गोदोहिका आसन २१३
गोलीक १५३
ग्रन्थि ६८
ग्रन्थिभेद ७६, ६७, ६८, ६६, २०४, २७२
गृहस्थधर्म १०५, ११३, २७६
घातीकर्म १८३, १६२, २३६
घोरगुणब्रह्मचारिता २५७, २५८
घोरतप २५८
घोरपराक्रमता २५७, २५८
घ्राणेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन १७३
चक्षुरिन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन १७३
चतुर्विंशतिस्तव ८८, १६५, १७८, १७६
चन्द्रप्रभा २०७
चरमपुद्गलपरावर्तन २०८
चरमपुद्गलावर्त ११६, २७३
चरमावर्तकाल ११३
चरमावर्तकालीन २६
चरमावर्ती ६६, ११६, ११६, २७३
चरमावस्था ६१, २०१
चान्द्रायण १००
चारणऋद्धि २५६
चारणलब्धि २५७
चारित्र २, ३, ८, ६, ६५, ७२, ७५, ७६, ७६, ८०, ८६, ६३, ६४, ६६, १००, १०३, १२४, १४२, १४५, १४७, १४८, १४६, १६१, १६७, १७८, १७६, १६०, १६१, १६३, १६८, २००, २१०, २३२, २६७, २७६, २७८
चारित्रगुण १००
चारित्रधर्म ६६, १०१
चारित्री २६, २७, ८६, ६४, ६५, ६६, १००, १०१, १०२, ११३, ११६, २७३
चारित्रमोह १६२, १६३

चारित्रमोहनीय ६५, १६२
चारित्रमोहनीयकर्म ७१, १६२, १६५, १६७
चारित्रशुद्धि ७३, १६६
चारित्र सामायिक १७७
चित्त ५, ११, ५७, ६०, ६१, ६२, ७६, ७८, ८४, ६३, ६८, ६६, १०८, ११०, १७७, १८८, १८६, १६१, २०६, २१४, २२७, २३१, २३२, २३४, २३८, २४२, २४५, २४६, २४७, २४६, २७२, २७६
चित्तनिरोध ५२, २२८, २४५
चित्तवृत्ति १, १३१, १६१, २३३, २४२
चित्तवृत्तिनिरोध १, ३६, ५०, ५१, ५४, ५६, ६२, ६१, १२४, १२७, १३१, १८६, १८८, २६६, २७१, २७२, २७५
चित्तविकल्प १८८
चित्तशुद्धि ६३, ६४, ११६, १४७, २३७
चित्तैकाग्रता ५२
चित्तौड़ २०
चिदानन्दस्वरूप २३१
चिन्तन ८३, ६६, २३०
चिन्ता ८६, २३३
चिन्तानिरोध ७८
चिन्मय २०६
चूर्णि ८
चेतना ५४, १४२, १४५, २०३
चैतन्य ८४, १४१, १४२
चैत्यवन्दन ११६
चोरी २३४
चौदहपूर्वित्व २५५
चौर्य २३२
चौर्यानुबन्धी २३४
छद्मस्थ १६६, २२४, २४०
छविच्छेद १५२
छेद १५२
छेदापस्थापनाचारित्र १४८, १४६
जंगम १४२
जंघाचारण २५७
जन्तपीलणकम्म (यन्त्रपीड़नकर्म) १५६
जघन्य स्थिति ६५
जड़-भरत ६२
जन्म ६, २५२
जप १०, २७, ७४, ६६, १२४, १७७, २१०, २१२, २६४
जपयोग १, २६४
जम्बूद्वीप २०
जलचारण २५७
जल्लौषधि २५६
जिज्ञासा २०६, २०६
जीव २६, ८५, ८६, ६५, ६६, ६८, १००, १०१, १११, ११३, १२३, १२४, १३०, १४०, १४१, १४२, १४३, १४५, १७७, १८२, १८६, १६०, १६१, १६२, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६६, २००, २०१, २०२, २०४, २०५, २३८
जीवन्मुक्त १३३
जीवन्मुक्ति ८०
जीवसमास १६१, १६२
जीवस्थान १६०, १६१, १६२
जीवात्मा ८३
जीविताशंसा प्रयोग १६६
जुगुप्सा २०६
जैन आचार २६६
जैनतत्त्वज्ञान २६६
जैनदर्शन १३, ८०, १२१, १२२, १२३, १३२, १३४, १३५, १३६, १३७, १४०, १४१, १४३, १४५, १४६, १८५, १८६, १६०, १६५, २००, २११, २४२, २४३, २७३, २७५, २७६, २७७, २७८
जैनधर्म १०५, १६७
जैन-परम्परा ८, १३, ३२, ४४, ५२, ५४, ५६, १०२, १०५, १०६, ११०, ११६, ११८, ११६, १२०, १२१, १२२, १२४, १२६, १३०, १३३, १३५, १४३, १४६, १४७, १४६, १५०, १५६, १६५, १६७, १६८, १७७, १८१, १८२, १८४, १८६, १८७, १६२, १६७, २०१, २०४, २०६, २०८, २१२, २३४, २४२, २४५, २४६, २४७, २५३, २६२, २६६, २६८, २७०, २७१, २७३, २७६, २७७
जैनयोग १, २, ७, ८, ६, १२, १२२, १८७, २१४, २६४, २६६, २६८, २६६, २७३, २७५, २७६, २७७, २७६
जैनयोग-परम्परा ६, ३२, १२१, १३१, १८७, २१२, २१३
जैनयोग-साधना २६६
जैन-साधना १७७, १८७
जैनागम ७, ८
जोग ५२
जोगवं ५२
जोगवाहिता ५२

ज्योतिरश्मिचारण २५७
ज्ञान ८, ३९, ५८, ५९, ६५, ७३, ७५, ७६, ७९, ८३, ८५, ८६, ८९, ९३, ९७, ११५, १२३, १२४, १३१, १३२, १३३, १४२, १६१, १६७, १७९, १८८, १९०, १९१, १९८, २०५, २१४, २३२, २३३, २४३, २५०, २५१, २६४, २७३, २७५, २७६, २७८
ज्ञानकेवली २४१
ज्ञानदर्शन २११
ज्ञानयोग १, २७, ८३, ८७, ८८, ८९, ९०, १८६, २६४, २६६
ज्ञानराज्य २०४
ज्ञानावरण १९२, २४३
ज्ञानावरणकर्म ७०
ज्ञानावरणीय २४१
ज्ञानोपयोग ६४
ज्ञेय ८, १३३, १३४, १४१, २४३
तंत्रयोग ६, २३३, २६६, २६८, २६९, २७०
तंत्रशास्त्र २३६
तत्त्व १४०, १४१, १८६
तत्त्वज्ञान ११२, १२२, १२३, २०६, २३२
तत्त्वज्ञानी ६४
तत्त्वदर्शन २०५
तत्त्वप्रतिपत्ति २२६
तत्त्वबुद्धि ७६
तत्त्वरुचि १६३
तत्त्वरूपवती धारणा २३०
तत्त्वश्रवण २११, २१४
तत्त्वावबोध ११३
तद्धेतु अनुष्ठान ११३, ११५, ११६
तनाव १६४, १६७
तन्त्र ३२
तन्त्रयान २६७
तन्त्रयोग ६, १०, ३३, ३६, ५५, ७०, २६६, २६८, २६९
तन्मात्रा २४३
तप २, ३, ४, ६, ७, २७, ३२, ५५, ५७, ७३, ७६, ८८, ८९, ९२, ९७, ९९, १०६, १०९, ११०, १११, १२१, १२४, १३२, १४६, १६५, १६८, १८६, २१०, २११, २१२, २४७, २४९, २५२, २५३, २५४, २५५, २६४, २६६, २६९, २७१, २७४, २७५, २७६, २७७
तपऋद्धि २५७
तपधर्म २७६
तपयोग १, २६४
तपश्चर्या ३
तपस्या २४७
तप्ततप २५७, २५८
तपोयोग १, ३
तमोगुण १८९, २४५
तर्क १२१
तस्करप्रयोग(अतिचार) १५४
ताडन २३४
तात्त्विकयोग ८२
तामस ५९, ८१
तारकज्ञान २००
तारा(दृष्टि) २०५, २०६, २११
तार्किक ४४
तितिक्षा १०६, २१०
तिर्यंचगति २३४
तिर्यग्दिशा-प्रमाणातिक्रम १५७
तीर्थंकर ६५, ८४
तीव्रबोध ६८
तुच्छ-औषधि-भक्षण १५८
त्याग ७४, २७४
त्यागधर्म १०६
त्रस१६२
त्रिलोचन १७
त्रिविध आत्मा २७८
त्रिविध उपयोग २०४, २४६, २७८
त्रिविध परिणाम ६
त्रिविधयोग ६५, ७२
तृष्णा २१०
दग्ध ६३
दण्डासन २१२, २१३
दंतवाणिज्ज (दन्तवाणिज्य) १५९
दण्डपद्मासन २१३
दम्भत्याग ४७
दर्शन ३९, ७३, ७५, ७६, ९२, ९३, १०३, १२१, १२३, १४२, १६७, १७९, १८८, १९१, १९८, २११, २३२, २४०
दर्शनप्रतिमा १६४
दर्शनमोह १९२, १९३, १९७
दर्शनमोहनीय(कर्म) ९९, १९२, १९३, १९६, २०५
दर्शनसप्ततिका २५

दर्शनावरण ७०, १६२, २४३
दर्शनावरणीय(कर्म) १८२
दवग्गिदावणया या दवदाणवणिज्जा १५६
दशपूर्वित्व, २५५
दशविधधर्म २, १८०
दान १०६, १०८, २७४
दान्त २३५
दिङ्मूढ़ता २३३
दिग्व्रत १५७, १६०
दिव्यदर्शन २४६
दिव्यश्रवण २४६
दिव्यश्रोत्र २४८
दीप्ततप २५७, २५८
दीप्रा(दृष्टि) २०५, २१३, २१४, २१५, २१६
दीर्घदर्शी ११३
दुःख ६
दुःखहेतु ६
दुर्गति २०४, २१४
दुर्ध्यान ११६, २३२
दुर्योधनासन २१३
दुष्ट ग्रह २३०
दुष्टता २३४
दुष्पक्वाहार-भक्षण १५८
दूरघ्राणत्व २५४
दूरदर्शित्व २५४
दूरश्रवण २४६
दूरश्रवणत्व २५४
दूरस्पर्शत्व २५४
दूरास्वादन २५४
दूरस्वादित्व २५४
दृष्टान्नपानग्रहण भावना १६६
दृष्टि ११५, १२३, २०४, २२६
दृष्टिनिर्विष २६०
दृष्टिवाद २१४
दृष्टिविभाजन २०४
दृष्टिविष २६०
देवऋद्धि २५३
देवपूजन १०८, २७४
देवपूजा १६५
देववन्दन ७४, ७५
देशना ६५, १३०
देशविरति २६, ७४, ६६, १६०, १६३, १६५, १६६, २३५, २७२
देशविरत १४६
देशविरतचारित्री १०१
देशव्रत १५७
देशावकाशिक व्रत १६१, १६२
दोष ७५, २०६, २१४, २४१
द्रव्य ११, ७४, १०८, १३४, १३५, १४१, १४३, १८१, २७६
द्रव्यपूजन १०८
द्रव्यशौच २१०
द्रव्यसम्यग्दर्शन १२७
द्रव्यहिंसा १५१, १५२
द्रष्टा १
द्वन्द्व २१०
द्वादशानुप्रेक्षा ३६, १७५
द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम १५६
द्वेष ७४, ७८, ७६, ६८, ६६, १००, १०३, ११०, १३६, १४०, १४५, १४६, १४७, १६१, १७७, १८०, २०६, २०८, २१३, २१४, २२६, २३१, २४५
दुर्ध्यान २०४
धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम १५६
धर्म ७१, ८७, ८६, ६६, ६७, १२१, १४०, १४१, १४२, १४३, १४५, १४७, १८६, २३४, २७६
धर्मध्यान ५, ३६, ५२, ८३, १७८, २३२, २३४, २३५, २३६, २३७, २४१
धर्मभावना १७६
धर्ममेघसमाधि ६, ६१, ८६, २३७
धर्मव्यापार ६३, ६४, ६७, ६८, ७०, ७१, ७२, ७५, १०४, २७०, २७८
धर्मश्रवण ६४, ११२, ११६
धर्मसंन्यासयोग ७१, २४१
धर्मसाधना ८६
धर्मसूत्र १०५
धर्मास्तिकाय २४०
धर्मी २४३, २७६
धर्मोत्तर १६
धीनिरोध ५२
ध्रुवमार्ग २३०
ध्रौव्य २३६, २७६
धूर्तता २३४
धारणा २, ४, ६, १०, २१२, २२८, २२६, २३०, २३१,

ध्याता ५१, २३१, २३२, २४१, २४२
ध्यान २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, २६, ३०, ३२, ३३, ४७, ७२, ७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८४, ८५, ८६, ८८, ८९, ९०, ९९, ११०, ११८, १७९, १८६, १९१, २१०, २१२, २१३, २२९, २१८, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४७, २४९, २५२, २५३, २६४, २६६, २६७, २६९, २७१, २७२, २७३, २७६, २७७
ध्यानभूमि ५९, २६७
ध्यानयोग १, ७७, ७८, ७९, २६४, २६६
ध्यानश्रेणी २३२
ध्यानसंतति २३२
ध्यान-साधना १२२, २३४, २७०
ध्येय ५१, ६०, ७८, ८४, ८५, २०२, २३१, २३२, २३४, २३५, २३७, २३८, २४१, २४२
नक्षत्रप्रभा २०७
नाडीशुद्धि ३३, ३६
नाथ-परम्परा २२१
नाथ-सम्प्रदाय २६८
नानाचित्तप्रकरण २५
नानादोषत्व २२७
नाम(कर्म) १८३
निकाचना १८४
निग्रह २
निदान आर्तध्यान २३६
निद्रा १३३, १३५
निधत्ति १८४
निमज्जन २४७
नियम २, ४, ५, ६, १०, ३९, ५१, ५२, ५५, १०६, १११, १२४, १२५, १४७, १४८, १७७, २०६, २०७, २०९, २१०, २११, २२८, २४८, २७०, २७६, २७८
निरंजन २३१
निरतिचार २४१
निरनुबन्ध(योग) ८२
निरवद्ययोग १६१
निरालम्बन ८४, २३२, २३८
निरालम्बनध्यान २३५, २४४
निरालम्बनयोग २७२
निरालम्बनसमाधि २७२
निरुद्ध ५०, ६१, १२८, १८८, १८९, २३६, २४५
निरुद्धभूमि १८९
निरुद्धचित्त २४५, २४६
निरुद्धावस्था ५०, ६१, १८९, २७२
निरुपक्रम २५०
निरोध १, ८, ५१, ५४, ५७, ५९, ६१, ८०, ८१, १२८, १३१, १३३, १३६, १३७, १४५, १६१, १६८, १७९, १९३, २०१, २१४, २१५, २१७, २३४, २४०, २४२, २७१, २७७
निर्गुण ब्रह्म २०१
निर्जरा २, ४, ६३, ८८, १४०, १४१, १४५, १४६, १७९, १९४, २३१
निर्जरा भावना १७६
निजीर्ण २
निजीर्णता २
निर्दयता २३४
निर्बीज १८९
निर्बीजयोग २७२
निर्बीजसमाधि ५७, ६२, १२८, १३१, २४२, २४३, २७२
निर्माणचित्त ६
निर्युक्ति ८
निरुपक्रम २५०
निर्वाण ८१, ८५, २०१, २०१, २०४, २३६, २४१,
निर्विकल्प २०३, २३२
निर्विकल्पक २४१
निर्विकल्पज्ञान ७३
निर्विकल्पसमाधि ४, १६८
निर्विचिकित्सा १२५
निर्वितर्क ५८
निर्वेद ११९, १२६
निर्विचार २४३
निर्विचार सम्प्रज्ञातयोग ५६
निर्वितर्क सम्प्रज्ञातयोग ५८
निर्वैरभाव २०८
निःकांक्षित १२५
निःशंकित १२५
निल्लंछणकम्म (निर्लाञ्छणकर्म) १५६
निवृत्त ६६
निवृत्ति ३२, ७१, ६४, १००, १०६, ११७, १७९, १९७, २३७
निवृत्तिमार्ग १०५
निवृत्तिबादरगुणस्थान १६७
निष्पन्नयोगी २६, १०२, १०४

निश्चय(दृष्टि) ६५, २३७
निश्चय चारित्र १४७, १४६
निश्चय व व्यवहार नय २७२
निश्चययोग ६४, ६५, ६६
निश्चयसम्यग्दर्शन १२७
निसर्गसम्यग्दर्शन १२७
नील(लेश्या) २२६, २२७
नीहारचारण २५७
न्यासापहार १५३
पंचनमस्कारमन्त्र २३१
पञ्चतन्मात्रा ६२, ७२
पतन १६५
पतनावस्था १६४
पतितावस्था २०२, २०६
पत्रचारण २५७
पदस्थ(ध्यान) ३३, २२५, २२८, २२६, २३०, २३१, २३५, २६६, २७७
पद्मलेश्या २३६
पद्मासन २१२, २१३, २६५
पदानुसारी २५४
पदार्थ ६४, १४०
परकायप्रवेश ३६
परदारत्याग १५५
परदारविरमणव्रत १५४
परपाषण्डप्रशंसा १२६
परपाषण्डी-संस्तव १२६
परपीड़ापरिहार १०६
परम अवस्था २५३
परमगुरु २११
परमपद ६६
परमपुरुषार्थ १०५
परमवैराग्य १०२
परमशुक्ललेश्या २४०
परमसमाधि ५०
परमहंस २१
परमात्मतत्त्व ८५
परमात्मपद २०१
परमात्मा ५३, १६०, १६१, २०१, २०२, २०३, २३१, २४६
परमावश्यता २७७
परमेश्वर प्राणायाम २१५
परलोकाशंसा प्रयोग १६६
परवैराग्य ६२, २५१
परव्यपदेश १६३
परशरीरप्रवेश २४८
परसंसर्ग २०६
परा(दृष्टि) २०५, २४१, २४३
परार्थकूप २१४
परिग्रह १५५, १६८, १७२, २२४
परिग्रहपरिमाण अणुव्रत १५५
परिणाम ६६
परिणामत्रय २४६
परिदेवन २३४
परिमित-अवग्रहयाचन १७१
परिवर्तना २३४
परिहारविशुद्धि चारित्र १४८, १४६
परीषह ६४
परीषहजय २, १४५, १८०
परोक्ष १३२
परोपकार २१४
पर्यंकबन्ध ८४, २१३
पर्यंकासन ५, २१२, २१३
पर्याप्तक ६५
पर्याय १३४, १३५, २११, २३८
पल्योपम ६६, १००
पवनजय ३३, २६०
पातञ्जलयोग-पद्धति १, ४
पातञ्जलयोग-परम्परा १०१, ११६, १२०, १२४, १३०, १८६, १८७, १६१
पातञ्जलयोगशास्त्र ८१
पाप ५१, १४०, १४१
पापसूदन ११०
पापास्रव १४०
पापोपदेश १६०
पारमार्थिकप्रत्यक्ष १३२
पारमार्थिकयोग ८२
पारलौकिकसुख ११८
पारिणामिकी २५५
पार्थिवी (धारणा) २२५, २२६, २३३, २३५
पाहुड दोहा १०
पिण्डस्थ(ध्यान) ३३, २२५, २२८, २२६, २३०, २३५, २३६, २६६, २७७
पीतलेश्या २३६

पुण्य ५१, १४०, १४४, १५३, २७४
पुण्यबन्ध ८२
पुण्याशय २०४
पुण्यास्रव १४०
पुद्गल १४१, १४२, १४३, १४४, १८६
पुद्गल-क्षेपण १६२
पुरुष ५७, १४१, १८६, १८७, २७१
पुरुषार्थ १८५, १८७, २०१
पुष्पचारण २५७
पूजा १०६
पूरक २१४, २१५
पूर्णता २०१, २४६
पूर्णयोग २४२
पूर्णानन्द २०१
पूर्णावस्था २०१
पूर्वज्ञान २१४
पूर्वबद्धकर्म २३६
पूर्वभूमिका १०६, १११
पूर्वसंचित(कर्म) १००
पूर्वसेवा २६, २७, ६७, ६६, १०६, १११, १६५, २७४, २७८
पृच्छना २३४
पृथक्त्ववितर्क-अविचार २७७
पृथक्त्ववितर्क-विचार ८१
पृथक्त्वसवितर्क-सविचार २४३, २७७
पौषधप्रतिमा १६४
पौषधव्रत १६१, १६२, १६३
पौषधोपवासव्रत १६२, १६३
प्रकर्ष १६८
प्रकृति ५६, ६२, १२४, १४१, १८६
प्रकृतिलय ६२
प्रज्ञा ५८, ६२, ६३, ६३, ११६, १२५, २४६, २७२, २७४
प्रज्ञाज्योति १०१, १०२
प्रज्ञाप्रकर्ष ८१
प्रज्ञाश्रमणऋद्धि २५५
प्रणव १२४, २१०, २३१
प्रणिधान ६३, ६४, २११, २१२
प्रतिक्रमण ७५, ७६, ११६, १६५, १७७, १७८, १७६,
प्रतिपत्ति २८, २३४
प्रतिपाति २०७
प्रतिमा ८४, १६४, १६५
प्रतिरूपक व्यवहार १५४
प्रतिसंलीनता ३, ४, २७७
प्रत्यक्ष १३२
प्रत्याख्यान १६५, १७६
प्रत्याहार २, ४, १०, २१, ५२, २२८, २४६, २७६, २७७, २७८
प्रत्येकबुद्धि २५५
प्रथमकल्पिक १०१
प्रदेश २३२
प्रबुद्ध १०२
प्रभा(दृष्टि) २०५, २२२, २४१
प्रभावना १२५
प्रमत्तयोग १५१, १५४
प्रमत्तसंयत १६३, १६६, २००, २३६
प्रमाण १३३, १३५
प्रमाद ६७, १४५, १६३, १६६, २००, २३५
प्रमादाचरित १६०
प्रमेय १३४
प्रमोद ७३, ७६, ७७, २३२, २३३
प्रमोदभावना २३३, २३६
प्रवृत्तचक्रयोगी २६, २७, १०२, १०३, १०४
प्रवृत्तमात्रज्योति १०१
प्रवृत्ति २७, २८, ६३, ६४, ८६, ८७, १००, ११७, २०६
प्रवृत्तिधर्म १०६
प्रवृत्तिमार्ग १०५
प्रवृत्तियम १०३
प्रवृत्तियोग ८६
प्रशम २२६
प्रशस्तध्यान २०४
प्रशान्तभाव २३०
प्रशान्तवाहिता २३०
प्राकाम्य २४६, २५६
प्राज्ञश्रमण २५५
प्राण २१४
प्राणवायु २१४
प्राणायाम २, ५, ८, ६, १०, ३०, ३६, ५२, ११८, १३१, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१८, २१६, २२०, २४६, २६६, २६८, २६६, २७०, २७६, २७७
प्रातिभ २४८, २५०
प्रातिभज्ञान ४७, २००, २७५, २७६
प्राप्ति २४६, २५६

प्रायश्चित ३, २१, ११०, १७६
प्रायोग्य १३०
प्रारब्ध ८६
प्रियदर्शना १७
प्रीति २७, ८६, ८७, ११३, २३०
प्रेष्यप्रयोग १६२
प्रेष्यवर्जनप्रतिमा १६५
फलचारण २५७
फलावञ्चक १०३, १०४
फोडीकम्म (स्फोटककर्म) १५६
बन्ध ५१, ८८, ६५, १४०, १४१, १४५, १४६, १८४,१८७, १६३, २००
बलऋद्धि २५८
बला(दृष्टि) २०५, २११
बहिरंग साधन ५२, ८३, ६२
बहिरात्मा १६०, १६८, २०१, २०२, २०३, २४६
बहिर्मुख २४५
बहिर्वृत्ति २१५
बहुकायनिर्माणक्रिया २३६
बहुदोषत्व २३५
बादर २३६
बादरसम्पराय १६८
बाह्य ३, ६०, ११०, १५३, १८८, २१०, २४८
बाह्यक्रिया ८३
बाह्यचेष्टा ६४
बाह्यतप ३, ११०
बाह्यप्रतीक ८४
बाह्यवर्ग २४८
बाह्यवृत्ति २१४
बाह्यशौच २१०
बाह्याभिमुखी २१४
बीजाक्षर २३०
बीजबुद्धि २५४
बुद्धि ६३
बुद्धिऋद्धि २५४
बोध २८, १०६, २०५, २१३, २१६, २२०, २२२, २४१,
बोधिदुर्लभभावना १७६
बौद्धदर्शन २३०
बौद्ध-परम्परा २६, ५६, २०५, २०६
बौद्धयोग १, ६, २६, २६४
ब्रह्म २०८, २११
ब्रह्मचर्य ४, १०६, १५१, १५४, १७१, १७२, १८६, २०८, २०६, २१०, २४८
ब्रह्मचर्यप्रतिमा १६४
ब्रह्मचर्य महाव्रत १६६, १७१, १७२
ब्रह्मचर्याणुव्रत १५४, १५५
ब्रह्मगुप्ति १०६, २१०
भक्ति २७, ८७, २१४, २६४
भक्ति अनुष्ठान ८७, २१४, २२२
भक्तियोग १, २६४, २६६
भद्रासन २१२, २१३
भय २३३, २४५
भय-प्रत्याख्यान १७०
भवप्रत्यय ६१, ६२, ६३, १०२, २४२, २७२
भवप्रत्ययोगी १२०
भवप्रत्ययसम्प्रज्ञातयोग ६१, ६२
भवविरह २२
भवव्याधि २४१
भवशत्रु ८६
भवस्वरूप ४७
भवाभिनन्दी २६, ६७, ६८, ११०
भवोपग्राही ८१
भव्य ६३
भव्यजीव ६३, १३०, १६४, २७३
भव्यत्व ११६, २७३
भाग्य १८५, १८७
भाडीकम्म (भाटी या भाटककर्म) १५६
भाव ७४, १६०
भावकर्म १८१
भावधर्म ११६
भावना १२, २६, ३६, ७२, ७६, ७७, ८४, ८६, १७५, १७७, १६०, २४७, २७२
भावनानुचिंतन ७४
भावपूजन १०८
भावप्रत्यय २७२
भाव-प्राणायाम २१४, २१५, २७७
भावमन ८१
भावशुद्धि ११३
भावशौच २१०
भावसंशुद्धि ७५
भावसम्यग्दर्शन १२७
भावहिंसा १५१, १५२

भावास्रव १८३
भाषासमिति १७४
भाष्य ६, ७
भिक्षाचरी ३
भिक्षावृत्ति ११७
भूतेन्द्रिय १०२
भूमिलीक १५३
भेदज्ञान २०२
भोगभूमि ६३, २६७
भोगाशंसा प्रयोग १६६
भोगोपभोगपरिमाणव्रत १५७, १६०
भ्रान्ति २७, २२६
मंत्र ६, ३२, ३६
मकड़ीतन्तुचारण २५७
मतिज्ञान ७०, ८१, ८२, १३२, १३३
मद ११३, १२६,
मधुभूमिक १०१
मध्यम ६२
मध्यास्रावी २६०
मध्व १२६
मन १०, ३२, ५४, ७३, ७४, ८०, ८१, ८२, ८६, ११७, १६१, २३०, २३४, २३६, २३८, २४४, २४६, २७७, २७८
मनन २३०
मनःपर्याय(ज्ञान) ७०, ८२, १३३
मनःपर्याय ऋद्धि २५४
मनःशुद्धि ४७
मनोगुप्ति १७४
मनोगुप्ति भावना १६६
मनोदुष्प्रणिधान १६२
मनोद्रव्य ८०
मनोनिग्रह १२२
मनोबल(ऋद्धि) २५६
मनोभाव १२५, १२६, १२७
मनोयोग २३६
मनोविजय ३६
मनोविभ्रम ६४
मनोवृत्ति ७७
मन्त्र १०, १२, ७४, २३०, २३१, २५२
मन्त्रयोग १, २६४
मरणाशंसा प्रशंसा १६६
मलौषधि २५६
महत्तत्व ६२, १२४
महाक्लेश २०५
महातप २५७, २५८
महाप्राणध्यान २१४
महामंत्र २२६
महामाया २३१
महामोह १११
महायोग ६४
महाविद्या २३१
महाव्रत १२, १५६, १६८, १६६, १७१, २०८
महिमा २४६, २५५
महेश्वर २३१
मात्सर्य ११३, १६३
माध्यस्थ ७६, ७७, २३२
माध्यस्थभाव ७८
माध्यस्थभावना २३३, २३६
माध्यस्थ्यवृत्ति ७८
मान ७६, १६८
माया ७६, १६८
मायावर्ण २३१
मारण २३०
मारणदोषत्व २३५
मारुति(भावना) २२५
मारुति धारणा २२६
मार्गणास्थान १६०
मार्गपतित ६८
मार्गानुसारी ३६, ६७, १०६, १११, ११३, २७४
मार्गाभिमुख ६८
मित्रा(दृष्टि) २०५, २०६, २०८, २०६, २३५
मिथ्याज्ञान २३३
मिथ्यात्व ६५, ६६, ६७, ६८, ११०, १२८, १४५, १८६, १६३, १६४, २०१, २०२, २०४, २०५, २०६, २०७, २०६, २११, २१३, २३५, २७२, २७५
मिथ्यात्वकर्म १६४, २०२
मिथ्यात्वग्रन्थि ६४
मिथ्यात्वत्याग ४७
मिथ्यादर्शन १६४, २०५, २०६
मिथ्यादृष्टि ६५, १२८, १३०, १६३, २०७, २३५, २७३
मिश्र अवस्था २४६
मिश्रमोहनीयकर्म १६४

मीमांसा २८
मुक्त ७६, ८४, १८२, २४३
मुक्ति ६३, ६४, १०६, १११, १२४, १४१, २४०
मुखनिर्विष २५६
मुदिता ७७
मुदिता भावना २३३
मुद्रा ११८, २३१, २६८
मुनिधर्म १०५
मुमुक्षु ७३, ८६, २३५
मूढ़ १८८
मूढ़चित्त २४५, २४६
मूढ़ता १२६
मूढ़दृष्टि १३०
मूर्च्छा १५५, २३३
मूलगुण १६७
मृषोपदेश १५३
मृषानुबन्धी २३४
मेघचारण २५७
मैत्री ७३, ७६, ७७, ११७, २३२, २३६
मोक्ष २, ३, ११, ३२, ५१, ५२, ५३, ५४, ६३, ६४, ६५, ६६, ६९, ७३, ८०, ८३, ८६, ८७, ८८, ८९, ९१, ९३, ९४, ९७, ९९, १००, १०१, १०५, ११०, १११, ११६, ११८, १२२, १२४, १४०, १४१, १४६, १५४, १६८, १७९, १८६, १८७, १८८, १९७, १९८, १९९, २०१, २०७, २०८, २३७, २४४, २४७, २५३, २७१, २७४, २७५, २७७, २७९
मोक्षपद ८२
मोक्षमार्ग ११, ७१, ९३, ९६, ९७, ११६, १२२, १२४, १२५, १२६, १८०, १८१, २०५, २१०, २७३
मोक्षावस्था २०१
मोह ६१, ६८, ११३, १६८, १९०, १९२, १९३, १९८, २००, २४३, २७८
मोहकर्म १९२
मोहनीय १९२
मोहनीयकर्म ७०, ८६, ९६, १३७, १८३, १८४, १९२, १९३, १९४, १९५, १९९
मौखर्य १६०
मृदुता २४०
यथाख्यातचारित्र ७६, १४६
यथाप्रवृत्तकरण १३१
यथाप्रवृत्तिकरण ६७, १६७, २०८
यथार्थज्ञान ६२, २०७
यथार्थबोध ७४
यथार्थश्रद्धान २०६, २७८
यथासंविभागव्रत १६३
यथासुखासन २१२
यन्त्र ३२, ३६
यम २, ४, ५, ६, १०, ३६, ५१, ५२, ५५, १०३, १२४, १२५, १४७, १४८, १५६, १७७, २०६, २०७, २०८, २०९, २२०, २४८, २७०, २७६, २७८
यातायात १६८, २७९
यातायातचित्त २४५
यातायातमन २४४, २४६,
योग १, ५, ६, ७, ८, १०, ११, १२, १८, ३६, ४७, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५९, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७१, ७५, ७७, ७९, ८०, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ९०, ९१, ९२, ९४, ९७, ९९, १०३, १०४, १०६, ११०, ११६, ११७, ११८, १२०, १२४, १२५, १४४, १४५, १५०, १७९, १८५, १८६, १८८, १८९, १९३, २००, २०६, २३८, २४१, २४२, २४३, २४४, २४६, २६६, २७०, २७१, २७२, २७४, २७५, २७७, २७८
योगक्रिया १
यौगचक्र १०३
योगज अदृष्टजनित २००
योगदर्शन ५७, ११९, २३०, २४३, २४८, २७१, २७६
योगदृष्टि १९०, २०५, २०६, २०७, २०८
योगधर्म १०९
योगनिरोध ८५
योग-परम्परा ५१, १११, १२०, २७६
योगभावना ७७
योगभ्रष्ट ९३
योगमार्ग १३, ९२, ९४, १०४, १०७, ११३, ११८
योगवान् ५२
योगवाहिता ५२
योगश्रेणी ७१
योगसंन्यासयोग ७१
योगसमाधि २२८
योग-साधना १, ३६, ५२, ६४, ६७, ६८, ७१, ७२, ७४, ७७, ९०, ९५, ९७, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, ११०, १११, ११४, ११८, ११९, १२०, १४६, १९०, २०५, २११, २१२, २१४, २४७, २५३, २६६, २७२, २७३,

२११, २१२, २१४, २४७, २५३, २६६, २७२, २७३, २७४, २७५, २७७, २७६
योगसिद्धि २, ५२, ६१, १०४
योगसूत्र ६, ७, २७, ६१, १३५, १४५, १४८, १४६, १५६, १६६, १७१, १७२, १७३, २००, २४२, २४३, २४६, २४८, २६६, २६८, २६६, २७०, २७५, २७६, २७७
योगारूढ़ ६२
योगावञ्चक १०३, १०४
योग्यता ७५, ७६, ८१, १०४
रजोगुण १८६, २४५
रत्नत्रय ३, १२, ३२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ६५, ६४, १२२, १२३, २७०, २७१, २७५, २७६
रत्नत्रययोग २
रत्नत्रय-साधना २७१
रत्नप्रभा २०७
रविदास १२६
रसनेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन १७३
रसपरित्याग ३, ११०
रसवाणिज्ज (रसवाणिज्य) १५६
रहस्य अभ्याख्यान १५३
राग ७४, ७८, ८८, ६८, ६६, १००, १०३, ११०, १२५, १२६, १३६, १४०, १४५, १४६, १४७, १६१, १७७, १८०, २०६, २०८, २१३, २२६, २३१,
राजयोग १, ६, २६४, २६८
राजस ५६, ८१
राज्यऋद्धि २५३
रुग ७८, २४१
रुचि १००
रूपस्थ(ध्यान) ३३, २३१, २३५, २३६, २६६, २७७
रूपातीत(ध्यान) ३३, २३१, २३३, २३६, २६६, २७७
रूपानुपात १६२
रूपी १४१
रूपी आलम्बन २३४
रूपी द्रव्य ८४
रेचक २१४, २१५
रोगचिन्ताआर्तध्यान २३३
रौद्रध्यान १६१, १७८, २३२, २३४, २३५
लंगडासन २१३
लक्वाणिज्ज (लाक्षवाणिज्य) १५६
लगुड़शायित्वासन २१३
लघिमा २४६, २५६
लघुता ११४
लघुहरिभद्र ४४
लब्धि ११४, २४७
लययोग १, २६४
ललाट २२०
लंगड़ासन २१३
लिंग २३२
लेश्या १८२, २०४
लेश्यातीत २४०
लोक २३६
लोकपूरणसमुद्घात २३६
लोक भावना १७६
लोकसंज्ञा ११५
लोकाकाश १४३
लोकोत्तर २४७
लोकोत्तरधर्म ६६
लोभ ७६, ७६, ११३, १६८, १६८, १६६
लोभ-प्रत्याख्यान १७०
लोलुपता २३४
लौकिकधर्म २७, १०६
लौकिकमार्ग ६६
वंदनक १६५
वचन २७, ८७
वचन अनुष्ठान ८७
वचनदुष्प्रणिधान १६२
वचनगुप्ति १७४
वचनबल २५६
वचनयोग २३६
वचनानुष्ठान २४५
वज्रऋषभनाराचसंहनन २४०
वज्रयान २६७
वज्रासन २१३
वणकम्म (वनकर्म) १५६
वध १५२
वन्दना १७८
वर्धमान २३१
वर्ण ८४, १६०, २७२
वर्णमातृका २३०
वशित्व २४६
वाचना २३४
वात्सल्य १२५

वाममार्ग २६७
वायवी २३३
वायवी धारणा
वायुचारण २५७
वारुणी धारणा
वार्ता २४८, २५०
वासना २४२
विकल चारित्र १४८
विकल्प ८०, ८१, १३३
विकास ६७, १००, १०७, १८६, २०१, २०४, २४६
विकास ावस्था १६४
विक्रियाऋद्धि २५५
विक्षिप्त १८८, १८६, १६१, १६८, २७८
विक्षिप्त चित्त २४५, २४६
विक्षिप्त मन २४४, २४५, २४६,
विक्षेप २२८
विघ्नजय ६३, ६४
विचार ५८, ६०, ११२, १२०, २३०, २७५, २७६
विचारानुगत ५६, २४२
विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग ५८, ५६, ६०, २७२
विचारानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि ५८, ५६
विचिकित्सा १२६, १३०
विज्ञानवाद ६
वितर्क ५८, ६०
वितर्कानुगत २४२
वितर्कानुगतयोग ५८, ६०
वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातयोग ५८, २७२
विदेह ६२
विदेहमुक्ति ८०
विद्या ३६, २३१
विद्याधरश्रमण २५५
विधिवाद ४७
विनय ३, १०६, ११०, २३७
विनयधर्म ११७
विनियोग ६३, ६४
विपर्यय ५१, ५७, ५६, १३३, १३५
विपाक १८३
विपाकविचय २३३, २३५, २३६
विप्रौषधि २५६
विभूति ६, २४७, २४८, २५३
विरक्त ६३
विरताविरत १६५, १६६
विरताविरतसम्यग्दृष्टि १६३
विरति ६३
विरहांक २२
विरामप्रत्यय ६२
विरुद्धराज्यातिक्रम १५४
विरोधी हिंसा १५१
विवेक ६३, ६७, १६४, २०२, २०५, २०६, २१३, २३७, २४०
विवेकख्याति ६, ६०, ६१, १०२, १२४, २०७, २४६, २५१, २७५
विवेकबल २३०
विवेकज्ञान २०३, २१०, २४६
विवेकजज्ञान ६, २००, २०७
विवेकशक्ति १६४
विंशिका २७
विशुद्धि १३०
विशोकाभूमि १०२
विष-अनुष्ठान २६, ११३, ११४
विषयवती प्रवृत्ति २६६
विषयसंरक्षण २३२, २३४
विषयसंरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान २३४
विषयासक्ति ६१
विष्णु २६५
विक्षिप्त १६८
विसभागपरिक्षय २३०
विसवाणिज्ज (विषवाणिज्य) १५६
वीतराग ७०, ११०, १७८, १६६, २११, २३०, २३१
वीतरागचारित्र १४६
वीतरागता १०५, १२२
वीतराग विषयता २६६
वीतरागसम्यग्दर्शन १२७
वीरासन २१२
वीर्य ६२, ६३, ११६, १८८, २७२, २७४
वृत्ति ७, ६,, ६०, ६१, ८१, ८४, १३६, २०७
वृत्तिनिरोध १, ३६, ५०, ५१, ५४, ५६, ८०, २४२
वृत्ति परिसंख्यान ११०
वृत्तिसंक्षय २६, ७२, ७६, ८०, ८१, ८६, १६०, २७२
वृत्तिसंक्षययोग ८०, ८१, १७६
वेद २६६
वेदन २४८

वेदना १४५, २५०
वेदनीय १८२
वेदान्त १४१
वेद्यसंवेद्य २१४
वेद्यसंवेद्यपद २०७
वैक्रियऋद्धि २५५
वैदिक १, ६
वैदिकपरम्परा १०५
वैदिकयोग १, २६४
वैयावृत्य ३, १०३, ११०
वैर २४५
वैराग्य १, ६, ४७, ४८, ५७, ६१, ७६, ६१, १०२, १०५, १२१, १२६, १२७, १३१, १४०, १४७, १६१, १८१, १८६, १८८, १६७, २३२, २३३, २६६, २६७, २७५
वैशेषिक १४१
व्यंजन २३८
व्यक्त १२४, १८६, २७५
व्यय २३६, २६६, २७६
व्यवहारचारित्र १४८
व्यवहार(दृष्टि) ६५
व्यवहारयोग ६५, ६६
व्याकुलता २३३
व्यावहारिकयोग
व्यासभाष्य ६, ७, ६०, ६१, ६२, १२३, २७३
व्युत्थान ६२, ६३
व्युत्थानचित्त २४६
व्युत्थानसंस्कार ६१
व्युत्थित चित्त ६२
व्युत्सर्ग ३, ४, ११०, २४०
व्युत्सर्ग समिति १७५
व्युपरतक्रिया अनिवृत्ति २४०
व्रत ६, १२, ६४, १५०, १५४, १६८, २०८, २०६
व्रतपालन ७३
व्रत-प्रतिमा १६४
व्रती ६४, ११०
शंका १२६, १३०
शब्ददैत्य १२२
शब्दानुपात १६२
शरीरशुद्धि २१०
शरीरसंहनन २४०
शरीरसिद्धि २४६
शास्त्र १२३, २७२
शास्त्रचर्या ११२
शास्त्रज्ञान १००, १०१
शास्त्रयोग २६, ६६, ६७, ६८, ६६, ७२, २७२
शिक्षाव्रत १५०, १५७, १६१, २१०, २७६
शिवकर्म २४४
शिववर्त्म २२३
शिवोदय ८६
शीत-उष्णता २१०
शीलव्रत १५६
शुक्ल १८२
शुक्लकृष्ण १८२
शुक्लपक्ष ६६, ६७
शुक्लपक्षी २६
शुक्लपाक्षिक ७३, ६६
शुक्लध्यान ३६, ७०, ७६, ८३, १६८, २०१, २२४ २३०, २३४, २३७, २३८, २३६, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २७६, २७७
शुक्ललेश्या २३६, २४०
शुद्ध आशय २०४
शुद्धानुष्ठान ६६
शुद्धोपयोग ५२, १७६, १६०, १६१, २०३, २०४, २४६
शुभकर्म ८८, १८१
शुभध्यान २०४
शुभयोग ५१, १७६
शुभलेश्या ६४
शुभानुबन्धी २४१
शुभाशय २०२
शुभोपयोग १६०, १६१, १६८, २०३, २०४
शुश्रूषा २८, १०३
शून्यवृत्ति २४१
शैलेशी अवस्था ८०, २४०
शैलेशीकरण ८०, ८२
शैवदर्शन २२३
शोक निवर्तना २३७
शौच २१०, २४६
श्रद्धा ६२, ६८, ८२, ६३, ६२, ६४, ११४, ११६, १२१, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १६२, २४२, २७२, २७४
श्रद्धान १२४, १४०
श्रमण १, १६४, १६७, १६८, १८०

श्रमण १, १६४, १६७, १६८, १८०
श्रमणभूत प्रतिमा १६५
श्रमणाचार १४६, १६७, २६६
श्रवण २८
श्रावक १२, ११३, १५१, १५२, १५३, १५७, १५८, १६०, १६४, १६५, १६६, १८६, २७६
श्रावकाचार १२, १४६
श्रावण २४८, २५०
श्रुत १३२, १७८, २४०
श्रुतज्ञान ८१, १३३, २००, २३८
श्रुतसामायिक १७७
श्रेणी आरूढ़ १०१
श्रेणी अनारूढ़ १०१
श्रेणीचारण २५७
श्रोत्रेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन १७३
श्लिष्ट १६१, २७६
श्लिष्टमन १६१, २४४, २४६,
शिववर्त्म २३०
शिक्षाव्रत २१०
शोचन २३४
शंका २३३
शौच २१०
शोक २३३
श्वास २१४
श्वासवायु २१४
श्वास-प्रश्वास २१४, २७६
श्वासोच्छ्वास २१४
षडंगयोग २७६
षडावश्यक ८८, १७७, १७६
संकल्प ८०
संकल्पी हिंसा १५१
संक्लेश ६७, ११०
संग्रहणीवृत्ति २६
संक्रमण १८४, २३८, २४३
संक्षेप १६२
संक्षय ७६
संज्वलन १६६, १६७
संज्ञी ६४, ६५
संतोष १२, ८६, ११२, १६०, २१०, २४६
संन्यास ७१, ७२
संभिन्नस्रोत २५४
संयम ६, ८, ५२, ५४, ६६, ६३, ६४, ६६, १०७, १०८, १०६, ११६, १२२, १४६, १६५, १८६, २३५, २४२, २४६, २५०, २५१, २५२, २७६
संयम-साधना ६३, २४८
संयमी ६४
संयतासंयत ६६, १६६
संयुक्ताधिकरण १६०
संयोग ५०, ५२, ७६, ८१, २७०
संरम्भ १५१
संवर २, ४, ५१, ६३, १४०, १४१, १४५, १६३
संवरभावना १७६, २३७
संवित् ६०
संवेग ११६, १२६
संशय ५१, ५७, ५६, १६४, १६७
संसार अनुप्रेक्षा २३६
संसारी जीव १४२
संसारबन्ध १६३
संसारभावना १७६
संसाराभिमुखी २०५, २०७, २१२, २१४
संसारावस्था १८८
संस्कार ६३, १३१
संस्कारशेष १८६
संस्कृति ११२
संस्थान २२८
संस्थान विचय २२६, २२७, २२८, २३५, २३६
संहरणक्रिया २३६
सांख्य १४१
सकलचारित्र १४८
सचित्तत्याग प्रतिमा १६५
सचित्तनिक्षेप १६३
सचित्तप्रतिबद्धाहार १५८
सचित्तविधान १६३
सचित्तसंबद्धाहार १५८
सचित्ताहार १५८
सच्चिदानन्दा २०१
सत्ता १८४
सत्प्रवृत्ति २०४, २२२
सत्य ४, १५१, १५२, १८६, १६३, १६४, १६५, २०४, २०८, २०६, २४८, २७६
सत्यदर्शी १०४
सत्यमहाव्रत १६६

सत्त्व ८०, २४६
सत्त्वगुण ५६, १८६
सत्त्वपुरुषान्यताख्याति ६१
सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्यय १२४
सत्त्वशुद्धि १४८, २०६
सदाचार १०६, १०६, १८६, २७४
सद्गृहस्थ ११३
सद्दृष्टि १६०, २७८
सद्ध्यान २३४, २४१
सद्धर्म २३४
सदनुष्ठान २७, १००, ११३, ११४
सन्मति २३१
सप्तभंगी १३८, १३६
सप्ताक्षरमन्त्र २३१
सबीज ६०
सबीजयोग २७२
सबीजसमाधि ५७, २४२, २७२
सभापति ५८
समता २६, ३६, ४७, ७२, ७६, ८०, ८६, १८८, १६०, २७२
समतायोग ७३, ७८, ७६, ८०, १७६
समत्व १४७
समत्वयोग ७७, ७६
समरसीभाव २३२
समवसरण २३१
समसंस्थान आसन २१२, २१३
समाधि २, ४, ५, ६, ७, ८, ६, ५०, ५१, ५२, ५५, ५७, ५६, ६२, ७४, ८२, ८४, ८६, ६३, ११६, १२०, १२६, १८१, १८६, १६७, २१२, २२८, २२६, २४१, २४२, २४३, २४५, २४६, २५२, २६२, २६६, २७०, २७१, २७२, २७४, २७६, २७७
समाधिनिष्ठ अनुष्ठान २३०
समाधिलाभ २४६
समाधिसिद्धि २०६
समानवायु २५१
समारम्भ १५१
समाहितचित्त ६२, ६३
समिति २, ५४, ८३, १४५, १६८, १७३, १८०, २७१
समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति २०१, २३६, २४०
समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति २३८, २४०, २४३, २७७
समुद्घातक्रिया २३६
सम्प्रज्ञात ५०, ५७, ८६
सम्प्रज्ञातयोग ५६, ५७, ५८, ५६, ६०, ६१, ६२, ८०, १८६, २७१, २७२
सम्प्रज्ञातसमाधि ५१, ५६, ६१, ६२, ८०, ८१, ६३, १२४, १३१, २००, २४३, २७२, २७५, २७७, २७८
सम्मिश्राहार १५८
सम्यक् अननुपालनता १६३
सम्यक्चारित्र २, ३, ८, १०, ३३, ५३, ५४, ६५, ७३, ६४, ११६, १२२, १२३, १४६, १४७, १७३, १७८, १८६, १६२, १६६, २७१, २७६
सम्यक्चारित्री ६७
सम्यक्त्व ४७, ११६, १६१, १६३, १६४, २००, २०१, २७४, २७८
सम्यक्त्व सामायिक १७७
सम्यक् प्रकृति १६४
सम्यग्दर्शन २, ३, ८, ५३, ५४, ६५, ७६, ८२, ८३, ८६, ६४, ११०, ११६, १२०, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १३०, १३२, १४६, १६१, १८६, १६२, १६४, १६५, २०१, २०२, २०३, २०५, २०७, २०६, २१४, २१६, २७१, २७४, २७५, २७८
सम्यक्प्रणिधान ५२
सम्यग्ज्ञान २, ३, ८, १०, ५१, ५३, ५४, ६५, ८२, ६४, ११६, १२२, १२३, १२४, १३१, १३२, १४६, १८६, २०३, २५५, २७१, २७४, २७५
सम्यग्ज्ञानी ६४
सम्यग्दृष्टि २६, ६६, ६८, ७३, ६४, ६५, ६७, ६८, ६६, १००, १०६, ११६, १४६, १६०, १६५, २०५, २०७, २७२, २७३
सम्यग्मिथ्यात्व १६४
सम्यग्मिथ्यादृष्टि १६३, १६४,
सम्यग्श्रद्धा २०१
सयोगकेवली १६३, २००, २०४, २४०, २४१
सयोगिकेवलि ८०, ८१, २००
सयोगीकेवलि १०१
सयोगिकेवलीजिन २००
सरदहतलायसोसं (सरद्रह–तडागशोषण) १५६
सरागभाव ८८
सरागसम्यग्दर्शन १२७
सर्पिरास्रावी २६०
सर्व अत्तादान विरमण १७०
सर्वज्ञ १०१, १३३, १८४, २३०, २४१,

सर्वज्ञ १०१, १३३, १८४, २३०, २४१,
सर्वज्ञता ६९, ७०, २००
सर्वज्ञत्व ६१, २०३, २५१
सर्वधर्मव्यापारयोग ६३, ७१
सर्वपरिग्रह विरमण १७२
सर्वभावाधिष्ठातृत्व ६१
सर्वमृषावाद विरमण १६६
सर्वमैथुन विरमण १७१
सर्वविरत ११७
सर्वविरतचारित्र १०१
सर्वविरति २६, ७४, १६०, १६६, २७२
सर्वविरतिगुणस्थान १६६
सर्ववृत्तिनिरोध ५६
सर्वसंन्यासयोग ५६, २७१
सर्वसम्पत्करी भिक्षा ११७, २७५
सर्वसाक्षात्कारिता ६६
सर्वौषधि २५६
सल्लेखना(व्रत) २२, १६५, १६६, १६७
सविकल्पसमाधि ५६
सविचार २४३
सविचार सम्प्रज्ञातयोग ५६
सवितर्क ५८, २४३
सवितर्कसम्प्रज्ञातयोग ५८
सहसा-अभ्याख्यान १५३
सांख्य २७१
सांख्ययोग २६६
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष १३२
सांशयिक मिथ्यात्व १२८
साकार ६४
सागारधर्म १०५, ११६
साडीकम्म (शकटकर्म) १५६
साध्वाचार १२२, १६५
सालम्बनयोग/समाधि २७२
साधन ६, ५५, ८७, २७०
साधना ६७, ६८, ६०, ६२, ६४, १००, १०१, १०५, ११६, १२०, १६७, २४८, २७०
साधनाभूमि २६७
साधर्मिक अवग्रहयाचन १७१
साधुचर्या १०५
साधुधर्म २७६
साध्य ५५, १८८, १६७, २७०
साध्वाचार २७६
सान्निध्यलाभ २०६
सापाया २०७
सामर्थ्ययोग २६, २७२
सामाजिकधर्म १०५
सामायिक २७, ४७, १६१
सामायिकचारित्र १४८
सामायिकव्रत १६१, १६२
सार्वभौम २१६
सार्वभौमिकता २७६
सालम्बनध्यान २३५
सावद्ययोग १६१
सासादनसम्यग्दृष्टि १६३, १६४
सिद्धयोग २६७, २६८, २७०
सिद्धावस्था ५४, २०१, २०२, २६८, २७०
सिद्धि २७, ७४, २०६, २४७, २४८, २५३, २७७
सिद्धियम १०३, २०६
सुख १८८, १६७
सुखपूर्वासन २१३
सुखासन ५, २१३
सुध्यान २३२
सुलीन १६१, १६८, २७६
सुलीनमन १६१, २४४, २४६,
सूक्ष्मक्रिया २३६, २४०
सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति २३६
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति २३८, २३६, २४०, २४३, २७७
सूक्ष्मबोध २१४
सूक्ष्मसंपराय १६३, १६८, २००
सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान १६८
सूक्ष्मसंपराय चारित्र १४६
सूक्ष्मसंस्कार ८६
सूर्यप्रभा २०७
सोपक्रमकर्म २३६, २५०
सोपाश्रयासन २१२, २१३,
सौमनस्य १४८, २०६
स्तम्भवृत्ति २१४
स्तवन १०३
स्तेनाहृत १५४
स्थान २७, ८३, ८४, ८६, ८७, १६०, २१०, २१२, २१३, २७२, २७८
स्थानयोग ८६

स्थावर (जीव) १४२, १६२
स्थूल अदत्तादानविरमण १५३, १५४
स्थूल प्राणातिपातविरमण १५१, १५२
स्थूल मृषावादविरमण १५२, १५३
स्थैर्य २७, २०६
स्थितप्रज्ञ २३५
स्थिरतायोग ८७
स्थिरयम १०२
स्थिरा(दृष्टि) २०५
स्थिरीकरण १२५, २३१
स्पर्शनेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जन १७३
स्मृति ५८, ६२, ६३, ११६, १३३, १३५, २४२, २७२, २७४
स्मृत्यकरणता १६२
स्मृत्यन्तराधान १५७
स्याद्वाद १२, ४६, १३७, १३८, १४०
स्वदारमंत्रभेद १५३
स्वदारसंतोष १५१, १५४, १५५
स्वप्न २६६
स्वप्न-जाग्रत
स्वरूपसिद्धि २०१
स्वरूपावस्था ५४, २०१
स्वरूपशून्य २४२
स्वसंप्रत्यय ६८
स्वसंवेदनज्ञान २००, २७५
स्वस्तिकासन २१२
स्वाध्याय २, ३, ४, ५१, ५५, ६२, ११०, १११, ११७, १२१, १२४, १२६, १८६, २१०, २११, २४६, २७५
स्वाध्याय तप
स्वानुभूति २००
स्वान्तानिग्रह ५२
हंस २१
हंसासन २१३
हठयोग १, ६, ६, १०, २५, २६, २७, ३३, ३६, ५५, २१४, २३३, २६४, २६५, २६६, २६८,२६९, २७०, २७७
हठयोग परम्परा २२१
हत्या २४५
हस्तिनिषदनासन २१२
हान १४१
हानोपाय १४१
हास्य-प्रत्याख्यान १७०
हिंसा १५१, १६८, २३२, २३४
हिरण्य-सुवर्ण-प्रामाणातिक्रम १५६
हेय १४१, २०२, २१३
हेयहेतु १४१
हेयोपादेय ६३
हृदयस्थ कर्णिका २३०

डा० अरुणा आनन्द ने दिल्ली विश्वविद्यालय से स्नातक, स्नातकोत्तर, एम०फिल० एवं पी०एच०डी० (संस्कृत) तथा श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली से आचार्य (जैन दर्शन) की उपाधि ग्रहण की और संस्कृत, प्राकृत, पालि, जर्मन आदि भाषाओं तथा भारतीय-धर्म-दर्शन विशेषत: जैनधर्म-दर्शन का अध्ययन किया। विगत १५ वर्षों से दिल्ली की विभिन्न शिक्षा व शोध-संस्थाओं विशेषत: भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान की विभिन्न अध्यापन व शोध-सम्बन्धी परियोजनाओं से जुड़ी हुई हैं। संगोष्ठियों व कार्यशालाओं का आयोजन, प्राचीन पांडुलिपियों का अध्ययन व संपादन, योग-प्रशिक्षण तथा समाजसेवा में उनकी विशेष रुचि है। 'प्रायोगिक योग-शिक्षा,' 'प्रवीण योग-शिक्षा', 'पातञ्जलयोग और जैनयोग का तुलनात्मक अध्ययन' (प्रस्तुत कृति) के अतिरिक्त, विभिन्न शोध पत्रिकाओं में उनके अनेकों शोध-पत्र प्रकाशित हैं।

संप्रति : भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान (बी०एल०आई०आई०) में उप-निदेशक के पद पर कार्य करते हुए 'दशवैकालिक निर्युक्ति' के सम्पादन व अंग्रेजी अनुवाद, एवं आ० हेमचन्द्रकृत 'योगशास्त्र' की स्वोपज्ञ टीका के (अंग्रेजी व हिन्दी) अनुवाद कार्य में निरत हैं।

BHOGILAL LEHERCHAND INSTITUTE OF INDOLOGY PUBLICATIONS

1. **Studies in Sanskrit Sahitya Sastra**
   —*V.M. Kulkarni*
2. **Pancasutrakam of Cirantanacarya**
   —*Muni Shri Jambuvijayaji*
3. **Jaina Bhasa Darsana** (in Hindi)
   —*Sagarmal Jain*
4. **Some Aspects of the Rasa Theory**
   —*V.M. Kulkarni*
5. **The Gahakosa of Hala** (Part II)
   —*V.M. Patwardhan*
6. **Prakrit Verses in Sanskrit Works on Poetics** (Vol. I)
   —*V.M. Kulkarni*
7. **Prakrit Verses in Sanskrit Works on Poetics** (Vol. II)
   —*V.M. Kulkarni*
8. **Apabhramsa Language and Literature**
   —*H.C. Bhayani*
9. **Mahabharata Based Plays and Epics** (in Gujarati)
   —*Prof. S.M. Pamdya*
10. **Santinathacarita** (Prakrit)
    —*Sh. Devachandra Suri*
11. **Arhat Parsva and Dharanendra Nexus**
    —*M.A. Dhakey*
12. **Jain Philosophy and Religion**
    —Tr. *Dr. Nagin J. Shah*
13. **Jaina Theory of Multiple Facets of Reality and Truth** *(Anekantavada)—Nagin J. Shah*
14. **Patan-Jain-Dhatu-Pratima-Lekh-Sangrah**
    —*Pt. Laxmanbhai H. Bhojak*
15. **Pātañjalayoga Evaṁ Jainayoga Kā Tulanātmaka Adhyayana**—*Dr. Aruna Anand*

MOTILAL BANARSIDASS PUBLISHERS PRIVATE LIMITED